सामवेदीय-"तलवकारोपनिषत्" हिन्दी-विज्ञानभाष्य

"केनोपनिषद्विज्ञानभाष्य"

"प्रज्ञानब्रह्म"—वर्णनपरेयमुपनिषत्

श्रीः

अथ–केनोपनिषद्विज्ञानभाष्ये

पारिभाषिकसूचनाप्रकरणम्

("प्रस्तावनात्मकम्")

*   *   *

श्रीः

प्रत्यगात्मानुगतं–पारिभाषिकं–स्वरूपं–रूपरेखात्मकम्—

१—यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति ।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकन्तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

२—यस्मिन्नृचः साम यजूंषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवारा ।
यस्मिंश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

३—सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव ।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

४—भ्रुवोर्म्मध्ये ललाटे तु नासिकायास्तु मूलतः ।
जानीयादमृतं स्थानं तद्ब्रह्मायतनं महत् ॥

५—शिरोऽन्तनासान्तजत्रुर्त्तुलान्तघ्राणस्य च भ्रूयुगलस्य सन्धौ ।
धामाविमुक्तं प्रथतेऽस्य मध्ये यः सोऽयमन्त्रणा बहिरीर्त्यतेऽन्यः ॥

* * * *

६—अथ हैनमत्रिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्यं--य एषोऽनन्तोऽव्यक्त--आत्मा--तं कथमहं विजानीयाम् ?, इति । स होवाच याज्ञवल्क्यः-सोऽविमुक्त उपास्यः । य एषोऽनन्तोऽव्यक्त आत्मा, सोऽविमुक्ते प्रतिष्ठितः इति । सोऽविमुक्तः कस्मिन् प्रतिष्ठितः-?, इति-वरणायां नाश्यां च मध्ये प्रतिष्ठितः--इति । का वै वरणा ?, का च नाशीति ? । सर्वानिन्द्रिय--कृतान् दोषान् वारयतीति--तेन वरणा भवति । सर्वानिन्द्रियकृतान् पापान्--नाशयतीति तेन नाशी भवति--इति । कतमं चास्य स्थानं भवति ?--इति-भ्रुवोर्घ्राणस्य च यः सन्धिः, स एष द्यौर्लोकस्य परस्य च सन्धिर्भवति--इति । एतद्वै सन्धिं सन्ध्यां ब्रह्मविद उपासते । सोऽविमुक्त उपास्यः । सोऽविमुक्तं ज्ञानमाचष्टे, यो वा एतदेवं वेद ।

—अथर्ववेदीया--जाबालोपनिषत् २।

* * * *



* ओं तत्–सत्–ब्रह्मणे नमः *

* नमः परम–ऋषिभ्यः *

* नमो वाग्देवतायै *

सामवेदीय–तलवकारोपनिषत्–हिन्दी–विज्ञानभाष्य
(केनोपनिषद्विज्ञानभाष्य)
'प्रज्ञानात्मा'-वर्णनपरेयमुपनिषत्

तत्रादौ–पारिभाषिकसूचनाप्रकरणं–प्रस्तावनात्मकम्

(१)–माङ्गलिक–संस्मरणम्—

(१)–निषु सीद गणपते ! गणेषु त्वामाहुर्विप्रतमं कवीनाम् ।
न ऋते त्वत् क्रियते किञ्चनारे महामर्कं मघवन् चित्रमर्च ॥

—ऋक्सं० १०।११२।६।

(२)–एक एवाग्निर्बहुधा समिद्धः, एकः सूर्य्यो विश्वमनुप्रभूतः ।
एकैवोषाः सर्वमिदं विभाति,– 'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम् ॥

—ऋक् सं० ८।५८।२।

(३)–वाचं देवा उपजीवन्ति विश्वे, वाचं गन्धर्वाः, पशवो, मनुष्याः ।
वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता सा नो हवं जुषतामिन्द्रपत्नी ॥

– तै० ब्रा० २।८।८।१।

(४)–वागक्षरं प्रथमजा ऋतस्य, वेदानां माता, अमृतस्य नाभिः ।
सा नो जुषाणोपयज्ञमागादवन्ती देवी सुहवा मेऽस्तु ॥

—तै० ब्रा० २।८।८।२।

(५)-यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वेदांश्च प्रहिणोति, तस्मै ।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥
—श्वेत्या० उप० ६।१८।

(६)-ओष्ठापिधाना नकुली दन्तैः परिवृता पविः ।
सर्वस्यै वाचमीशाना चारुमामिह वादयेत् ॥
—ऐत० आरण्यक ।

(७)-प्राक्कर्म्मोदयतो हि यस्य मिथिलादेशे शरीरोदयः—
श्रीविश्वेशदयोदयाच्च समभूत्काश्यां सुविद्योदयः ।
राज्ञा प्रीत्युदयादभूज्जयपुरे सम्पत्ति-भाग्योदयः—
सिद्धस्तन्मधुसूदनाय गुरुवे नित्यं प्रणामोदयः ॥

(८)-यत्र प्रदर्श्या विषयाः पुरातना यत्र प्रकारोऽभिनवः प्रदर्शने ।
यत्र प्रमाणं श्रुतयः सयुक्तयस्तज्ब्रह्मविज्ञानमिदं विमृश्यताम् ॥

ओं-आप्यायन्तु ममाङ्गानि-वाक्, प्राणः, चक्षुः, श्रोत्रम् । अथो बलम् । इन्द्रियाणि च । सर्वाणि सर्वं ब्रह्मोपनिषदम् । माहं ब्रह्म निराकुर्य्याम् । मा मा ब्रह्म निराकरोत् । अनिराकरणं मेऽस्तु । अनिराकरणं मेऽस्तु । तदात्मनि निरते-ये-उपनिषत्सु धर्म्माः, ते मयि सन्तु, ते मयि सन्तु ।
ओं शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

२-मन्त्र-ब्राह्मणात्मक-वेदशास्त्र का संस्मरण, तन्निबन्धन मूलवेद, तूलवेद का दिग्-दर्शन, तदनुप्राणित कर्म्म-उपास्ति-ज्ञान का अनुगमन, और 'उपनिषत्' नामक वेद के अन्तिम-भाग की 'वेदान्त' उपाधि के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण-प्रयास—

मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र का सर्वान्त का भाग ही विद्वत्समाज में--'उपनिषत्' नाम से प्रसिद्ध है। अतएव व्यवहारभाषा में इन उपनिषद्ग्रन्थों को 'वेदान्त' नाम से समन्वित कर लिया है विद्वानोंनें, जिस इस मान्यता का लोकभावुकता-संरक्षण के अनुबन्ध मे थोड़ी देर के लिए समादर करते हुए हम भी इसी धारणा का अनुगमन कर लेते हैं। वेदशास्त्र की अपौरुषेयता से आविष्ट प्राचीन विद्वानों की ऐसी मान्यता है कि, प्रथम स्थान ऋक् यजुः--साम--अथर्व-रूपेण चतुर्द्धा विभक्त 'मूलवेद' का है, यही--'संहितावेद'-'मन्त्रवेद'-ब्रह्मवेद' आदिरूपेण अनेक नामों से व्यवहृत हुआ है। शाखात्मिका प्रत्येक मूलसंहिता का एक 'विधिग्रन्थ' होता है, एक--'आरण्यकग्रन्थ' होता है, एवं एक--'उपनिषद्ग्रन्थ' होता है। विधिवेद में 'कर्म्मकाण्ड' का निरूपण है, आरण्यकवेद 'उपासनाकाण्ड' से समन्वित है, एवं उपनिषद्वेद ज्ञानकाण्ड

का निरूपक है । कर्म्म, उपासना, ज्ञान, इन तीन निष्ठाओं के प्रतिपादक, विधि आरण्यक–उपनिषत्–रूप से तीन भागों में विभक्त वेद के इस विभाग को ही 'तूलवेद' कहा जासकता है, एवं यही 'ब्राह्मणवेद' नाम से प्रसिद्ध है । इसप्रकार ब्रह्म–ब्राह्मणात्मक, किंवा मन्त्र–ब्राह्मणात्मक, संहिता, विधि–आरण्यक–उपनिषत्–रूपेण चतुर्द्धा विभक्त, मूल–तूलात्मक इसी वाङ्मय–शब्दात्मक–ब्रह्म का नाम है–'वेदशास्त्र', जिसका अन्तिम भाग इस दृष्टि से सचमुच ही तो ज्ञानकाण्डात्मक 'उपनिषद्भाग' प्रमाणित होरहा है । अतएव अवश्य ही उपनिषद्भाग को वेद का अन्तिम भाग होने से–'वेदान्त' नाम से समन्वित माना जासकता है ।

३–विधि भागानुगत-कर्म्मानुबन्धी-प्रज्ञाविभ्रामक-परस्पर-विरोधी-वेदवचनों के विरोध-परिहार से समन्वित भगवान् जैमिनि की 'द्वादशलक्षणी' नाम की 'पूर्वमीमांसा' का संस्मरण, और तन्निबन्धन विधिवचन-समन्वय—

वेद के विधि-भागात्मक ब्राह्मणग्रन्थों में कर्म्म के प्रतिपादक श्रुतिवचनों में अनेक स्थानों में मानव की सामान्य प्रज्ञा को विभ्रम होजाता है । फलतः–इन 'विधि–वचनों' में परस्पर, तथा पूर्वापर विरोध प्रतीत होने लगता है । विधिवेद के श्रुतिवचनों के इस सम्भावित विरोध–परिहार के लिए ही, दूसरे शब्दों में कर्म्म–प्रतिपादक विधिवचनों के द्वारा निर्दिष्ट कर्म्मों के यथावत्–समन्वय–व्यवस्थापन के लिए ही सुप्रसिद्ध–'पूर्वमीमांसादर्शन' का आविर्भाव हुआ है, जिसके कर्त्ता भगवान् जैमिनि हैं । अतएव यह दर्शनग्रन्थ–'जैमिनिसूत्र' नाम से प्रसिद्ध होगया है । द्वादश (१२) अध्यायों के सम्बन्ध से 'द्वादशलक्षणी' नाम से प्रसिद्धा जैमिनिसूत्रात्मिका 'पूर्वमीमांसा' ब्राह्मणवेद के कर्म्मकाण्डप्रधान विधिभाग के वचनों की ही मीमांसा कर रही है ।

४–आरण्यक भागानुगत-उपासनानुबन्धी-विरोधात्मक-वचनों के समन्वय से अनुप्राणित भगवान् शाण्डिल्य की परानुरक्तिस्वरूपानुगता 'मध्यमीमांसा' का संस्मरण—

तथैव दूसरे 'आरण्यक' विभाग में उपासना के प्रतिपादक वचनों के समन्वय के लिए प्रवृत्त दूसरा सूत्रग्रन्थ ही–'शाण्डिल्यसूत्र' है, जिसने–'सा परानुरक्तिरीश्वरे' (शा० सू०) रूपेण औपासनिक–तथ्यों का ही समन्वय किया है । क्रमानुपात से इस शाण्डिल्यदर्शन को हम मध्यमीमांसा कह सकते है, जिसका विशेष प्रचार नहीं है ।

५–उपनिषद्भागानुगत–ज्ञानानुबन्धी-विरोधात्मक-वचनों के समन्वय से अनुप्राणित भगवान् बादरायण की ब्रह्मजिज्ञासानुगता 'उत्तरमीमांसा' का संस्मरण, और तन्निबन्धन ब्रह्म-समन्वय (ज्ञानसमन्वय)—

तथैव च तीसरे 'उपनिषत्' विभाग में ज्ञानके प्रतिपादक वचनों के समन्वय के लिए प्रवृत्त तीसरा क्रमप्राप्त सूत्रग्रन्थ ही–'व्याससूत्र', किंवा 'भिक्षुसूत्र' नाम से प्रसिद्ध है, जिसके–'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस उपक्रमसूत्र से ज्ञानमय ब्रह्म का समन्वय ही परिलक्षित है । यही क्रमानुपातसिद्ध 'उत्तरमीमांसादर्शन' है ।

६-'मीमांसा' रूप एक ही शास्त्र के जैमिनि-शाण्डल्य-व्यास-नामक-आचार्य्यभेद से तीन क्रमसंस्थान, तदनुप्राणिता पूर्व-मध्य-उत्तर-त्रयी, एवं उत्तरमीमांसात्मक-व्यासदर्शन की 'वेदान्तदर्शन' अभिधा का वेद के अन्तिम-भागरूप-'उपनिषत्' शब्द के माध्यम से समन्वय-प्रयास, तथा मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र से अनुप्राणित भूल तूल-वेदों का तालिका के माध्यम से दिग्दर्शन-

इसप्रकार एक ही मीमांसादर्शन, विधि-आरण्यक-उपनिषद्-ग्रन्थों में उपात्त वचनों की समन्वयात्मिका पूर्वापरमीमांसा-के लिए प्रवृत्त एक ही मीमांसाशास्त्र 'जैमिनि-शाण्डिल्य-व्यास' नामक तीन आचार्य्यों के भेद से क्रमशः पूर्व-मध्य-उत्तर-रूपेण तीन मीमांसाग्रन्थों में परिणत होगया है। इन तीनों में तीसरा, किंवा अन्तिम ब्रह्मसूत्रात्मक उत्तरमीमांसादर्शन क्योंकि वेद के अन्तिमभागरूप, अतएव-'वेदान्त' नाम से प्रसिद्ध उपनिषद्ग्रन्थों की ही, तद्वचनों की मीमांसा कर रहा है। अतएव यह अन्तिम दर्शन भी ताच्छब्द्यन्याय से 'वेदान्तदर्शन' नाम से प्रसिद्ध होगया है, जिस इस दृष्टि से वेद के मध्य भागरूप आरण्यक-वचनों का समन्वय करने वाले शाण्डिल्य-सूत्रात्मक मध्यमीमांसादर्शन का 'वेद-मध्यदर्शन' नाम होजाना चाहिए, एवं वेद के आदिभागरूप विधिवचनों का समन्वय करने वाले जैमिनि-सूत्रात्मक पूर्वमीमांसादर्शन का 'वेदादिदर्शन' नाम होजाना चाहिए। और इस दृष्टि से निम्न लिखितरूपेण प्राचीनाभिमत-दृष्टिकोण का सभी को अभिनन्दन ही करते रहना चाहिए। किन्तु १······।

१-(१)-ऋक्-यजुः-साम-अथर्व-भेदभिन्नः-मूलवेदः-संहितावेदः-ब्रह्मवेदो वा

२-(१)-विधिवेदः-कर्म्मानुगतः-——तद्वचनमीमांसनमेव-वेदादिदर्शनम् (पूर्वमीमांसा-जैमिनिसूत्राणि)
३-(२)-आरण्यकवेदः-उपास्त्यनुगतः-तद्वचनमीमांसनमेव-वेदमध्यदर्शनम् (मध्यमीमांसा-शाण्डिल्यसूत्राणि)
४-(३)-उपनिषद्वेदः-ज्ञानानुगतः-——तद्वचनमीमांसनमेव-वेदान्तदर्शनम् (उत्तरमीमांसा-व्याससूत्राणि)
(तूलवेदः-ब्राह्मणवेदो वा)

* * * *

७-प्राचीनदृष्टि की मान्यतानुगता समादरणीय, किन्तु तत्त्वदृष्टिलक्षणा-समन्वयात्मिका-सनातनदृष्टि के समतुलन में तथाविधा दृष्टि का गौणत्व, तन्निबन्धन वेदापौरुषेयत्व-संस्मरण, 'उपनिषत्' शब्द की प्राचीनानुगता 'निरूढता' का 'यौगिकता' के द्वारा निराकरण, एवं खण्डत्रयात्मिका-उपनिषद्भूमिका का संस्मरण—

प्राचीनदृष्टि अवश्य ही लोकसंग्रहदृष्टया मान्या, एवं आदरणीया है। किन्तु ज्ञानविज्ञान-समन्वयात्मिका तत्त्वदृष्टिलक्षणा सनातनदृष्टि के समतुलन में मान्यता का वही स्थान शेष रह जाता है, जो कि स्थान तत्त्वात्मक-नित्यसिद्ध-कूटस्थ-अपौरुषेय-वेद के समतुलन में तत्प्रतिपादक शब्दात्मक वेदशास्त्र का माना गया है। अतएव न तो एकहेलया 'उपनिषत्' शब्द को अमुक ग्रन्थविशेषों में निरूढ ही माना जासकता। अतएव च नापि 'उपनिषत्' शब्द को वेद के अन्तभाग के समर्थक-'वेदान्त' शब्द से ही समन्वित किया जासकता।

अपितु उपनिषत्–शब्द तो सर्वथा वैसा यौगिक शब्द ही है, जिसका वेद के विविवचनों के साथ भी समन्वय होसकता है। तथैव च मूलसंहिता के मूलमन्त्रों के साथ भी उपनिषत्–शब्द का समन्वय किया जासकता है, जिस इस तात्त्विक रहस्यपूर्ण–तथ्य का–'खण्डत्रयात्मिका–उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका' के प्रथमखण्डान्तर्गत–'उपनिषच्छब्दरहस्य' नामक अवान्तर प्रकरण में विस्तार से निरूपण–किया जाचुका है, जिसके सम्बन्ध में सन्दर्भ–समन्वय के लिए निम्नलिखितरूपेण दो शब्दों का संस्मरण ही पर्य्याप्त मान लिया जायगा।

८-'उप-नि-षत्'-भावापन्न अत्यन्त रहस्यपूर्ण 'उपनिषत्' शब्द के यौगिकभाव से अनुप्राणित-निर्वचनात्मक वैज्ञानिक-लक्षण का स्वरूप–समन्वय, एव मौलिक-उपपत्ति-रूप-रहस्यात्मक-औपनिषदज्ञान का संस्मरण—

'उप–नि–षत्'–भावापन्न 'उपनिषत्' शब्द का यौगिक–अर्थ है–वह मौलिक रहस्य, मौलिक विज्ञान, मौलिक तथ्य, जिसके परिज्ञान से मानवीय मन 'विद्या, और श्रद्धा पूर्वक तद्विज्ञानरहस्य के द्वारा सिद्ध तल्लक्ष्य के समीप–सन्निकट–निर्भ्रान्तरूपेण–निश्चयरूपेण–सन्देहरहितवृत्त्या पहुँच जाया करता है, प्रतिष्ठित होजाया करता है। अतएव—'**येन रहस्यात्मकविज्ञानेन, यया वा विज्ञानात्मिकया उपपत्त्या मानवीयं-मन: यस्मिन् लक्ष्ये सामीप्येन निर्भ्रान्त–निश्चयरूपेण सीदति, प्रतिष्ठितो भवति, सा–उपपत्तिरेव (तद्विज्ञानमेव–रहस्यमेव) तल्लक्ष्यस्य-उपनिषत्'-उप–[समीपे]–नि–[निर्भ्रान्तरूपेण–निश्चय-रूपेण]–षत्–[सीदति प्रतिष्ठितो भवति]**–ही '**उपनिषत् शब्द**' का तात्त्विक अर्थ समन्वय है।

९–विश्वानुगत–आचारात्मक–लक्ष्यों का शास्त्रदृष्ट्या त्रिधा वर्गीकरण, तन्निबन्धना आश्रमत्रयी, तन्मूलाधारभूत 'ब्रह्मचर्य्याश्रम' नामक प्रथम आश्रम, एवं तन्निबन्धना मानवधर्म्मानुबन्धिनी सुव्यवस्था जीवनपद्धति का संस्मरण—

विश्वानुगत-आचारात्मक लक्ष्य-शास्त्रदृष्ट्या तीन ही माने गए हैं, जिन का मानव की आश्रमत्रयी से क्रमिक सम्बन्ध है। सामाजिक-व्यवस्थानुबन्धिनी-वर्णव्यवस्था की भाँति मानव के व्यक्तित्व-विकास के लिए, किंवा निष्ठाभाषा के अनुसार मानव के सहजसिद्ध ज्ञानकर्म्मात्मक व्यक्तित्व के संरक्षण के लिए शास्त्रने **ब्रह्मचर्य्य, गृहस्थ, वानप्रस्थाश्रम, संन्यासाश्रम,** ये चार आश्रम माने हैं, जिन के आधार पर ही मानव की मानवता, किंवा मानवधर्म्मानुबन्धिनी जीनवपद्धति सुव्यवस्थित रह सकती है। इन चारों में आरम्भ का ब्रह्मचर्य्याश्रम स्वतन्त्र लक्ष्य नहीं है। स्वतन्त्र लक्ष्य शेष तीन आश्रम हीं माने गए हैं।

१०-'ब्रह्म' के पारिभाषिक मौलिक-स्वरूप का दिग्दर्शन, तदनुगता लक्ष्यत्रयी, प्रज्ञानात्मानुगता जीवनधारा, ज्ञानविज्ञानात्मक-प्रथमाश्रम, एवं ब्रह्मचर्य्यनिबन्धना प्रथमावस्था के सवमूर्द्धन्यत्त्व का संस्थापन, तथा तदनुगता लक्ष्यपूर्त्ति का समन्वय —

'ब्रह्म' नाम है-स्वाध्यायतपःसाध्य-ज्ञानविज्ञानात्मकज्ञान-विज्ञानात्मक मौलिक ब्रह्म का, जिस इस ब्रह्म प्रतिष्ठा के आधार पर ही मानव की लक्ष्यत्रयी प्रतिष्ठित है। सर्वलक्ष्याधारभूत, आचारात्मिका-कर्त्तव्यनिष्ठात्रयी के आधारभूत इस मौलिक ब्रह्म के मौलिक रहस्य को स्वाध्याय–तप के द्वारा उक्थरूप से अपने 'प्रज्ञानात्मा'

में प्रतिष्ठित करने वाली आरम्भ ही जीनवधारा का ही नाम है–"ब्रह्मचर्य्याश्रम",-अर्थात् ज्ञानविज्ञानात्मक–तत्त्व–प्राप्ति–आश्रम, जो उत्तरभावी लक्ष्यों का मूलाधार माना गया है। जबतक ब्रह्मचर्य्याश्रमानुगता प्रारम्भिकी जीवनव्यवस्था के द्वारा मानव इस तत्त्वबोध से समन्वित नहीं होजाता, तबतक उसे कदापि आगे के किसी भी आश्रमजीवन का अधिकार नहीं मिल सकता। क्योंकि प्रकृतिसिद्ध रहस्यज्ञान से वञ्चित मानव के ज्ञान–कर्म्म–उपासना–आदि सभी उत्पथपथानुगामी बनते हुए इष्ट के स्थान में अनिष्ट के ही कारण बन जाया करते हैं, और वैसे उत्पथपथानुगामी ही अपने व्यक्तित्व–विमोहनात्मक–उच्छृङ्खल–ज्ञान–कर्म्म–भावों का दम्भ करते हुए शास्त्रसिद्ध–तत्त्वबोध को जनजीवन के लिए अनुपयोगी ही घोषित करते रहते हैं। तत्त्वबोधाभाव में न तो शास्त्रीय लक्ष्य ही समन्वित होपाते, न लौकिक लक्ष्य ही। अतएव शास्त्र को कहना पड़ा है कि—

> ज्ञात्वा कर्म्माणि कुर्वीत, नाज्ञात्वा कर्म्म आचरेत्।
> अज्ञानेन प्रवृत्तस्य स्खलनं स्यात् पदे पदे॥

११–ज्ञानविज्ञानात्मिका 'ब्रह्मसम्पत्ति' का दिग्देशकालानुबन्धिनी-प्राकृतिक-बुद्धि से आत्यन्तिक-विभेद, ब्रह्मानुगत 'बोध', और बुद्धि से अनुगता 'बुद्धिमानी' का तारतम्य, तथा बोधनिष्ठ-नैष्ठिक-प्रज्ञाशील मानव के समतुलन में बुद्धिभावुक–बुद्धिमान्-मानव के श्लथ-स्वरूप का दिग्दर्शन-प्रयास—

ज्ञानविज्ञानात्मिका बोध-सम्पत्ति ही मानव की 'ब्रह्मपम्पत्ति' है, जो दिग्देशकालानुबन्धिनी प्राकृत बुद्धि से सर्वथा विभिन्न वस्तुतत्त्व है *। अतएव बोधात्मक ब्रह्म को आधार बना कर किया जाने वाला कर्म्म अन्य पक्ष है, एवं बुद्धिमानी को अग्रणी बनाकर किया जाने वाला कर्म्म विभिन्न पक्ष है। अर्जुन की लक्ष्य–च्युति जहाँ अर्जुन की बुद्धिमानी कही जायगी, वहाँ स्वधर्म्मात्मक कर्त्तव्यकर्म्मात्मक युद्धकर्म्मलक्ष्य की अनुगति को बोधात्मक माना जायगा। निष्ठात्मक लक्ष्यों का आधार जहाँ ब्रह्मसम्पत्तिरूप 'बोध' बना रहता है, वहाँ भावुकतापूर्ण हीन लक्ष्यों की सहयोगिनी बोधवञ्चिता 'बुद्धि', किंवा-'बुद्धिमानी' मानी गई है। इसी तथ्य के आधार पर संस्कृत–साहित्य में 'प्रज्ञाशील', तथा 'बुद्धिमान' ये दो शब्द नियत हैं। बोधनिष्ठ जहाँ 'प्रज्ञाशील' हैं, प्रज्ञावदातश्च मूर्त्ति है, वहाँ बुद्धिभावुक ही–'बुद्धिमान्' है।

१२–बोधनिष्ठ-परिणामदर्शी-नैष्ठिक मानव, तथा बुद्धिभावुक-तत्कालवादी-भावुक-मानव से अनुप्राणित रहस्य-पूर्ण-उद्बोधनात्मक-'लोकसूत्र'-का संस्मरण—

बोधनिष्ठ कदापि अविचारितरमणीयता से हठात् किसी लक्ष्य पर आरूढ नहीं होजाता। विचारपरामर्शानन्तर यदि वह प्रज्ञाशील लक्ष्यारूढ बन जाता है, तो उसे सर्वात्मना सम्पन्न कर के ही विश्राम लेता है, जबकि बुद्धिमान् भावुक मानव तात्कालिक–प्रभावाकर्षण से हठात् यथेच्छ लक्ष्यों का आरम्भ तो कर देता है आवेशपूर्वक, किन्तु उस का ऐसा सहसा–कृत–उपक्रान्त लक्ष्य कदापि सर्वाङ्गीण नहीं बनने पाता। अतएव

*–देखिए-'दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा'–निबन्ध का आचारसमन्वयात्मक-तृतीय प्रकरण।

लोकसूत्र है कि-'बोधनिष्ठ नैष्ठिक कार्य्य आरम्भ करना नहीं जानता, अपितु समाप्त करना, सम्पन्न करना ही जानता है । और बुद्धिभावुक-मानव कार्य्य आरम्भ करना हीं जानता है, किन्तु उसे सर्वात्मना कदापि साङ्गोपाङ्ग सम्पन्न नहीं कर सकता' ।

१३-नैष्ठिक प्रज्ञाशील सहज मानव, तथा भावुक बुद्धिमान् प्राकृत मानव के लोकानुबन्धी स्वरूपों का दिग्दर्शन, एवं 'बोध' शब्द के रहस्यार्थ का समन्वय-प्रयास—

प्रज्ञाशील—बोधनिष्ठ को प्रावाहिक—भाषा में हम—'समझदार' कह सकते हैं, तो बुद्धिभावुक—बुद्धिमान् को—'अक्लमन्द' कहा जासकता है । लोकशिक्षा से असंस्पृष्ट भी एक संस्कारी बोधनिष्ठ—'समझदार' होसकता है, तो लोकशिक्षापटु एक बुद्धिमान् भी 'बोध' के अभाव में 'मूर्ख' ही मान लिया जासकता है । इन दोनों विभिन्न भावों में 'बोध' का ही नाम है वास्तविक—तथ्यपूर्ण—ज्ञान, इसी के द्वारा मानव की बुद्धि वस्तु के, लक्ष्य के प्रकृति—सिद्ध—कार्य्यकारण से सर्वात्मना अवगत होजाती है ।

१४-कार्य्यकारणरहस्यात्मिका-'विद्या',—सत्यत्त्व-धारणानुगता-'श्रद्धा', एवं आत्मबोधात्मिका-'उपनिषत्'—नाम की शब्दत्रयी का निर्वचनात्मक समन्वय, और तन्निबन्धन लक्ष्यों की साङ्गोपाङ्गा पूर्णता का स्वरूप-दिग्दर्शन—

लक्ष्यानुगत—लक्ष्यसंसिद्धक प्रकृतिसिद्ध—बोधानुगत—इस 'कार्य्यकारण' का नाम ही है-'विद्या' । रहस्यज्ञानात्मक बोध पर प्रतिष्ठिता कार्य्यकारणात्मिका यह विद्या मानवीय मन में अनुकूल रसप्रवाहात्मिका-स्नेहगुणान्विता-भार्गवी—सौम्या वह वृत्ति जागरूक—कर देती है, जिस के सम्बन्ध से मानवीय मन लक्ष्य के प्रति सत्यधारणा - पूर्वक एकनिष्ठ बन जाया करता है । वही सौम्यावृत्ति कहलाई है—'श्रत्' नामक सत्य—धारणा -सम्बन्ध—से—'श्रद्धा' । एवं आरम्भ का ज्ञानविज्ञानरहस्यात्मक-बोध ही कहलाया है-'उपनिषत्' । इसप्रकार आत्मबोधात्मिका 'उपनिषत्', तन्मूला कार्य्यकारणात्मिका विद्या, एवं तन्मूला तत्त्वत्त्वधारणात्मिका श्रद्धा, इन तीन आधारस्तम्भों को अपने लक्ष्य की मूलप्रतिष्ठा बना लेने वाला मानव निश्चयेन अपने सत्यसंकल्प से दृढतमरूपेण आस्थित होजाता है, एवं आस्थापूर्ण ऐसे सत्यसंल्प से अनुप्राणित उस के निर्द्धारित लक्ष्य भी सर्वात्मना-साङ्गोपाङ्ग-सम्पन्न होते हुए सशक्त-सवीर्य्य बन जाते हैं । इसी तथ्य को लक्ष्य बना कर उपनिषच्छ्रुति ने कहा है—

"नाना (भिन्ना) तु विद्या च अविद्या च । स मदेव 'विद्यया' करोति, 'श्रद्धया', च 'उपनिषदा'—तदेव वीर्य्यवत्तरं भवति" ।

—छान्दोग्योपनिषत् १।१।१०।

१५-'उपनिषदा करोति'-श्रुतिवचन के 'उपनिषदा' शब्द का यौगिकार्थ समन्वय, गृहस्थाश्रमानुप्राणित यज्ञ-तपो-दान-इष्ट-आपूर्त्त-दत्त-रूप कर्म्मात्मक लक्ष्यों, वानप्रस्थाश्रमानुप्राणित उपासनात्मक-लक्ष्यों, तथा निष्कामकर्म्मरूप-ज्ञानात्मक-लक्ष्यों से अनुगत व्यापक-भावात्मक 'उपनिषत्'-शब्द का संस्मरण —

उपनिषद्-ग्रन्थ का उक्त 'उपनिषदा' शब्द निश्चयेन पूर्वोक्त यौगिकार्थ को ही अभिव्यक्त कर रहा है । अतएव हम गृहस्थाश्रम से अनुप्राणित यज्ञ—तपो—दान—इष्ट—आपूर्त्त—दत्त-लक्षण यथयावत् 'प्रवृत्ति-

कर्म्मात्मक' कर्म्म-लक्ष्यों को, वानप्रस्थानुगत-निवृत्तिकर्म्मात्मक उपासना-लक्ष्यों को, तथा संन्यस्ताश्रमानुगत-अबन्धन-यज्ञार्थकर्म्मात्मक-निष्कामकर्म्मरूप-ज्ञान-लक्ष्यों को, इन तीनों हीं लक्ष्यों को उपनिषत्, विद्या, श्रद्धा, इन तीनों मूलस्तम्भों से समन्वित मानेंगे, माना गया है स्वयं शास्त्र के द्वारा ऐसा ही। एवं इसी आधार पर यह कहा, और मान लिया जायगा कि, 'उपनिषत्' शब्द किसी भी ज्ञानविशेषलक्ष्य में निरूढ न होकर सभी शास्त्रीय-लक्ष्यों से समन्वित है।

१६-ज्ञान-कर्म्म-भक्ति-आदि शास्त्रीय क्षेत्रों से, तथा लौकिक-क्षेत्रों से समानरूपेण अनुगत 'उपनिषत्' शब्द की सर्वव्याप्ति, एवं तन्निबन्धन सत्योपनिषत्-दमोपनिषत्-दानोपनिषत्--तप--उपनिषत्--त्यागोपनिषत्--सुखोपनिषत्--स्वर्गोपनिषत्--शमोपनिषत् आदि पारिभाषिक-यौगिक-उपनिषच्छब्दों का नाम--संस्मरण, तथा तन्निबन्धन व्यासवचन—

न केवल-शास्त्रीय-लक्ष्यों-कर्म्मों से हीं, अपितु अपनी यौगिकता से तो उपनिषत्-शब्द लौकिक लक्ष्यों, लौकिक कर्म्मों का भी समन्वयाधार प्रमाणित होरहा है। प्रत्येक कर्म्म, प्रत्येक उपासना, प्रत्येक-भक्ति, प्रत्येक ज्ञान, चाहे वह शास्त्रीय हो, अथवा लौकि-अपने मूल में एक मौलिक ज्ञानविज्ञान रखता है, वही उस प्रत्येक की उपनिषत् है। प्रत्येक अपना निश्चित कार्य्यकारण रखता है, वही उस प्रत्येक की विद्या है। एवं प्रत्येक के प्रति उपनिषत्-विद्या-नुबन्धत्वेन सत्वत्त्वधारण रहता है, वही प्रत्येक की श्रद्धा है। उदाहरण के लिए वेद की उपनिषत् सत्यात्मक-ऋषिप्राणमूर्ति **स्वयम्भू** सत्य है। इसी आधार पर क्योंकि वाङ् मय-व्यावहारिक-सत्य प्रतिष्ठित है। अतएव इस व्यावहारिक-वाक्सत्य को वेदशास्त्र की उपनिषत् कहा जासकता है। वाक्सत्यरूप सत्य की उपनिषत् 'दम' है। दम की उपनिषत् दान है। दान की उपनिषत् 'तप' है। तप की उपनिषत् 'त्याग' है। त्याग की उपनिषत् 'सुख' है। सुख की उपनिषत् 'स्वर्ग' है, और की उपनिषत् 'शम' है। इसप्रकार 'उपनिषत्' शब्द अपनी यौगिकता से सत्य-दम-दान-तप-त्याग-सुख-स्वर्ग-शम आदि सभी लोकानुबन्धों में व्याप्त होरहा है। क्या यह हमारी कल्पनामात्र है?। अब्रह्मण्यम्! अब्रह्मण्यम्!! कल्पना का आविर्भाव-तिरोभाव हुआ करता है वहाँ, जहाँ मूल में उपनिषत्, तथा श्रद्धा का अभाव रहा करता है। हमारा अपना बुद्धिवाद तो सर्वथा परिसमाप्त ही है इस स्वाध्यायक्षेत्र में। 'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणन्ते' आदेश ही हमारी विचारसरणि का एकमात्र राजपथ है, जिससे अनुप्राणित पुराणपुरुष भगवान् के निम्न लिखित शब्दप्रामाण्य के आधार पर ही हमने सत्य-दम-दानादि व्यवहार्य्य-भावों के साथ 'उपनिषत्' शब्द का सम्बन्ध समन्वित माना है।

> वेदस्योपनिषत्—'सत्यम्', सत्यस्योपनिषत्--'दमः' ॥
> दमस्योपनिषत्---'दानम्', दानस्योपनिषत्--'तपः' ॥१॥
> तपसोपनिषत्---'त्यागः', त्यागस्योपनिषत्-'सुखम्' ॥
> सुखस्योपनिषत्---'स्वर्गः', स्वर्गस्योपनिषत्-'शमः' ॥२॥
>
> —महाभारत, शान्तिपर्व, मोक्ष० २५१ अ०।११,१२, श्लो०।

१७- मान्यतावादियों की ऐतिह्य-वचनों से असन्तुष्टि, मन्त्रसंहिता का संस्मरण, और तन्निबन्धन 'उपनिषत्' शब्द के यौगिकार्थ का पारिभाषिक-समन्वय-प्रयास—

मान्यतावादी सम्भव है, उक्त ऐतिह्य-वचन से सर्वात्मना सन्तुष्ट न हों, और यह कहने लग पड़ें कि, वह प्रसङ्ग दूसरा है, और विधि-आरण्यक-उपनिषत्-रूप वेद का प्रसङ्ग उससे सर्वथा भिन्न है। तो उनके अनुरञ्जन के लिए हम उनसे प्रणतभाव से यही निवेदन करेंगे कि, जिसे वे मूलसंहिता के मन्त्र-मानते हैं, उनकी अमुक-समष्टि ही आज–'ईशोपनिषत्' नाम से प्रसिद्ध है। **यजुर्वेदसंहिता का ४० वाँ अध्याय ही 'ईशोपनिषत्' नाम से प्रख्यात है**। इसप्रकार विधि, और आरण्यक की कौन कहे, स्वयं मन्त्रसंहिता के, मूलवेद के मन्त्र भी उपनिषत् शब्द से समन्वित होरहे हैं। मान्यतावादी पुन: कहेंगे कि, प्रश्न प्रक्रान्त है विधि-आरण्यकादिरूप ब्राह्मणवेदात्मक तूलवेद का, जिसके साथ मन्त्रसंहिता का प्रसङ्ग अनुचित है। ओमित्येतत्। तो अब इन मान्यतावादी प्राचीनों के अनुरञ्जन के लिए हम स्वयं तूलवेदभाग के साथ ही-उपनिषत् शब्द का सम्बन्ध प्रयास कर लेते हैं अपनी आस्थापूर्णा-श्रद्धा-माता के अनुग्रह से ही।

१८–वाक्तत्त्व, और उसकी 'अग्नि' रूपा उपनिषत्, ब्राह्मणग्रन्थों, आरण्यकग्रन्थों, तथा उपनिषद्ग्रन्थों से अनुगत 'उपनिषत्' शब्द की व्याप्ति का समन्वय-प्रयास, एवं तन्निबन्धन विधि-आरण्यक-उपनिषद्वचनों का संस्मरण—

अग्नि का मौलिक-स्वरूप क्योंकि यजुर्म्मय वाक्तत्त्व ही माना गया है, अतएव **'वाक्'** को अवश्य ही अग्नि की 'उपनिषत्' माना जासकता है, माना गया है। पाञ्चभौतिक-विश्व वाङ्मय है। वाङ्मय **आकाश** ही बलचिति के कारण उत्तरोत्तरभाविनी ग्रन्थियों के द्वारा क्रमशः **वायु-तेज-जल-मृत्-रूप** में परिणत होता हुआ पञ्चभूतात्मक बना हुआ है। अतएव सर्वभूतव्यापक, शब्दतन्मात्रारूप, गुणभूतात्मक वाक्तत्त्व को सम्पूर्ण भौतिक विश्व की, एवं भौतिकी चर-अचर-प्रजा की उपनिषत् माना जासकता है, जैसाकि-**'वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता'**-'अथो वागेवेदं-सर्वम्'-इत्यादि तैत्तिरीय-ऐतरेय-वचनों से प्रमाणित है। तदित्थं-**'विधि'** नामक ब्राह्मणग्रन्थों में, तथा **'आरण्यक'** ग्रन्थों में प्रत्येक कर्म्म, प्रत्येक शब्द की तथैव समन्विता ज्ञानविज्ञानात्मिका उपपत्तिरूपा, विद्या-तथा-श्रद्धा की आधारभूता **'उपनिषत्'** भी सदैव उद्धृत रहती है, जैसाकि निम्न लिखित कतिपय तद्वचनों से स्पष्ट है। विधिभाग, और आरण्यकभाग में उपात्त ये **'उपनिषत्'** शब्द क्या निरूढ-ग्रन्थ-विशेषों के नाम हैं ?। स्वयं अपनी प्रज्ञा से ही समन्वयानुग्रह कीजिए !

(१)-तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत् (शत० ब्रा० १०।५।१।)।

(२)-अथादेशा–उपनिषदाम् (शत० १०।४।५।१)।

(३)-तस्य वा एतस्य यजुषः--'रस' एवोपनिषत् (शत० १०।३।५।१२।)।

(४)-सैषा सम्वत्सरस्योपनिषत् (शत० १२।२।२।२३।)।

(५)–तस्योपनिषत्--'न याचयेत्'–इति (शाङ्खायनारण्यक--४।१।)।

(६)-अथातः संहिताया उपनिषत् (शां० आ० ७।२।)।

(७)--अथ खल्वियं सर्वस्यै वाच–उपनिषत् (ऐतरेय आरण्यक ३।२।५।)।

१९–'बृहदारण्यकोपनिषत्' 'ईशोपनिषत्'-'भगवद्गीतोपनिषत्'–इत्यादि सुप्रसिद्ध 'उपनिषत्' शब्दों की यौगिकता, एवं ज्ञानविज्ञानात्मिका-मौलिक-उपपत्ति से अनुप्राणित 'उपनिषत्' शब्द के व्यावहारिक–दृष्टिकोण का समन्वय—

तभी तो विधिभागात्मक शतपथब्राह्मणग्रन्थ के सर्वान्त के चौदहवें काण्ड का—'बृहदारण्यकोपनिषत्' यह नामान्तर समन्वित हुआ है। तभी तो यजुःसंहिता का अन्तिम--अध्याय--'ईशोपनिषत्' नाम से प्रख्यात है। इसीलिए गीताशास्त्र--'स्मृति' स्थानीय बनता हुआ भी कर्म्मकौशलात्मिका कर्म्मोपनिषत् का स्वरूप-विश्लेषण करने के कारण--'भगवद्गीतोपनिषत्' रूपेण विश्व में--'उपनिषत्' नाम से प्रसिद्ध होगया है। अब इस सम्बन्ध में केवल एक विप्रतिपत्ति शेष रह जाती है, और वह यही कि—यदि 'उपनिषत्' शब्द 'ज्ञानविज्ञानात्मिका-मौलिक-उपपत्ति' से समन्वित रहता हुआ यौगिक अर्थ से ही अनुप्राणित है, तो फिर अमुक–ग्रन्थविशेष ही क्यों, और किस आधार पर--'उपनिषत्' नाम से प्रसिद्ध होगए, एवं उपनिषत्-शब्द के यौगिकार्थ से समन्वित विधिग्रन्थ, और आरण्यकग्रन्थ क्यों नहीं 'उपनिषत्' नाम से लोकव्यवहार में प्रसिद्ध हुए ?। इस विप्रतिपत्ति के निराकरण के लिए उपनिषद्भूमिका--ग्रन्थ ही द्रष्ट है।

२०–ज्ञातव्य–कर्त्तव्य–समन्वयात्मक वेदशास्त्र के ज्ञातव्यभागात्मक मन्त्रभाग से अनुप्राणिता विज्ञान–स्तुति-इतिहास–त्रयी, तथा कर्त्तव्यात्मक–विधि–आरण्यक–उपनिषत्–रूपेण–त्रिधा विभक्त–ब्राह्मणभाग से अनुप्राणिता कर्म्म–उपास्ति-ज्ञान-त्रयी से अनुगता-प्रवृत्तिकर्म्म-निवृत्तकर्म्म–निष्कामकर्म्म-त्रयी का संस्मरण, और ज्ञातव्य–कर्त्तव्य–वेद भागों का परस्पर–अन्योऽन्याश्रयत्व—

अब इस सम्बन्ध में एतावन्मात्र निवेदन करके ही यह उपनिषच्छब्दार्थ-प्रसङ्ग उपरत होरहा है कि, ज्ञातव्य-कर्त्तव्य–समन्वयात्मक–वेदशास्त्र यद्यपि अवारपारीणरूपेण एक ही पटरूप एक ही शास्त्र है, जिसके कर्त्तव्यगर्भित--ज्ञातव्यप्रधान, एवं ज्ञातव्यगर्भित कर्त्तव्यप्रधान भेद से मन्त्र, ब्राह्मण–रूपेण दो–स्वतन्त्र महिमा-विवर्त्त मान लिए गए हैं। विज्ञान–स्तुति–इतिहास, रूपेण त्रिधा विभक्त, ज्ञानविज्ञानात्मक-सृष्टिरहस्यात्मक-ज्ञातव्यविषयों का प्रमुखरूप से, तथा प्रवृत्तिकर्म्म, निवृत्तिकर्म्म, निष्कामकर्म्म, भेद से कर्त्तव्यविषयों का गौणरूप से–सूत्ररूप–से निरूपण करने वाला वेदशास्त्र ही–'मन्त्रवेदशास्त्र' नाम से प्रसिद्ध होगया है, जिसके इस ज्ञानविज्ञानात्मक–ज्ञातव्यविषयों का सर्वाङ्गीण–समन्वय तबतक सर्वथा असम्भव है, जबतक कि, हमारी प्रज्ञा कर्त्तव्यत्रयी को इस ज्ञातव्यत्रयी का लक्ष्य नहीं बना लेती।

२१–प्रवृत्तिभावानुबन्धी–षट्कर्म्म, निवृत्तिभावानुबन्धी–षट्कर्म्म, निष्कामभावानुबन्धी–षट्कर्म्म–त्रयी, तत्स्वरूप प्रतिपादक-त्र्यात्मक-'ब्राह्मणवेदशास्त्र' का मन्त्रवेदशास्त्राश्रयत्व–प्रतिपादन—

एवमेव प्रवृत्ति–भावानुबन्धी षट्कर्म्म, निवृत्तिभावानुबन्धी षट्कर्म्म, तथा निष्कामभावानुबन्धी षट्कर्म्म, इन तीनों कर्त्तव्यनिष्ठाओं का प्रमुखरूपेण, एवं विज्ञान-स्तुति-इतिहासात्मक, ज्ञानविज्ञानात्मक-रहस्यपूर्ण तथ्यों का गौणरूपेण निरूपण करने वाला वेदशास्त्र ही-'ब्राह्मणवेदशास्त्र' नाम से प्रसिद्ध होगया है, जिसके इस

कर्त्तव्यनिष्ठात्मक--कर्त्तव्यों का सर्वाङ्गीण समन्वय तबतक सर्वथा असम्भव है, जबतक कि हमारी प्रज्ञा ज्ञातव्य-त्रयी को इस कर्त्तव्यत्रयी का समन्वयात्मक आधार नहीं बना लेती ।

२२–मन्त्रात्मक-वेदशास्त्र से अनुप्राणिता 'तन्तुशास्त्रात्मिका' अङ्गशास्त्रता का निराकरण, तत्थाने च 'पटशास्त्रात्मिका'-अभिन्न–शास्त्रता का संस्थापन, और इत्थंभूत पारिभाषिक–समन्वय से असंस्पृष्ट कर्म्माभिनिविष्ट–कर्म्मठों की, तथा ज्ञानाभिनिविष्ट अद्वैतवादियों की अङ्ग–भङ्ग–मूला महती–भ्रान्ति के दुष्परिणामों की तत्त्वविमुखता का दिग्दर्शन—

इसी से यह भी स्वतः संसिद्ध है कि, वेदशास्त्र के किसी एक अङ्ग को लक्ष्य बना कर, तथा शेष अङ्गों को उपेक्षणीय मान कर कदापि न तो वैदिक--ज्ञातव्य-विषयों का ही समन्वय होसकता, एवं न कर्त्तव्य-निष्ठा का ही समन्वय होसकता। अतएव हमने इसे 'तन्तुशास्त्र' न मानकर-'पटशास्त्र' ही माना है। जिसप्रकार वस्त्र के एक कोण–ग्रहण से सम्पूर्ण वस्त्र गत्यनुगत होजाता है, तथैव वेद के किसी एक विषय को लक्ष्य बनाते ही सम्पूर्ण वेदशास्त्र सम्मुख उपस्थित होजाता है। अतएव "वेदशास्त्र का अमुक भाग अमुक विषय का प्रतिपादन करता हुआ अन्य वेदभाग से पृथक् है", इस भावुकतापूर्णा मान्यता का कदापि वेदशास्त्र के साथ यत्किञ्चित् भी सम्बन्ध नहीं है। यही तो वह प्रमुख हेतु है, जिसने वेदशास्त्र की पटात्मका अजस्रधारा का विगत--शताब्दियों में विच्छेद ही कर दिया गया है दिगदेशकाल--व्यामोहनानुबन्धों के माध्यम से। अतएव प्रवृत्तिकर्म्मात्मक विधिभाग में आविष्ट कर्म्मठ निष्कामकर्म्मात्मक उपनिषद्भाग से वञ्चित रह गए, एवं निष्कामकर्म्म का अर्थ केवल-'ज्ञान' मानने वाले अभिनिविष्ट ज्ञानी अद्वैतवादी विधिभागानुगता-कर्म्मसम्पत्ति, एवं संहितानुगता विज्ञानसम्पत्ति से पराङ्मुख बन गए।

२३–अङ्गविच्छेद--जनिता–महती–भ्रान्ति का गीताशास्त्र के दिगदेशकालानुबन्धी–वर्त्तमान--दृष्टिकोण के साथ समतुलन, वर्त्तमान गीताभक्तों के गीता के सम्बन्ध में काल्पनिक उद्गार, तन्निबन्धन-नीर क्षीर–विवेक, और भ्रान्तिनिराकरण–प्रयास—

इस अङ्गविच्छेदने हीं वेदार्थसमन्वयाधारभूता ज्ञातव्य--कर्त्तव्य--निबन्धना--मौलिक–पारिभाषाओं के समन्वय को विच्छिन्न कर दिया। इस पारिभाषिक–समन्वय से वञ्चित रह जाने के कारण हीं हमने तत्तदङ्गों के अभिनिवेश में हीं अपनी प्रज्ञा परिसमाप्त करली, उसीप्रकार–जैसे कि--आज का गीताभक्त केवल गीता को ही सर्वस्व मानकर तन्मूलभूत वेदशास्त्र से सर्वथैव पराङ्मुख होगया है--"**किमन्यैः शास्त्र-विस्तरैः**" इस भावुकतापूर्ण–प्ररोचनावाक्य के तथ्यसमन्वय में सर्वात्मना असमर्थ बना रहता हुआ। "**हम तो बस केवल गीता को, और उसके निष्कामकर्म्म को ही मानते हैं। अतएव इतर विधि--निषेधात्मक–आडम्बरपूर्ण ? शास्त्रप्रपञ्चों में हमें नहीं पड़ना**" जैसे भावुकतापूर्ण उद्गार अभिव्यक्त करते रहने वाले गीताभक्तों से क्या प्रणतभावपूर्वक यह प्रश्न नहीं किया जासकता कि, श्रीमन् ! क्या इस '**स्मार्त्ती-उपनिषत्**' ((गीतोपनिषत्) के एक शब्दार्थ का भी समन्वय कर सकेंगे आप श्रुतिशास्त्र की, एवं तदनुप्राणित

स्मृतिशास्त्र की पारिभाषाओं की उपेक्षा कर ?। अभ्युपगमवादहष्ट्या थोड़ी देर के लिए मान लेते हैं कि, आप अपने प्रखर बुद्धिवैभव से किसी भी पारिभाषिक-शास्त्र को आधार बनाए बिना हीं गीता के मर्म्म का विस्फोटन कर सकते हैं । ततः किम् ? । क्या उपलब्ध हुआ आचारात्मिका कर्त्तव्यनिष्ठा की दृष्टि से आपको इस गीतार्थविस्फोटन से ? ।

२४–मानव-जीवन के सहज-उत्कर्ष से सम्बन्ध रखने वाली कर्त्तव्यनिष्ठात्मिका आचारनिष्ठा से अनुप्राणिता विधि, और तत्सम्बन्ध में सर्वथैव तटस्थ गीताशास्त्र, एवं गीता की उपनिषदनुगता-तत्त्वों की 'स्मारकसूची'-परकता का दिग्दर्शन—

मानवीय जीवन-पद्धति के सहज उत्कर्ष से सम्बन्ध रखने वाली कर्त्तव्यनिष्ठा, आचारनिष्ठा का क्या आपने तद्विस्फोटनमात्र से समन्वय कर लिया ? । असम्भव । इसलिए कि गीता **आचारात्मक-विधिशास्त्र** नहीं है, अपितु आचारधर्म्मों-कर्त्तव्यकर्म्मों के ज्ञानविज्ञानात्मक-रहस्यों का, तदनुप्राणित उपनिषदों का ही प्रतिपादक शास्त्र है । गीता कोई निरूढ एक--'**उपनिषद्ग्रन्थ**' नहीं है । अपितु गीताशास्त्र तो श्रुति-स्मृति-शास्त्रसिद्ध-ज्ञातव्य-कर्त्तव्य-विवर्त्तों के ज्ञानविज्ञानात्मक-मौलिक-रहस्यलक्षण असंख्य-उपनिषद्भावों की '**स्मारक-सूची**' मात्र है, जिसके माध्यम से हम वेदसमुद्र में अञ्जसा तरण कर सकते हैं ।

२५–सृष्टि के मूलभूत-वैदिक-रहस्यात्मक-उपपत्तिरूप, अतएव 'उपनिषत्' नामक अगणित-तथ्यों के स्वरूप-विश्लेषक गीताशास्त्र की रहस्यशास्त्रात्मकता—

सृष्टि के मूलभूत वैदिक-रहस्यात्मक--उपनिषदों का सूत्ररूप से संग्रहमात्र कर देने वाला गीताशास्त्र कदापि अपने केवल इस--'**सूचीभाव**' मात्र से मानव के कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्णयात्मक '**विधिशास्त्र**', किंवा **आचारशास्त्र** नहीं माना जासकता । अतएव गीतावचनों के माध्यममात्र से निष्कामकर्म्म की कौन कहे, हम अलौकिक-लौकिक-किसी भी **कर्म्मपद्धति** का बोध प्राप्त नहीं कर सके । गीता केवल '**रहस्यशास्त्र**' है, जो रहस्य वैदिक-परिभाषाओं से सर्वात्मना अनुप्राणित है ।

२६–ज्ञान विज्ञान–रहस्यात्मिका उपनिषदों का सूत्रात्मक-संग्रहरूप-गीताशास्त्र, और तन्निबन्धन–'भगवद्गीतासूपनिषत्सु', एवं-गीताशास्त्र के प्रमुख–प्रतिपाद्य का दिग्दर्शन-प्रयास—

गीता में जिन--यज्ञ-तपो-दान-लक्षण कर्त्तव्यों की ओर संकेत हुआ है, जिन्हें—'**न त्याज्यं कार्य्यमेवतत्**' रूपेण गीता ने अनिवार्य्य घोषित किया है, क्या केवल गीताशब्दों के आधार पर इस कर्म्मत्रयी का स्वरूप-बोध हम प्राप्त कर सकते हैं ? । असम्भव । अतएव सर्वथा सहजभाषा में हमें यह कह ही देना चाहिए कि, गीता रहस्यशास्त्र-मात्र है, ज्ञानविज्ञानरहस्यात्मिका उपनिषदों का सूत्रात्मक संग्रहमात्र है, जैसाकि—'**भगवद्गीतासु-उपनिषत्सु**' इत्यादि बहुवचनान्त से ही प्रतिध्वनित है । '**क्या करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए ?**', इस कर्त्तव्यात्मक प्रश्न के निर्णय से गीताशास्त्र अत्यन्त--विदूर है । अपितु--'**क्यों करना चाहिए, क्यों नहीं करना चाहिए ?**"—प्रश्न के समाधान से सम्बन्ध रखने वाले रहस्यात्मक-तत्त्वविश्लेषण का ही गीताशास्त्र के साथ प्रमुख सम्बन्ध है

२७ कर्त्तव्य, तथा अकर्त्तव्य के सम्बन्ध में गीताशास्त्र के द्वारा श्रुति-स्मृति-पुराण लक्षणा शास्त्रत्रयी के प्रति उत्तरदायित्व-समर्पण, ज्ञानविज्ञानप्रधान उपपत्तिज्ञानात्मक गीताशास्त्र, और तत्सम्बन्ध में 'दर्शनशास्त्रत्व' स्थापन का महान् व्यामोहन—

स्वयं गीताशास्त्र ने विस्पष्ट-शब्दों में कर्त्तव्याकर्त्तव्य के निर्णय के सम्बन्ध का महान् उत्तरदायित्व श्रुति-स्मृति-पुराण-त्रयी-रूप शास्त्र से ही अनुप्राणित माना है*। आचारशास्त्र की मूलप्रतिष्ठा से वञ्चिता तथोक्ता 'गीताभक्ति' के कारण ही गीता जैसा ज्ञान-विज्ञान-शास्त्र ÷ भी आचारशून्य केवल 'दर्शन-शास्त्र' ही बना गया रह गया, जैसे कि इसी दोष से वेद का अमुक-भाग (उपनिषत्) भी आज अपनी ज्ञानविज्ञानात्मिका 'उपनिषत्' मर्य्यादा से पृथक् बनकर केवल 'दर्शनशास्त्र' ही बना रह गया, एवं इसी सम्बन्ध में हमें थोड़ा और भी स्पष्टीकरण कर लेना है।

२८–उपनिषत व्याससूत्र-तथा भगवद्गीता-रूपेण 'प्रस्थानत्रयी' का संस्मरण—

'प्रस्थानत्रयी' के नाम से विद्वत्समाज में ईश-केन-कठ-प्रश्न-आदि सुप्रसिद्ध उपनिषद्ग्रन्थ, वेदान्तदर्शन नाम से प्रख्यात-व्याससूत्रग्रन्थ, तथा स्मार्त्ती-उपनिषत्-रूप-गीताग्रन्थ, ये तीन-प्रस्थानग्रन्थ-हीप्रतिष्ठित हैं।

२९–अद्वैतसम्प्रदायप्रवर्त्तक श्रीशङ्कराचार्य्य, विशिष्टाद्वैतसम्प्रदायप्रवर्त्तक श्रीरामानुजाचार्य्य, शुद्धाद्वैतसम्प्रदायप्रवर्त्तक श्रीवल्लभाचार्य्य, द्वैताद्वैतसम्प्रदायप्रवर्त्तक श्रीनिम्बार्काचार्य्य, तथा द्वैतसम्प्रदायप्रवर्त्तक श्रीमाध्वाचार्य्य, आदि आचार्य्यप्रवरों के द्वारा परस्परात्यन्तविरुद्ध मतवादों का संस्थापन, एवं तद्द्वारा प्रस्थानत्रयी का आश्रय-ग्रहण प्रयास—

विगत-भुक्त-प्रक्रान्त-सांस्कृतिक-अधःपतन-युगों में अनेक शताब्दियों से इन तीनों प्रस्थानग्रन्थों के प्रति शास्त्रावेशाविष्ट भारतीय विद्वानों का, विशेषतः नवीन सम्प्रदायप्रवर्त्तक साम्प्रदायिक-आचार्य्यों का प्रमुख स्थान माना जासकता है, जिनमें से सर्वश्री शङ्कराचार्य्य, श्रीरामानुजाचार्य्य, श्रीवल्लभाचार्य्य, श्री-निम्बार्काचार्य्य, श्रीमाध्वाचार्य्य, आदि आचार्य्यों के नाम सर्वसामान्य में विगत शताब्दियों से प्रसिद्ध होते आरहे हैं। अद्वैतसम्प्रदायप्रवर्त्तक-श्रीशङ्कराचार्य्यने, विशिष्टाद्वैतसम्प्रदायप्रवर्त्तक--श्रीरामा--

---

*-तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म्मकर्त्तुमिहार्हसि॥
—गीता० १६।२४।

÷-ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज् ज्ञातव्यमवशिष्यते॥
—गीता ७।२।

नुजाचार्य्यने, शुद्धाद्वैतसम्प्रदायप्रवर्त्तक श्रीवल्लभाचार्य्यने, द्वैताद्वैतसम्प्रद वर्त्तक श्रीनिम्बार्काचार्य्यनें, तथा द्वैतसम्प्रदाय के प्रवर्त्तक श्रीमाध्वाचार्य्यने, इन सभी आचार्य्यप्रवरोंने परस्परात्यन्त–विरुद्ध स्व–स्व–अद्वैत–विशिष्टाद्वैतादि–सम्प्रदायों की प्रामाणिकता–स्थापन के लिए 'प्रस्थान-त्रयी' पर (उपनिषत्--व्याससूत्र–गीता-पर) अपने अपने स्वतन्त्र ही भाष्य उपनिषद्ध किए हैं। और इन--भाष्यदुर्गों की सीमा में मानो सुरक्षित रखते हुए ही इन आचार्य्योंनें, एवं तदनुवर्त्मा साम्प्रदायिक-विद्वानोंनें विगत–अनेक–शताब्दियों से भारतवसुन्धरा को शास्त्र--धर्म्म--कर्त्तव्य--आदर्श--आदि आदि के तुमुल उद्घोष से विकम्पित ही किया है।

३०–सम्प्रदायवाद की आधारभूता प्रस्थानत्रयी का एकत्त्व, किन्तु--तन्निबन्धन--साम्प्रदायिक-मतवादों का विभिन्नत्त्व, तथा सम्प्रदायवादभेदभिन्ना विसंवादप्रवृत्ति से अनुप्राणिता प्रज्ञा की खण्डरूपता, एवं तथाकथित अनेकत्त्वनिबन्धन संशय के अन्तिम उदर्कात्मक सर्वनाश की प्रवृत्ति—

सम्प्रदायवादों की आधारभूता प्रस्थानत्रयी 'एक', किन्तु उस एक ही के आधार पर 'विभिन्न' वैसे मतवादों का आविर्भाव–तिरोभाव, जो मतवाद परस्पर अहोरात्र अश्वमाहिष्यन्याय को ही अक्षरशः उसी प्रकार चरितार्थ करते रहते हैं, जैसे कि उसी, एक ही वेदशास्त्र को अपना परमाराध्य मानने वाला **सनातनधर्म्मीजगत**, एवं **आर्य्यमहाशयजगत्** परस्पर प्रतिद्वन्द्विता में हीं प्रवृत्त देखा सुना जारहा है। तदित्थं एक ही शास्त्र के आधार पर पुष्पित–पल्लवित होते रहने वाले तथाकथित इन सम्प्रदायवादों की व्याख्या--भाष्या--टीका--टिप्पणियों के पारस्परिक--विसंवाद जब राष्ट्र के सम्मुख उपस्थित होते हैं, तो राष्ट्र की एकत्त्वभावनिबन्धना, संघठनमूला अखण्डा प्रज्ञा खण्ड--खण्ड--रूप में हीं तो परिणत होजाती है, और निश्चयेन होगई है खण्ड--खण्ड--रूप में हीं परिणत–तथाकथित अनेकत्त्वनिबन्धन संशय के अनुग्रह से *, जिस संशय का अन्तिम उदर्क माना गया है–सर्वनाश–'संशायात्मा विनश्यति' ÷।

३१–प्राच्यसंस्कृति से अनुप्राणित सन्देह-विरहित निर्भ्रान्त सिद्धान्त का संस्मरण, और प्रस्थानत्रयी के माध्यम से अभिव्यक्त होपड़ने वाले विविध-भ्रान्त-मतवादों के द्वारा तत्सिद्धान्त के प्रति युगधर्म्म–निबन्धना संशयशीलता का दिग्दर्शन—

जबकि हमारी प्राच्यसंस्कृति का सन्देह-रहित–निर्भ्रान्त-कोई एक ही सुनिश्चित सिद्धान्त है, तो फिर कैसे, और क्यों उस एक ही प्राच्यसंस्कृति के अनुगामी विद्वानों के द्वारा संशयजनक विभिन्न मतवाद

---

*–एकस्मिन् धर्म्मणि विरुद्ध–नानाकोटयवगाहि ज्ञानमेव संशयः।

÷–अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥
—गीता ४।४०।

आविर्भूत होपड़े ?, इस महान् अश्व, महान् यज्ञरूप मलीमस प्रश्न से जबतक राष्ट्रप्रज्ञा अपना परित्राण नहीं कर लेती, तबतक वेदशास्त्रभक्ति, धर्म्म का उद्घोष, प्राच्यता का तुमुल निनाद, आदि आदि एकान्ततः यातयाम ही प्रमाणित होते रहेंगे प्रस्थानत्रयी के विगत युगों की भाँति ।

३२-प्रस्थानत्रयी की प्रामाणिकता का समर्थन, अङ्गशास्त्रात्मक प्रस्थानत्रयी-शास्त्र का 'अङ्गीशास्त्रत्त्व' विरोध, एवं प्रस्थानत्रयी से अनुप्राणिता 'अङ्गता' का स्वरूप-दिग्दर्शन—

क्या हम इस दिशा में यह कहने के लिए आतुर बने हुए हैं कि, प्रस्थानत्रयी अप्रामाणिक –शास्त्रत्रयी है ?। अब्रह्मण्यम् ! अब्रह्मण्यम् !! हमारा तात्पर्य्य तो केवल यही है कि प्रस्थानत्रयी 'अङ्गशास्त्र' है, 'अङ्गीशास्त्र' नहीं । इसलिए कि प्रस्थानत्रयी का शिरोमणिभूत उपनिषद्भाग वेदशास्त्र का एक अङ्गमात्र है, स्वतन्त्र– अङ्गी नहीं । उसी अङ्गभूत उपनिषच्छास्त्र के औपनिषद्वचनों के समन्वय के लिए प्रवृत्त व्यासमूत्रशास्त्र भी अङ्गशास्त्र, किंवा उपाङ्गशास्त्र ही बन रहा है । तथैव च केवल उपपत्ति–रूपा–उपनिषदों की व्याख्या करने वाला गीताशास्त्र भी अपनी अङ्गता ही व्यक्त कर रहा है ।

३३ मर्य्यादानुबन्धेन विशेष-निवेदन, एवं अङ्गशास्त्रनिबन्धना प्रस्थानत्रयी से अनुप्राणित स्व-स्व-आधारों की परिपूर्णा अभिव्यक्ति, और तन्निबन्धना स्थिति-परिस्थिति की दुर्बोध्यता—

अथवा यह निवेदन करना अधिक मर्य्यादित होगा कि, अपने अपने आधारतथ्यों से नित्य समन्वित–रहते हुए तीनों ही प्रस्थानशास्त्र तो अपने अपने स्वरूप से परिपूर्ण हैं स्व–स्व–आधारों से (अङ्गी से) अविभक्त रहते हुए । किन्तु भाष्यकारों, व्याख्याताओं, अनुवादकों, तथ सम्प्रदायप्रवर्त्तकोंनें अपनी अपनी मानसिक-मान्यताओं के अनुपात से अपना अपना स्वतन्त्र मतवाद-स्थापित करने के दुराग्रह से इस परिपूर्णा भी प्रस्थानत्रयी को अङ्गरूप में परिणत कर इसे अपूर्ण ही प्रमाणित कर दिया है । स्थिति थोड़ी दुर्बोध्या है, अतएव अवधानपूर्वक समझने जैसी है ।

३४–मन्त्र-विधि-आरण्यक-उपनिषत्-नामक चारों विभागों की समष्टि से, किंवा अङ्ग-चतुष्टयी से 'अङ्गीशास्त्र' की स्वरूप-निष्पत्ति, तन्निबन्धना वेदशास्त्र की परिपूर्णता, एवं वेदभाष्यकारों, टीकाकारों-व्याख्याकारों, आदि आदि के द्वारा तथाभूत 'अङ्गी-वेदशास्त्र' का निर्म्मम अङ्गभङ्ग, और तदनुगता पूर्ण वेदशास्त्र की अपूर्णता का किञ्चिदिव निदर्शन —

जैसाकि निवेदन किया गया है–मन्त्र, विधि, आरण्यक, उपनिषत्, चारों अङ्गों को मिलाकर एक 'अङ्गीशास्त्र' का स्वरूप निष्पन्न होता है । एवं यही वेदशास्त्र की परिपूर्णता है । इनमें से यदि एक को भी पृथक् कर दिया जाता है, तो वह स्वतन्त्र–अङ्ग बनता हुआ अङ्गीभाव से परा:परावत ही बन जाता है । वेदभाष्यकार सर्वश्री सायणाचार्य्यने वेदशास्त्र की इस पूर्णता को खण्डित ही कर दिया अपने कर्म्मकाण्ड के अभि-

निवेश से। जहाँतक कर्म्मकाण्ड की भौतिक-पद्धति का सम्बन्ध है, वहाँतक तो श्रीसायणाचार्य्य का प्रयास सर्वात्मना सभी के लिए अभिनन्दनीय ही है। किन्तु कर्म्म की ज्ञानविज्ञानात्मिका 'उपनिषत्' से तटस्थ बन जाने के कारण श्रीसायण के तत्त्वसमन्वयात्मक प्रयास ने तो वेदशास्त्र को अपूर्ण ही प्रमाणित कर दिया। फलत: रहस्यात्मिका उपनिषत् से शून्य आपके कर्म्मपद्धतिमात्र-प्रधान भाष्य राष्ट्रप्रज्ञा की आचारनिष्ठा को वीर्य्यंत्तरा नहीं बना सके-'यदेव विद्यया--श्रद्धया--उपनिषदा--करोति, तदेव वीर्य्यवत्तरं भवति' (छां० उप०) इत्यादि औपनिषद-सिद्धान्तानुसार।

३५–साम्प्रदायिक-विभिन्न-आचार्य्यों में से एकमात्र श्रद्धेय श्रीशङ्कराचार्य्य की अनन्या वेदप्रामाण्यनिष्ठा का पावन-संस्मरण, मतवादानुगामियों के द्वारा आचारात्मक कर्म्म की निरतिशया उपेक्षा, अद्वैतनिष्ठा के प्रति तत्तटस्थता, और तत्थाने च-'भक्ति' का आवेश, एवं तत्प्रधाना दृष्टि से अनुप्राणिता साम्प्रदायिकों की-'प्रस्थानत्रयी' का संस्मरण—

इधर साम्प्रदायिक-आचार्य्यों में से एकमात्र सर्वश्री श्रद्धेय शङ्कराचार्य्य को छोड़कर शेष सभी वैष्णवाचार्य्योंनें संहितानुगत-विज्ञान-स्तुति-इतिहास के साथ साथ विध्यनुगत आचारात्मक-कर्म्म को भी उपेक्षणीय ही माना, आराण्यानुगता उपासना भी इनकी दृष्टि में उपेक्षित ही रही। और उपनिषदनुगत विज्ञान-गर्भित अद्वैतज्ञान भी उपेक्षणीय ही बना रहा। अपितु 'भक्ति' नाम के माध्यम से ही इन्होंनें उपनिषद्भाग को अपना आराध्य घोषित कर दिया। तदनुपात से ही व्याससूत्र व्याख्यात होगए, एवं तदनुपात से ही गीताशास्त्र भी केवल भक्तिग्रन्थ ही प्रमाणित कर दिया गया। और यों इनके मान्यतानुगता भक्तिवाद से प्रस्थानत्रयी के साथ साथ तत्प्रतिष्ठारूप आरण्यक-विधि-संहितावेद भी केवल प्रणम्य ही बना रह गया।

३६–श्रीशङ्कराचार्य्य के द्वारा अद्वैतनिष्ठा का समर्थन, किन्तु तन्निष्ठानुगत-आधिदैविक-'सत्यं--शिवं सुन्दरम्' लक्षण सृष्टिसर्ग के प्रति आचार्य्यप्रवर की तटस्थता, एवं तन्निबन्धना जगन्मिथ्यात्त्वमूला काल्पनिकी अद्वैतभावना की अभिव्यक्ति, और ज्ञानाभिनिवेशमूला तथाविधा अद्वैतसम्प्रदाय के द्वारा भारतराष्ट्र की आचार-निष्ठात्मिका महती विभूति का उत्तरोत्तर अभिभव—

अवश्य ही प्रतिभाशाली आचार्य्यप्रवर सर्वश्री शङ्कर महाभागने उपनिषत्सम्मत निष्कैवल्य-ज्ञान से समन्वित--आत्माद्वैतवाद को अपना आराध्य बनाया। किन्तु अत्यन्त ही दुःख के साथ कहना पड़ता है कि, संहिता में सूत्ररूपेण, तथा ब्राह्मणग्रन्थों में विस्तार से प्रतिपादित आचारनिष्ठा के आधारभूत रहस्यपूर्ण विज्ञान (उपनिषत्) से, तदनुगत आधिदैविक-सनातन-'सत्यं--शिवं-सुन्दरम्'--लक्षण--सृष्टिसर्ग-से तो आचार्य्य की प्रतिभा तटस्थ ही बनी रह गई। और तद्रूपपरिणाम-स्वरूप ही इस आचारशून्य तत्त्ववाद--विजृम्भण से तदनुयायी वर्ग के द्वारा काल्पनिक वैसा जगन्मिथ्यात्त्ववाद-सिद्धान्त ही व्यक्त होपड़ा, जिससे राष्ट्र का अभ्युदयपथ--'कलौ वेदान्तिन: सर्वे' के अनुसार अनेक शताब्दियों के लिए अवरुद्ध ही होगया। एवं यों परिणामदृष्ट्या ज्ञानाभिनिवेशमूलक यह अद्वैतसम्प्रदाय भी भारतराष्ट्र की आचारनिष्ठा के लिए तो महान् अभिशाप ही प्रमाणित होगया।

३७–अज्ञवादमूलक गौण–प्रधान–भाव–निबन्धन महान् व्यामोहन, तन्निबन्धन विभिन्न दृष्टिकोण, कर्म्म–उपासना–ज्ञान–भावों की पारस्परिकी गौणता, तथा प्रमुखता से अनुप्राणित विभिन्न काल्पनिक–विभक्तिवाद, और तीनों की अन्योऽन्याश्रयमूला त्र्यात्मकता का संस्मरण—

तथोक्त अज्ञवादसे, गौण-प्राधान्य-वाद-विमोहन से, एवं तदनुगता मान्यताओं के अभिनिवेशसे किसी की दृष्टिमें विधिमूलक कर्म्म तो बन गया प्रधानरूप से उपादेय, एवं उपासना, तथा ज्ञान रह गए गौण। किसी ने ज्ञान, कर्म्म को गौण, तथा आरण्यकमूला उपासना को ही प्रधान मान लिया, तो किसी ने कर्म्म, उपासना की उपेक्षा कर विज्ञानोपनिषत् से शून्य–उपनिषद्ग्रन्थ-मूलक ज्ञान को ही प्रमुख घोषित कर दिया, जबकि वस्तुगत्या कर्म्म–उपासना–ज्ञान, तीनों हीं (प्रत्येय) त्र्यात्मक ही बने हुए हैं अपने अन्योऽन्याश्रयरूप स्वरूपधर्म्म से।

३८–ज्ञान-कर्म्म-उपास्ति-त्रयी का कर्त्तव्यनिष्ठा-लक्षणा आचारनिष्ठा में अन्तर्भाव, प्रवृत्तिकर्म्मानुगता कर्म्मनिष्ठा, निवृत्तिकर्म्मानुगता उपास्तिनिष्ठा, एवं निष्काम-कर्म्मानुगता ज्ञाननिष्ठा का संस्मरण, और तन्निबन्धना गृहस्थ-वानप्रस्थ-संन्यासाश्रम-त्रयी का समन्वय-प्रयास—

अतएव तीनों कर्त्तव्यनिष्ठा-लक्षणा आचारनिष्ठाओं में हीं अन्तर्भूत हैं, जैसाकि-**'एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति,स पश्यति'** (गीतोपनिषत्) से स्पष्ट है। तभी तो कर्म्म-उपासना-ज्ञान-रूपा कर्त्तव्यत्रयी के लिए क्रमशः **प्रवृत्तिकर्म्म-निवृत्तिकर्म्म-निष्कामकर्म्म**-शब्द प्रयुक्त हुए है, जिन का क्रमशः पूर्व में **आश्रमत्रयी** से सम्बन्ध बतलाया गया है।

३९–अवस्थाभेद, तथा स्थानभेद से ज्ञानकर्म्मोपास्तित्रयी की महती उपयोगिता का समन्वय-प्रयास, वेदशास्त्र की रहस्यपूर्णा 'अङ्गीभाव'-निबन्धना पारिभाषिकी परिपूर्णता का संस्मरण, एवं तन्माध्यम से ही वेदशास्त्र के ज्ञानविज्ञानात्मक-स्वरूप की अभिव्यक्ति—

तीनों हीं अवस्था, और स्थान भेद से, तथा कालभेद से प्रधान, एवं उपादेय हैं। यही वेदशास्त्र की परिपूर्णता है, जो काल्पनिक–गौणप्राधान्यवाद से अपूर्णता–अनुपादेयता में परिणत होगई है, किंवा मतवादाभिनिवेश से परिणत करदी गई है। हमारी आस्था है कि, वेदशास्त्र को, एवं प्रस्थान-त्रयी को अपनी मान्यता से सर्वथा असंस्पृष्ट रखते हुए, मान्यतानुबन्धी साम्प्रदायिक–भाष्यानुवादों से तटस्थ रखते हुए सम्पूर्ण वेदशास्त्र को, एवं तदङ्गभूता प्रस्थानत्रयी को एक शास्त्र मानते हुए सभी की प्रमुखता पर श्रद्धान रखते हुए यदि मानवप्रज्ञा इस पूर्णशास्त्र को अपना लक्ष्य बना लेगी, तो स्वतः ही इसका ज्ञानाविज्ञानात्मक-समन्वय मूलाक्षरों के माध्यम से ही प्रस्फुटित होजायगा। क्योंकि अपने पारिभाषिक-समन्वय के माध्यम से वेदशास्त्र तो स्वतःप्रकाशित वैसा शास्त्र है, जिस के प्रमाणन के लिए किसी भी तो अन्य प्रमाण की यत्किञ्चित् भी तो अपेक्षा नहीं है।

४०–एक अतिप्रश्नात्मक प्रश्न और तत्समाधान-प्रयास, प्रचण्डतम मेधावी सम्प्रदायाचार्य्यों, तथा कर्म्मपथानुगामी सर्वश्री सायण-महीधरादि वेदभाष्यकारों से अनुप्राणित: तत्प्रश्न की गम्भीरता का किञ्चिदिव निदर्शन—

अतिप्रश्नात्मक प्रश्न किया जासकता है कि, वेदशास्त्र की ज्ञानविज्ञानात्मिका उपनिषत् (रहस्य) प्रचण्डतम मेधावी सम्प्रदायाँचार्य्यों, तथा कर्म्मानुगत श्रीसायणाचार्य्यादि विद्वानों की दृष्टि से तटस्थ क्यों, और कैसे बनी रही गई ? । प्रश्न का परोक्ष समाधान, हम समझते हैं–पूर्व के दिग्दर्शन से स्पष्ट है । रही बात प्रत्यक्ष–समाधान की, सो जिस के स्पष्टीकरण के लिए तो–'खण्डत्रयात्मिका–उपनिषद्विज्ञानभाष्य-भूमिका' नामक द्विसहस्रपृष्ठात्मक स्वतन्त्र निबन्ध, एवं प्रकाशित 'शतपथभाष्य' ही द्रष्टव्य है, जिस के सम्बन्ध में प्रसङ्गसमन्वयमात्र के लिए एतावन्मात्र ही निवेदन कर दिया जायगा कि, शब्दात्मक वेदशास्त्र में प्रतिपादित ज्ञानविज्ञान-कर्म्ममय मौलिक-तात्त्विक-अपौरुषेय वेद के स्वरूप से तटस्थ बने रह जाना हीं उक्त प्रश्न का प्रमुख समाधान है ।

४१–मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र के द्वारा उपबृंहित मौलिक सृष्टितत्त्व की तत्त्ववेदरूपता का रहस्यात्मक संस्मरण, एवं तत्त्ववेद की विस्मृति से अनुप्राणिता त्रिसहस्रवर्षात्मिका सुदीर्घा अवधि—

शब्दात्मक-मन्त्रब्राह्मणरूप वेदशास्त्र के द्वारा जिस सृष्टिमूल का स्वरूपोपबृंहण हुआ है, उस मौलिक तत्त्व का ही नाम मन्त्रब्राह्मणात्मक-वेदतत्त्व है, जिस के महिमा-मय विवर्त्तों के समसाम्य से ही शब्दात्मक-वेदशास्त्र अभिव्यक्त हुआ है । हम समझते हैं, न्यूनतम तीन–सहस्र–वर्षों से वह मौलिक वेदतत्त्व भारतराष्ट्र की प्रज्ञाओं से परोक्ष ही बनता चला आरहा है ।

४२–वस्तुपिण्डात्मिका मूर्त्तियों के आधारत्त्व का ऋग्वेदत्त्व, वस्तुमण्डलात्मिका विभूतियों के आधारत्त्व का सामवेदत्त्व, पिण्ड-मण्डल-मध्यवर्त्ती-गतिभावों का यजुर्वेदत्त्व, एवं प्राणात्मक सोमतत्त्व का अथर्ववेदत्त्व-समन्वय, तथा इत्थंभूत तत्त्वात्मक वेद को विस्मृत कर देने वाले 'वेदवादरतिपरायण' भारतीय-विद्वानों का वेद-अपौरुषेय-पौरुषेय-मूलक व्यर्थतम वाक्कलह—

"वस्तुपिण्डात्मिका मूर्त्तियों का आधारभूत ऋक्तत्त्व, वस्तुमण्डलात्मिका विभूतियों का आधारभूत सामतत्त्व, पिण्ड–मण्डलात्मक पदार्थों में व्याप्त गतितत्त्व का आधारभूत यजुः–तत्त्व, एवं इन तीनों मौलिक तत्त्वों का समन्वयकर्त्ता प्राणसोमात्मक अथर्वा ब्रह्मतत्त्व ही वह तत्त्ववेद है, यही ईश्वर का प्राणार्कनिःश्वासरूप ब्रह्मनिःश्वसित नामक नित्यकूटस्थ वह अपौरुषेय वेद है, जिस से पाञ्चभौतिक विश्व, और विश्वप्रजा का स्वरूपाविर्भाव हुआ है" इस तथ्यको विस्मृत कर बैठने

वाले, शब्दात्मक वेदग्रन्थों पर ही 'वेदवादरति'* परिसमाप्त कर बैठने वाले भारतीय विद्वानों की भावुकता से काल्पनिक पौरुषेय-अपौरुषेय वाद जैसा निस्तत्त्व वाक्कलह आविभू त होपड़ा है ।

४३–मौलिक-तत्त्ववेद के प्रति तटस्थता. एवं तद्दुष्परिणाम-स्वरूप ही वेदशास्त्र का विभिन्न-मतवादानुगता क्रीडास्थली-के रूप से समन्वय-प्रयास, एवं तत्त्वात्मक नित्यकूटस्थ अपौरुषेय-वेद के स्वरूप-विश्लेषक श्रुतिवचन का पावन-संस्मरण—

मौलिकतत्त्ववेद से तटस्थ, किंवा अपरिचित बने रह जाने के दुष्परिणाम-स्वरूप ही शब्दात्मक वेदशास्त्र विद्वानों के विभिन्न मतवादों की क्रीडास्थली बन गया है । हम विद्वानों से, एवं साम्प्रदायिक-वर्गों से प्रणतिपुरस्सर यह नम्र आवेदन कर देना चाहेंगे कि, वे निम्न लिखित वेदवचन के द्वारा प्रमाणित तत्त्ववेद की आराधना में प्रवृत्त होते हुए सर्वथा निरपेक्षरूपेणैव, स्वयं वेदाक्षरार्थ के माध्यम से ही वेद को कृत्स्न–सर्वशास्त्र मानते हुए ही अपनी उस मूलानधि के पुनराविर्भाव के लिए कृतप्रयत्न बनें, जिस के बिना भारतराष्ट्र विगत तीन सहस्र वर्षों से वेद-शास्त्र-धर्म्म-आदि-शब्दमात्रव्यामोहनों से विभिन्न-मतवादों की ही क्रीडास्थाली बनता आरहा है—

ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्त्तिमाहुः
सर्वागतिर्याजुषी हैव शश्वत् ।
सर्वं तेजः सामरूपं शश्वत् ।
सर्वं हीदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम् ।
—तै० ब्राह्मणे

४४–उपनिषदों की निभ्रान्ता प्रामाणिकता का, आर्षभावापन्न व्याससूत्र की प्रमाणमूर्द्धन्यता का, एवं भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण के मुखपङ्कज से विनिःसृत, तथा पुराण-पुरुष भगवान् बादरायण के शब्दों में उपनिबद्ध गीताशास्त्र की उपनिषत्ता का समन्वय-प्रयास, और तदनुगता–'प्रस्थानत्रयी' का प्रमाणजगत् में महत्त्वपूर्ण आविर्भाव—

इदमत्र--सर्वात्मना--अवधेयम्, कि--तथाकथिता प्रस्थानत्रयी की प्रामाणिकता में कदापि किसी भी प्रज्ञाशील को अणुमात्र भी सन्देह नहीं रह सकता । उपनिषत् तो वेद के साक्षात् अङ्ग हैं हीं । व्याससूत्र भी सर्वात्मना आर्षभावापन्न बनता हुआ अपनी ज्ञानविज्ञानात्मिका–मर्य्यादा से प्रमाणमूर्द्धन्य ही शास्त्र माना जायगा । एवमेव भगवान् के मुखपङ्कज से तत्त्वरूपेण विनिःसृत, एवं पुराणपुरुष भगवान् बादरायण के द्वारा उपनिबद्ध गीताशास्त्र की रहस्यपूर्णा उपनिषत्ता में भी किसी को सन्देह नहीं होसकता । वेदशास्त्र के

---

* यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ ! नान्यदस्तीति वादिनः ॥
—गीता २।४२

ज्ञानविज्ञानात्मक रहस्यों के लिए ही महद्भाग्यशाली भारतराष्ट्र में आप्त महापुरुषों के द्वारा इस प्रस्थानत्रयी का आविर्भाव हुआ है ।

४५–वेदार्णव में प्रवेश के अन्यतम-द्वारभूत षडङ्गशास्त्र, धर्म्मशास्त्र-(स्मृतिशास्त्र, पुराणशास्त्र, मीमांसाशास्त्र (जैमिनिसूत्रात्मिका पूर्वमीमांसा), एवं न्यायविस्तरात्मक उपाङ्गशास्त्र की अध्ययन-मननानुगता अनिवार्य्यता की भाँति प्रस्थानत्रयी की मध्यस्थता की भी अनिवार्य्यता, और इत्थंभूता प्रस्थानत्रयी की सर्वानुगता अभिनन्दनीयता का पावन-संस्मरण—

यह भी ध्रुवसत्य है कि, वेदार्णव में प्रवेश करने से पूर्व जैसे शिक्षा-कल्प व्याकरण--छन्द-निरुक्त-ज्यौतिष--नाम से प्रसिद्ध षडङ्गशास्त्र का, तथा धर्म्मशास्त्र (स्मृतिशास्त्र), पुराण, मीमांसा (जैमिनिसूत्रात्मिका पूर्वमीमांसा), एवं न्यायविस्तरात्मक उपाङ्गशास्त्र का अध्ययन-मनन-अनिवार्य्यरूपेण अपेक्षित है, तथैव उक्त प्रस्थानत्रयी-रूपा अङ्गत्रयी की मध्यस्थता भी अनिवार्य्या ही मानी गई है । और इसी अनिवार्य्यता के अनुबन्ध से उपनिषत्-व्याससूत्र-गीता-समष्टिलक्षणा प्रस्थानत्रयी सांस्कृतिक-जगत् में अभिनन्दनीया ही प्रमाणित होती आरही है-अनेक शताब्दियों से, जिस इस वेदाङ्गभूता शास्त्रत्रयी का वेदशास्त्र से विच्छेद कर हमने अपने साम्प्रदायिकवादों में हीं उपयोग कर लिया है । एवं इसी साम्प्रदायिकी-उप-योगिता, किंवा दुरुपयोगिता से सन्देहनिवारिका, निश्चयज्ञानप्रवर्त्तिका-ज्ञानविज्ञानरहस्यप्रतिपादिका भी यह प्रस्थानत्रयी सन्देहप्रवर्त्तिका, नानामतवादसर्जिका, एवं ज्ञानविज्ञान-निष्ठाप्रतिबन्धिका ही बन गई है ।

४६–ज्ञानविज्ञानरहस्यात्मिका मूलोपनिषदों से पराङ्मुख उपनिषद्ग्रन्थ के शब्दों के स्थान का मान्यतावादियों के द्वारा व्याससूत्रच्छल-माध्यम से अपहरण, तत्स्थाने च काल्पनिक-मतवादात्मक-नवीन-'वेदान्त' का आविर्भाव, वेदान्तविज्ञानानुगत सुनिश्चितार्थ का स्मृतिगर्भ में विलयन, एवं तत्स्थाने च विज्ञान---वञ्चित, अतएव काल्पनिक, कर्म्म-ज्ञान-समन्वय-शून्य, अतएव च सन्दिहानात्मक काल्पनिक-मतवादों का साम्राज्य-स्थापन—

मूलोपनिषत् (ज्ञानविज्ञानरहस्य) से पराङ्मुख उपनिषद्ग्रन्थ के शब्दों का स्थान आगे-जाकर व्याससूत्रों के छल से अपहृत कर लिया गया मान्यतावादियों के द्वारा । अतएव मूलवेदान्तरूप उपनिषत्, एवं तत्सहैव स्वयं व्याससूत्र तो होगए अन्तर्भूत, एवं तत्स्थान में नवीन मतवाद ही प्रसिद्ध होगया-'वेदान्त' नाम से । यों विज्ञानप्रधान प्रमुख वेदान्तरूप उपनिषत्-साहित्य, तथा तत्प्रधान, तद्व्याख्यात्मक व्याससूत्ररूप वेदान्तसाहित्य, दोनों के अन्तर्गर्भित बन जाने से, तत्स्थाने च मतवादात्मक-जगन्मिथ्यात्ववादमूलक काल्पनिक वेदान्त के आविर्भूत होजाने से **वेदान्तविज्ञान** का (**उपनिषत् और व्याससूत्र का**) वह वैज्ञानिक

(विज्ञानसिद्ध) सुनिश्चित * अर्थसमन्वय सर्वथा ही अभिभूत होगया, जिस अभिभूति से ही यह विज्ञान-प्रधान भी वेदान्तशास्त्र आचारशून्य बनता हुआ-'वेदान्तदर्शन' रूप में हीं परिणत होगया। सचमुच इस वेदान्तदर्शनने (अर्थात् सूत्रों के विभिन्न-भाष्योंनें) वेदान्त के (व्याससूत्रों, तथा उपनिषद्वचनों के) वैज्ञानिक--सुनिश्चित अर्थ को तो कर लिया अभिभूत, एवं तत्स्थाने च प्रमुख बन गया विज्ञानवञ्चित, अतएव काल्पनिक कर्मशून्य-ज्ञान, जिस में सर्वत्र सन्दिहानता का ही साम्राज्य माना गया है।

४७-तथाकथिता सन्दिहानता के घोरघोरतम दुष्परिणाम, उपनिषत्-व्याससूत्र, तथा गीता-रूपा प्रस्थानत्रयी के स्थान में तद्व्याख्याभूत काल्पनिक-मतवादार्थों-साम्प्रदायिकी-मान्यताओं का ही समर्थन, और अन्ततोगत्त्वा प्रस्थानत्रयी का विलयन-

परिणाम, किंवा घोरघोरतम दुष्परिणाम क्या हुआ तथोक्ता सन्दिहानता का ?, प्रश्न का उत्तर अब परोक्ष नहीं रह गया है। उपनिषत् गए, व्याससूत्र गए, एवं गीताशास्त्र गया। रह गए शेष तद्व्याख्या-भूत वे स्वतन्त्र साम्प्रदायिक-ग्रन्थ, जिन के कर्म-ज्ञान-भक्तिवाद-स्व--स्व-सम्प्रदायवाद की मान्यता के अनुपात से ही अपना अपना प्रभुत्त्व अहमहमिकारूपेण सर्वत्र स्थापित करने लग पड़े। इत्थंभूता मर्य्यादा-विच्युति से आगे जाकर तो प्रस्थानत्रयी का नाम ही विलीन होगया।

४८-प्रस्थानत्रयी के स्थान में 'गुरुवाद' की अभिव्यक्ति, गुरुवादमूला काल्पनिकी 'अनुभूति' के ताण्डवनृत्य, विवेक के स्खलन से शतमुख-पतन, एवं तदनुगत काल्पनिक दर्शनवादों, मतवादों, अनुभूतिवादों, भक्तिवादों, तथा कीर्त्तनवादों का आविर्भाव, इत्यलमतिपल्लवितेन--उपनिषच्छब्दार्थ-प्रसङ्गोपात्तेन-प्रस्थानत्रयी-नामक शास्त्रस्य प्रासङ्गिकेतिवृत्तेन—

और तत्थाने तो गुरुवाद ही अभिव्यक्त होपड़ा, जिन गुरुओं की अपनी 'अनुभूति' ही वेदवाक्य प्रमाणित होगया तद्भक्तों में। इस 'अनुभूति' की कृपा से ही परःशत वैसे वैसे अवान्तर-अगणित-मतवाद व्यक्त होपड़े, जिन के अनुबन्ध से मानव की सांस्कृतिकी-राष्ट्रीयता अन्ततोगत्त्वा 'व्यक्तितन्त्र' पर ही परिसमाप्त होगई। और यों-'विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखम्' न्याय से मूलनिष्ठा के विवेक से स्खलिता-राष्ट्रीया प्रज्ञा शतमुखरूपेणैव पतनानुगता बन गई। क्यों ?, उत्तर-उपनिषच्छास्त्ररूपा प्रस्थानत्रयी की उपनिषत्-मर्य्यादा की अवलेहना, और तत्-शब्दाधारेण काल्पनिक-दर्शनवादों-मतवादों--अनुभूतिवादों--भक्तिवादों-एवं कीर्त्तनवादों--आदि-आदि अगणित वादों का आविर्भाव, इत्यलमतिपल्लवितेन-उपनिषच्छब्दार्थ-प्रसङ्गोपात्तेन-प्रस्थानत्रयी-नामक-शास्त्रस्य प्रासङ्गिकेतिवृत्तेन।

---

*--वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः-संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे॥
(न तु वेदान्तज्ञाने सुनिश्चितार्थाः)
—मुण्डकोपनिषत् ३।२।६।

४९–प्रकृतानुसरण, और उपनिषत्-शब्द के 'अवच्छेदक' से अनुप्राणित 'अध्यात्म-विद्यात्त्व' का संस्मरण, एवं तत्थाने च विज्ञानसिद्ध-'विज्ञानरहस्यात्मिका-मौलिक-उपपत्ति' का ही संस्थापन—

उपनिषच्छब्द–प्रसङ्गानुगता प्रस्थानत्रयी–चर्चा के अनन्तर पुनः प्रकृतमनुसरामः । प्रश्न–उपस्थित है कि, "यदि उपनिषच्छब्द का अवच्छेदक 'अध्यात्मविद्यात्त्व' नहीं है, अपितु विज्ञानरहस्या--त्मिका--ज्ञानविज्ञानान्विता--मौलिक उपपपत्ति ही--उप--नि--षद्--भावकी प्रवर्त्तिका बनती हुई उपनिषच्छब्द की अवच्छेदिका है, तो व्यवहार में अमुक--ग्रन्थ--विशेषों को –(ईश--केन--कठादि ग्रन्थों को) ही 'उपनिषत्' शब्द से किस आधार पर, और क्यों व्यवहृत किया गया ?"। श्रूयताम् !

५०–मन्त्र-ब्राह्मणात्मक-वेदशास्त्र के क्रमसिद्ध द्वितीय-'ब्राह्मण' सन्दर्भ का संस्मरण, तन्निबन्धन-'विधि-आरण्यक-उपनिषत्' नामक तीन प्रक्रमों का दिग्दर्शन, एवं विधि-भागरूप-यज्ञकर्म्मप्रधान-प्रथम-'ब्राह्मण' नामक प्रक्रम से अनुप्राणित-'विधि' शब्द के पारिभाषिक-अर्थ का समन्वय-प्रयास—

मन्त्रब्राह्मण–शब्दात्मक (तत्त्वात्मक नहीं,) वेदशास्त्र के दूसरे ब्राह्मण भाग के ही अवान्तर तीन प्रक्रमों का नाम क्रमशः विधि, आरण्यक, एवं उपनिषत्, है । इन तीनों में–विधिभागरूप–यज्ञकर्म्मप्रधान प्रथम–प्रक्रम ही सर्वसाधारण में शतपथब्राह्मण–ऐतरेयब्राह्मण–तैत्तिरीयब्राह्मण-ताण्ड्यब्राह्मण–आदि रूपेण 'ब्राह्मण' नाम से प्रसिद्ध हैं । 'विधि' शब्द का अर्थ है–नोदना, अनुज्ञा, प्रेरणा, किंवा सहजभाषा में—आज्ञाप्रदान–आदेशप्रदान ।

५१–अनारभ्याधीत, आरभ्याधीत एवं सामान्याधीत, रूपेण विधिवचनों के तीन विवर्त्तों का संस्मरण—

इसके आधार पर ही 'विधि-विधान' व्यवहार प्रसिद्ध हुआ है । 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत, वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत', इत्यादि रूप से ब्राह्मणात्मक विधिभाग में, किंवा विध्यात्मक ब्राह्मणभाग मे अनुज्ञाधारा ही प्रवाहित है । ये विधिश्रुतियाँ (अनुज्ञात्मक–विधि–वचन) अनारभ्याधीतविधि, आरभ्याधीतविधि, एवं सामान्याधीतविधि–रूपेण तीन भागों में विभक्त है ।

५२–विधि के द्वारा विहित विधान का ही-'विधिविधानत्त्व', एवं अत्यन्त ही रहस्यपूर्णा 'विधि का एक विधान था'-रूपेण प्रसिद्धा लोकोक्ति के सम्बन्ध में पुरुषार्थशून्य-भावानुबन्धिनी महती-भ्रान्ति का स्वरूप-विस्फोटन—

विधि के द्वारा (अनुज्ञात्मक श्रुतिवचन के द्वारा) विहित विधान ही 'विधि' का विधान है, जो 'विधिविधान' शब्द हमारी भावुकता से आज 'भाग्यवाद' का ही सूचक बन रहा है । कैसा है यह विधि का विचित्र विधान कि, शास्त्रीय-वचनों से विहित-प्रमाणित-विधानों की (शास्त्रीय-कर्मों की) उपेक्षा करने से निरन्तर दुःखी–आर्त्त-बने रहने वाले–पुरुषार्थशून्य–कर्म्मशून्य–भाग्यहीन ही 'विधि का एक विधान था' रूपेण विधि को ही दोष देने लग पड़ते हैं, जबकि विधि–विहित–विधानों पर एकनिष्ठ बना रहने वाला पुरुषार्थी कदापि भाग्यवाद से उत्पीड़ित नहीं हुआ करता । प्रसङ्गोपात्त इस सापेक्ष पुरुषार्थी शब्द के 'पुरुषार्थ' शब्द की ओर ही उपनिषत्–प्रेमियों का ध्यान आकर्षित किया जारहा है ।

५३- 'पुरुष', और तदनुगत 'अर्थ', तथा फलभोगानुगत लक्ष्य से अनुप्राणित-'पुरुषार्थ' शब्द का रहस्यात्मक-अर्थ-समन्वय-प्रयास-एवं तत्प्रसङ्गे च-'कर्म्मण्येवाधिकारस्ते-माफलेषु कदाचन' का पावन-संस्मरण—

'पुरुष', अर्थात् मानव, और उस का 'अर्थ', अर्थात् फलभोगानुगत लक्ष्य ही 'पुरुषार्थ' शब्दार्थ है । विधि के द्वारा विहित वह 'सिद्धकर्म्म', जो अपनी सिद्धावस्था से पुरुष के फलोद्देश्य को पूर्ण करता हुआ, विधि-विधानात्मक वह सिद्धकर्म ही पुरुष से साक्षात् सम्बन्ध करता हुआ-"पुरुषार्थ" कहलाया है, जिस इस पुरुषार्थरूप सिद्धकर्म्म के प्रति-'कर्म्मण्येवाधिकारस्ते' (गीता) रूपेण शास्त्रने पुरुष का स्वतन्त्राधिकार माना है, जिस इस अधिकारसिद्धि के बिना (कर्म्मानुष्ठान के बिना) पुरुष की फल-कामना शून्यं-शून्यं ही बनी रह जाती है, अतएव इस का कर्मशून्य फल के प्रति-'मा फलेषु कदाचन' रूपेण नियन्त्रण ही हुआ है ।

५४-सिद्धकर्म्मात्मक-'पुरुषार्थकर्म्म', तत्संसाधक-'साध्यकर्म्म', और तन्निबन्धन पारिभाषिक-'क्रत्वर्त्वकर्म्म' का स्वरूप-समन्वय प्रयास--

पुरुषार्थकर्म्म जबकि सिद्धकर्म्म है, तो अवश्य ही इस का स्वरूपसंसाधक कोई न कोई वैसा 'साध्य-कर्म्म' भी होना ही चाहिए, जिस से सिद्धकर्म्म सिद्ध बना करता है । कर्म्म का एक पारिभाषिक नाम है-'क्रतु' । पुरुपार्थरूप सिद्धकर्म को इसी अनुबन्ध से 'क्रतु' भी कहा जासकता है, जिस का-'ओं कृतं स्मर ! क्रतो स्मर !' (ईशोपनिषत्) रूपेण संस्मरण हुआ है । इस क्रतुरूप पुरुषार्थकर्म्म का (सिद्धकर्म्म का) स्वरूप जिन साध्य कर्म्मों से सम्पन्न होता है, उन्हीं का पारिभाषिक नाम है-'क्रत्वर्थकर्म्म'-(क्रतु के लिए कर्म्म, सिद्धकर्म्म के लिए साध्यकर्म्म) ।

५५-'कारणगुणाः कार्य्यगुणानारभन्ते',-एवं-'कार्य्यं प्रति न कारणस्य कारणत्त्वम्, अपितु कारणसमुदायस्यैव कार्य्यं प्रति कारणत्त्वम्'-रूपा न्यायद्वयी का संस्मरण, और तन्निबन्धन तात्पर्य्यार्थ-समन्वय-प्रयास—

सुप्रसिद्ध न्याय है कि 'कारणगुणा एव कार्य्यगुणानारभन्ते', अर्थात् कारण के गुण-धर्म्म हीं तत्कार्य्य के स्वरूपोपादान बना करते हैं । इस के साथ ही यह भी सनातन नियम है कि-'कार्य्यं प्रति न कारणस्य कारणत्त्वम् । अपितु कारणसमुदायस्यैव कार्य्यं प्रति कारणत्त्वम्' । अर्थात् "कार्य्य के प्रति कदापि कारण को (एक कारण को) कारणता नहीं है । अपितु प्रत्येक कार्य्य के प्रति अनेक कारणों की समष्टि को ही कारणता है" । निष्कर्षतः-पुरुषार्थ नामक प्रत्येक क्रतु (क्रतुरूप कार्य्य) के स्वरूप-निर्म्माण के लिए अनेक कारणात्मक-कर्म्मों का ही अनुगमन करना पड़ता है । क्रतुरूप सिद्धकार्य्य एक, किन्तु तत्साधक कारणरूप कार्य्य अनेक, यही तात्पर्य्य है ।

५६–एकभावापन्न-'पुरुषार्थ' कर्म्मों का 'अङ्गीकर्म्मत्त्व', एवं अनेकभावापन्न-'क्रत्वर्थ'-कर्म्मों का 'अङ्गकर्म्मत्त्व'-समन्वय, तथा प्रक्रान्त-प्रश्न के समाधानान्वेण का प्रयास, और तदुपकारिका शास्त्रीया-प्रज्ञा का संस्मरण—

एकभावापन्न क्रतुरूप-कार्य्यात्मक-पुरुषार्थ जहाँ 'अङ्गीकर्म्म' कहलाया है, वहाँ अनेकभावों में विभक्त कारणात्मक-क्रत्वर्थकर्म-'अङ्गकर्म्म' कहलाए हैं। 'अङ्गी' एक ही होता है, 'अङ्ग' अनेक ही होते हैं। तदित्थं पुरुषार्थ, तथा क्रत्वर्थ के भेद से विधि के विधान दो महिमाओं में विभक्त होरहे हैं। कुछ एक विधिवचनों से तो 'पुरुषार्थ' अभिव्यक्त होरहा है, एवं कुछ एक विधिवचनों से 'क्रत्वर्थ' कर्म्मों का संग्रह होरहा है। इन दोनों तथ्यों को लक्ष्य बनाइए, एवं तदाधारेणैव प्रक्रान्त-प्रश्न के समाधान का अन्वेषण कीजिए-अपनी विधि-विहिता शास्त्रीया-प्रज्ञा से ही।

५७-ब्राह्मणभागानुबन्धी कर्म्म की पारिभाषिकी-'यज्ञ' संज्ञा का संस्मरण, 'यज्ञकर्म्म' का 'श्रेष्ठतमकर्म्मत्त्व', एव इष्टकामफलप्रद यज्ञकर्म्मानुगत पारिभाषिक-'यज्ञार्थकर्म्म' की अबन्धनता का संस्मरण—

ब्राह्मणोक्त कर्म्म की पारिभाषिकी संज्ञा है 'यज्ञ', जिस 'यज्ञकर्म्म' को यच्चयावत् लौकिक-व्यावहारिक कर्म्मों के समतुलन में 'श्रेष्ठतमकर्म्म' माना गया है-दैवीभावानुगत-सात्त्विक-फलानुबन्ध से। अतएव ब्राह्मणोक्त विधि-विहित कर्म्मकाण्ड की दूसरी संज्ञा 'यज्ञकाण्ड' भी मान ली गई है, जो यज्ञकर्म्म गीतोपनिषत् की दृष्टि में भी परमपावन * इष्टकामफलप्रद कर्म्म÷ है। इस याज्ञिकी परिभाषा के अनुबन्ध से इष्टसाधक--फलसाधक पुरुषार्थकर्म्म को जहाँ 'यज्ञकर्म्म' कहा जायगा, वहाँ यज्ञकर्म्मसाधक क्रत्वर्थकर्म्म को--'यज्ञार्थकर्म्म' कहा जायगा, जिसे भगवान् ने 'सबन्धन' लौकिक-कर्म्मों के समतुलन में–'अबन्धनकर्म्म' ही माना है ×।

५८–पुरुषार्थकर्म्म की पारिभाषिकी 'पुरुषार्थता', स्वर्गफलात्मक-पारिभाषिक-'इष्ट', एवं क्रत्वर्थकर्म्मप्रतिपादिका विधियों से अनुप्राणित इष्टात्मक-'लिङर्थ' का संस्मरण—

प्रधानकर्म्मात्मक-पुरुषार्थरूप-यज्ञार्थकर्म्मों से ऐहलौकिकी भूतसमृद्धि, तथा स्वर्गादि सम्पत्ति प्राप्त होती है, और यही इसकी पुरुषार्थता है। विधिवचनों का समन्वय करने वाले पूर्वमीमांसा–शास्त्र की परिभाषा के

---

*–यज्ञ-दान-तपः-कर्म्म न त्याज्यं, कार्य्यमेव तत्।
यज्ञो-दानं-तपश्चैव–"पावनानि"–मनीषिणाम्॥
—गीता १८।५।

÷–सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥
—गीता ।१०।

×–यज्ञार्थात्–कर्म्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्म्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म्म कौन्तेय ! मुक्तसङ्गः समाचर॥
—गीता ३।६।

अनुसार (जो दुर्भाग्यवश व्याससूत्रवत् आज 'दर्शन' रूप में हीं परिणत होचुका है तदात्मक भाष्य, और तदात्मिका टिकाओं की कृपा से) पुरुषार्थकर्म्म-प्रतिपादिका विधियों में (लोकसमृद्धि से समन्वित) 'स्वर्गफल' 'इष्ट' है, एवं क्रत्वर्थकर्म्मप्रतिपादिका विधियों में 'लिङर्थ' इष्ट है, जिस इस मीमांसानुगता दुरूहता के विश्लेषण का अत्र अवसर नहीं है।

५९–पुरुषार्थकर्म्मानुगत-विधिवचनों का संस्मरण, एवं तन्निबन्धन स्वतन्त्रेष्टसाधनता के कारणभूत-'अनारभ्याधीत-विधिवचनों' का समन्वय-प्रयास—

स्वर्गादि फलों को अपना प्रमुख इष्ट बनाए रखने वाले पुरुषार्थकर्म्मों की प्रतिपादिका वेदविधियाँ हीं - **'अनाराभ्याधीतविधि'** कहलाईं हैं, एवं लिङर्थ को इष्टफल बनाए रखने वालीं विधियाँ हीं **'आरभ्याधीतविधि'** कहलाईं हैं। बिना किसी आरम्भक्रम के (क्रमानुपात के बिना) जो विधि स्वतन्त्ररूपेण उपात्ता है, वही 'आरभ्या' होती है, जिसका उदाहरण है–**'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत'**-**'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत'**–**'अहरहः स्वाध्यायमधीयीतैव'**–**अहरहः सन्ध्यामुपासीत'** इत्यादि। ये विधियाँ किसी अन्य कर्म्मों की अङ्गपरम्परा के आरम्भ से सम्बन्ध न रखतीं हुईं, किसी क्रमव्यवस्था के द्वारा अनुप्राणित न रहतीं हुईं स्वतन्त्र हैं। इनके द्वारा दर्शपूर्णमास, ज्योतिष्टोम, सन्ध्या, स्वाध्याय, आदि स्वतन्त्र–अङ्गीभूत पुरुषार्थकर्म्मों का ही विधान हुआ है। यज्ञकर्त्ता–कर्म्मकर्त्ता–यजमान (कर्म्म) अभिलषित फलरूप जिस इष्ट की प्राप्ति के लिए कर्म्म करता है, ये विधियाँ इन फलात्मक इष्टों के साथ साक्षात्–रूपेणैव समन्वित हैं। अपनी इस स्वतन्त्रेष्टसाधनता के कारण ही पुरुषार्थप्रतिपादिका इन विधियों को **'अनारभ्याधीत'** कहा गया है।

६०–क्रत्वर्थानुगामिनी-आरभ्याधीतविधियों का समन्वय-प्रयास, एवं तद्रूप अङ्गात्मक-विधिवचनों का संस्मरण, और तदनुबन्धी लिङर्थों का 'इष्ट' भावानुबन्धी-व्यवस्थापन—

दूसरा विभाग क्रत्वर्थ-कर्म्मानुगामिनी **'आरभ्याधीतविधियों'** का है। अनारभ्याधीतविधिवाक्यों की सन्दर्भ-परम्परा में मध्ये मध्ये जो अङ्गात्मक विधिवचन आते रहते हैं, वे ही प्रारब्धविधि से अनुप्राणित होते हुए **'आरभ्याधीतवचन'** कहलाए हैं। सहज-भाषानुसार पुरुषार्थरूप यज्ञकर्म्म के आरम्भ होजाने पर ही तदङ्गभूत–क्रत्वर्थकर्म्मविधियों का क्योंकि यथाक्रम समन्वय होता है, अतएव इन अङ्गविधियों को **'आरभ्याधीतविधि'** कहना अन्वर्थ बनता है। **'दध्ना जुहोति'**–**'अप उपस्पृशति'**--**'अपः प्रणयति'**–**'प्रवराय-आश्रावयति'**–**गार्हपत्ये हवींषि श्रपयन्ति'**–**'पवित्रे करोति'**--**'स्रुचौ सम्मार्ष्टि'**--**'वषट्कृते जुहोति'**--**'सान्तपनेभ्यो मरुद्भ्यः सप्तकपालं पुरोडाशं निर्वपति'** इत्यादि विधियाँ प्रधानकर्म्माङ्गभूता बनतीं हुईं, तदारम्भानन्तर तत्क्रमानुपात से ही प्रवृत्त होतीं हुईं, अतएव च अपने लिङर्थों को ही प्रधान–**'इष्ट'** बनातीं हुईं व्यवस्थित हैं।

६१–'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत'-'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि अनारभ्याधीत-पुरुषार्थविधिवचनों से अनुप्राणित लिङर्थों की 'इतिकर्त्तव्यता' के स्वरूप-सम्पादन के लिए ही प्रवृत्त आरभ्याधीत-क्रत्वर्थ-विधिवचनों की प्रवृत्ति, और विधि-से अनुगत द्वैविध्य का पारिभाषिक-समन्वय-प्रयास—

'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' – 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि अनारभ्याधीत--पुरुषार्थविधियों का–'यजते' से अनुप्राणित जो 'लिङर्थ' है, उस लिङर्थ की (कर्म्म की) इतिकर्त्तव्यता की स्वरूपसम्पत्ति के लिए ही पूर्वोद्धृता आरभ्याधीतविधियाँ प्रवृत्त हुई हैं। पानी से आचमन करना, अपांप्रणयन करना, गार्हपत्य में हविःपरिपाक करना, दर्भतृण से प्रोक्षण-करना, जुहूपभृत् का सम्मार्ज्जन करना, आदि आदि सभी अङ्गकर्म्म पुरुषार्थकर्म्मरूप दर्शपूर्णमासात्मक अङ्गीकर्म्म के ही स्वरूप–सम्पादक बने हुए हैं, जिनके बिना कदापि इस प्रधान–यज्ञकर्म्म का स्वरूप–सम्पन्न नहीं होसकता। और इसप्रकार यज्ञकर्म्मकाण्ड की प्रतिपादिका 'विधि' नामक ब्राह्मणग्रन्थों की विधिश्रुतियाँ–पुरुषार्थकर्म्म (यज्ञकर्म्म--अङ्गीकर्म्म), क्रत्वर्थकर्म्म (यज्ञाङ्गकर्म्म) भेद से क्रमशः 'अनारभ्या--धीतविधि', आरभ्याधीतविधि-रूपेण दो भागों में विभक्त होरहीं हैं।

६२–प्रतिज्ञात-तृतीय-सामान्याधीत-विधि–वचनों का संस्मरण, तन्निबन्धन-कर्म्मसामान्यानुगत-'कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि'-'अहरहर्भूतेभ्यो बलिं दद्यात्'-'सत्यं वद'-'धर्म्मं चर'-इत्यादि कतिपय-उदाहरणों का संस्मरण, एवं तन्निबन्धन-लिङर्थों का स्वरूप-समन्वय-प्रयास—

अब प्रतिज्ञात विभागों में से केवल एक विभाग शेष रह जाता है, जिसे तत्रैव हमने–'सामान्याधीत-विधिविभाग' कहा है। 'कुर्व्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच्छतं समाः' (निरन्तर कर्म्मनिष्ठ बने रहते हुए ही सौ वर्ष जीवित रहने को इच्छा करो), 'स्वाध्यायान्न प्रमदितव्यत्' (कभी स्वाध्याय में आलस्य-प्रमाद-न करो), 'देवपितृकार्य्याभ्यां मा प्रपद' (देवपूजन, तथा श्राद्धात्मक पितृपूजन में कभी प्रमाद न करो), 'अहरहर्भूतेभ्यो बलिं दद्यात्' (आनृशंसधर्म्मानुबन्ध से प्राणिमात्र के लिए प्रवर्ग्यान्न का उत्सर्ग करते रहो),--'मां हिंस्यात् सर्वा भूतानि' (उत्तरदायित्त्वशून्या हिंसा का कदापि अनुगमन न करो), 'अनृतं मा ब्रूयाः' (कभी मिथ्याभाषण न करो), 'सत्यं वद', धर्म्मं चर, इत्यादि श्रुतिवचनों का न तो किसी यज्ञकर्म्म से ही साक्षात् सम्बन्ध है, एवं न यज्ञाङ्गकर्म्म से ही साक्षात् सम्बन्ध। अपितु ये सभी विधि–वचन तो मानव के अध्यात्मासामान्यधर्म्मों से ही अनुप्राणित हैं। अतएव अवश्य ही इन विधियों को 'सामान्याधीतविधि' कहा जासकता है, एवं कहा गया है।

६३–विधिवचनानुगत त्रैविध्य, एवं प्रत्येक विधिवचनविभाग से अनुप्राणिता स्वतन्त्रा उपनिषत् का स्वातन्त्र्य-समन्वय, तथा तन्निबन्धना पुरुषार्थकर्म्मोपनिषत्, क्रत्वर्थ-कर्म्मो ,निषत्, सामान्यकर्म्मोपनिषत्, नाम की उपनिषद्-विभागत्रयी का पारिभाषिक-स्वरूप-दिग्दर्शन—

तथाकथित अनारभ्याधीत, आरभ्याधीत, एवं सामान्य, तीनों हीं प्रकार के विधिवचनों की अपनी अपनी स्वतन्त्रा उपनिषत् है। अर्थात् तीनों ही प्रकार के विधिवचन अवश्य ही प्रकृतिसिद्धा किसी न किसी मौलिक-ज्ञानविज्ञानात्मिका उपपत्ति को मूलाधार बना कर ही प्रवृत्त हुए हैं। क्योंकि विधिवचन–त्रिधा–विभक्त हैं, अतएव तद्विज्ञानोपपत्तिरूपा उपनिषत् भी 'पुरुषार्थकर्म्मोपनिषत्, क्रत्वर्थकर्म्मोपनिषत्, सामान्यकर्म्मोपनिषत्' भेद से तीन ही भागों में विभक्त होरहीं हैं।

६४–अनारभ्याधीत, तथा सामान्याधीत-विधिवचनों का गणनानुगत सीमितत्त्व, एवं आरभ्याधीत-विधिवचनों की असंख्यातता, और तदनुबन्धेनैव क्रत्वर्थरूप-आरभ्याधीत-अगणित-विधिवचनों की उपनिषदों का तद्विधि-भागों के साथ-विधिभागात्मक ब्राह्मणभाग में ही प्रतिपादन—

त्रिविधा विधियों में अनारभ्याधीता पुरुषार्थविधियाँ, तथा सामान्यविधियाँ (आद्यन्त की विधियाँ) जहाँ परिगणित हैं, वहाँ मध्य की आरभ्याधीता क्रत्वर्थकर्म्मप्रतिपादिका विधियाँ असंख्य हैं अपने असंख्य अङ्गभावों के कारण। अतएव पुरुषार्थोपनिषदें, तथा सामन्योपनिषदें जहाँ परिगणित हैं, वहाँ क्रत्वर्थ-कर्म्मोपनिषदें असंख्य ही हैं। इस असंख्यातता के अनुबन्ध से असंख्या-आरभ्याधीता–क्रत्वर्थकर्म–विधियों की उपनिषदों का ततत् विधिवचनों के साथ स्वयं ब्राह्मणग्रन्थों में ही स्वरूप–विश्लेषण होगया है। प्रत्येक अङ्गकर्म्म की उपपत्तिरूपा मूलोपनिषत् तदङ्गकर्म्म के साथ ही ब्राह्मणग्रन्थों में हीं सन्निविष्टा है।

६५–अपांप्रणयन-आचमन-प्रोक्षण-पुरोडाशश्रपण-समाहनन-पवित्रीकरण-हविर्ग्रहण-हविःकण्डन-हविःपेषण-आदि आदि अगणित-आरभ्याधीत-विधिवचनानुबन्धी क्रत्वर्थ-कर्म्मों का नाम-स्मरण, एवं तदनुगता उपनिषदों का रूप विश्लेषक-शतपथविज्ञान-भाष्य—

अपांप्रणयन– आचमन– प्रोक्षण – पुरोडाशश्रपण– समाहनन–पवित्रीकरण– हविर्ग्रहण–हविःकण्डन –हविःपेषण–पवित्रीकरण– पात्रासादन– पात्रप्रतपन––इध्मसन्नहन– अग्निसमिन्धन––होतृप्रवरण–-ब्रह्मवरण–-पुरोडाशसम्पादन–-आज्यविलापन–-पत्नीसन्नहन – कृष्णमृगचर्म्मास्तरण–गोदोहन–अग्निमन्थन–दक्षिणादान–आदि आदि असंख्यात जितने भी क्रत्वर्थ–कर्म्म हैं, सब की रहस्यपूर्णा उपनिषदें ततत्कर्म्मों के साथ ही समाविष्ट हैं, जिन इन रहस्य–पूर्णा वैज्ञानिकी उपनिषदों का शतपथविज्ञानभाष्य में विस्तार से उपबृंहण हुआ है।

६६–'यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते' न्यायानुगत तथ्य का संस्मरण, और विधिभागोपात्ता उपनिषदों के 'उपनिषत्' नाम से व्यवहार-नियन्त्रण के कारण का पारिभाषिक-समन्वय, एवं ब्राह्मणग्रन्थानुबन्धी-'उपनिषत्' शब्द के 'अथादेशा उपनिषदाम्'-'तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत्'-इत्यादि-प्रसिद्ध-व्यवहार का यौगिकार्थ-निबन्धन स्वरूप-समन्वय-प्रयास—

क्योंकि आरम्याधीता-क्रत्वर्थकर्म्मात्मिका विधियों की स्वयं विधिभाग (ब्राह्मणभाग) में विधियों के साथ ही उपनिषदें समन्वित हैं, अतएव-'यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते' न्याय से आरम्याधीत-विधियों की इन **क्रत्वर्थकर्म्मोपनिषदों** का 'ब्राह्मण' नाम से ही परिग्रहण होगया है। अतएव ब्राह्मणग्रन्थों में उपात्ता इन उपनिषदों का-'**उपनिषत्**' रूपेण स्वतन्त्र-व्यवहार का अवसर ही नहीं आया है। ब्राह्मणभागान्तर्गता उपनिषदों का–उपनिषत् शब्द से व्यवहार क्यों नहीं हुआ ?, प्रश्न का यही संक्षिप्त समाधान है। एतावता ही कोई भावुक व्याख्याता यह न समझ बैठे कि—'**उपनिषत् शब्द तो ग्रन्थविशेष में हीं निरूढ है, इसलिए विधिरूप ब्राह्मणभाग व्यवहार में 'उपनिषत्' नहीं कहलाया**'–इस भ्रान्ति के निराकरण के लिए ही विधिभागात्मक ब्राह्मणग्रन्थों में अनेक स्थलों की उपपत्तिरूपा उपनिषदों के लिए साक्षाद्रूपेण–'**उपनिषत्**' शब्द भी प्रयुक्त होगया है–जैसाकि–'**अथादेशा उपनिषदाम्**' (शत० ब्रा०)–'**तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेपोपनिषत्**' (शत० ब्रा०) इत्यादि पूर्वोद्धृत वचनों से स्पष्ट प्रमाणित है।

६७–अनारभ्याधीत-'पुरुषार्थकर्म्मोपनिषत्' से अनुप्राणित 'उपनिषत्'-शब्द की व्यावहारिकता से अनुप्राणिता पारिभाषिकी स्थिति का स्पष्टीकरण-प्रयास, एवं स्पष्टीकरणानुगता–विधिभागनिबन्धना–कर्म्मगर्भिता विज्ञानोपनिषदों का, तथा उपनिषद्भागनिबन्धना–विज्ञानगर्भिता-ज्ञानोपनिषदों का रहस्यात्मक-समन्वय—

अब दूसरी पुरुषार्थकर्म्मानुगता अनारम्याधीता विधियों की '**पुरुषार्थकर्म्मोपनिषत्**' नामकी उपनिषदों को लक्ष्य बनाए। **दर्शपूर्णमास, चातुर्म्मास्य, ग्रहयाग, राजसूय, वाजपेय, अश्वमेध, चयन**, आदि आदि सुप्रसिद्ध पुरुषार्थरूप यज्ञकर्म्मों की मौलिक-उपपत्तिरूपा उपनिषदों का महतोमहीयान् गम्भीर, एवं विस्तृत विज्ञानभावों से ही सम्बन्ध है। अतएव इन उपनिषदों का अमुक अंश तो स्वयं ब्राह्मणग्रन्थों में ही प्रतिपादित है, एवं अमुक अंश का संग्रह उपनिषद्ग्रन्थों से अनुप्राणित है। इसी उभय-समन्वय ने विधिरूप ब्राह्मणभाग को, तथा उपनिषद्भाग को अभिन्न प्रमाणित कर रक्खा है। तथ्य यही है कि, विधिभाग में **कर्म्मगर्भिता विज्ञानोपनिषदों** का प्रमुखरूपेण स्पष्टीकरण हुआ है, एवं उपनिषद्भाग में **विज्ञानगर्भिता-ज्ञानोपनिषत्** का स्पष्टीकरण हुआ है। प्रत्येक कर्म्म **ज्ञानकर्म्मात्मक** है। वही तत्त्व कर्म्मदृष्ट्या **कर्म्मप्रधान** है, एवं ज्ञानदृष्ट्या **ज्ञानप्रधान** है।

६८–कर्म्मानुबन्धिनी 'कर्म्मोपनिषत्', एवं ज्ञानानुबन्धिनी–'ज्ञानोपनिषत्' का दिग्दर्शन, कर्म्मानुगत नानात्व से अनुप्राणित पारिभाषिक-'विज्ञानभाव', और ज्ञानानुगत एकत्व से अनुप्राणित पारिभाषिक 'ज्ञानभाव', तथा 'ज्ञान'-'विज्ञान' शब्दों के निर्वचनात्मक-पारिभाषिक-रहस्यार्थों का स्वरूप-समन्वय-प्रयास—

अतएव प्रत्येक कर्म्म की उपनिषत् भी इस कर्म्म, ज्ञान--अनुबन्ध से कर्म्मोपनिषत्, ज्ञानोपनिषत् नाम से प्रसिद्ध होगई है। कर्म्म नानाभावापन्न है, अतएव कर्म्मप्रधान ज्ञान कर्म्म के वैविध्य से–'विविधं-ज्ञानं विज्ञानम्' रूपेण 'विज्ञान' नाम से व्यवहृत होगया है। तथैव क्योंकि ज्ञान अनेकत्वप्रतियोगिक–एवं एकत्वानुयोगिक है। अतएव--ज्ञानप्रधान कर्म्म ही तदाधारभूत एकत्वानुबन्धी ज्ञानानुबन्ध से 'एकं-ज्ञानं--ज्ञानम्' रूपेण-'ज्ञान' नाम से व्यवहृत होगया है। यों एक ही कर्म्म अपने कर्म्म, तथा ज्ञान नाम के दो अनुबन्धों से नानात्व, और एकत्व-भावों से विज्ञान और ज्ञान, इनदो भावों में परिणत होगया है। ज्ञानगर्भित कर्म्म का नाम हीं विज्ञान है, एवं कर्म्मगर्भित ज्ञान का नाम ही 'ज्ञान' है।

६९–कर्म्मानुबन्धी सहज परिवर्त्तन से अनुप्राणित 'मृत्युरूप-असद्भाव', एवं ज्ञानानुबन्धी सहज--अपरिवर्त्तन से अनुगत 'अमृतरूप-सद्भाव', और अमृत-मृत्यु-लक्षणा-ज्ञान कर्म्म-विभूतियों का ओत, तथा प्रोत–भावानुबन्धी पारिभाषिक-'ओतप्रोतभाव'–सम्बन्ध—

अपने सहज परिवर्त्तन से कर्म्म जहाँ–'मृत्युरूप-असद्भाव' है, वहाँ अपने सहज अपरिवर्त्तन से ज्ञान 'अमृतरूप-सद्भाव' है। 'तदन्तरस्य सर्वस्य, तदु सर्वस्य बाह्यत:'–अन्तरं मृत्योरमृतं, मृत्यावृ–मृतमाहितम्'–'अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदर्द्धममृतम्' इत्यादि श्रुतियों के अनुसार मृत्यु–प्रधान कर्म्म में अमृतप्रधान ज्ञान 'ओत' है, एवं अमृतप्रधान ज्ञान में मृत्यु 'प्रोत' है। और इसी का नाम है ज्ञान-कर्म्म का-'ओतप्रोतभाव'।

७०–आधिदैविक–ईश्वरतन्त्र से अनुप्राणिता 'ओम्'- लक्षणा–'उपनिषत्', अध्यात्मिक-जीवतन्त्र से अनुप्राणिता–'अहम्'-लक्षणा--उपनिषत्, आधिभौतिक-जगत्तन्त्र से अनुप्राणित 'अहः'–लक्षणा उपनिषत्, एवं विवर्त्तत्रयी की ज्ञानकर्म्मोभयात्मकता का रहस्यात्मक-पारिभाषिक-समन्वय-

इस उभयात्मक स्वरूप का ही नाम है 'ओम्' (ईश्वर–विवर्त्त), तदात्मक ही है-'अहम्' (जीव-विवर्त्त), एवं तदात्मक ही है-'अहः' (जगद्विवर्त्त), जैसाकि-'तस्योपनिषदोमिति'-'तस्योपनिषदहमिति' 'तस्योपनिषदहरिति' से प्रमाणित है। आधिदैविक ईश्वरविवर्त्त ही 'ओम्' है, आध्यात्मिक जीवविवर्त्त ही 'अहम्' है, एवं आधिभौतिक जगद्विवर्त्त ही 'अहः' है। और ये तीनों हीं विवर्त्त अमृत-मृत्यु-लक्षण, रस-बल-निबन्धन-ज्ञानकर्म्मोभयमूर्त्ति, किंवा ज्ञान-विज्ञानोभय-मूर्त्ति हैं।

७१-निष्कैवल्यकर्म्मानुगता भ्रान्ति से आविष्ट कर्म्मठों की ज्ञानपथ से विच्युति, तथा निष्कैवल्यज्ञानानुगत स्वरूपविमोहन से ज्ञानाभिनिविष्टों का आत्यन्तिक-पराभव—

निष्कैवल्य-कर्म्म की भ्रान्तिने जहाँ कर्म्माभिनिविष्टों को **ज्ञानोपनिषत्** से वञ्चित रक्खा है, वहाँ निष्कैवल्य-ज्ञान की भ्रान्तिने ज्ञानाभिनिविष्टों को **विज्ञानोपनिषत्** से पराङ्मुख प्रमाणित कर दिया है। विज्ञान-वञ्चित-(कर्म्मवञ्चित) ज्ञान जहाँ-केवल प्रतारणामात्र है, तथैव ज्ञानवञ्चित विज्ञान भी सर्वनाशका ही कारण है।

७२-ज्ञानप्रतिष्ठा से समन्वित विज्ञान की आनन्दरूपता का दिग्दर्शन, तन्निबन्धना-'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' श्रुति का संस्मरण, ज्ञानप्रतिष्ठा से वञ्चित आज का सर्वविनाशक-भूतविज्ञान, एवं-उपनिषत् के-'ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः' इत्यादिवचन का रहस्यात्मक-समन्वय-प्रयास—

ज्ञानामृत-प्रतिष्ठारूपा नित्या प्रतिष्ठा को आधार बना लेने वाला कर्म्मात्मक-विज्ञान भी **'नित्य'** बनता हुआ आनन्दमय ही प्रमाणित होजाया करता है, जैसाकि-**'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'** श्रुति से संसिद्ध है। जबकि ज्ञानप्रतिष्ठा से वञ्चित कर्म्मविज्ञान क्षणिक विज्ञानरूप में परिणत होता हुआ निर्म्माण के स्थान में ध्वंस का ही कारण बन जाता है, जैसाकि ज्ञानप्रतिष्ठा से वञ्चित आज का क्षणिक-विज्ञानात्मक-भूतविज्ञान केवल मृत्यु का, किंवा ध्वंस का ही ताण्डव कर रहा है। ठीक वही स्थिति उस ज्ञानविजृम्भण की है, जो आज आचारात्मक-विज्ञानात्मक कर्म्म से पृथक् होचुका है, एवं जिस विज्ञानशून्य ज्ञान की आचारविहीना-दार्शनिकता से व्यामुग्ध ज्ञानाभिनिविष्ट जगन्मिथ्यात्ववादी विज्ञानाभिनिविष्ट-भूतविज्ञानवादियों से भी कहीं अधिक उत्पीड़ित होरहे हैं— 'ततो भूय इव ते तमो ये-उ-विद्यायां रताः' (ईशोपनिषत्) के अनुसार।

७३-पुरुषार्थरूप कर्म्म की ज्ञान, तथा कर्म्मरूपता का समन्वय, एवं तदनुबन्धिनी ज्ञानोपनिषत्, और विज्ञानोपनिषत् नामकी विभागद्वयी का दिग्दर्शन, तथा उपनिषत् के पारिभाषिक-तथ्यों से अनुप्राणिता-ज्ञानोपनिषद्गर्भिता-विज्ञानोपनिषत्, और विज्ञानोपनिषद्गर्भिता-ज्ञानोपनिषत्, नामकी महिमा-द्वयी का स्वरूप-समन्वय-प्रयास-

अत्र निवेदनीय यही है कि, पुरुषार्थरूप कर्म्म अपने ज्ञान, और कर्म्म-भावों से विज्ञान, और **ज्ञान**, इन दो भावों से समन्वित रहता है। अतएव इसकी उपपत्तिरूपा उपनिषदें भी **विज्ञानोपनिषत्**, **ज्ञानोपनिषत्**, रूपेण दो भावों से ही समन्विता रहतीं हैं। विज्ञानोपनिषत् ज्ञानोपनिषत् को मूल बनाए रहती है, तो ज्ञानोपनिषत् विज्ञानोपनिषत् को मूल बनाए रहती है। अतएव इन दोनों का क्रमशः **ज्ञानोपनिषद्गर्भिता-विज्ञानोपनिषत्**, तथा **विज्ञानोपनिषद्गर्भिता ज्ञानोपनिषत्**-नामकरण होजाता है। विज्ञान-प्रधान वही कर्म्म **प्रवृत्तकर्म्म** कहलाया है, एवं ज्ञानप्रधान वही कर्म्म **'निष्कामकर्म्म'** कहलाया है। अतएव विज्ञानोपनिषत् को **प्रवृत्तकर्म्मोपनिषत्** कहा जासकता है, तो ज्ञानोपनिषत् को **निष्कामकर्म्मोपनिषत्** माना जासकता है। और यों विस्तृत-गभीर विज्ञानरहस्य-सापेक्षा पुरुषार्थकर्म्मोपनिषत्, किंवा अनारभ्याधीत-विधिवचनों की उपनिषत् दों भावों से समन्वित होरहीं हैं।

७४–उदाहरण–के माध्यम से विज्ञानोपनिषत् का स्वरूप–समन्वय–प्रयास, 'चयनयज्ञ' का संस्मरण, तद्व्याख्यानुगत पञ्चकाण्डात्मक महान् सन्दर्भ, एवं अत्यन्त ही रहस्यपूर्णा स्थिति से अनुप्राणिता–'विज्ञानगर्भिता–ज्ञानोपनिषत्' के सम्बन्ध में पारिभाषिक–दिग्दर्शन–प्रयास—

उक्त दोनों भावों में से ज्ञानगर्भिता विज्ञानोपनिषदों का तो स्वयं-ब्राह्मणग्रन्थों में हीं तत्तत्-पुरुषार्थ-कर्म्मों के साथ (अनारम्याधीत-विधियों की इतिकर्त्तव्यताओं के साथ) विस्तार से स्वरूप–विश्लेषण होगया है। उदाहरण के लिए **'अग्निचयन'** नामक सुप्रसिद्ध चयनयज्ञ को ही लीजिए, जिसकी इतिकर्त्तव्यता जहाँ थोड़े में समाविष्ट होजाती है, वहाँ इसकी विज्ञानोपनिषत् बहुविस्तार--सापेक्ष है। अतएव स्वयं शतपथब्राह्मण को १/६–२/७–३/८–४/९–५/१०–ये पाँचकाण्ड केवल चयनयज्ञोपनिषद्रूप **'अग्निरहस्यविज्ञान'** के स्वरूप-समन्वय के लिए ही उपनिषद्ध करने पड़े। एवमेव प्रत्येक पुरुषार्थकर्म्म का विज्ञानोपनिषत्-रूप एक अंश तो ब्राह्मण-ग्रन्थोक्त कर्म्मों के साथ ही समन्वित है। अतएव क्रत्वर्थकर्म्मोपनिषत्-वत् इन पुरुषार्थकर्म्मोपनिषदों का भी स्वतन्त्र-व्यवहारावसर उपस्थित नहीं हुआ। किन्तु उन्हीं पुरुषार्थकर्म्मों की विज्ञानगर्भिता जो ज्ञानोपनिषत् थी, उसे सुविधामात्र के लिए ऋषिने स्वतन्त्र ग्रन्थरूप से उपनिषद्ध कर दिया–विज्ञानांश को तद्गर्भ में प्रतिष्ठित करते हुए। अतएव वह अंश ही स्वतन्त्ररूपेण-**'उपनिषत्'** नाम से लोकव्यवहार में प्रसिद्ध होगया। यह सर्वात्मना अवधेय है कि, जबतक उपनिषद्ग्रन्थों पें प्रतिपादित, अंशरूप ज्ञानोपनिषत् का समन्वय नहीं कर लिया जाता, तबतक न तो विधिभागोक्ता विज्ञानोपनिषत् का ही समन्वय सम्भव है, एवं न तदनुगत पुरुषार्थ-कर्म्म का ही स्वरूप-समन्वय सम्भव है। अतएव ब्राह्मणभाग की उपनिषदों को उपनिषद्भाग के उपनिषदों के प्रति नित्य सापेक्ष ही माना जायगा, जिस इस सापेक्षकता का निष्कर्ष यही होगा कि, उपनिषद्ग्रन्थों का समन्वय किए बिना हम कदापि ब्राह्मणग्रन्थोक्त-रहस्यों, तथा कर्म्मों का अंशतः भी समन्वय नहीं कर सकते। ठीक यही स्थिति उपनिषद्ग्रन्थों की समझिए। उपनिषद्ग्रन्थों में विज्ञानगर्भिता जिन ज्ञानोपनिषदों का स्पष्टीकरण हुआ है, वे सम्पूर्ण ज्ञानोपनिषदें स्वगर्भ में विधिभागात्मक ब्राह्मणग्रन्थों में प्रतिपादिता विज्ञा-नोपनिषदों को ही प्रतिष्ठित किए हुए हैं। तभी तो उपनिषद्ग्रन्थान्तर्गत ज्ञानोपनिषत् को हमने पूर्व में–**'विज्ञानोपनिषद्गर्भिता ज्ञानोपनिषत्'** नाम से समन्वित माना है।

७५–ब्राह्मणविज्ञान, तथा ब्राह्मणकर्म्म (यज्ञकर्म्म) के तात्त्विक–समन्वय-बोध से असंपृक्ता स्थिति का स्वरूप-दिग्दर्शन, काल्पनिक-अद्वैतज्ञान के माध्यम से पराःपरावत औपनिषद-तथ्य, एवं विधि-आरण्यक-उपनिषत्–त्रयी की सहसमन्वयरूपा-एकता–नात्मिका-निष्ठा के द्वारा ही वैदिक-तत्त्ववाद का समन्वय-संस्थापन—

अतएव ब्राह्मणविज्ञान, तथा ब्राह्मणकर्म्म (यज्ञकर्म्म) के तात्त्विक-सपन्वय-बोध के बिना विज्ञान-वञ्चित, अतएव प्रातिभासिक-काल्पनिक-अद्वैतज्ञान-मात्र के माध्यम से कदापि उपनिषद् ग्रन्थों के एकाक्षर का भी समन्वय सम्भव नहीं है। और यही उस तथ्य का मूल बीज है, जिसके आधार पर हमने-**'विधि-आरण्यक-उपनिषत्'** तीनों को अन्योन्याश्रयानुबन्धी एक ही **'पटशास्त्र'** माना है, जिस इस 'पटत्व' धर्म्म के बिना, दूसरे शब्दों में तीनों के सहसमन्वय के बिना मूल-वेदात्मक-संहितावेद के, मन्त्रवेद के एक

मन्त्र का भी अर्थ गतार्थ नहीं बन सकता, नहीं बन सकता। तीनों सहसमन्वित होकर ही कर्म्म-ज्ञान-समन्वयात्मिका निष्ठा का स्वरूप-संरक्षण करते हुए मन्त्रभाग के विस्तारात्मक-व्याख्याग्रन्थ बने हुए हैं। तीनों की इसी अभिन्नता के कारण लोकव्यवहार में तीनों की समष्टि-'ब्राह्मण' नाम से ही प्रसिद्ध हुई है।

७६-ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषत्-त्रयी की अन्योऽन्याश्रयता से अनुप्राणित-'उपनिषत्' शब्द-व्यवहार से अनुगता विभिन्ना मर्य्यादा का समन्वय—

एवमेव कहा जासकता है तीनों की समष्टि को ही अन्योऽन्याश्रयता के अनुबन्ध से आरण्यक, और उपनिषत् भी। किन्तु कहा नहीं गया। क्यों ?। इस क्यों ? का उत्तर है-'तयोऽस्तु कर्म्मसंन्यासात्, 'कर्म्मयोगो विशिष्यते' का तात्त्विक-समन्वय, जिसके स्पष्टीकरण का अत्र अवसर नहीं है।

७७-'तत्त्वनिष्ठा' के समतुलन में 'आचारनिष्ठा' की प्रमुखता का संस्मरण, और तन्निबन्धन-'आचारः परमो धर्म्मः' का दिग्दर्शन—

तत्त्वनिष्ठा के समतुलन में इस राष्ट्र की प्रज्ञा ने आचारात्मिका कर्म्मनिष्ठा को ही सदा से प्रमुखता प्रदान की है, और इस आचार को ही 'परमधर्म्म' माना है-'आचारः परमो धर्म्मः'। आचार स्वयं ही कालान्तर में विचार का सर्ज्जक बनता हुआ तत्त्वजिज्ञासा का समाधान प्राप्त कर लेता है- "तत्स्वयंयोगसंसिद्धः कालेनात्मनि" ÷ के अनुसार।

७८-आचारशून्य-तत्त्वविजम्भृणात्मक माध्यम से असंस्पृष्टा पुरुषार्थसिद्धि, आचारशून्या केवल तत्त्वमीमांसा से अभ्युदय-निःश्रेयस्-की पराङ्मुखता, एवं तत्त्वमीमांसा-शून्यापि-आचारनिष्ठा से ऐहिक-पारलौकिक-सिद्धि का दिग्दर्शन—

अतएव आचारशून्य केवल तत्त्वविजृम्भण के माध्यम से मानव का कोई भी पुरुषार्थ सिद्ध नहीं होसकता। यही नहीं, आचार से वञ्चिता तत्त्वमीमांसा जहाँ मानव को अन्ततोगत्त्वा आरम्भ में अभ्युदय से (भूतसमृद्धि) से वञ्चित करती हुई कालान्तर में निःश्रेयस् से भी पराङ्मुख कर देती है, वहाँ तत्त्वमीमांसा से पृथक् रहने वाला भी आचारधर्म्म (कर्त्तव्यकर्म्म) मानव को आरम्भ में अभ्युदय से समन्वित करता हुआ कर्म्माग्निसंघर्षजनित-उद्बोधन से तत्त्वबोध कराता हुआ अन्ततोगत्त्वा इसे निःश्रेयस् से भी समन्वित कर देता है। अतएव आचारात्मक-धर्म्म को ही श्रुति ने-'तस्माद्धर्म्मं परमं--वदन्ति' (शत० ब्रा०) रूपेण परम-उत्कृष्ट-तत्त्व माना है, जिसके आधार पर ही-'यतोऽभ्युदय-निःश्रेयससिद्धिः स धर्म्मः' (कणादसूत्र) यह उद्घोष अभिव्यक्त हुआ है-उसी तत्त्वमीमांसक-दर्शन के द्वारा।

÷ न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥
—गीता ४।३८।

७९–'धर्म्मं चर'-रूपेण उपनिषच्छास्त्र के द्वारा भी आचारात्मक-कर्त्तव्यमार्ग का ही समर्थन, एवं-'कृतं सम्पद्यते'-'चरेवैति-चरेवैति'-'भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम्' इत्यादि रूपेण आचारनिष्ठा का ही सिद्धानुगतत्त्व-संस्थापन—

स्वयं उपनिषच्छास्त्रने भी–'धर्म्मं चर' रूपेण आचरणात्मक-कर्त्तव्यात्मक-धर्म्म की ही प्रमुखता स्वीकार की है, जैसाकि प्रजापति के–कृतं सम्पद्यते--चरन्, चरैवेति, चरैवेति, इस आदेश के द्वारा, तथा–'भृगूणामङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम्'–'चेतयध्वम्' इत्यादि अन्य परःशत श्रुतिवचनों से स्पष्टतमरूपेण राद्धान्तित है। विधिभागानुगता आचारनिष्ठा की इसी प्रमुखता से सम्बन्ध रखने वाला 'ब्राह्मण' शब्द जहाँ विधिवत् आरण्यक, तथा उपनिषत्–भाग पर भी व्याप्त होगया, वहाँ केवल तत्त्वमीमांसात्मक आरण्यक, तथा उपनिषत्–ग्रन्थों के ये दोनों शब्द तीनों में व्याप्त न होकर स्व–स्व–सीमा में ही समन्वित रह गए। और यों 'विधि-आरण्यक-उपनिषत्' तीनों 'ब्राह्मण' व्यवहार से समन्वित होते हुए 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' शक्तिग्राहक–शिरोमणि इस वृद्धव्यवहार के प्रवर्त्तक बन गए *।

८०–आचारात्मक-विधिरूप-ब्राह्मणभाग की सर्वापेक्षया प्रधानता, अतएव केवल विधि–भागात्मक-ब्राह्मणग्रन्थ के साथ ही-'ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषत्' रूपेण तीनों शब्दों के व्यवहार का पारिभाषिक-दिग्दर्शन, और तन्निबन्धना ब्राह्मणग्रन्थों की सर्वमूर्द्धन्यता का स्वरूप-समन्वय-प्रयास—

आचारात्मक, विधि–रूप इस ब्राह्मणभाग की प्रधानता से केवल ब्राह्मणग्रन्थ जहाँ आगे जाकर ब्राह्मण–आरण्यक–उपनिषत्–इन तीनों नामों से समन्वित होपड़े, वहाँ आरण्यक, और उपनिषत्–भाग ऐसा व्यात्मक सम्मान–प्राप्त नहीं कर सके। उदाहरण के लिए शतपथब्राह्मण हीं पर्य्याप्त है, जो अपने समष्ट्यात्मक स्वरूप से जहाँ--'शतपथब्राह्मण' कहलाता है, वहाँ यही अपने व्यष्ट्यात्मक--अन्तिम--चौदहवें काण्ड से--'बृहदारण्यकोपनिषत्' रूपेण--आरण्यक, तथा उपनिषत् नामों से भी समन्वित होरहा है। और यही विधि--आरण्यक--उपनिषत्--रूपेण त्रिधा विभक्त-वेदग्रन्थों में 'विधि' नामक ब्राह्मणग्रन्थों की वह सर्वमूर्द्धन्यता है, जिसे उपेक्षित कर आरण्यक, तथा उपनिषत् भाग का ही क्या, स्वयं मन्त्रसंहिता के भी एकाक्षर का पारिभाषिक--समन्वय--स्वप्न में भी तो सम्भव नहीं है।

८१–विधि-आदेश-आदेशना-नोदना-अनुज्ञा-रूप भावों से अनुगत यज्ञात्मक कर्म्म, एवं तन्निबन्धन ब्राह्मणग्रन्थों के प्रधान लक्ष्य का दिग्दर्शन—

'विधि' शब्द 'आदेश' का ही सूचक है। आदेश का नाम--'आदेशना' है, आदेशना ही 'नोदना' है, नोदनात्मिका अनुज्ञा ही यज्ञकर्म्मात्मक, तथा यज्ञाङ्ग कर्म्मात्मक ब्राह्मणग्रन्थों का प्रमुख लक्ष्य है, जो कि अनुज्ञाभाव साक्षाद्रूपेण, तथा परम्परया आरण्योकपनिषद्भागों का भी लक्ष्य बन रहा है, जैसाकि-

---

*--शक्तिग्रहं--व्याकरणोपमानकोशाप्तव्याक्याद्--व्यवहारतश्च।
'तत्र--शक्तिग्राहकशिरोमणेर्वृद्धव्यवहारस्य' इति हि प्राहुर्विद्वांसः

'एष आदेशः' (विधिः), एष उपदेशः, एषा संवित्, एषा वात्र ब्राह्मी उपनिषत्' इत्यादि आरण्यको--पनिषद्वचनों से स्पष्ट है ।

८२-ब्राह्मणवत् आरण्यक, तथा उपनिषत्-भागों की भी विधिरूपा अनुज्ञापरकता का समन्वय-दिग्दर्शन, एवं आरण्यकोपनिषद्भागद्वयी का ब्राह्मणग्रन्थों में हीं अन्तर्भाव—

यों सभी 'विधि' (अनुज्ञा) की मर्य्यादा में अन्तर्भुक्त होते हुए विधिभागात्मक 'ब्राह्मणग्रन्थों' में हीं अन्तर्भूत होरहे हैं । अनारम्याधीता, विस्तृतविज्ञानसापेक्षा उपनिषदों का अमुक--ज्ञानगर्भित विज्ञानपक्ष स्वयं तद्विधिकर्म्मों के साथ ही समन्वित होगया है, अतएव इनका स्वतन्त्र--उपनिषत्--शब्द से व्यवहारावसर नहीं आया, जैसाकि पूर्व में भी निवेदन किया जाचुका है ।

८३-अनारम्याधीत-विधियों की विज्ञानगर्भित-ज्ञानांशत्त्वेन विभिन्नता, तन्निबन्धन वेद-भाग की स्वतन्त्ररूपेण 'उपनिषत्' नाम्ना प्रसिद्धि का समन्वय, एवं विधिरूप ब्राह्मणभाग की व्याप्ति का दिग्दशन—

इहीं अनारम्याधीत-विधियों का विज्ञानगर्भित--ज्ञानांश क्योंकि ज्ञानत्त्वेन अपना स्वरूप विभिन्न रखता था, अतएव तद्रूपा विज्ञानगर्भिता-ज्ञानोपनिषदों का स्वतन्त्ररूपेण ऋषिप्रज्ञा के द्वारा संकलन होगया है, जो कि स्वतन्त्रभाग ही 'उपनिषत्' नाम से प्रसिद्ध होगया है, यही अबतक के निवेदन का निष्कर्ष है, जो कि इत्थंभूत उपनिषद्भाग ब्राह्मणविधि से पृथक् कोई वैसा स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है, जिसका विधिभाग से सम्बन्ध नहो ।

८४-अनारभ्यीत-विधिवचनों की ज्ञानोपनिषत् से विभिन्ना सामान्योपनिषदों का संस्मरण, स्वस्त्ययन-आनृशंस-आत्मसाम्य-आदि सामान्यकर्म्मों का दिग्दर्शन, तदनुगता विधिभागप्रवणता, एवं इत्थंभूत सामान्यकर्म्मों से अनुप्राणिता कर्म्मोपनिषदों के सम्बन्ध में विघटित-'उपनिषत्'-शब्द के व्यवहार का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय-प्रयास—

अनारम्याधीत-विधियों की ज्ञानोपनिषत् के अतिरिक्त तीसरा विधिभाग--'सामन्यविधिभाग' का है । जिन्हें सामान्यकर्म्म कहा गया है, जो कि--स्वस्त्ययन--आनृशंस--आत्मसाम्य-आदि आदि भेदेन अनेक भागों में विभक्त हैं । इन सबका सूत्ररूपेण आदेशात्मक सङ्केत तो विधिरूप--ब्राह्मणभाग में अवश्य हुआ है, तथैव इनकी ज्ञानविज्ञानोपनिषदों का भी तत्रैव सूत्ररूप से दिग्दर्शन होगया है । किन्तु इनकी विस्तृत--विज्ञानो--पनिषदों का ऋषिने बोधसौकर्य्य के लिए एकत्र संकलन कर दिया है उसी--भाग के विज्ञान के आधार पर । तदित्थं अनारम्याधीतविधियों की अंशात्मिका उपनिषदें, तथा सामान्यविधियों की सूत्रोपनिषद्व्यारूपा विशद उपनिषदें, इन द्विविध--विज्ञानगर्भिता ज्ञानोपनिषदों का संकलनात्मक वेदविभाग ही स्वतन्त्ररूपेण उपनिषत् होता हुआ--'उपनिषत्' नाम से प्रसिद्ध होगया है, जो कि 'उपनिषत्' शब्द इस समन्वयापेक्षा से कदापि तत्संकलनग्रन्थमात्र में हीं निरूढ नहीं माना जासकता ।

८५–पारिभाषिक-तथ्यों की विस्मृति से तथोक्त समन्वय की दुरूहता, एकधनावरोध-देवस्मर-यज्ञविलिष्टसन्धान-आदि आदि कर्म्मों की इतिकर्त्तव्यता का विधिरूप 'ब्राह्मणभाग' से सम्बन्ध, एवं तद्विज्ञानोपनिषत्-लक्षणा-'उपनिषदों' का उपनिषद्-भाग से सम्बन्ध, तथा तन्निबन्धना रहस्यपूर्णा स्थिति का स्पष्टीकरण-प्रयास—

तथोक्त समन्वय पारिभाषिक तथ्यों की विस्मृति से क्योंकि दुरूह है। अतएव स्वतःप्रमाणित भी इस उपनिषच्छन्द-समन्वय के प्रसङ्ग में हमें प्रमाणवचनों की मध्यस्थता का अनुगन करना पड़ रहा है। **अनारभ्याधीत-विधियों की कर्म्मपद्धति ब्राह्मणग्रन्थों में, एवं विज्ञानगर्भिता ज्ञानोपनिषत् उपनिषद्ग्रन्थों में,** यह तथ्य प्रमाण के बिना सहसा हमारी प्राकृतबुद्धिमें प्रतिष्ठित नहीं होपाता। तदर्थ **एकधनावरोध, देवस्मर,** नाम के अनारम्याधीत–विध्यात्मक उदाहरण ही पर्य्याप्त होगें, जिनकी पद्धति का निरूपण हुआ है ब्राह्मण--भाग में, एवं रहस्योपनिषत् का प्रतिपादन हुआ है उपनिषद्भाग में (देखिए छान्दो० उप० २।३।४।)। सुप्रसिद्ध--**यज्ञविलिष्टसन्धानकर्म्म** की पद्धति जहाँ ब्राह्मणों में उपवर्णिता है, वहाँ उपनिषद्रूप रहस्यज्ञान उपनिषदों में निरूपित है (देखिए छां० उप० ४।१७।)।

८६–अनारभ्याधीत-अङ्गीभूत--यज्ञकर्म्मरूप--पुरुषार्थकर्म्म, तथा आरभ्याधीत--अङ्गभूत-यज्ञार्थकर्म्मरूप-क्रत्वर्थकर्म्म, नामक द्विविध विधिकर्म्मों से विभिन्न 'सामान्यविधि'-रूप कर्म्म की स्वरूप-परिभाषा, तदनुगता--'सामान्यकर्म्मोपनिषत्', एवं इत्थंभूत रहस्यात्मक-आधिदैविक--तत्त्वविभाजन से असंस्पृष्ट 'अध्यात्म'–मात्रविमुग्ध-उपनिषद्-व्याख्याताओं की स्थिति का चित्रण—

अनारभ्याधीत-अङ्गीभूत--यज्ञकर्म्मरूप--पुरुषार्थकर्म्म, एवं आरभ्याधीत--अङ्गभूत--यज्ञार्थ-कर्म्मरूप--क्रत्वर्थकर्म्म, इन दोनों **'विधिकर्म्मों'** के अतिरिक्त तीसरा कर्म्म **'सामान्यविधिकर्म्म'** कहलाया है, जिसकी उपनिषदें हीं--**'सामान्यकर्म्मोपनिषत्'** कहलाईं हैं, एवं प्रमुखरूपेण उपनिषद्भाग में इन्हीं उपनिषदों का संग्रह हुआ है। सचमुच यह महान् आश्चर्य्य है कि, सामन्यविधिरूप जिन कर्म्मों की उपनिषदों का ही उपनिषद्ग्रन्थों में स्वरूप--विश्लेषण हुआ है, कर्म्म के आधिदैविक सृष्टिविज्ञान के समन्वय करने में असमर्थ उपनिषत् के व्याख्याता--भाष्यकर्त्ताओंनें उन्हीं उपनिषद्ग्रन्थों को कर्म्म का विरोधी, एवं कर्म्मशून्य ज्ञानमात्र का ही प्रतिपादक मान लिया है--'अध्यात्म' शब्द के काल्पनिक--व्यामोहन से।

८७–'केवल अद्वैतज्ञानरूप अध्यात्मनिरूपणपरैवोपनिषत्' रूपा महती भ्रान्ति के दुष्परिणामों का स्वरूप-विस्फोटन, एवं तदनुगत दार्शनिकों की मान्यता का काल्पनिक-चित्रण, और उनका अखण्डब्रह्म-व्यामोहन —

'उपनिषदों में तो केवल आध्यात्मिक–अद्वैतज्ञान का ही निरूपण है', इत्थंभूता लोक–प्रसिद्धा भावुकतापूर्णा मान्यता के द्वारा ऐसा कुछ कहा जारहा है कि, "वेद का अन्तिम भागरूप इन उपनिषद्ग्रन्थोंनें मानव को सांसारिक–कर्म्मजाल से छुड़ाने के लिए इसे विशुद्ध–विश्वातीत–

चिन्मात्रमूर्त्ति--एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म--लक्षण अद्वैतब्रह्म की ओर आकर्षित किया है, एवं इस अद्वैत-अखण्डब्रह्म का नाम हीं--'अध्यात्मम्' है"।

८८–'अध्यात्म' शब्दानुबन्धी महामोह से अनुप्राणिता-भ्रान्तधारणा का दिग्दर्शन, एवं इत्थंभूता कर्म्मत्यागात्मिका भ्रान्तधारणा से समन्वित ब्रह्मपरायण-संन्यासियों की गाथा का चरित्र-चित्रण—

'अध्यात्म' शब्दानुबन्धी इसी महामोह के कारण भारतीय–शास्त्रभक्त–मानवों की भी विगत कतिपय–शताब्दियों से ऐसी भ्रान्त धारणा बन गई है कि, "अध्यात्म की चर्चा से सम्बन्ध रखने वाला उपनिषद्-ग्रन्थ तो उन के काम की वस्तु है, जो संसार से सम्बन्ध तोड़ चुके हैं। किंवा सांसारिक कर्म्मजाल का परित्याग कर जो केवल–ब्रह्मपरायण संन्यासी बन गए हैं"। कहना न होगा कि, जिस इस भ्रान्त धारणा ने सर्वप्रथम उपनिषदों की स्वाध्यायनिष्ठा से पराङ्मुख किया, इसी धारणाने आचारसमन्वयात्मक परम वैज्ञानिक वेदान्तसूत्रों के आचारपक्ष से भारतीय–प्रज्ञा को पृथक् किया।

८९–अध्यात्म-मोहानुगति के दुष्परिणाम-स्वरूप ही ज्ञानविज्ञानरहस्य-प्रतिपादक-आचार-निष्ठानुगत-सन्देशवाहक-गीताशास्त्र का भी अध्यात्मजाल से वेष्टन—

इसी मोह से आचारात्मिका बुद्धियोगनिष्ठा के (काम्यकर्म्मनिष्ठा के नहीं) वैज्ञानिक-स्वरूप विश्लेषण के द्वारा जिस महान् गीताशास्त्रने कर्म-कौशल का अद्भुत समन्वय राष्ट्रप्रज्ञा के सम्मुख रक्खा था, वह गीताशास्त्र भी उसी भ्रान्त अर्थ में–केवल–'अध्यात्मग्रन्थ' ही बन रह गया, किंवा बना दिया गया।

९०–राष्ट्रप्रजा की प्रथमावस्था से ही अनुप्राणित भी गीताशास्त्र का मरणवेलानुगत-पारायणपाठमात्र पर विश्राम, और उपनिषत्-व्याससूत्र-गीता-लक्षणा प्रस्थानत्रयी की ज्ञानविज्ञानसिद्धा महती उपयोगिता का 'अध्यात्मवाद' के विमोहन सेआत्यन्तिक-रूपेण अभिभव—

अतएव जीवन के उपक्रमकाल में ही राष्ट्र की प्रत्येक नवप्रज्ञा को जहाँ गीता के कर्म्मकौशल से सुपरिचित करा देना चाहिए था, आचारोपयोगी वह गीताशास्त्र राष्ट्रमानव के मरणकाल में केवल पारायण की ही वस्तु प्रमाणित कर दिया गया। और यों कर्म्मसामान्य की रहस्यपूर्णा–ज्ञान-विज्ञानात्मिका-उपनिषदों की रहस्यविश्लेषिका भी-उपनिषत्-व्याससूत्र-गीता-नाम की 'प्रस्थानत्रयी'-तथाकथित अध्यात्म–व्यामोहन से सर्वात्मना काल्वीकृता ही तो प्रमाणित करदी गई।

९१–अध्यात्म-व्यामोहनमूला-तथोक्ता भ्रान्ति से अनुप्राणित-'उपनिषत्' शब्द के अवच्छेदक से अनुप्राणित 'विशुद्ध-ज्ञानतत्त्व', तद्द्वारा विधि-आरण्यक-उपनिषत्-त्रयी की पारस्परिकी अन्योऽन्याश्रयता का अङ्गभङ्ग, एवं तदनुबन्धेनैव कृत्स्ना भी उपनिषदों की अकृत्स्नता का दिग्दर्शन—

अध्यात्ममूला तथोक्ता भ्रान्ति से प्राचीन-व्याख्याताओंनें 'उपनिषत्' शब्द का अवच्छेदक-'अध्यात्मवादत्त्व', अर्थात् 'विशुद्ध–ज्ञानत्त्व' मान लिया है। इसी भ्रान्तिने वेद के अन्त में संकलित उपनिषद्भाग

को प्राचीनोंनें कर्म्मप्रतिपादक 'विधि' नामक ब्राह्मणभाग से सर्वथा विच्छिन्न ही कर दिया है। इसी विच्छेद से उपनिषद्भाग का वैज्ञानिक–सुनिश्चित अर्थ अन्तर्मुख ही तो बन गया, जिस इस अन्तर्मुखता के विश्लेषण के लिए ही हमें प्राचीन-मान्यता के अनुबन्ध से उपनिषच्छब्द के श्रुतिसिद्ध अवच्छेदक का पूर्वसन्दर्भ में दिग्दर्शन कराना पड़ा, जिस अवच्छेदकता के यथावत्-समन्वय के बिना 'उपनिषद्विज्ञानभाष्य' सर्वथा अकृत्स्न ही बने रह जाते हैं।

९२-अध्यात्मनिष्ठा, एवं तन्निबन्धन ब्रह्माद्वैतवाद के सम्बन्ध में अस्मद्धारणा का स्पष्टीकरण-प्रयास, वेदशास्त्र के चरम लक्ष्य-अद्वैतसिद्धान्त का सर्वात्मना समर्थन, 'अध्यात्म' शब्द-प्रवृत्ति का तात्त्विक-समन्वय, एवं शब्दानुगता विप्रतिपत्ति का निराकरण—

क्या हम **'अध्यात्मवाद'** के विरोधी हैं ?, क्या ब्रह्माद्वैतवाद के साथ हमारा **अश्रमाहिष्य** है ?। अब्रह्मण्यम् ! अब्रह्मण्यम् !! **एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्** (ऋक्संहिता) से अनुप्राणित अद्वैतब्रह्मसिद्धान्त ही तो मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र का एकमात्र चरम लक्ष्य है, जैसाकि–'**एको वेदो बहुशाखो ह्यनन्तस्त्वामेवैकं** बोधयत्येकरूपम्' इत्यादि आर्षसूक्ति से उद्घोषित है। यह भी निर्विवाद सत्य है कि, अद्वैतब्रह्म का स्वरूप-संग्रह करने के लिए ही–'**अध्यात्म**' शब्द प्रवृत्त हुआ है। और यों अध्यात्म, एवं तदनुप्राणित ब्रह्माद्वैत-सिद्धान्त, दोनों हीं परमाराध्य बन हुए हैं हमारे लिए भी। शब्दों में कोई विप्रतिपत्ति नहीं है।

९३-अर्थानुगता विप्रतिपत्ति के सम्बन्ध में किञ्चिदिव आवेदन, ज्ञानकर्म्मोभय-समन्वयात्मक पारिभाषिक-'अध्यात्मवादत्व' रूप अवच्छेदक का सर्वात्मना समर्थन—

विप्रतिपत्ति है अर्थसमन्वय में। 'अध्यात्म' शब्द जहाँ **रस-बलात्मक** अद्वैतब्रह्म का संग्राहक बनता हुआ ज्ञान-कर्म्ममय प्रमाणित होरहा है विवर्त्तदृष्टि से, वहाँ प्राचीनों की दृष्टि से 'अध्यात्म' शब्द कर्म्मशून्य केवल ज्ञानपरक ही बन बैठा है। अतएव तद्दृष्टि में अध्यात्म का अर्थ–**"विशुद्ध ज्ञान"** ही बन गया है। ऐसा विशुद्ध ज्ञानात्मक काल्पनिक–अध्यात्मवादत्व कदापि उपनिषच्छब्द का अवच्छेदक नहीं बन सकता, यही वक्तव्य है। यदि 'अध्यात्म' शब्द से कर्म्म-ज्ञानोभयमूर्त्ति अद्वैतब्रह्म अभिप्रेत है, तो अवश्य ही इस 'अध्यात्म' का अर्थ **'ज्ञानविज्ञान-प्रतिपादिका मौलिक-उपपत्ति'** ही आठहरता है।

९४-तथाभूत-उभयसमन्वयात्मक-अवच्छेदक से अनुप्राणित 'उपनिषत्' शब्द की विधि-आरण्यक-उपनिषत्-भागत्रयी के साथ समानरूपेण-अभिव्याप्ति, एवं 'उपनिषत्'-शब्दव्यवहार की व्यापकता का स्पष्टीकरण-प्रयास—

और इस से समन्वित **'अध्यात्मवादत्त्व'** को उपनिषच्छब्द का अवच्छेदक मान लेने में हमें भी कोई आपत्ति नहीं होसकती, जोकि ऐसा ज्ञानविज्ञानात्मक मौलिक-उपपत्तिरूप-उपनिषच्छब्द तो वेद के-**विधि-भाग** में भी समन्वित है, आरण्यकभाग में भी समन्वित है, एवं **उपनिद्‌षभाग** में भी समन्वित है। सहजभाषानुसार-इत्थंभूता ज्ञान-विज्ञान–रहस्यात्मिका अध्यात्मवादलक्षणा उपनिषदें तो **ब्राह्मणों में, आरण्यकों में, उपनिषदों** में, तीनों में ही अभिव्याप्त हैं। तीनों में व्याप्त 'उपनिषत्' तत्त्व के 'अध्यात्म' का जो अर्थ है, वही अर्थ 'उपनिषत्'-शब्द

का भी एकमात्र अवच्छेदक माना जायगा, और इस दृष्टि से ब्राह्मण, और आरण्यकग्रन्थों को भी–'उपनिषत्' शब्द से व्यवहृत कर देने में कोई आपत्ति नहीं की जासकेगी।

६५–उपनिषच्छब्दानुगता-लोकव्यवहार-प्रसिद्धि से अनुप्राणिता विप्रतिपत्ति का निराकरण, एवं अनारभ्याधीत, तथा आरभ्याधीत-विधिवचनों से अनुप्राणित 'उपनिषत्' शब्द--व्यवहार के तात्त्विक-समन्वय का प्रयास, और शेषभूत-सामान्यविधिवचन—

लोक में ऐसा व्यवहार प्रसिद्ध क्यों नहीं हुआ ?, प्रश्न के समाधान के लिए ही हमें विधि के-अनारभ्य-आरभ्य--सामान्य–नाम के तीन प्रक्रमों का स्वरूप–विश्लेषण करना पड़ा जिसके बिना भावुकतापूर्ण इस तथ्य का समन्वय सम्भव नहीं है। आरम्याधीत–क्रत्वर्थ–कर्म्मों की उपनिषदें तदङ्गत्त्वेन उपनिषत् नाम से व्यहृत नहीं होसकीं, जबकि स्वयं तद्विधियों के साथ तो श्रुतिने–'अग्नेर्वागेवोपनिषत्' रूपेण 'उपषनित्' शब्द का समन्वय कर ही दिया है। अनार म्याधीत–पुरुषार्थ-कर्म्मों की उपनिषदों का ज्ञानगर्भित विज्ञानानांश तो तत्रैव समन्वित होगया, एवं विज्ञानगर्भित-ज्ञानांश उपनिषद्भाग में समन्वित हुआ। अतएव पूर्वांश ब्राह्मण-ग्रहण से गृहीत होगया, जबकि उत्तरांश उपनिषत् ही कहलाया। शेष रह गईं तीसरी सामान्यविधियाँ।

६६–विधि के द्वारा आदिष्ट-शास्त्रादिष्ट-कर्त्तव्यकर्म्म के सम्बन्ध में करणीयतानुगत एक प्रश्न, तन्निराकरणानुगता कर्म्मसामान्यानुगता रहस्यविज्ञानप्रतिपादिका उपनिषत्, एवं स्वतन्त्ररूपेण 'उपनिषत्'-शब्द-व्यवहार के तथ्यात्मक-कारण का स्वरूप-विश्लेषण-प्रयास—

मानव विध्यादिष्ट–शास्त्रादिष्ट–कर्म्म करे ही क्यों ?, कर्म्मत्वेन -सामान्यकर्म्म से अनुप्राणित इस महान् प्रश्न के समाधान के लिए ही, इन सामान्यविधियों की ज्ञानविज्ञानात्मिका–मौलिक–उपनिषदों का एकमात्र जिज्ञासु के बोध–सौकर्य्य के लिए ही ऋषिप्रज्ञा के द्वारा स्वतन्त्र–रूपेण संकलन होगया। अतएव स्वतन्त्ररूपेण–'उपनिषत्' शब्द के प्रमुख व्यवहार का कारण वह उपनिषद्भाग ही बन गया, जिस में प्रतिपादिता रहस्यात्मिका उपनिषदों की सार्थकता तभी सम्भव है, जबकि हम इस उपनिषत् (ज्ञानविज्ञान–प्रतिष्ठा) पर प्रतिष्ठित पुरुषार्थ–क्रत्वर्थ–रूप–कर्म्मों को ही अपना आराध्य बनालें।

६७–ज्ञान-कर्म्मोभयात्मिका-अध्यात्मनिष्ठा के स्वरूप-विश्लेषण के लिए प्रवृत्त उपनिषच्छास्त्र के स्वतन्त्ररूपेण-'उपनिषत्'-शब्द-व्यवहार का स्पष्टीकरण-प्रयास, इत्यलमतिपल्लवितेन-उपनिषच्छब्दार्थ–समन्वय-प्रसङ्गेन—

ज्ञानकर्म्मोभयात्मिका ऐसी अध्यात्मनिष्ठा के स्वरूप–विश्लेषण के लिए ही तो उपनिषत्–ग्रन्थ प्रवृत्त हैं, तदर्थ ही व्याससूत्रग्रन्थ, एवं तदर्थ ही गीतोपनिषद्ग्रन्थ प्रवृत्त है। प्रस्थानत्रयी की सार्थकता आचारनिष्ठा पर ही अवलम्बित है। यदि इन तीनों शास्त्रों को वेद के विधिभागात्मक आचारात्मक-कर्म्मशास्त्र से पृथक् कर दिया जाता है (जैसाकि काल्पनिक–ज्ञानाध्यात्मवादियोंनें कर दिया है), तो तीनों हीं शास्त्र सर्वथा व्यर्थ ही प्रमाणित होजाते है, जैसेकि मौलिक–उपनिषदात्मक–ज्ञानविज्ञान के समन्वय से वञ्चित केवल कर्म्माभिनिवेशात्मक-श्रीसायणादि के वेदभाष्य सर्वात्मना यातयाम ही प्रतीत होनेलगते हैं–इत्यलमतिपल्लवितेन उपनिषच्छब्दार्थसमन्वय–प्रसङ्गेन।

९८ उपनिषच्छब्दार्थ के पारिभाषिक समन्वय की लक्ष्यारूढता से अनुप्राणिता 'तलवकारोपनिषत्' नाम की 'केनोपनिषत्' का संस्मरण, एवं तत्-प्रमुख-प्रतिपाद्यरूप-द्वारात्मक-'प्रज्ञानात्मा'--नामक प्राकृतभावापन्न-खण्डात्मा का पावन-संस्मरण—

'उपनिषत्' शब्दार्थ के उक्त पारिभाषिक समन्वय को लक्ष्यारूढ बना कर ही हमें अब प्रस्तुत-सामवेदीया उस-'तलवकारोपनिषत्' के विज्ञानभाष्य में प्रवृत्त होना है, जो सर्वसाधारण में-'केनोपनिषत्' नाम से प्रसिद्ध है। विभिन्न विज्ञानों के प्रतिपादक उपनिषद्ग्रन्थों में से इस 'केनोपनिषत्' नामक उपनिषद्ग्रन्थ में किस **विज्ञानोपनिषत् (विज्ञानरहस्य)** का प्रमुखरूपेण ऋषि के द्वारा स्वरूप-विश्लेषण हुआ है ?, इस प्रासङ्गिक, किन्तु अनिवार्य्य प्रश्न का समाधान उपनिषत् के-'केनोपनिषत्' इस रहस्यपूर्ण नाम के गर्भ में हीं समाविष्ट है। '**केन**' शब्द से सङ्केतित '**प्रज्ञानब्रह्म**' का ही इस उपनिषत् में प्रधानरूप से निरूपण हुआ है। अतएव इस उपनिषत् को हम '**प्रज्ञानात्मवर्णनपरोनिषत्**' भी कह सकते हैं।

९९-विश्वातीत-अखण्ड-अद्वय-ब्रह्मात्मा का यत्किञ्चित्-पदार्थतावच्छेदकावच्छिन्न-वस्तुभाव से अनुगत निरूढ-शब्दशास्त्र से असंस्पर्श, खण्डात्मनिरूपण-परक शब्दशास्त्रात्मक उपनिषच्छास्त्र, एवं पारिभाषिक-प्राकृतात्मा के निरूपण से अनुगत उपनिषदों के प्रतिपाद्य का दिग्दर्शन-प्रयास, और नामसङ्कीर्त्तनानुगता-'ब्रह्म-ब्रह्म'-कीर्त्तन-परम्परा से अनुप्राणिता-भावुकतापूर्णा विडम्बना का स्पष्टीकरण—

क्या तात्पर्य्य ?। तात्पर्य्य स्पष्ट है। विश्वातीत-अखण्ड-अद्वय-ब्रह्मात्मा का यत्किञ्चित्पदार्थतावच्छेदकावच्छिन्न-वस्तुभाव में हीं निरूढ शब्दशास्त्र के द्वारा कदापि उस एकमेवाद्वितीयंब्रह्म का निरूपण सम्भव नहीं है *। अतएव उपनिषदों का अध्यात्मनिरूपण विश्वानुबन्धी-'**खण्डात्मपरक**' ही माना जायगा, जिसका अर्थ है-'**प्राकृतात्मनिरूपण**',-यही वह दूसरा दुरधिगम्य, (किन्तु पारिभाषिक-समन्वय के अनन्तर सर्वथैव बोधगम्य) दृष्टिकोण है, जिसका ज्ञानाध्यात्मवादमूला भ्रान्ति से प्राचीनों के द्वारा समन्वय हो ही नहीं सका है। फलस्वरूप उनकी विशाला ! आकाशविहारिणी शून्यानुगता दृष्टि में सम्पूर्ण उपनिषद्ग्रन्थ उसीप्रकार मानो—अद्वैतब्रह्म-एकं **ब्रह्म**-ब्रह्म-ब्रह्म-रूपेण ब्रह्म का नाम संकीर्त्तन ही कर रहे हैं, जैसेकि काल्पनिक—'कलिसन्तरणोपनिषत्' में आदि से अन्तपर्य्यन्त-'हरे राम-हरे राम-राम-राम-हरे-हरे' का नामसंकीर्त्तन ही परिव्याप्त है।

---

* संविदन्ति न यं वेदाः, विष्णुर्वेद न वा विधिः।
यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ॥

१००-विधि-विधान, आचार, कर्त्तव्य, आदि विमल-विभूतियों से सर्वथैव असंस्पृष्टा ब्रह्मनाममात्रसङ्कीर्त्तनपरायणता का महान् व्यामोहन, तदनुगत आचारशून्य-'शून्यवाद', और तद्दुष्परिणाम-स्वरूप ही आततायी-वर्गों के द्वारा राष्ट्रसमृद्धि का अपहरण, एवं शून्यवादाभिनिविष्टा राष्ट्रप्रजा की मोहनिद्रा का दीनता-पूर्ण-स्वरूपोपबृंहण—

"कोई विधि-विधान नहीं, तत्सम्मत कोई आचार नहीं, तदनुप्राणिता कोई कर्त्तव्यनिष्ठा नहीं, मणिमाला-माध्यम से अहोरात्र-ब्रह्म-ब्रह्म-का जप करते रहना हीं मानव का परम-पुरुषार्थ है", इसप्रकार के महान् ? निष्कर्ष को व्यक्त कर देने वाले उन प्राचीन विद्वानों का हम भी इस अनुबन्ध से श्रद्धापूर्वक स्मरण कर लेना तो अपना नैतिक-कर्त्तव्य मान ही लेते हैं कि, उनके इस ब्रह्मनामसंकीर्त्तन के अनुग्रह से उपनिषदों पर भारतीय भावुक प्रजा की मूर्त्तिवत् भक्ति तो चली आरही है विगत तीन सहस्रवर्षों से समन्वित प्राचीन-युगों से, फिर इस नामसंकीर्त्तनमूला मणिमाला-भक्ति से भक्तिविभोरा भावुक-प्रजा की मूर्त्तियाँ भले ही आततायीवर्ग के द्वारा नष्ट-भ्रष्ट होती रहीं हों। किंवा आचारधर्म्म-कर्त्तव्यनिष्ठा-शून्या, ज्ञानविज्ञानप्रतिष्ठा-वञ्चिता-प्रजा की इस शास्त्रभक्ति से भले ही राष्ट्र का सम्पूर्ण समृद्धि-वैभव आततायी-वर्गों के द्वारा अपहृत होता रहा हो। सम्भवतः कदापि इस प्राचीनभक्ता प्रजा की दृष्टि में इन अकाण्ड-ताण्डवों के प्रति कोई उत्तरदायित्व नहीं ही होगा ? ।

१०१-राष्ट्रसमृद्धि के उत्तरदायित्त्व से पराःपरावत शून्यवादी उपदेशकवर्ग के भावुकता-पूर्ण उद्गारों का नग्नचित्रण, आचारनिष्ठानुगत-कर्म्मसमृद्धिमूलक-राज्य-साम्राज्य-वैराज्य-सार्वभौम-आदि भेदभिन्न-राष्ट्रीय-वैभवों के महान् व्यवस्थापक-आचारप्रधान-वेदशास्त्र की उपेक्षा से अनुप्राणिता नामसङ्कीर्तनभावानुगता-भावुकता-पूर्णा-भक्ति के ताण्डवनृत्यों का अकाण्ड-ताण्डव, इति नु कालाय तस्मै नमो नमः—

तभी तो इसकेउपदेशकवर्ग के द्वारा इसे ऐसी महती शिक्षा ? मिलती आरही है कि-'को उ हो नृप, हमें का हानि'। यथार्थ है, आचारनिष्ठात्मक-राज्य-साम्राज्य-वैराज्य-सार्वभौम आदि महान् ऐश्वर्यों के स्वरूप-व्यवस्थापक वेदशास्त्र के आचार-प्रधान कर्त्तव्यपक्ष को उपेक्षित करते हुए उपनिषदों को केवल अखण्डब्रह्मपरक मान बैठने वाले, संसार को मिथ्या-असार-मोहमय-घोषित-कर देने वाले, अतएव उपनिषदों के वैज्ञानिक सुनिश्चितार्थ से राष्ट्रप्रज्ञा को पराःपरावत कर देने वाले व्याख्याता राष्ट्र में प्रमुख बन जाँय, उस राष्ट्र की ब्रह्मवादिनी, और तदनुपातेनैव आज की नामसंकीर्त्तनपरायणा-जनता का राज्य-साम्राज्य-वैराज्यादि से, एवं तदनुगत अभ्युदयों से सम्बन्ध भी क्यों रहे ?, और कैसे रहे ?, इति कालाय तस्मै नमो नमः ।

१०२-अध्यात्मब्रह्माभिनिविष्ट-प्राचीनों की आश्चर्य्यपूर्णा-विडम्बना से अनुप्राणिता परस्पर-विरोधात्मिका-निरूपणीया-दृष्टि का स्पष्टीकरण, एवं वदतोव्याघातात्मिका तथाभूता स्खलनवृत्ति से अनुप्राणिता पतनपरम्परा का नग्न-चित्रण—

सचमुच यह भी कम आश्चर्य्य नहीं है कि, 'अध्यात्मब्रह्म' शब्द से अपनी कल्पना के आधार पर एक ओर तो प्राचीन-व्याख्याता अपने इस ब्रह्म को शुद्ध ज्ञानमूर्त्ति, अखण्ड, निरवच्छिन्न, विश्वोपाधिविनि-

म्मुक्त, असीम, अद्वय, निर्गुण, निरञ्जन मान रहे हैं, तो वे ही व्याख्याता दूसरी ओर उपनिषद्ग्रन्थों के द्वारा इसी अतद्व्यावृत्त अद्वैतब्रह्म को प्रतिपन्न घोषित कर रहे हैं। उन्हीं की मान्यता में जो अखण्ड-अद्वैत-ज्ञानमात्रमूर्त्ति ब्रह्म शब्दशास्त्र के द्वारा अविज्ञेय घोषित हुआ है, वे ही अविज्ञेयतावादी प्राचीन उसी अविज्ञेय का शब्दात्मक उपनिषद्ग्रन्थों के द्वारा साभिनिवेश प्रतिपादन करते हुए 'उपनिषत्'-शब्द का इत्थंभूत निरञ्जन अध्यात्मब्रह्म को ही अवच्छेदक मान रहे हैं। वदतोव्याघातरूपा इस स्खलनवृत्ति से सचमुच ही तो हमारी स्वल्पप्रज्ञा क्षण-मात्र के लिए आश्चर्य्यान्विता ही बन जाती है।

१०३-प्राचीनदृष्टि के भावुकतापूर्ण-विजृम्भण के प्रति गजनिमीलिका का समाश्रय, पारिभाषिक-'आत्मा' के साथ अनुप्राणित-'खण्ड' शब्द के सम्बन्ध-श्रवण-मात्र से उद्विग्न अध्यात्मवादी का संक्षोभ, एवं श्रौती अखण्डात्मदृष्टि से अनुप्राणित अखण्डब्रह्म के तात्त्विक-स्वरूप का संस्मरण—

किन्तु जब हम देखते हैं कि, इसमें प्राचीनों का इसलिए अंशत: भी अपराध नहीं है कि, वे वेद के संहिताभाग में सूत्ररूप से प्रतिपादित आधिदैविक-सृष्टिविज्ञानों से, तथा तत्प्रतिष्ठ-विधिभागात्माक कर्म्मविज्ञानों की परिभाषाओं से अपने ज्ञानाभिनिवेश से तटस्थ ही बने रह गए हैं, तो केवल उपनिषदक्षरों के अक्षरार्थमात्र के वैज्ञानिक-समन्वय से इनका तटस्थ बने रहना कदापि इनका प्रज्ञात्मक अपराध नहीं माना जासकता। 'आत्मा' के साथ भी 'खण्ड' शब्द समन्वित होसकता है, एवं ईश्वरीय आधिदैविक--जगत् में, तथा मानवीय अध्यात्मजगत् में अनेक 'खण्डात्मा' भी होसकते हैं, इस तथ्य का समन्वय सम्भव ही नहीं बन सका इन अखण्डाभिनिविष्टों के लिए। अवश्य ही वैसे खण्डात्मक शब्द स्वयं उपनिषदों के द्वारा भी इनके सम्मुख आए।

१०४-खण्डात्म-प्रतिपादक शब्दों का अखण्डभाव के समर्थन में उपयोग, 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'-मन्त्रानुगत काल्पनिक-आवेश, एवं तत्सम्बन्ध में किञ्चिदिव नम्र-आवेदन—

किन्तु वे सभी शब्द इनकी अखण्डा दृष्टि में अखण्डब्रह्म के उसीप्रकार पर्य्याय ही बने रह गए, जैसेकि अर्वाचीन वेदभक्तों की दृष्टि में इन्द्र-वरुण-अग्नि-यम-मातरिश्वा आदि आदि शब्द 'ईश्वर' के ही विभिन्न पर्य्याय-प्रमाणित किए जारहे हैं-'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' इस 'मन्त्राक्षरमात्र की भक्ति के आवेश में। अतएव दो शब्दों में हमें इस प्रासङ्गिक-अभिनिवेश का भी समन्वय कर ही लेना चाहिए। जिस मन्त्र के अक्षरव्यामोहन से महाशयवर्ग को 'ईश्वरपर्य्याय' की भ्रान्ति हुई है, उस मन्त्र का अविकलरूप है—

इन्द्रं-मित्रं-वरुणं-अग्नि-माहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति-अग्नि-यमं-मातरिश्वानमाहुः ॥

—ऋक्संहिता १।१६४।४६।

१०५-इन्द्र-मित्र-वरुण अग्नि-सुपर्ण-मातरिश्वा-आदि शब्दों से अनुप्राणित अखण्डात्मवाद का पारिभाषिक समन्वय-प्रयास, एवं इत्थंभूत-शब्दों की पारस्परिकी पर्य्यायता के सम्बन्ध में मन्त्रान्तर का संस्मरण—

"उसे इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, कहते हैं। वह वेगवान् दिव्य सुपर्ण है। उसे अग्नि, यम, मातरिश्वा कहते हैं। और यों उस एक को ही विद्वान् अनेक नामों से व्यवहृत कर रहे हैं" यह है मन्त्र का अक्षरार्थ, जिसके द्वारा अवश्य ही यह स्पष्टरूपेण प्रमाणित होरहा है कि—ये सब विभिन्न नाम, विभिन्न शब्द उस एक ही के शब्दात्मक नाम हैं। और इसलिए उसे इन सभी नामों से व्यवहृत किया जासकता है। अतएव च इन सब को उस एकके पर्य्याय भी अवश्य ही कहा जासकता है, जिस इस पर्य्यायता का एक अन्य मन्त्र के द्वारा भी स्पष्ट उद्घोष हुआ है कि—

एक एवाग्निर्बहुधा समिद्धः, एकः सूर्य्यो विश्वमनुप्रभूतः।
एकैवोषाः सर्वमिदं वि भाति, एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्॥
—ऋक्संहिता ८।५८।२।

१०६-'एक एवाग्निर्बहुधा समिद्धः'० इत्यादि मन्त्रमूला अखण्डता का स्वरूप-समन्वय, तन्निबन्धन ऐतदात्म्य-सिद्धान्त, एवं विष्णु-शिव-कूर्म्म-अग्नि-वायु-आदि आदि यच्चयावत् शब्दों की ईश्वर-पर्य्यायानुगति का रहस्यात्मक-पारिभाषिक-दिग्दर्शन-प्रयास—

"यह सबकुछ उस एक का ही वैभव है, अतएव यह सबकुछ उस एक से अभिन्न है। अतएव च इन सब को उस अभिन्न नाम से व्यवहृत किया जासकता है, और इसी दृष्टि से 'एतद्वै तत्'-रूपेण इन सब को उस एक के ही पर्य्याय-वाचक माना जासकता है। अतएव इन्द्र-अग्नि-वरुण आदि सभी शब्दों को ईश्वरवाचक माना जासकता है। इसीलिए विष्णु, शिव, कूर्म्म, अग्नि, वायु, आदि की प्रमुखता से अनुप्राणित तत्तन्नामक पुराणों के तत्तद्देवता ईश्वररूपेणैव उपस्तुत-उपवर्णित हुए भी हैं प्रतीकविधा से" इति नु सर्वं सुस्थमेव।

१०७-विप्रतिपत्ति के वास्तविक-स्वरूप के स्पष्टीकरण से अनुप्राणित-'गुणानां च परार्थत्वात्,-असम्बन्धः समत्वात्' इत्यादि सुप्रसिद्ध न्याय का संस्मरण, एवं वाक्-प्राण-चक्षुः-श्रोत्रादि-अङ्गात्मक-विभिन्न-आध्यात्मिक-खण्डों में अखण्डरूपेण व्याप्त 'अहम्' लक्षण-आत्मब्रह्म का स्वरूप-समन्वयानुबन्धी-स्पष्टीकरण—

फिर विप्रतिपत्ति किस अंश में है ?, प्रश्न का समाधान संस्कृत-साहित्य में सुप्रसिद्ध—'गुणानां च परार्थत्वात्, असम्बन्धः समत्वात्' इस न्याय से ही अनुप्राणित है। अध्यात्मसंस्था को ही उदाहरण बनाइए न्यायसमन्वय के लिए। 'अहम्' ('मैं') नाम की सुप्रसिद्धा आत्मसीमाके गर्भ में हीं वाक-प्राण-चक्षुः श्रोत्र-हस्त-उदर-कण्ठ-शिरः आदि यच्चयावत् आध्यात्मिक-पर्व समाविष्ट हैं। अतएव व्यष्ट्या, समष्ट्या च इन सभी अङ्गोपाङ्गों को 'अहम्' कहा जासकता है। अतएव हाथ उठा कर भी—'मैं ऐसा कर रहा हूँ' यह

अभिनय किया जासकता है । पैरों से चलते हुए—'मैं चल रहा हूँ', वाणी से बोलता हुआ'-मैं बोलता हूँ' आँखों से देखता हुआ—'मैं देख रहा हूँ', कानों से सुनते हुए—'मैं सुन रहा हूँ' इत्यादिरूपेण प्रत्येक अङ्गोपाङ्ग के कर्म्म के साथ भी 'अहम्' रूप 'मैं' का अभिनय होता रहता है ।

१०८-गुणभूत-अङ्गोपाङ्गों में अवारपारीणरूप से अभिव्याप्त 'अहम्' रूप अखण्डब्रह्म की स्वरूपस्थिति से अनुप्राणित पारिभाषिक अभेदवाद, एवं तदनुगत पारिभाषिक भेदवाद के सम्बन्ध में 'गुणानां च परार्थत्त्वात्' न्याय की उपयोगिता—

अतएव मानना पड़ता है कि, गुणभूत ये सभी अङ्गोपाङ्ग अपने सर्वस्व स्वरूप परार्थ में (आत्मार्थ में, अहमर्थ में) हीं सर्वात्मना समर्पित किए हुए हैं अपने अपने वैय्यक्तिक-प्रयत्नों को विस्मृत कर । अतएव उस व्यापक 'अहम्' में समर्पित रहते हुए न श्रोत्र श्रोत्र है, न चक्षु चक्षु है, न वाक् वाक् है, न हाथ हाथ है, न पैर पैर है । अपितु जैसे ब्रह्म में विलीन ब्रह्म-क्षत्र-विट्-शूद्रादि प्रकृतिसिद्ध सम्पूर्ण विभिन्न वर्ण अब्रह्म-अक्षत्र-अविट्-अशूद्र बनते हुए ब्रह्मरूप ही हैं, तथैव सम्पूर्ण अङ्गोपाङ्ग उस 'अहम्' में अनुगत होकर अहम् ('मैं') व्यवहार से समन्वित होरहे हैं, और इसी तात्त्विकी आत्मसाम्यमूला सहजस्थिति का— 'गुणांना च परार्थत्त्वात्' इस अंश से सङ्केत हुआ है । इसी आत्मसाम्य को लक्ष्य में रख कर-पूर्वोक्त दोनों ऋङ्मन्त्र प्रवृत्त हुए हैं, जिस इस आत्मसाम्यमूलक अभेदव्यवहार में तो किसी भी आत्मनिष्ठ को तो कोई भी आपत्ति नहीं होसकती ।

१०९-'असम्बन्धः समत्त्वात्' से अनुप्राणित स्वामी-सेवक-अनुबन्धी लौकिक-उदाहरण का समन्वय, एवं तद्द्वारा स्वाम्यनुबन्धिनी समता का, तथा सेवकानुबन्धिनी विषमता का रहस्यपूर्ण-पारिभाषिक-समन्वय-प्रयास—

न्याय का उत्तरांश है-'असम्बन्धः समत्त्वात्' । क्योंकि सम्पूर्ण गुणभाव परार्थ हैं, अतएव तदर्थ-तद्रूप बने रहते हुए भी इन गुणभावों का इस समत्वधर्म्म से परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं माना जासकता । लौकिक उदाहरण से ही स्थिति का समन्वय कीजिए । एक स्वामी-है, और उसके १० सेवक हैं । दसों सेवक परार्थ हैं । अर्थात् 'स्वामी' रूप 'पर' भावानुबन्ध से १० सों की सेवाएँ स्वामी के लिए ही समर्पित है । अतएव दसों ही इस एक स्वामी के भक्तिबल से (भाग-अंश-बल से) समन्वित रहते हुए 'स्वामी-सीमा' में हीं अन्तर्भुक्त हैं । स्वामी की सेवादृष्टि से १० सों समानधर्म्मा हैं । और यह समत्त्व ही इनके पारस्परिक असमत्त्व का बीज है । अर्थात् १० सों में कोई भी एक दूसरे का स्वामी, अथवा तो सेवक नहीं है । अपितु प्रत्येक का अपना अपना वैय्यक्तिक स्वरूप भिन्न भिन्न है । स्वाम्यनुबन्धिनी समता ही इनकी इस असम्बन्धरूपा विषमता, किंवा पार्थक्य का कारण है, और यही पूर्वोक्त न्याय का अक्षरार्थ-समन्वय है ।

११०-वाक्-प्राण-चक्षुः-श्रोत्रादि अङ्गोपाङ्गों से अनुप्राणित-'अहम्' का संस्मरण, तदनुगता स्थिति का सहजभाषानुबन्धेन स्पष्टीकरण-प्रयास, और गुणानुबन्धिनी पर्य्यायता का आत्यन्तिक-निरोध—

वाक्-प्राण-चक्षुः-श्रोत्रादि सभी अङ्गोपाङ्ग 'अहम' ही हैं । किन्तु वाक्-प्राणादि तो परस्पर विभिन्न ही हैं । कदापि वाक् को प्राण, प्राण को वाक्, प्राण को चक्षु, किंवा चक्षु को प्राण नहीं कहा जासकता,

नहीं माना जासकता, जिन इन विभिन्न पृथक् पृथक् अङ्गोपाङ्गों के द्वारा ही सम्पूर्ण आध्यात्मिक व्यवहार प्रवृत्त होरहे हैं। सहजभाषानुसार-नाक-कान-आँख-मुख-हाथ-पैर-आदि सब वही (मैं) है। किन्तु नाक को तो कान नहीं कहा जासकता, नाक का काम तो कान नहीं कर सकते। अतएव सब उस 'अहम्' के पर्य्याय बनते हुए भी परस्पर तो एक दूसरे के पर्य्याय नहीं बन सकते।

१११-इन्द्र-मित्र-वरुण-अग्नि-मातरिश्वा-सुपर्ण-उषा-आदि आदि गुणात्मक विभिन्न शब्दों से अनुप्राणिता तत्त्वदृष्टि, और पर्य्याय-सम्बन्ध-भ्रान्ति का आमूलचूड़-निराकरण—

एवमेव इन्द्र-मित्र-वरुण-अग्नि--आदि सभी वही है। किन्तु इन्द्र तो मित्र नही है, मित्र तो वरुण नहीं है। अतएव इन्द्र-मित्रादि जहाँ उसके पर्य्याय हैं, वहाँ परस्पर तो इन्हें एक दूसरे का पर्य्याय नहीं माना जासकता। कदापि इन्द्र का कार्य्य वरुण से सम्भव नहीं, वरुण का इन्द्र से सम्भव नहीं। इन विभिन्न प्राणशक्तियों के विभिन्न कर्म्मों से ही विश्वमर्य्यादा, विश्वव्यवहार यथास्थान--यथाकाल--यथादिक्-व्यवस्थित बने रहते हैं।

११२-एकब्रह्ममूलक आत्मसाम्य के आधार पर प्रतिष्ठित समदर्शन, एवं विश्वमूलक-प्रकृतिभावनिबन्धन-नानात्व के आधार से अनुगत विषमवर्त्तन, तथा तदनुगता विभिन्ना पारिभाषिकी स्थिति का रहस्यात्मक-विश्लेषण—

एकब्रह्ममूलक आत्मसाम्य के आधार पर जहाँ--'समदर्शन' प्रतिष्ठित है, वहाँ विश्वमूलक नानाभावों के आधार पर-'**विषम--विभक्त-वर्त्तन**' प्रतिष्ठित है। '**दर्शन सम, किन्तु वर्त्तन विभिन्न**' यही आध्यात्मिक वह निष्ठासूत्र है, जिसे विश्वमूलक--व्यवच्छिन्न-विभक्त-तत्त्ववाद, तन्मूलक विभक्त-आचार की विस्मृति के द्वारा विस्मृत कर पर्य्यायवादियोंनें वेदशास्त्र के समस्त आचारपक्ष को ही स्मृतिगर्भ में विलीन कर दिया है। '**समं पश्यन् हि सर्वत्र-समवस्थितमीश्वरम्**' मूलक समदर्शन विभिन्न पक्ष है, एवं--'**स्वे स्वे कर्म्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः**' अन्य पक्ष है। समदर्शनरूप आत्मसाम्य के आधार पर प्रतिष्ठित विभक्त--विषम--वर्त्तन से एक ओर जहाँ मानव का अध्यात्म विश्वसमृद्धि से समन्वित होजाता है, वहाँ आत्मसाम्यप्रतिष्ठा के अनुग्रह से विभेदमूला विषमता से अनुप्राणित क्षोभ को व्यक्त होने का भी अवसर नहीं मिलता।

११३-समदर्शनानुगत-विषम-वर्त्तनात्मक भारतीय-आचारधर्म्म से अनुप्राणित लोकोत्तर-वैशिष्ट्य का स्वरूप-संस्मरण, एवं पर्य्याय-दिग्भ्रान्त-प्राचीनों, तथा अर्वाचीनों की काल्पनिकी अद्वैत-भक्ति के तथ्य ? का स्वरूप-विस्फोटन—

यही समदर्शनानुगत--विषम--वर्त्तनात्मक भारतीय आचारधर्म्म का वह लोकोत्तर वैशिष्ट्य है, जिसे गुणभाव-निबन्धना-पर्य्यायता से विस्मृत कर अद्वैतवादी-जगन्मिथ्यात्ववादी-प्राचीनोंनें, और पर्य्यायवादी आधुनिक महाशयोंनें सर्वथैव अभिभूत कर दिया है। अतएव ब्राह्मणभागोक्त आचारात्मक कर्त्तव्यकर्म्मात्मक **वर्त्तन**, और उपनिषद्--भागोक्त-रहस्यात्मक-**दर्शन**, दोनों हीं स्वस्वरूप से अन्तर्मुख

ही बनते आरहे हैं कल्पित अध्यात्मवाद, और कल्पित ईश्वरवाद के व्यामोहन से विगत तीन सहस्त्रवर्षों से, जिस इस काल्पनिक अध्यात्मवाद--अद्वैतवाद, एवं तदनुप्राणित--ज्ञानाधिकरणात्मक--काल्पनिक अद्वैतवाद की कृपा से ही तदवधि में आत्मसाम्यविरोधी, शास्त्रकर्म्मविरोधी वैसे वैसे प्रकृतिसाम्यानुगत--विभिन्न नास्तिक-वाद ही आविर्भूत होपड़े हैं, जिनसे आजतक भी राष्ट्रप्रज्ञा आत्मपरित्राण नहीं कर सकी है, इति नु महतीयं विडम्बना--पर्य्यायदिग्भ्रान्तानां प्राचां, अर्वाचीनानाञ्च-(अद्वैतभक्तानां, वेदभक्तमहायशयानाञ्च)।

११४-उपनिषच्छास्त्र का आत्मसाम्यमूलक-अखण्ड विश्वातीत-आत्मसाम्योपनिषत् के साथ साक्षात्-रूपेण सम्बन्धाभाव, एवं प्रकृतिमूलक खण्डात्मवाद से अनुप्राणित औपनिषद-तत्त्ववाद का स्वरूप-समन्वय-प्रयास—

उपनिषच्छास्त्र का आत्मसाम्यमूलक--अखण्ड--विश्वातीत--आत्मसाम्योपनिषत् के साथ साक्षात्-रूपेण यत्किञ्चित् भी सम्बन्ध इसलिए नहीं माना जासकता कि,--शब्द की गति तत्र अवरुद्ध है। अतएव हमें मान लेना चाहिए कि, उपनिषदों में विश्वप्रकृतिमूलक--विभक्त--आत्मभावों की विभक्ता उपनिषदों का ही स्वरूप-विश्लेषण हुआ है। प्रत्येक उपनिषत् प्रमुखरूप से किसी न किसी एक प्राकृतात्मा को, एक खण्डात्मा को लक्ष्य बना कर ही तदनुबन्धिनी उपनिषत् (रहस्योपपत्ति) का स्वरूप--विश्लेषण करती हुई, तन्माध्यम से ही प्रतीकविधि से ही उस एक-अनन्त-अखण्ड-अद्वयब्रह्म से अनुप्राणित आत्मसाम्य की ओर सर्वथा तटस्थ--रूपेणैव हमारा ध्यान आकर्षित कर रही है।

११५-प्रतीकविधि से अनुप्राणित औपनिषद-माध्यमों की विभिन्नता का पारिभाषिक-समन्वय, एवं लक्ष्यात्मिका आत्मसाम्यानुगता अभिन्नता का समर्थन, और प्रज्ञानात्म-प्रतिपादिका-'तलवकारोपनिषत्' ('केनोपनिषत्') का संस्मरण-

प्रतीकात्मक माध्यम् प्रत्येक उपनिषत् का भिन्न भिन्न है, किन्तु तटस्थ--लक्ष्यात्मक आत्म-साम्य सभी उपनिषदों का अभिन्न है, इस तथ्य को अवधानपूर्वक लक्ष्य बना कर ही हमें उपनिषदर्थ के समन्वय में प्रवृत्त होना चाहिए। क्योंकि प्रस्तुत 'तलवकारोपनिषत्' ने 'प्रज्ञानात्मा' नामक खण्डात्मा-प्राकृतात्मा--का रहस्यविश्लेषणपूर्वक, इस रहस्योपनिषत् के माध्यम से ही तटस्थरूपेण आत्मसाम्य का समन्वय किया है। दूसरे शब्दों में इस उपनिषत् ने 'प्रज्ञानात्मा' की ज्ञानविज्ञानात्मिका उपपत्तिरूपा उपनिषत् का स्पष्टीकरण करते हुए ही तटस्थरूपेण आत्मसाम्य--स्थापित किया है, अतएव इसे हम 'प्रज्ञानात्म-प्रतिपादिका--उपनिषत्' नाम से समन्वित मान रहे हैं।

११६-मानवीया-अध्यात्मसंस्था से अनुप्राणित-विश्वानुबन्धी अठारह खण्डात्माओं का सप्त-आत्म-विवर्त्त भावों में पर्य्यवसान, एवं अधिदैवत--भावानुगत विश्वात्मा, सत्यात्मा, यज्ञात्मा, अधियज्ञात्मा, सम्वत्सरात्मा, सर्वभूतान्तरात्मा, भूतात्मा, नामक सप्तक का नाम--संस्मरण—

मानवीया अध्यात्मसंस्था में विश्वानुबन्धी **अठारह--खण्डात्मा** हैं, जिनका स्वतन्त्र निबन्धों में विस्तार से स्वरूपोपबृंहण किया जाचुका है। एकात्मवादी प्राचीन क्योंकि विकम्पित होपड़ेंगे इस 'अष्टादश-आत्म-

विवर्त्त' वाक्य के श्रवणमात्र से। अतएव उनके इस विकम्पन को आंशिकरूप से उपशान्त करने के लिए अभी हम १८ की संख्या को ७ संख्या पर ही विश्रान्त कर देते हैं, जिन सात आत्मविवर्त्तों का ही उपनिषद्ग्रन्थों में संक्षेप, और विस्तार से स्वरूप--विश्लेषण हुआ है, जोकि--सातों आत्मविवर्त्त **आधिदैविकी-ईश्वरसंस्था में (विश्वसंस्था में)** क्रमशः—१--**विश्वात्मा**, २--**सत्यात्मा**, ३--**यज्ञात्मा**, ४--**अधियज्ञात्मा**, ५--**सम्वत्सरात्मा**, ६--**सर्वभूतान्तरात्मा**, ७--**भूतात्मा**, इन नामों से व्यवहृत किए जासकते हैं।

११७—अध्यात्म-संस्थानुगत-गूढोत्मा-अव्यक्तात्मा-महानात्मा—विज्ञानात्मा—प्रज्ञानात्मा-जीवात्मा चित्यात्मा—नामक सप्तविध आत्मविवर्त्तों का नाम-दिग्दर्शन, एवं प्राजापत्य--वल्शा के सुप्रसिद्ध विभिन्न ६ पर्वों का संस्मरण—

आध्यात्मिकी--मानवसंस्था में इन्हीं सातों आत्मविवर्त्तों को क्रमशः—**१-गूढोत्मा**, **२--अव्यक्तात्मा**, **३--महानात्मा**, **४--विज्ञानात्मा**, **५--प्रज्ञानात्मा**, **६--जीवात्मा**, **७--चित्यात्मा**, इन नामों से व्यवहृत किया जासकता है। ईश्वरीयसंस्था का सर्वाध्यक्ष---सर्वात्मक आत्मा ही **'विश्वात्मा'** है, जिसका पारिभाषिक-नाम है--'षोडशीप्रजापति'। इसी षोडशीप्रजापति—विश्वात्मा की महिमा के गर्भ में प्राजापत्या--वल्शा--रूप विश्व सुप्रतिष्ठित है, जिसके **१—स्वयम्भू**, **२--परमेष्ठी**, **३--सूर्य्य**, **४--चन्द्रमा**, **५--महापृथिवी**, **६--भूपिण्ड**, ये ६ पर्व विज्ञानजगत् में सुप्रसिद्ध हैं।

११८—षट्पर्वा विश्व में अवारपारीणरूपेण परिव्याप्त अणोरणीयान्, महतोमहीयान् षोडशीप्रजापतिरूप 'विश्वात्मा' का स्वरूप-संस्मरण, एवं तदाधारेण क्रमधारा-रूपेण प्रवृत्त द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ-पञ्चम-षष्ठ-सप्तम-संख्यानुगत स्वायम्भुव-सत्यात्मा, पारमेष्ठ्य यज्ञात्मा, सौर-अधियज्ञात्मा, चान्द्र-सम्वत्सरात्मा, पार्थिव-सर्वभूतान्तरात्मा, एवं भौम-भूतात्मा-नामक आत्मविवर्त्तों का संस्थान-विभागानुबन्धी समन्वय-प्रयास, तथा तालिका के माध्यम से आत्मसप्तक का सोपानपरम्परा-निबन्धन-स्पष्टीकरण—

षट्पर्वा विश्व में अवारपारीण व्याप्त, अणोरणीयान् महतोमहीयान् रूपेण सर्वत्र परिव्याप्त षोडशी-प्रजापति ही सर्वात्मक **प्रथम १-विश्वात्मा** है। उत्तर के पञ्च विश्वपर्वों को स्वमहिमा-गर्भ में प्रतिष्ठित रखने वाले **'स्वयम्भू'** नामक प्रथम विश्वपर्व से अनुप्राणित **दूसरा** आत्मपर्व ही **२--सत्यात्मा** है। तदुत्तर के चार विश्वपर्वों को स्वमहिमा-गर्भ में प्रतिष्ठित रखने वाले **'परमेष्ठी'** नामक द्वितीय विश्वपर्व से अनुप्राणित **तीसरा** आत्मपर्व ही **३--यज्ञात्मा है**। तदुत्तर के तीन विश्वपर्वों को स्वमहिमा-गर्भ में प्रतिष्ठित रखने वाले **'महापृथिवी'** नामक चतुर्थ विश्वपर्व से अनुप्राणित प्रतिष्ठित रखने वाले **'सूर्य्य'** नामक तृतीय विश्वपर्व

से अनुप्राणित **चौथा** आत्मपर्व ही **४–अधियज्ञात्मा है** । तदुत्तर के दो विश्वपर्वों को महिमा-गर्भ में प्रतिष्ठित रखने वाले [दृष्टिमूला सृष्टिविद्या के अनुबन्ध से] **'चन्द्रमा'** नामक चतुर्थ-विश्वपर्व से अनुप्राणित **पाँचवाँ** आत्मपर्व ही **५–सम्वत्सरात्मा** है । तदुत्तर के एक विश्वपर्व को [भूपिण्ड को] स्वमहिमा-मण्डल के गर्भ में प्रतिष्ठित रखने वाले **'महापृथ्वी'** नामक पञ्चम विश्वपर्व से अनुप्राणित **छठा** आत्मपर्व ही **६–सर्वभूतान्तरात्मा** है । एवं ओषधि–वनस्पति–कृमि–कीट–पक्षी–पशु–मनुष्य–आदि भेदभिन्ना पार्थिवी–प्रजा को स्वपृष्ठ–धरातल पर प्रतिष्ठित रखने वाले सर्वान्त के–'भूपिण्ड' नामक षष्ठ विश्वपर्व से अनुप्राणित सातवाँ आत्मपर्व ही **७–भूतात्मा** नाम से प्रसिद्ध है । इन सातों आधिदैविक–आत्मविवर्त्तों के आधार पर ही मानव की अध्यात्मसंस्था के सात आत्मविवर्त्त प्रतिष्ठित हैं, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है—

तदमुत्र		यदेवेह	
१–विश्वव्यापकः—विश्वात्मा		१–शरीरव्यापकः—सर्वात्मा—गूढोत्मा	
२–स्वायम्भुवः——सत्यात्मा	(१)	२–स्वायम्भुवः——अव्यक्तात्मा	(१)
३–पारमेष्ठ्यः——यज्ञात्मा	(२)	३–पारमेष्ठ्यः——महानात्मा	(२)
४–सौरः————अधियज्ञात्मा	(३)	४–सौरः————विज्ञानात्मा	(३)
५–चान्द्रः————सम्वत्सरात्मा	(४)	५–चान्द्रः————प्रज्ञानात्मा	(४)
६–पार्थिवः————सर्वभूतान्तरात्मा	(५)	६–पार्थिवः————भोक्तात्मा	(५)
७–भौमः————भूतात्मा	(६)	७–भौमः————चित्यात्मा	(७)
इति नु–अधिदैवतम्		इति नु–अध्यात्मम्	
पूर्णमदः		पूर्णमिदम्	

११६–उपनिषद्-ग्रन्थों से अनुप्राणिता लोकप्रसिद्धि का संस्मरण, मन्त्रसंहितानुगत-व्यवस्थित क्रम से अनुप्राणिता उपनिषदों का वैज्ञानिक-विभाग-क्रम, लोकसंग्रह-दृष्ट्या प्रचलित-दार्शनिक क्रम का ही समादर, 'गूढोत्मा' नामक 'विश्वात्मा' की स्वरूप-सम्पादिका 'वाजसनेयोपनिषत्' नाम की 'ईशोपनिषत्' का सिंहावलोकनात्मक संस्मरण, एवं केनोपनिषदनुगत-विषयविभाग के समन्वय से अनुप्राणित ईशोपनिषदनुगत-सप्तधा–विभक्त-वैज्ञानिक-विषय विभाग का तालिका के माध्यम से स्पष्टीकरण—

उपनिषद्ग्रन्थों का क्रम "ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक, श्वेताश्वतर" इत्यादिरूप से विद्वत्समाज में प्रसिद्ध है, जबकि मन्त्रसंहितानुबन्ध से हम इस प्रसिद्ध क्रम में भी विपर्य्य अनिवार्य्य मान रहे हैं। नित्य-कूटस्थ–ब्रह्मनिःश्वसित--रूप--अपौरुषेय--तात्त्विक वेद के सृष्ट्यनुबन्धी क्रमानुपात से समन्वित, तत्प्रतिरूपात्मक, प्रतिकृतिशिल्पात्मक, अतएव तदभिन्न शब्दात्मक वेदशास्त्र की मन्त्रसंहिताओं का क्रम क्रमशः ऋक्, कृष्णयजुः, शुक्लयजुः, साम, अथर्व, यही माना जायगा। जबकि मन्त्रसंहिताओं का यही क्रम प्रकृतिसिद्ध है, साथ ही सभी विद्वान् इसी क्रम को सनातन–क्रम मान रहे हैं, तो इस क्रमसंहिता के ब्राह्मणात्मक--तूलवेद के अन्तिम भागरूप उपनिषद्ग्रन्थों का क्रमसंस्थान भी संहिताओं के क्रमानुपात से ही व्यवस्थित होना चाहिए। तदपि अक्रमात्मक–वर्त्तमान क्रम से अनुप्राणित ईश–केन–कठ–आदि उपनिषदों के अर्थसमन्वय में क्योंकि कोई क्षति उपस्थित नहीं होती। अतएव लोकभावुकता के संरक्षण के लिए हमने उपनिषद्ग्रन्थों के प्रचलित क्रम को ही तद्भाष्यप्रक्रान्ति का आधार मान लिया है। एवं तदनुबन्ध से एकसहस्रपृष्ठात्मक दो खण्डों में सर्वप्रथम हमने–'ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य' उपनिबद्ध कर दिया है, जिसका प्रमुख प्रतिपाद्य विषय पूर्वप्रतिपादित सात आत्ममहिमा-विवर्त्तों में से सर्वादिभूत, षोडशीप्रजापतिलक्षण वह 'विश्वात्मा' ही है. जिसे तदुपनिषत् ने–'ईश [ईश्वर-विश्वात्मा] कहा है, एवं तदुपनिषत्–स्वरूपविश्लेषण के अनुबन्ध से ही जो उपनिषद्ग्रन्थ–'ईशोपनिष्त्' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। केनोपनिषद्भाष्य में प्रवृत्त होने वाले पाठकों से हम अनुरोध करेंगे कि, तत्पूर्व वे 'ईश–भाष्य' पर ही दृष्टि--निक्षेप का अनुग्रह करलें, जिसमें परःशत परिभाषाओं का स्वरूप--विश्लेषण हुआ है +।

+ प्राकृतात्मरूप खण्डात्माओं के स्वरूप–समन्वय के लिए निम्नलिखित प्रकाशित निबन्ध द्रष्टव्य हैं—

(१)--ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य

(२)----गीताभूमिकान्तर्गत--'आत्मपरीक्षा' नामक द्वितीयखण्ड

(३)—श्राद्धविज्ञानग्रन्थान्तर्गत–'आत्मविज्ञानोपनिषत्' नामक प्रथमखण्ड

ईशोपनिषत् के विज्ञानानुगत सात अधिकरणों में पूर्वसङ्केतित सातों आत्मविवर्त्तों का स्वरूप--समन्वय होगया है, जिसके लिए अत्र उस उपनिषत् की प्रकरणविभाग--तालिका ही उद्धृत कर दी जाती है, जिसके माध्यम से उपनिषत्प्रेमी पाठकों का ध्यान अवश्य ही तद्भाष्य की ओर आकर्षित होसकेगा—

ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्यान्तर्गता-विषयविभागतालिका—

१—पुरुषात्माधिकरणम् (विश्वात्मा)———(१-ईशा०[१], २—कुर्वन्नेवेह[२], ३—असुर्य्या०[३])।

२—अव्यक्तात्माधिकरणम् (सत्यात्मा)———(१-अनेजदेकं०[४], २-तदेजति[५], ३-यस्तु[६], ४-यस्मिन्०[७])।

३—महानात्माधिकरणम् (यज्ञात्मा)———(१-स पर्य्यगाच्छुक्रमकायम्०[८])।

४—विज्ञानात्माधिकरणम् (अधियज्ञात्मा)—(१-अन्धं०[९], २—अन्धंतमः[१०], ३—वि ग्रां०[११]

५—प्रज्ञानात्माधिकरणम् (सम्वत्सरात्मा)-(१—अन्धं०[१२], २-अन्यदेव०[१३], ३-सम्भूति०[१४]) ।

६—प्राणात्माधिकरणम् (सर्वभूतान्तरात्मा)-(१-हिरण्मयेन०[१५], २-पूषन्नेकर्षे०[१६],) ।

७—शरीरत्रयात्माधिकरणम् (भूतात्मा)——(१-वायुरनिल०[१७], २-अग्ने नय०[१८]) ।

अष्टादशमन्त्रात्मिका सप्त-प्रकरणात्मिका-गूढोत्मा-वर्णनपरेयं—
"वाजसनेयोपनिषत्-ईशोपनिषत्"

१२०-दर्शनाभिमत प्रचलित-विषयभाग के सम्बन्ध में अपेक्षित-संशोधन, क्रमविभाग से अनुप्राणित केवल मूलभाग से समन्वित भी उपनिषद्ग्रन्थों की महती-उपयोगिता के सम्बन्ध में किञ्चिदिव आवेदन—

प्रकरणविभाग-मर्य्यादा से असंस्पृष्ट, किंवा काल्पनिक प्रकरणविभाग से संस्पृष्ट प्रचलित उपनिषद्ग्रन्थ, और उनका ईश-केन-कठा-दिरूप क्रम, दोनों में हीं संशोधन अपेक्षित है । संहिता के क्रमानुपात से ही तो उपनिषदों का क्रम होना चाहिए, एवं तत्क्रमसिद्ध प्रत्येक उपनिषत् का विज्ञानार्थसमन्वयात्मक प्रकरण-विभाग भी तत्सहैव उपनिषद्ध होना चाहिए । हमारी आस्था है कि, इत्थंभूत क्रमविभाग, तथा प्रकरण-विभागों से समन्वित केवल मूलमात्र भी प्रज्ञानिष्ठों को निश्चयेन तदुत्पत्तिमर्म्म का अनुगामी बना सकता है । प्रकरण-

विभागानुगत-प्रतिपाद्य विषयों का संक्षिप्त-निदर्शन—'उपनिषद्विज्ञान-भाष्यभूमिकान्तर्गत' प्रथमखण्ड के 'उपनिषदों में क्या है ?' नामक अवान्तर-प्रकरण में हीं द्रष्टव्य है * ।

---

*—वर्षों से हमारा संकल्प है कि, निम्न लिखित संहिताक्रमानुपात से प्रकरण-विभाग-पूर्वक न्यूनतम १२ (बारह) उपनिषद्ग्रन्थों का मूलमात्रानुबन्धी एक संस्करण प्रकाशित कर दिया जाय । किन्तु युगधर्मानुगता विषमा-समस्या-परम्पराओं के अनुग्रह से हमारा वह संकल्प अद्यावधि संकल्परूपेणैव सुरक्षित है । इसे ही हम संस्कृति का महद्भाग्य मान रहे हैं कि, सन् ३३ में उपनिबद्ध केनोपनिषद्विज्ञानभाष्य संस्थान के अनुग्रह से सन् ५६ में प्रकाशित होरहा है, अर्थात् २५ वर्षों के अनन्तर, इति कालाय तस्मै नमः ।

उपनिषत्	अनुगत	वेद
१—१-कौषीतकिब्राह्मणोपनिषत्		ऋग्वेदोपनिषत् (१)
२—२-ऐतरेयोपनिषत्		ऋग्वेदोपनिषत् (१)
३—१-तैत्तिरीयोपनिषत्	कृष्णयजुरनुगता उपनिषदः	यजुर्वेदोपनिषत् (२)
४—२-श्वेताश्वतरोपनिषत्	कृष्णयजुरनुगता उपनिषदः	यजुर्वेदोपनिषत् (२)
५—३-कठोपनिषत्	कृष्णयजुरनुगता उपनिषदः	यजुर्वेदोपनिषत् (२)
६—४-ईशोपनिषत्	शुक्लयजुरनुगते	यजुर्वेदोपनिषत् (२)
७—५-बृहदारण्यकोपनिषत्	शुक्लयजुरनुगते	यजुर्वेदोपनिषत् (२)
८—१-केनोपनिषत्	सामानुगते	सामवेदोपनिषत् (३)
९—२-छान्दोग्योनिषत्	सामानुगते	सामवेदोपनिषत् (३)
१०-१-प्रश्नोपनिषत्	अथर्वानुगता-उपनिषदः	अथर्ववेदोपनिषत् (४)
११-२-मुण्डकोपनिषत्	अथर्वानुगता-उपनिषदः	अथर्ववेदोपनिषत् (४)
१२-३-माण्डूक्योपनिषत्	अथर्वानुगता-उपनिषदः	अथर्ववेदोपनिषत् (४)

१२१–'तलवकारोपनिषत्' नामकी–'केनोपनिषत्' से अनुगत प्रकरण-विभाग की लक्ष्यानुगति, ३४ मन्त्रात्मिका प्रस्तुत-उपनिषत् से अनुप्राणित प्राचीनाभिमत चार खण्ड-विभाग, एवं विज्ञानदृष्टि से अनुप्राणित तथ्य के आधार पर प्रज्ञानब्रह्म की निरूपिका केनोपनिषत् के प्रज्ञानब्रह्म का पावन-संस्मरण—

अब उस पारिभाषिक–समन्वय की ओर ही विज्ञ पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जारहा है, जिस के आधार पर ही 'केनोपनिषद्विज्ञानभाष्य' का यथावत् समन्वय सम्भव है। सर्वप्रथम प्रकरण–विभाग को ही लक्ष्यानुगत बनाया जारहा है। प्रचीनमतानुसार चतुस्त्रिंश (३४) मन्त्रात्मिका सामवेदीया इस 'केनोपनिषत्' के चार खण्ड हैं, जो क्रमशः"(१)-८,(२)-५,(३)-१२,(४)-९" इन क्रमिक-मन्त्रसंख्याओं से समन्वित हैं। जिसप्रकार ईशोपनिषत् ने 'विश्वात्मा' नामक आधिदैविक सर्वात्मक ईशात्मा से अभिन्न आध्यात्मिक–'गूढोत्मा' नामक-प्रथम-प्रमुख-सर्वात्मक आत्मविवर्त्त को आधार बनाकर आत्मसाम्यमूलक रहस्यविज्ञान स्पष्ट किया है, इस-'गुढोत्मा' के उपक्रम-प्राधान्य से ही जहाँ तदुपनिषत् 'गूढोत्मा–वर्णनपरोपनिषत्' कहलाई है, तथैव प्रस्तुत केनोपनिषत् में सातों आत्मविवर्त्तों में पाँचवें–'सम्वत्सरात्मविवर्त्त' नामक आधिदैविक चान्द्र-आत्मा से अभिन्न 'प्रज्ञानात्मा' नामक आध्यात्मिक चान्द्र आत्मा को मूल मान कर तद्विज्ञानोपनिषत्-माध्यम से ही क्योंकि आत्मसाम्य–रहस्य का स्वरूप–समन्वय हुआ है, अतएव इस केनोपनिषत् को हमने 'प्रज्ञानात्मवर्णनपरोपनिषत्'-अभिधा से समन्वित मान लिया है। इस प्रारम्भिक मूलाधार को (प्रज्ञानात्मा को) लक्ष्यारूढ बनाकर ही हमें केनोपनिषत् के पारिभाषिक–अर्थसमन्वय में प्रवृत्त होना चाहिए। क्योंकि यही 'प्रज्ञानब्रह्म' केनोपनिषत् का–'ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये' इस उपक्रम-मन्त्र से प्रतिज्ञात 'ब्रह्म' तत्त्व है, जिस इस 'प्रज्ञानब्रह्म' के स्वरूप–समन्वय के लिए ही केनोपनिषत् प्रवृत्त हुई है।

१२२–'प्रज्ञानब्रह्मोपनिषत्' रूपा केनोपनिषत् का संस्मरण, प्रज्ञानात्मा, तथा 'भोक्तात्मा' नामक 'कर्म्मात्मा' का बोध्य-बोधकरूपेण स्वरूप-दिग्दर्शन-प्रयास, एवं विज्ञान-दृष्टि से अनुप्राणित विषय-विभाग के माध्यम से अनुगत-कर्म्मात्मखण्ड, प्रज्ञानात्मखण्ड, चिदात्मखण्ड, चिदात्मप्राप्त्युपायखण्ड, रूपेण चतुर्विध पारिभाषिक-खण्डों का नाम-संस्मरण, और तन्माध्यम से ही तद्विज्ञानभाष्य का उपक्रम-एवं-तालिकाओं के माध्यम से दार्शनिक, तथा वैज्ञानिक-भेदभिन्न-उभयविध-विषय-विभाग का स्पष्टीकरण-प्रयास—

जिस के लिए यह 'प्रज्ञानब्रह्मोपनिषत्' प्रवृत्त है, वही सुप्रसिद्ध 'सर्वभूतान्तरात्मा' नामक आधिदैविक छठे आत्मिविवर्त्त से अभिन्न 'भोक्तात्मा' नामक पार्थिव–कर्म्मात्मा है, जिसे ही प्रज्ञानब्रह्म का बोध कराया जारहा है उपनिषत् के द्वारा। इसप्रकार बोध्य–प्रज्ञानात्मा के साथ साथ ही बोधकर्त्ता 'कर्म्मात्मा' भी स्वतः ही इस उपनिषत् का लक्ष्य बन जाता है। इसी को–'देही-भोक्तात्मा' कहा गया है, जिसे कि उपनिषत् के द्वारा 'प्रज्ञानब्रह्म' का बोध करा देना ही प्रमुख लक्ष्य है। कर्म्मात्मा के आधारभूत प्रज्ञानब्रह्म का ब्रह्मत्त्व सर्वव्यापक–विश्वात्मा-चिदात्मा–पर ही अवलम्बित है। तदभिन्नत्त्वेनैव प्रज्ञानतत्त्व 'ब्रह्म' उपाधि

से समन्वित हुआ है। "कर्म्मात्मा प्रज्ञानब्रह्म के माध्यम से चिदात्मरूप स्वरूपबोध प्राप्त करता हुआ ही कर्म्मनिष्ठा में प्रवृत्त रहे" यही 'केनोपनिषत् का पारिभाषिक–तत्त्वसमन्वय-निष्कर्ष है, जिस में प्रमुखरूपेण–कर्म्मात्मा, प्रज्ञानात्मा, चिदात्मा, ये तीन तन्त्र समन्वित होरहे हैं। चौथी वह उपायसमष्टि है, जिस के द्वारा कर्म्मात्मा प्रज्ञानोपनिषद्–धर्म्मों से समन्वित होता हुआ ब्रह्ममूलक आत्म–साम्य से अनुगत होजाया करता है। इसी तथ्य के आधार हमें केनोपनिषत् के ३४ मन्त्रों को चार–वैज्ञानिक–खण्डों में विभक्त कर लेना चाहिए, एवं इन चारों खण्डों के क्रमशः १–कर्म्मात्मखण्ड, २–प्रज्ञानात्म–खण्ड, ३–चिदात्मखण्ड, ४-चिदात्मप्राप्त्युपायखण्ड, ये वैज्ञानिक नाम रखे लेने चाहिएँ। प्राचीनोंनें भी खण्ड तो चार ही माने हैं। किन्तु न तो उन में प्रकरणनामनिर्देश ही है, न उनमें विज्ञानक्रम–संसिद्ध–खण्डविभाग ही हैं, एवं न मन्त्रों का क्रम ही विज्ञानसम्मत है। प्राचीनाभिमत मन्त्र–समन्वय, तथा तदपि प्राचीन ऋषिसम्मत मन्त्रसमन्वय, दोनों को लक्ष्य बनाने से ही स्थिति का सहज–रूपेणैव स्पष्टीकरण होजाता है। पाठकों की सुविधा के लिए हम यहाँ उन दोनों हीं विभागों को उद्धृत कर रहे हैं, जिन इन दोनों विभागों में से ऋषिसम्मत, अतएव अतिप्रत्न * वैज्ञानिक-विभाग को आधार बना कर ही प्रस्तुत भाष्य उपक्रान्त होगा।

(१)-प्राचीनाभिमत (दर्शन भिमत)-विषयविभाग-

(१)–'केनेषितं तपति–प्रेषितं मनः'–इत्यादि प्रथम (१) मन्त्र से उपक्रान्त
(८)–'यत्प्राणेन प्राणिति०' —-—-इत्यादि अष्टम (८) मन्त्र पर उपसंहृत

अष्ट (८)–मन्त्रात्मकः–प्रथमः–खण्डः

१

(९)–'यदि मन्यसे सुवेदेति॰'——इत्यादि नवम (९) मन्त्र से उपक्रान्त
(१३)–'इह चेदवीत्–अथ सत्यमस्ति'-इत्यादि त्रयोदश (१६) मन्त्र पर उपसंहृत

पञ्च (५)–मन्त्रात्मकः–द्वितीयः–खण्डः

२

(१४)–'ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये०'———इत्यादि चतुर्दश (१४) मन्त्र से उपक्रान्त
(२५)–'स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम०'-इत्यादि पञ्चविंशति (२५) मन्त्र पर उपसंहृत

द्वादश (१२)–मन्त्रात्मकः–तृतीयः–खण्डः

३

*–अति नूत्नं रहस्यम्। न हि न हि–अतिप्रत्नं रहस्यम्।

(२६)-'सा ब्रह्मेति होवाच०'-इत्यादि षड्विंश (२६) मन्त्र से उपक्रान्त
(३४)-'यो वा एतामेवं वेद०'-इत्यादि चतुस्त्रिंश (३४) मन्त्र पर उपसंहृत

नव (६)-मन्त्रात्मकः-चतुर्थः-खण्डः

४

इति-खण्डचतुष्टयात्मिका-३४ मन्त्रसमष्टिरूपा-तलवकोरापनिषत् दार्शनिकानां-प्राचाम्

* * * *

(२)-वैज्ञानिकाभिमत-विषय-विभ ग--

(१) अथ-कर्म्मात्मविज्ञानखण्डः-प्रथमः

(१)-१—ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिज्ञे०	दार्शनाभिमत—	तृतीयखण्ड का	१	मन्त्र
(२)-२—तद्धैषां विजिज्ञौ०	"	"	२	"
(३)-३—तेऽग्निमब्रुवन्०	"	"	३	"
(४)-४—तदभ्यद्रवत०	"	"	४	"
(५)-५—तस्मिंस्त्वयि किं वीर्य्यम्०	"	"	५	"
(६)-६—तस्मै तृणं निदधौ०	"	"	६	"
(७)-७—अथ वायुमब्रुवन्०	"	"	७	"
(८)-८—तदभ्यद्रवत्०	"	"	८	"
(९)-९—तस्मिंस्त्वयि किं वीर्य्यम्०	"	"	९	"
(१०)-१०-तस्मै तृणं निदधौ०	"	"	१०	"
(११)-११-अथेन्द्रमब्रुवन्	"	"	११	"
(१२)-१२-स तस्मिन्नेवाकाशे०	"	"	१२	"

अत्र-दर्शनाभिमतस्तृतीयखण्डः समाप्तः

(१३)-१३-सा ब्रह्मेति होवाच०	दर्शनाभिमत	चतुर्थखण्ड का	१	मन्त्र
(१४)-१४-तस्माद्वा एते देवाः०	"	"	१	"
(१५)-१५-तस्माद्वा इन्द्रोऽतितरामिव०	"	"	२	"
(१६)-१६-तस्यैष आदेशः०	"	"	३	"
(१७)-१७-अथाध्यात्मम्०	"	"	४	"
(१८)-१८-तद्ध तद्वनं नाम०	"	"	५	"

इति-विज्ञानसम्मतः-अष्टादश (१८) मन्त्रात्मकः प्रथमखण्डः कर्म्मात्मखण्डचात्र-उपरतः-प्रथमः

१

(२)-अथ-प्रज्ञानात्मविज्ञानखण्डः-द्वितीयः

(१९)-१—केनेषितं पतति प्रेषितं मनः०	दर्शनाभिमत—	प्रथमखण्ड का	१	मन्त्र
(२०)-२—श्रोत्रस्य श्रोत्रम्०	"	"	२	"
(२१)-३—न तत्र चक्षुर्गच्छति०	"	"	३	"
(२२)-४—यद्वाचानभ्युदितम्०	"	"	४	"
(२३)-५—यन्मनसा न मनुते०	"	"	५	"
(२४)-६—यच्चक्षुषा न पश्यति०	"	"	६	"
(२५)-७-यच्छ्रोत्रेण न शृणोति०	"	"	७	"
(२६)-८—यत्प्राणेन न प्राणिति	"	"	८	"

(अत्र-दर्शनाभिमतः-प्रथमखण्डः-उपरतः)

इति-विज्ञानसम्मतः-अष्ट [८] मन्त्रात्मकः-द्वितीयखण्डः प्रज्ञानात्मखण्डश्चात्रोपरतः-द्वितीयः

२

(३)-अथ-चिदात्मविज्ञानखण्डः-तृतीयः

(२७)-१—यदि मन्यसे सुवेदेति०	दर्शनाभिमत—द्वितीयखण्ड का १ मन्त्र
(२८)-२—नाहं मन्ये सुवेदेति०	" " २ "
(२९)-३—यस्यामतं, तस्य मतम्०	" " ३ "
(३०)-४—प्रतिबोधविदितं मतम्०	" " ४ "
(३१)-५—इहचेदवेदीत्, अथ सत्यमस्ति	" " ५ "

[अत्र-दर्शनाभिमतः-द्वितीयखण्डोपरतः]

इति-विज्ञानसम्मतः पञ्च [५] मन्त्रात्मकः-तृतीयखण्डः
चिदात्मखण्डश्चात्रोपरतः-तृतीयः

३

(४)—अथ-चिदात्मप्राप्त्युपायविज्ञानखण्डः-चतुर्थः

(३२)—१—उपनिषदं भो ब्रूहि०—दर्शनाभिमत चतुर्थखण्ड का	७ मन्त्र
(३३)—२—तस्यै तपो दमः०—— "	८ मन्त्र
(३४)—३—यो वा एतामेवं०—— "	९ मन्त्र

इति-विज्ञानसम्मतः-मन्त्रत्रयात्मकः-चतुर्थखण्डः
चित्प्राप्त्युपायखण्डश्चात्रोपरतः-चतुर्थः

४

इति-विज्ञानसम्मता-खण्डचतुष्टयात्मिका-
केनोपनिषत्

* * * * *

१२३–वैज्ञानिक-विषय-विभाग से अनुप्राणिता सन्दर्भ-सङ्गति, एवं पञ्चखण्डानुगता-खण्डचतुष्टयात्मिका केनोपनिषत् से अनुप्राणिता 'विषयविभागप्रवृत्ति' का समन्वय-प्रयास—

तथोक्त–वैज्ञानिक-विभाग से अनुप्राणित 'विषयविभाग' को प्रमुख मानकर ही हमने 'केनोपनिषद्विज्ञानभाष्य' का समन्वय-प्रयास किया है। आद्यन्त के मङ्गलपाठात्मक–माङ्गलिक–संस्मरण को यदि 'मूलग्रन्थानुगत–प्रधान-प्रतिपाद्य–विषय' से पृथक् विभाग माना जाता है, तो पूर्व–निर्दिष्ट चार खण्डों के स्थान में केनोपनिषत् के 'पाँच–खण्ड' होजाते हैं। और यदि मङ्गलपाठ को ग्रन्थ में ही अन्तर्भूत मान लिया जाता है, तो यह उपनिषद्ग्रन्थ 'खण्डचतुष्टयी' पर ही विश्राम ग्रहण कर लेता है। पञ्च-खण्ड-पक्ष में 'केनोपनिषद्भाष्य' का खण्डानुगत-विषयविभाग निम्न लिखित ही माना जायगा—

केनोपनिषदनुगत–विज्ञानसम्मत–खण्डविभागः—

१–मङ्गलपाठात्मकः——–प्रथमखण्डः २–कर्म्मात्मविज्ञाननिरूपकः-द्वितीयखण्डः	प्रथमखण्डो वा
३–प्रज्ञानात्मविज्ञाननिरूपकः-तृतीयखण्डः	द्वितीयखण्डो वा
४–चिदात्मविज्ञाननिरूपकः—चतुर्थखण्डः	तृतीयखण्डो वा
५–चित्प्राप्त्युपायात्मकः——पञ्चमखण्डः	चतुर्थखण्डो वा

इति–पञ्चखण्डात्मिका, खण्डचतुष्टयात्मिका वा केनोपनिषत्–तलवकारोपनिषत् विज्ञानसम्मतविभागात्मिका

* * *

१२४–केनोपनिषत् से अनुप्राणित प्रारम्भिक 'मङ्गलपाठ' से अनुप्राणित 'प्रथम-प्रकरण' का समन्वय-प्रयास—

केनोपनिषत् के आरम्भ के 'मङ्गलपाठ' का तत्त्वदृष्ट्या क्योंकि अपना एक स्वतन्त्र महत्त्व है। अतएव हमने उपनिषदनुगत–माङ्गलिक–संस्मरणात्मक–मङ्गलपाठ के स्वरूप–विश्लेषण के लिए एतन्नामक एक 'स्वतन्त्र' प्रकरण ही प्रस्तुत भाष्य में समाविष्ट कर दिया है, एवं इसे ही हमने प्रस्तुत-भाष्य का 'प्रथम–प्रकरण' मान लिया है।

१२५–'प्रज्ञानब्रह्म', एवं कर्म्मात्मरूप 'देही' की स्वरूपस्थिति से अनुप्राणिता केनोपनिषत् से अनुगत प्रधान-लक्ष्य का दिग्दर्शन-प्रयास—

जैसाकि मुखपृष्ठ से ही स्पष्ट रूपेण अभिव्यक्त है–केनोपनिषत् में प्रधानरूप से 'प्रज्ञानात्मा' का ही स्वरूप–विश्लेषण हुआ है, जिसका निष्कर्षार्थ यही है कि, इस उपनिषत् में जिन जिन–प्राकृतात्मविवर्त्तों की ओर सङ्केत हुआ है, उन सभी प्राकृतात्मविवर्त्तों का द्वार 'प्रज्ञानब्रह्म' ही बना हुआ है। दूसरे शब्दों में–केनोपनिषत् ने 'कर्म्मात्मा' नामक 'देही' को 'चिदात्मा' नामक 'परमात्मा' से समन्वित करने का प्रमुख द्वार 'प्रज्ञानात्मा' को ही बतलाया है। किंवा विभिन्न–द्वारात्मक विभिन्न–खण्डात्मविवर्त्तों में से प्रस्तुत केनोपनिषत् 'प्रज्ञानद्वार' को ही प्रमुखता प्रदान कर रही है।

१२६–'केनोपनिषत्' से अनुगत प्रमुखद्वाररूप प्रज्ञानात्मा का, और तन्निबन्धन प्रधान-लक्ष्यीभूत चिदात्मा का संस्मरण—

अतएव अनिवार्य्यरूपेण यह आवश्यक होजाता है कि, प्राकृत–खण्डात्म–विवर्त्तों में से अमुक स्थान विशेष में प्रतिष्ठित प्रज्ञानात्मा के स्वरूप को ही पारिभाषिक–दृष्टिकोण से समन्वित किया जाय, तद्द्वारैव उस आत्मतत्त्व की स्वरूप-मीमांसा का समन्वय-प्रयास किया जाय, जिस 'चिदात्मा'-रूप प्रधान लक्ष्य की अवाप्ति का प्रमुख द्वार केनोपनिषत् के द्वारा 'प्रज्ञानात्मा' ही प्रमाणित हुआ है।

१२७–'केनोपनिषत्' से अनुगत प्रस्तुत विज्ञानभाष्य के विज्ञानानुबन्धी-प्रकरण-विभागों का सिंहावलोकनात्मक संस्मरण—

प्रज्ञानात्मस्वरूपानुगत अत्यन्त पारिभाषिक-आत्मस्वरूप के पारिभाषिक-समन्वय के अनन्तर ही प्रज्ञानात्मा का स्वरूप क्योंकि सर्वात्मना गतार्थ बन सकता है। एवं तभी क्योंकि खण्डचतुष्टयात्मिका, किंवा पञ्चखण्डानुगता प्रस्तुत–'केनोपनिषत्' के 'विज्ञानभाष्य' का पारिभाषिक–ज्ञानविज्ञानसमन्वयात्मक दृष्टिकोण गतार्थ बन सकता है। अतएव 'केनोपनिषत्-मूलविज्ञान–भाष्य' से पहिले 'प्रज्ञानात्मस्वरूपानुगत–आत्मस्वरूप' का निदर्शन ही आवश्यक बन जाता है। इत्थंभूता इस अनिवार्य्या आवश्यकता के अनुबन्ध से ही हमने प्रस्तुत विज्ञानभाष्य में प्रक्रान्त 'पारिभाषिक-प्रकरण' के अतिरिक्त निर्दिष्ट-क्रमानुपात से तीन प्रधान-प्रकरणों का समावेश सामयिक मान लिया है।

१२८–केनोपनिषत् से अनुगत मङ्गलपाठात्मक-'माङ्गलिक-संस्मरण' का प्रथम-प्रकरण-रूपेण विज्ञानभाष्य में संग्रह—

जैसाकि निवेदन किया गया है, प्रचलित–दार्शनिक–दृष्टिकोण के अनुसार केनोपनिषत् के आद्यन्त में पठित मङ्गलसंस्मरणात्मक मङ्गलपाठ को स्वतन्त्र खण्ड का स्वरूप नहीं मिल सका है, अपितु इसे सामान्य–भाव से अनुगत मान लिया गया है। फलतः केनोपनिषत् के प्रमुखरूपेण चार ही खण्ड शेष रह जाते हैं। किन्तु विज्ञानदृष्टि से आद्यन्तानुगत मङ्गलपाठ का भी क्योंकि अपना एक विशेष महत्त्व है, अतएव हमने मङ्गलपाठानुगत तद्विशेष महत्त्व के स्पष्टीकरणानुबन्ध से 'माङ्गलिक–संस्मरणम्' नामक एक स्वतन्त्र ही प्रकरण का अत्र विज्ञानभाष्य में समावेश कर लिया गया है, एवं यही प्रस्तुत 'विज्ञानभाष्य' के प्रथम–प्रकरण की स्वरूपदिशा का संक्षिप्ततम-निदर्शन है।

१२६–'प्रज्ञानात्मानुगत-आत्मस्वरूप-निदर्शनम्' नामक-द्वितीय-प्रकरण के सम्बन्ध में प्रकरणनिबन्धना स्थिति का स्पष्टीकरण—

दूसरा क्रमप्राप्त वही 'प्रकरण' समन्वित हुआ है, जिसमें प्रमुखरूपेण केनोपनिषत् के प्रमुख द्वारभूत 'प्रज्ञानात्मा' का, तथा तन्निबन्धन तत्सहयोगी इतर प्राकृतात्माओं का, एवं प्रधान-लक्ष्यीभूत-'चिदात्मा' का ही स्वरूप-निदर्शन प्रयास हुआ है। आत्मस्वरूपानुगता ज्ञानविज्ञानसिद्धा परिभाषाओं की विलुप्ति के कारण प्राकृतात्माओं के महिमा-मय स्वरूप से मानवप्रज्ञा आज सर्वथैव परा:परावता बन चुकी है काल्पनिक अद्वैतवाद के वारुणपाशबन्धन के निग्रह से। इस भ्रान्ति के निराकरण के लिए ही उपनिषद्विज्ञानभाष्य से पूर्व प्रज्ञानात्मा के, तथा सहयोगी आत्मविवर्त्तों के स्वरूप का पारिभाषिक समन्वय क्योंकि अनिवार्य्य बन जाता है। इसी अनिवार्य्यता की पूर्ति के लिए प्रस्तुत विज्ञानभाष्य में–'प्रज्ञानात्मानुगत-आत्मस्वरूप-निदर्शनम्' नामक क्रमप्राप्त द्वितीय–प्रकरण का ही समावेश हुआ है।

तदनन्तर क्रमप्राप्त 'तलवकारोपनिषत्-मूलविज्ञानभाष्य' नामक तृतीय प्रकरण का समावेश हुआ है, जिसमें विज्ञानसहकृता खण्डचतुष्टयी–लक्षणा–विषय–सन्दर्भ–विभागदृष्टि से क्रमशः तथाकथित-चार खण्डों का ही क्रमशः अक्षरार्थ–समन्वय–प्रयास हुआ है। "सर्वप्रथम मूलमन्त्र, तदनन्तर मूलाक्षरार्थ–समन्य, सर्वान्ते च मन्त्रक्षरार्थ का संक्षिप्त–वैज्ञानिक समन्वय" इस पद्धति से ही तृतीय प्रकरण में 'मूलविज्ञानभाष्य' का समन्वय प्रयास हुआ है। और इस दृष्टिकोण से प्रस्तुत विज्ञानभाष्य में निम्न लिखित रूपेण तीन प्रमुख-प्रकरणों का ही समावेश हुआ है, जैसाकि तालिका से स्पष्ट है।

केनोपनिषद्विज्ञानभाष्यानुगता-प्रकरणत्रयी का संस्मरण

(१)—"माङ्गलिक–संस्मरणम्"————प्रथमं प्रकरणम्

(२)—"प्रज्ञानात्मस्वरूपानुगतं-आत्मस्वरूपनिदर्शनम्"—
—द्वितीयं–प्रकरणम्

(३)—"तलवकारोपनिषत्–मूलविज्ञानभाष्यम्"—
—तृतीयं–प्रकरणम्

इति–"प्रकरणत्रयानुगतं-तलवकारोपनिषद्विज्ञानभाष्यम्"
"केनोपनिषद्विज्ञानभाष्यं" वा
प्रज्ञानात्मवर्णनानुगतम्

* * *

१३०–प्रक्रान्त–'पारिभाषिक- प्रकरण का उपसंहार एवं तन्निबन्धना लक्ष्यानुगति के सम्बन्ध में किञ्चिदिव नम्र–निवेदन—

यदि प्रक्रान्त–**'पारिभाषिक-प्रकरण'** का भी स्वतन्त्र–प्रकरणत्वेन परिगणन कर लिया जाता है, तो खण्डचतुष्टयात्मिका इस तलवकारोपनिषत् के प्रकरण भी चतुर्द्धा ही विभक्त होजाते हैं। इत्थंभूत प्रस्तुत **'पारिभाषिक-प्रकरण'** को अत्यन्त अवधानपूर्वक लक्ष्यारूढ करते हुए ही हमें क्रमानुगत तीन प्रकरणों से समन्वित **'तलवकारोपनिषद्विज्ञानभाष्य'** के पारिभाषिक–समन्वय में प्रवृत्त होना चाहिए, इसी **'पारिभा–षिक-निवेदन'** के साथ 'प्रस्तावनानुबन्धी', किंवा 'भूमिकानुबन्धी' यह **'पारिभाषिक-प्रकरण'** उपरत होरहा है क्रमप्राप्त—**'माङ्गलिक-संस्मरणम्'** नामक—**'प्रथम प्रकरण'** की भावना करता हुआ ही।

इति--"तलवकारोपनिषद्विज्ञानभाष्ये"
"केनोपनिषद्विज्ञानभाष्ये"—वा
"पारिभाषिकसूचना-प्रकरणं-प्रस्तावनात्मकम्"
उपरतम्

* * * * *

श्रीः

इति—"तलवकारोपनिषद्विज्ञानभाष्ये"
("केनोपनिषद्विज्ञानभाष्ये"-वा)
पारिभाषिकसूचना-प्रकरणं-प्रस्तावनात्मकं
उपरतम्

श्रीः

अथ—"तलवकारोपनिषद्विज्ञानभाष्ये"

[केनोपनिषद्विज्ञानभाष्ये" वा]

"माङ्गलिक-संस्मरणम्"

नामकं

प्रथमं—प्रकरणम्

१





श्रीः

अथ — "तलवकारोपनिषद्विज्ञानभाष्ये" ("केनोपनिषद्विज्ञानभाष्ये" वा) "*माङ्गलिक--संस्मरणम्*" नामकं–प्रथमं–प्रकरणम्

१

———*———

१–उपनिषदों के 'आदि', तथा 'अन्त' से अनुप्राणित 'मङ्गलपाठ'-रूप-'माङ्गलिक-संस्मरण' का विधिविहित विधान, संहिताभेदभिन्ना १५ उपनिषदों का विभक्तिकरण, एवं प्राकृत-विश्व के मूलभूत-तत्त्वात्मक-वेदों से विनिर्म्मित प्राकृत-स्वरूप की 'शरीर'-निबन्धना अभिधा का तात्त्विक-समन्वय—

प्रत्येक उपनिषत् के आद्यान्त में 'मङ्गलपाठ' का विधान है। अर्थात् उपनिषत् के आरम्भ से पूर्व भी मङ्गलपाठ विहित है, एवं उपनिषत् की समाप्ति पर भी मङ्गल–पाठ विहित है। साथ ही उपषद्ग्रन्थों के ये मङ्गलपाठ विभिन्न–भावों से ही अनुप्राणित रहते हैं। पूर्व के पारिभाषिक–सूचना–प्रकरण में हमने ऋक्, कृष्णयजुः, शुक्लयजुः, साम, अथर्व, भेद से पाँच भागों में १५ उपनिषदों को विभक्त माना है देखिए पृ० सं० ५४ की टिपणी)। प्राकृत–विश्व के मूलभूत प्राकृत–तत्त्वात्मक इन चारों वेदों से ही समष्टि, और व्यष्टिरूप से मानव के प्राकृत–स्वरूप–का निर्म्माण हुआ है, जिस प्राकृत स्व–स्वरूप का सामान्य नाम है–'शरीर'।

२–पुरुष, और प्रकृति के समन्वय से अनुप्राणित मानव, पुरुषात्मक मानवीय 'आत्मा', एवं प्रकृत्यात्मक मानवीय-शरीर, और प्रकृतिनिबन्धन त्रैगुण्य से अनुप्राणित तथ्य के द्वारा शरीर की तीन भागों में परिणति, तथा शरीरत्रयी से समन्वित प्रकृतिभाव से अनुगत चतुर्थ आत्मपर्व का-'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्' के द्वारा सङ्कलन-प्रयास—

मानवस्वरूप पुरुष, और प्रकृति, दोनों के समन्वय से ही अनुप्राणित है। पुरुष ही मानव का 'आत्मा' है, एवं प्रकृति ही मानव का 'शरीर' है। यह प्राकृत शरीर प्रकृति के 'त्रैगुण्य' से त्र्यात्मक बनता हुआ

तीन विवर्त्तभावों में परिणत रहता है। अतएव सत्त्वशरीर, रजःशरीर, तमःशरीर, भेद से एक ही प्राकृत शरीर के तीन 'शरीरविवर्त्त' निष्पन्न होजाते हैं। शरीरत्रयीरूपा प्रकृति, और अशरीरी-आत्मा *, इन दोनों के समुच्चितरूप का ही नाम है-'अध्यात्मम्', और यही है 'मानव' का स्वरूप-समन्वय। तीन शरीर, और एक आत्मा, इन चार पर्वों की समष्टि ही मानव का 'सर्व' स्वरूप है, जैसाकि 'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्' इत्यादि ब्राह्मणवचन (अनुगमात्मक) से प्रमाणित है।

३-त्रिगुणात्मिका प्रकृति की व्यक्ता-मूर्त्ता-क्षरप्रकृति के आधार पर दिग्देशकालात्मक-विश्व की स्वरूपसत्ता का आविर्भाव, सत्त्व-रज-स्तमोगुणान्विता प्रकृतित्रयी से अनुप्राणित काल-दिक्-देश-भावों का स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं व्यक्त विश्व की मूलप्रतिष्ठा का संस्मरण—

त्रिगुणात्मिका प्रकृति ही व्यक्ता-मूर्त्ता-'क्षरप्रकृति' है, जिसके आधार पर ही दिग्देशकालात्मक-व्यक्त-मूर्त्त- भूतभौतिक-क्षर-विश्व की स्वरूपसत्ता प्रतिष्ठित मानी गई है। सत्त्वगुणप्रधाना, रजस्तमो-गुणगर्भिता वही प्रकृति कालात्मिका-प्रकृति है, रजोगुणप्रधाना,-सत्त्व-तमोगुण-गर्भिता वही प्रकृति दिगात्मिका-प्रकृति है, एवं तमोगुणप्रधाना, सत्त्व-रजोगुण-गर्भिता वही प्रकृति 'देशात्मिका-प्रकृति' है, और प्रकृति के त्रिगुणात्मक, त्र्यात्मक ये ही तीन व्यक्त-स्वरूप हैं, जिन इन तीनों काल-दिक्-देश-रूपों के आधार पर ही व्यक्त-विश्व प्रतिष्ठित है।

४-आधिदैविक-ईश्वरीय-विवर्त्त से अनुप्राणिता सूर्य्य-चन्द्रमा-भूपिण्डरूपा काल-दिक्-देश-त्रयी—

आधिदैविक विश्वात्मा-विश्वेश्वरात्मा यदि 'पुरुष' है, तो उसकी काल-दिक्-देशात्मिका त्रिगुणा-त्मिका प्रकृति ही उसका 'प्रकृति' रूप 'शरीर' है, जिनके प्रतीकात्मक-व्यक्त-स्वरूप-सूर्य्य-चन्द्रमा-भूपिण्ड-रूप से प्रत्यक्ष में परिलक्षित हैं।

---

*-(१)-अमृतस्याशरीरस्यात्मनोऽधिष्ठानम् (छां० उप० ८।१२।१।)

(२)-अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः (छां० उप० ८।१२।१।)।

(३)-परस्यामृतस्य-अशरीरस्य (मैत्र्युपनिषत् ६।२७)।

(४)-अशरीरं शरीरेषु, अनवस्थेष्ववस्थितम्।

महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥ (कठोपनिषत् २।२२।)।

५–कालप्रतीक सूर्य्य, दिक्प्रतीक चन्द्रमा, देशप्रतीक भूपिण्ड, और ईश्वरीय-दिव्यशरीर से अनुगता कारण-सूक्ष्म-स्थूल-शरीरत्रयी—

कालात्मिका प्रकृति का प्रतीकभूत सूर्य्य ही उसका कालात्मक–शरीर है, दिगात्मिका प्रकृति का प्रतीकभूत चन्द्रमा ही उसका दिगात्मक–शरीर है, एवं देशात्मिका प्रकृतिका प्रतीकभूत भूपिण्ड ही उसका देशात्मक–शरीर है। ये ही उसके क्रमशः कारण–सूक्ष्म–स्थूल–शरीर हैं। और ठीक यही काल–दिग्–देश–व्यवस्था मानवात्मपुरुष के प्राकृत–शरीर से समन्वित है।

६–कालात्मक सूर्य्य से अनुप्राणिता बुद्धि, दिगात्मक चन्द्रमा से अनुप्राणित मन, एवं देशात्मक भूपिण्ड से अनुप्राणित शरीर–रूपेण आध्यात्मिक-काल-दिक्-देशानुगत-कारण-सूक्ष्म-स्थूल शरीरों का स्पष्टीकरण, एवं तालिका के माध्यम से तत्समन्वय-प्रयास—

कालात्मक–सूर्य्य से समुत्पन्ना बुद्धि ही मानव का कालात्मक–कारणशरीर है। दिगात्मक–चन्द्रमा से समुत्पन्न 'मन' ही मानव का दिगात्मक–सूक्ष्मशरीर है। एवं देशात्मक भूपिण्ड से समुत्पन्न शरीर ही मानव का देशात्मक–स्थूलशरीर है। यों प्रकृति के त्रैगुण्यानुबन्धी–काल–दिग्–देशात्मक–सूर्य्य–चन्द्र–भूपिण्डानुगत तीन प्राकृत–व्यक्त–रूपों से ही मानव का काल–दिग्–देशानुबन्धी प्राकृत शरीर तीन महिमा-व्यष्टियों में परिणत होरहा है, जिनकी समष्टि ही चौथा विवर्त्त–माना गया है। परिलेख के माध्यम से इस व्यष्टि–समष्टि का भलीभाँति स्पष्टीकरण होजाता है।

आधिदैविक-पुरुष-प्रकृति-विवर्त्तम्

पुरुषगर्भितोऽव्यक्तसमन्वितो-महानात्मा-एव आत्मा-विश्वात्मा-अशरीरी* } पुरुषः

प्रकृतिः

१-रजस्तमोगुणगर्भिता-सत्त्वप्रकृतिः-कालात्मिका-व्यक्ता-प्रकृतिः
२-सत्त्व-तमोगुणगर्भिता-रजःप्रकृतिः-दिगात्मिका-मूर्त्ता-प्रकृतिः
३-सत्त्व-रजोगुणगर्भिता-तमःप्रकृतिः-देशात्मिका-भूतप्रकृतिः
} प्रकृतित्रयी

———*———

१--व्यक्तकालप्रकृतेः-प्रतीकभावः-कालात्मकः-सूर्य्यः-ईश्वरात्मनः-कारणशरीरम्
२-मूर्त्तदिक्प्रकृतेः-प्रतीकभावः-दिगात्मकः-चन्द्रमाः-ईश्वरात्मनः-सूक्ष्मशरीरम्
३-भूतदेशप्रकृतेः-प्रतीकभावः-देशात्मकः-भूपिण्डः-ईश्वरात्मनः-स्थूलशरीरम्
} शरीरत्रयी

आध्यात्मिक-पुरुष-प्रकृतिविवर्त्तम्

चिदात्माव्ययपुरुषगर्भितः-महानात्मा ÷-मानवात्मा-अशरीरी } पुरुषः

प्रकृतिः

१-कारणभूतेन-कालसूर्य्येण-बुद्धिः-आविर्भूता-तदिदं कारणशरीरं-मानवात्मनः (१)
२-सूक्ष्मभूतेन-दिक्चन्द्रेण--मनः-आविर्भूतम्-तदिदं-सूक्ष्मशरीरं-मानवात्मनः (२)
३-स्थूलभूतेन-देशभूपिण्डेन-शरीरं-आविर्भूतम्-तदिदं-स्थूलशरीरं-मानवात्मनः(३)
४-स्थूल-सूक्ष्म-कारण-शरीरत्रयी-समष्टिः (४)

---

*-अशरीरं शरीरेषु, अनवस्थेष्ववस्थितम् ।
'महान्तं' विभुमात्मानं मत्त्वा धीरो न शोचति ॥
—कठोपनिषदि २।२१।

÷- मम योर्म्महद्ब्रह्म तस्मिन्--गर्भं दधाम्यहम् ॥
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ! ॥१॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय ! मूर्त्तयः सम्भवन्ति याः ॥
तासां ब्रह्म-महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥२॥
—गीतायां १४।३,४, ।

७-कालप्रतिकृतिरूप सूर्य्य-दिक्प्रतिकृतिरूप चन्द्रमा, एवं देशकृतिकृतिरूप भूपिण्ड से अनुप्राणिता तत्त्वात्मिका साम-यजुः-ऋक्-वेदत्रयी, तथा समष्टिरूपा महत्प्रकृति के मौलिक-आधार से अनुप्राणित चतुर्थ अथर्ववेद, और इत्थंभूता रहस्यात्मिका वेदचतुष्टयी के सम्बन्ध में स्मार्त्त वचन का संस्मरण—

कालप्रतिकृतिरूप सूर्य्य का मौलिक आधार माना गया है तत्त्वात्मक सामवेद, दिगात्मक आन्तरिक्ष्य–ऋतधर्म्मा–चन्द्रमा का मौलिक आधार माना गया है तत्त्वात्मक यजुर्वेद, देशात्मक–भौम–भूपिण्ड का मौलिक आधार माना गया है तत्त्वात्मक ऋग्वेद, एवं इन तीनों व्यष्टियों की समष्टिरूपा महत्प्रकृति (पारमेष्ठ्य-प्रकृति) का मौलिक आधार माना गया है तत्त्वात्मक अथर्ववेद। काल–दिग्–देश-वेदत्रयी सोमगर्भिता अग्निवेदत्रयी है, एवं समष्ट्यात्मक चतुर्थवेद अग्निगर्भित सोमवेद है, जिस इस रहस्यपूर्ण तथ्य के समन्वय के लिए निम्नलिखित मनुवचन की ओर ही उपनिषन्निष्ठों का ध्यान आकर्षित किया जारहा है—

अग्नि-वायु-रविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुः–सामलक्षणाम्॥

—मनुः -१।२३।

८–'अग्निर्भूस्थानः'-'वायुर्वेन्द्रोऽन्तरिस्थानः'-'सूर्य्यो द्युस्थानः' से अनुप्राणिता देवत्रयी, और चतुर्थलोकाधिष्ठाता-प्राणात्मक-सोमतत्त्व—

तात्पर्य्य-स्पष्ट है। **'अग्निर्भूस्थानः'** के अनुसार भूपिण्ड के शवसोनपात् अतिष्ठावा (अधिष्ठाता) देवता प्राणाग्नि हैं। **'वायुर्वेन्द्रोऽन्तरिक्षस्थानः'** के अनुसार चान्द्र-अन्तरिक्ष के अधिष्ठाता **'मरुत्त्वान्'** नामक इन्द्रविशेष से समन्वित प्राणवायु हैं, एवं–**'सूर्य्यो द्युस्थानः'** के अनुसार सौर द्युलोक के अधिष्ठाता सूर्य्योपलक्षित प्राणादित्य (रवि) हैं। चतुर्थलोकीय–पारमेष्ठ्य–अधिष्ठाता ही प्राणसोम हैं।

९-अग्नि-वायु-इन्द्र-सोम-से अनुगता पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौः-चतुर्थ-लोकान्मिका लोक-चतुष्टयी, एवं तन्निबन्धना ऋक्-यजुः-साम-अथर्व-नाम्ना प्रसिद्धा वेदचतुष्टयी—

चारों लोकों के इन प्राणदेवताओं से ही क्रमशः ऋक्–यजुः–साम–अथर्व-नामक सृष्टि के मौलिक-तत्त्वों की अभिव्यक्ति हुई है। अतएव अग्निप्राणप्रधान–देशात्मक–भूपिण्ड को **ऋग्वेदात्मक** माना गया है, वायव्यप्राणप्रधान–दिगात्मक–चान्द्र-अन्तरिक्ष को **यजुर्वेदात्मक** माना गया है, आदित्यप्राणप्रधान-कालात्मक-सूर्य्य को **सामवेदात्मक**, एवं कालदिग्देश की समष्टिरूप सौम्य-परमेष्ठी को **अथर्ववेदात्मक** माना गया है।

१०–गुणात्मिका प्रकृति से अभिव्यक्ता लोकचतुष्टयी, मानवीय स्थूल-शरीरानुगत ऋग्वेद, सूक्ष्मशरीरानुगत यजुर्वेद, कारणशरीरानुगत सामवेद, एवं समष्टिभाव-निबन्धन अथर्ववेद से अनुगता रहस्यपूर्णा स्थिति का स्वरूप-समन्वय, तथा परिलेख के माध्यम से इत्थंभूत प्राकृतिक-विस्तार का दिग्दर्शन—

यों गुणात्मिका प्रकृति के इन व्यक्त चारों लोकों के साथ तत्त्वात्मक चारों वेदों का क्रमिक--समन्वय होरहा है। इसी अनुबन्ध से अब हमें यह मान लेना चाहिए कि—मानव का पार्थिव--भौम--स्थूलशरीरात्मक

'शरीर' आग्नेय--ऋक्तत्त्व से अनुप्राणित है, आन्तरिक्ष्य--चान्द्र--सूक्ष्मशरीरात्मक 'मन' वायव्य--यजुः--तत्त्व से अनुप्राणित है, एवं चतुर्थलोकीय--सोमरूप--शरीरत्रयी--की समष्टि महद्ब्रह्मात्मक अथर्वतत्त्व से अनुप्राणिता है। तदित्थं शरीरात्मक मानवीय-प्राकृत विवर्त्त-व्यष्टिरूपेण त्रयीवेदात्मक, एवं समष्टिरूपेण अथर्वात्मक ही प्रमाणित होरहा है, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है।

१—दिग्देशकालात्मिका समष्टिरेव-मूलप्रकृतिर्मद्ब्रह्म--शरीरत्रयीरूपा-सौम्या-अथर्वमयी
२—कालात्मिका–व्यष्टिरूपा–प्रकृतिः–आदित्या–साममयी
३—दिगात्मिका–व्यष्टिरूपा–प्रकृतिः–वायव्या--यजुर्म्मयी
४—देशात्मिका–व्यष्टिरूपा–प्रकृतिः–आग्नेयी--ऋङ्मयी

१—अथर्वमयी–सौम्याप्रकृतिरेव–मूलसत्त्वभावः (पारमेष्ठ्यः)
२—साममयी–अदित्याप्रकृतिरेव-कारणशरीरम् (सौरं-कालात्मकम्)
३—यजुर्म्मयी-वायव्याप्रकृतिरेव-सूक्ष्मशरीरम् (चान्द्रं-दिगात्मकम्)
४—ऋङ्मयी–आग्नेयीप्रकृतिरेव-स्थूलशरीरम् (भौमं-देशात्मकम्)

११-अथर्वब्रह्म के आधार पर प्रतिष्ठित त्रयीवेदात्मक प्राकृत-शरीर के बुद्धि-मनः-शरीर-निबन्धन-कारण-सूक्ष्म-स्थूल-शरीरों से अनुप्राणिता-निष्कामकर्म्म-निवृत्तिकर्म्म-प्रवृत्तिकर्म्म-त्रयी का संस्मरण—

अथर्वब्रह्म के आधार पर प्रतिष्ठित त्रयीवेदात्मक प्राकृत–शरीर के तीन शरीर–विवर्त्तों के आधार पर ही ऋषिप्रज्ञा के द्वारा त्रैवर्णिक–प्रजा के लिए क्रमशः प्रवृत्तिकर्म्म, निवृत्तिकर्म्म, निष्कामकर्म्म, इन तीन कर्म्म–तन्त्रों की व्यवस्था हुई है, जिनका सङ्केत पूर्व के पारिभाषिक–सूचना–प्रकरण में किया जाचुका है। इन त्रिविध–मानवीय कर्म्मों का क्रमशः शरीर, मन, बुद्धि इन तीनों तन्त्रों के साथ ही क्रमिक सम्बन्ध है।

१२–शरीरप्रधान-गृहस्थानुगत-प्रवृत्तिकर्म्म, मनःप्रधान-वानप्रस्थानानुगत निवृत्तिकर्म्म, बुद्धिप्रधान-संन्यासानुगत निष्कामकर्म्म, और तन्निबन्धना स्थिति का दिग्दर्शन–

शरीरप्रधानता में वे ही कर्म्म प्रवृत्तिकर्म्म हैं, मनःप्राधान्य में वे ही निवृत्तिकर्म्म हैं, एवं बुद्धिप्राधान्य में वे ही निष्कामकर्म्म हैं। इसी अनुपात से मानव की क्रमशः गृहस्थ–वानप्रस्थ–संन्यास–इन तीन आश्रम–जीवनपद्धतियों की व्यवस्था हुई है। गृहस्थाश्रम का शरीरप्रधान प्रवृत्तिकर्म्म से, वानप्रस्थाश्रम का मनःप्रधान निवृत्तिकर्म्म से, तथा संन्यासाश्रम का बुद्धिप्रधान निष्कामकर्म्म से ही प्रधान सम्बन्ध है।

१३–उपनिषद्ग्रन्थों के कर्म्मसामान्य से अनुप्राणिता वैज्ञानिकी उपनिषदों का ज्ञानमाध्यमेन स्वरूप-विश्लेषण-प्रयास—

पूर्व के पारिभाषिक प्रकरण में यह स्पष्ट किया जाचुका है कि, उपनिषद्ग्रन्थों में कर्म्मसामान्य से अनुप्राणिता उन वैज्ञानिकी-उपनिषदों का ही ज्ञानमाध्यमेन (आत्मसाम्येन) स्वरूप–विश्लेषण हुआ है, जिन सामान्यकर्म्मों का संन्यासाश्रमानुबन्धी निष्कामकर्म्मों से ही प्रधान सम्बन्ध है।

१४ निष्कामकर्म्मानुगत-'श्रेयोभाव' से अनुप्राणित आत्मनिबन्धन श्रेयोमार्ग का संस्मरण—

निष्कामकर्म्मानुगत श्रेयोभाव ही आत्मानुगत वह श्रेयोमार्ग है, जिस पर गृहस्थ-वानप्रस्थाश्रमानन्तर ही मानव अध्यारूढ होता है, जबकि आरम्भ का गृहस्थपथ प्रवृत्ति–भावानुबन्ध से श्रेयोभाव के साथ प्रेयो–भाव का भी अनुगामी बना रहता है।

१५- श्रेयः-श्रेयप्रेयः-और-प्रेयः-भावत्रयी का दिग्दर्शन, एवं 'श्रेयांसि बहु विघ्नानि' का प्रासङ्गिक-संस्मरण—

स्वयं उपनिषदों में इन श्रेयः-श्रेयप्रेय-तथा प्रेय-भावों का यत्र तत्र विस्तार से स्वरूप-विश्लेषण हुआ है, जिसके अनुबन्ध से लोकप्रसिद्ध—'श्रेयांसि बहु विघ्नानि' इस सूत्र की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जारहा है।

१६–हितकरकर्म्मानुगत श्रेयोभाव, हितकर-रुचिकर-कर्म्मानुगत श्रेयःप्रेयोभाव, एवं रुचिकरकर्म्मानुगत प्रेयोभाव का दिग्दर्शन, तथा उदाहरणविधि से तत्समन्वय-प्रयास—

सहज–भाषानुसार कर्मतन्त्र को **हितकरकर्म्म, हितकररुचिकरकर्म्म, रुचिकरकर्म्म**, भेद से तीन भागों में विभक्त देखा जासकता है। निम्ब–कुटकी–चिरायता–गुग्गुलु–आदि ओषधिद्रव्यों का सेवनरूप कर्म्म वातव्याधि के रोगी के लिए **हितकरकर्म्म** अवश्य है, किन्तु रुचिकर नहीं। ऐसी भी मधुर ओषधियाँ (ब्राह्मरसायन, च्यवनप्राश, आदि अवलेह) हैं, जो हितकर होने के साथ साथ ही रुचिकर भी हैं।

१७–रुचिकर, और हितकर-पदार्थों के विभेद से अनुगता स्वरूप-स्थिति—

किन्तु ऐसे भी अम्लादि तीक्ष्ण पदार्थ हैं, जो रुचिकर तो हैं, किन्तु हितकर नहीं। इसी आधार पर हम उन कर्म्मों को तो—'हितकरकर्म्म' कहेंगे, जिनमें रुचि जैसा आकर्षण तो नहीं है, किन्तु हैं वे कर्म्म सर्वात्मना हितकर ही।

१८–'यत्तदग्रे विषमिव' भावनिन्धन हितकरभावानुबन्धी-श्रेयोभाव का समन्वय, तन्निबन्धन-'निष्कामकर्म्मविभाग', तदनुगत औपनिषद-पथ, और तन्निबन्धन श्रेयोमार्ग—

यही नहीं, आरम्भ में तो ऐसे हितकरकर्म्म कष्टसाध्यता से अप्रियवत् ही प्रतीत होने लगते हैं– 'यत्तदग्रे विषमिव' न्याय से। विशुद्ध हितकरकर्म्मात्मक यही कर्मविभाग 'निष्कामकर्म्मविभाग'

कहलाया है, जिसमें दिग्देशकालानुबन्धी रुचिकर-भावों का संस्मरण भी निषिद्ध है, और यही सन्यासमार्गानुगत वह महान् पथ है, जिसमें लोकानुबन्धी रुचिभाव सर्वथा अभिभूत ही होजाता है। यही पथ औपनिषद-पथ माना गया है, इसी को उपनिषदोंनें 'श्रेयःपथ' कहा है।

१९-ब्राह्मणवर्ण से अनुगत कृच्छ्रभावानुगत श्रेयःपथ, और तद्वर्णनिबन्धन चतुर्थ-आश्रम से अनुप्राणिता अधिकार-मर्य्यादा—

ब्राह्मण का गृहस्थाश्रम भी इसी श्रेयःपथ का * अनुगामी बना रहता है। अतएव शास्त्रसिद्ध संन्यास का अधिकार एकमात्र ब्राह्मणवर्ण के साथ ही अनुप्राणित माना गया है। वही अपनी स्वाध्याय-तपोनिष्ठा के बल पर रुचिकरभावों पर नियन्त्रण कर सकता है।

२०-श्रेयःकर्म्म-श्रेयप्रेयः-कर्म्म, एवं प्रेयः-कर्म्म के समतुलन से अनुप्राणिता अपेक्षाभावनिबन्धना स्थिति का स्पष्टीकरण-प्रयास—

हितकरकर्म्म ही 'श्रेयःकर्म्म' कहलाए हैं हितकररुचिकर्म्म हीं 'श्रेयःप्रेयकर्म्म' कहलाए हैं, जिनका गृहस्थाश्रम से ही सम्बन्ध है, एवं जिन्हें-'प्रवृत्तिकर्म्म' माना गया है। तीसरा रुचिकर-कर्मविभाग ही-'प्रेयःकर्म्म' माना गया है। श्रेय, और प्रेय, इन दोनों के संघर्ष में आत्मनिष्ठ धीर मानव श्रेय का ही अनुगामी बन जाता है, एवं प्रेय की उपेक्षा ही कर देता है ×।

२१-उत्तम-मध्यम-अधम-श्रेणित्रयी से अनुप्राणिता वर्गत्रयी का प्रासङ्गिक-दिग्दर्शन, एवं-'उत्तमवर्गान्वित-आत्मनिष्ठ'-मानव का संस्मरण—

उक्त तीन विभागों के माध्यम से मानव को हम तीन श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं। केवल श्रेयः (हितकर) कर्म्मों का अनुगामी प्रथमवर्ग माना जायगा, इसे ही—'उत्तमवर्ग' कहा जायगा। श्रेयः-प्रेयोऽनुगामी को 'मध्यमवर्ग' कहा जायगा, एवं केवल प्रेयोऽनुगामी को-'अधमवर्ग' माना जायगा। आरण्यकानुगत औपनिषदमार्ग को श्रेयोमार्ग कहा जायगा, एवं तदनुगत मानव को उत्तम मानव माना जायगा।

---

*-ब्राह्मणस्य तु देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते।
कृच्छ्राय तपसे चैव प्रेत्यानन्तसुखाय च॥
महाभारते-मो० ३२१ अध्याये

×- अन्यच्छ्रेयः, अन्यदुतैव प्रेयः, ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः।
तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति, हीयतेऽर्थात्-य उ प्रेयो वृणीते॥
श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योग-क्षेमाद्-वृणीते॥
—कठोपनिषदि १।२।१,२,।

२२–श्रेयः-श्रेयप्रेयः-तथा प्रेयः-भेदभिन्ना-व्यवहारत्रयी की विभक्ता व्यवहार-मर्य्यादा का दिग्दर्शन—

ब्राह्मणानुगत-मार्ग श्रेयःप्रेयोमार्ग कहा जायगा, तदनुगत मानव मध्यम मानव माना जायगा। एवं मार्ग-भ्रष्ट उत्पथमार्ग प्रेयोमार्ग कहा जायगा, और तदनुगत मानव अधम माना जायगा। आरम्भ के दोनों मार्गों का 'श्रेयोमार्ग' नाम से ग्रहण होगा, एवं तीसरे अधममार्ग का प्रेयोमार्गरूपेण ग्रहण होगा।

२३-दैवीसम्पति, आसुरीसम्पत्ति से अनुगता श्रेयः-प्रेयोभावनिबन्धना-स्थिति का दिगदर्शन, दोनों का प्रकृतिसिद्ध अश्वमाहिष्य, एवं 'ते ह देवाः-असुर-राक्षसेभ्यः-आसङ्गात्-विभयाञ्चक्रुः' मूला प्रतिद्वन्द्विता का स्पष्टीकरण—

दोनों के साथ क्रमशः दैवी, और आसुरी, नाम की सुप्रसिद्धा सम्पत्तियों का क्रमिक सम्बन्ध माना जायगा। श्रेयोभाव दैवी–सम्पत्ति से समन्वित माना जायगा, एवं प्रेयोभाव आसुरी-सम्पत्ति से अनुगत माना जायगा। विघ्नप्रवर्त्तक-आसुरप्राण सदा ही दैवीसम्पद्युक्त माङ्गलिक–श्रेयःकर्म्मों पर आक्रमण करते रहते हैं, जैसा कि –'ते ह देवाः–असुर-रक्षसेभ्य आसङ्गाद् विभयाञ्चक्रुः' इत्यादि ब्राह्मणश्रुति से प्रमाणित है। सत्त्वगुणान्वित श्रेयोभावों पर तमोगुणान्वित प्रेयोभावों का आक्रमण ही देव-देवताओं पर असुरों का आक्रमण है।

२४-तमोगुण–बहुल भावों की तद्गुणानुगता निर्विघ्नता—

स्वयं तमोगुणबहुल प्रेयोभावों में तमोगुणानुगत विघ्न कोई अनिष्ट उत्पन्न नहीं कर सकते, अतएव प्रेय के साथ विघ्न का सम्बन्ध नहीं माना गया।

२५–'श्रेयांसि बहु विघ्नानि' से अनुप्राणिता पारिभाषिकी स्थिति का दिग्दर्शन—

बात यथार्थ है। स्वच्छ–श्वेत–वस्त्र पर ही मलात्मक–अशुचिभाव का आक्रमण होता है, जबकि मलिनता पर आने वाली मलिनता तो उस पूर्व मलिनता की वृद्धि का कारण बनती हुई इष्ट ही है। इसी तथ्य के आधार पर—'श्रेयांसि बहु विघ्नानि' कहा गया है।

२६-उपनिषदों का श्रेयोभावप्रधान आत्मनिबन्धन स्वाध्याय, और तत्र समागत विघ्ननिराकरणार्थ अपेक्षित मङ्गल-संस्मरण—

उपनिषदों का स्वाध्याय भी श्रेयोभावापन्न है, तदनुगत निष्कामकर्म्म भी श्रेयोभावात्मक ही है। अतएव तमोगुणबहुल संसार में इत्थंभूत श्रेयोभाव पर तमोमय–आसुरप्राण–निबन्धन–विघ्नों का आगमन स्वाभाविक है। इस विघ्न-निवृत्ति के लिए ही उपनिषदों के आद्यन्त में मङ्गलपाठ को अनिवार्य्य मान लिया गया है।

२७–उपनिषदों से अनुगत आद्यन्तानुगत मङ्गलपाठ के सम्बन्ध में वस्तुस्थिति का स्पष्टीकरण-प्रयास—

औपनिषद-ज्ञान, एवं औपनिषद-कर्म्म (निष्कामकर्म्म) आत्यन्तिक रूपेण श्रेयोमार्ग है। अतएव प्रवृत्तिकर्म्मात्मक श्रेयःकर्म्मों के समतुलन में इनमें विघ्नों का प्राचुर्य्य ही सम्भावित है। अतएव अन्यत्र श्रेयो-

भावों, श्रेयःकर्म्मों में जहाँ प्रारम्भ में हीं मङ्गल विहित है, वहाँ विशुद्धरूपेण श्रेयोभावात्मक उपनिषदों के आदि, और अन्त में, उभयत्र मङ्गलसंस्मरण विहित हुआ है।

२८–भारतीय-शास्त्र से अनुप्राणित अलौकिक, तथा लौकिक-आचारधर्म्मों की श्रेयःप्रेयोरूपता, तन्निबन्धन विविध-माङ्गलिक-भाव, और वर्त्तमान धर्म्मनिरपेक्ष-युग में तदुपेक्षा—

भारतीय–शास्त्र से अनुप्राणित अलौकिक, और लौकिक, यच्चयावत् विधि–विधान दैवीसम्पत् से समन्वित रहते हुए श्रेय, और श्रेय–प्रेय–भावान्वित हैं। अतएव सभी में असुरप्राणनिबन्धन विघ्नों की आशङ्का प्रकृतिसिद्धा है। इसीलिए यहाँ के भाषण-गमन–लेखन-आदि आदि यच्चयावत् ज्ञातव्य–कर्त्तव्यात्मक श्रेयोभावों के उपक्रम में ओम्–अथ-श्रीः-श्रीगणेशायनमः-आदि आदि रूपेण माङ्गलिक संस्मरण अनिवार्य्य माना गया है, जिन इस माङ्गलिक उपक्रमों की आज के धर्म्मनिरपेक्ष वातावरण में सर्वात्मना उपेक्षा ही होरही है।

२९–'श्रीः' रूप महामाङ्गलिक-उपक्रम के सम्बन्ध में वर्त्तमान-धर्मनिरपेक्ष-जगत् की आत्यन्तिकी उपेक्षा का दुःखपूर्ण इतिवृत्त-स्मरण—

इत्थंभूत आवेश आज तो इस सीमा पर पहुँच गया है कि, सहज शान्ति–स्वस्ति–भावों से समन्विता 'श्रीः' का संस्मरण भी आज के पत्रव्यहारों में सर्वथा उच्छिन्न ही होगया है। और इत्थंभूत श्रीविहीन अमाङ्गलिक–भाव को तो माना जारहा है आज दुर्भाग्यवश 'उदारता', और माङ्गलिक श्रीभाव को माना जारहा है–साम्प्रदायिकता, इत्यहो भारतीय–मानवस्य सांस्कृतिक–अधःपतनस्य-दुःखपूर्णेतिवृत्तरूपा महती-विडम्बना।

३०–उपनिषद्ग्रन्थानुगत-आद्यन्त के मङ्गलपाठ से अनुप्राणिता प्राचीन-धारणा का लोकसंग्रह-दृष्ट्या-सप्रमाण समर्थन, किन्तु विज्ञानदृष्टया एतावन्मात्र समाधान से असन्तुष्टि, और तन्निबन्धन अन्य वैज्ञानिक-समाधानान्वेषण का उपक्रम—

उपनिषदों के आद्यन्त में क्यों मङ्गल किया जाता है, प्रश्न का यही लोकसम्मत, आस्तिकभावानुबन्धी एक समाधान है, जिसे ही प्राचीन विद्वानोंनें यत्र तत्र अनेकरूपेण समन्वित किया है *। किन्तु ?। यह किन्तु ? परन्तु ? इसलिए उपस्थित होरहा कि, 'उपनिषत्' जैसे रहस्यशास्त्र के आद्यन्त में विहित मङ्गलपाठ केवल तथोक्त सामान्य-कारण पर ही परिसमाप्त नहीं है। अवश्य ही उपनिषदों के आद्यन्त के माङ्ग-

---

*–(१) "एतदेकमाचार्य्यस्य मङ्गलार्थमृष्यताम्। माङ्गलिक--आचार्य्यः महतः शास्त्रौघस्य मङ्गलार्थं 'वृद्धि' शब्दमादितः प्रयुङ्क्ते। मङ्गलादीनि शास्त्राणि प्रथन्ते, वीरपुरुषकाणि भवन्ति, आयुष्मन्पुरुषकाणि, चाध्येतारश्च वृद्धियुक्ता तथा स्युः।

—पातञ्जलमहाभाष्ये १।१।३।

लिक संस्मरणों की भी कोई न कोई 'उपनिषत्' (मौलिक-वैज्ञानिक-परोक्ष-कारण) होनी ही चाहिए। उसी का हमें अपनी उपनिषत्प्रज्ञा से अपने अन्तर्जगत् में ही समन्वय-प्रयास प्रक्रान्त रखना चाहिए। उसी-'उपनिषत्' रूप (मौलिक-विज्ञानरहस्यात्मक) कारण के सम्बन्ध में अत्र किञ्चिदिव निवेदन कर दिया जाता है, जिसे अवधानपूर्वक ही लक्ष्यानुगत बनाना चाहिए।

---

(२) "विघ्नविनाशाय कृतं मङ्गलं शिष्यशिक्षायै निबध्नेति-'नूतनेति'-
(नूतनजलधररुचये गोपवधूटी-दुकूल-चौराय-
तस्मै कृष्णाय नमः संसारमहीरुहस्य बीजाय-इति)-'नूतनेति'।

××× इत्थं च यत्र मङ्गलं न दृश्यते, तत्रापि जन्मान्तरीयं तत् कल्पते। यत्र च सत्यपि मङ्गले समाप्तिर्न दृश्यते, तत्र बलवत्तरो विघ्नः, विघ्नप्राचुर्यं वा बोध्यम्। प्रचुरस्यास्यैव बलवत्तरविघ्ननिवारणे कारणत्वम्। विघ्नध्वंसस्तु मङ्गलस्य द्वारमित्याहुः प्राञ्चः। नव्यास्तु विघ्नध्वंस एव फलम्। समाप्तिस्तु बुद्धि-प्रतिभादि-कारणकलापात्"।

— कारिकावली

वचनों का अक्षरार्थ--समन्वय यही है कि, भगवान् पाणिनि के द्वारा विरचित 'अष्टाध्यायीसूत्र' सन्दर्भ में पहिला सूत्र-'वृद्धिरादैच' है। महाभाष्यकार भगवान् पतञ्जलि ने इस सूत्र के प्रयोजनों का विचार करते हुए उन सभी प्रयोजनों को अन्यथासिद्ध प्रमाणित कर दिया है। और अन्त में स्वयं ही यह प्रश्न उठाया है कि-'जबकि अमुकरूप से व्यवस्था का अन्यथा ही समन्वय होजाता है, तो फिर 'वृद्धिरादैच' सूत्र की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती (कथं "वृद्धिरादैच्"-इति?)। इस आपत्ति का अपनी ओर से ही निराकरण करते हुए, सूत्र को अनिवार्य्य-आवश्यकता व्यक्त करते हुए आचार्य्य (पतञ्जलि) कहते हैं कि, "हमें आचार्य्य (पाणिनि) के केवल इस एक 'वृद्धिरादैच्' सूत्र को मङ्गलार्थरूपेणैव स्वीकृत कर लेना चाहिए"। अर्थात्--मङ्गलप्रिय, अतएव माङ्गलिक आचार्य्य पाणिनि गहनतम व्याकरणशास्त्र के आदि में निर्विघ्नता-पूर्वक अपने इस सूत्रशास्त्र की परिसमाप्ति के लिए ही मङ्गलसूचक 'वृद्धि' शब्द का सूत्रग्रन्थ (अष्टाध्यायी) के आरम्भ में प्रयोग करदेना अनिवार्य्य मान रहे हैं। आत्मनिष्ठ-आस्तिक शास्त्र मङ्गलभाव को आदि में प्रतिष्ठितकर के ही उपक्रान्त होते हैं। 'इस मङ्गल से शास्त्र पढ़ने वाले स्वाध्यायनिष्ठ पौरुषक्तिशाली बनें, वीर बनें, एवं पढ़ाने वाले आचार्य्य समृद्धियुक्त हों'--यही इस मङ्गल का प्रमुख कारण है।

दूसरे सन्दर्भ का यही समन्वय है कि—"विघ्नविनाश के लिए किया हुआ मङ्गल शिष्यों के शिक्षण के लिए हो, शिष्यवर्ग भी इसीप्रकार मङ्गलभावना का अनुसरण करता रहे, इस

३१–पारिभाषिक-प्रकरणानुगत-उभयविध-विधिवचनों का संस्मरण, तन्निबन्धना उपनिषद्रयी, एवं स्वतन्त्ररूपेण-'उपनिषत्'-शब्द व्यवहार से अनुगता वस्तुस्थिति का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय--प्रयास—

जैसाकि आरम्भ के 'पारिभाषिक-प्रकरण' में निवेदन किया गया है कि, आरभ्याधीत-क्रत्वर्थविधियों की रहस्यविज्ञानात्मिका उपनिषदें, एवं अनारभ्याधीत--पुरुषार्थविधियों की ज्ञानगर्भिता रहस्यविज्ञानात्मिका उपनिषदें, वे दोनों तो तत्तद्-विधियों के साथ ही प्रतिपादित होगई हैं। अतएव उनका स्वतन्त्ररूपेण 'उपनिषत्' नाम से व्यवहृत करने का अवसर ही नहीं आया, जबकि उन उन पुरुषार्थ--क्रत्वर्थ--विधियों के प्रसङ्ग में यत्रतत्र क्वाचित्करूपेण उन उन विज्ञानोपनिषदों को 'उपनिषत्' शब्द से भी व्यवहृत कर दिया गया है, जैसाकि--'तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत्' इत्यादिरूपेण सोदाहरण पूर्व में स्पष्ट किया जाचुका है।

३२–कर्म्मसामान्यविधियों से अनुगता विज्ञानगर्भिता 'ज्ञानोपनिषदों' का स्वतन्त्र-संग्रह लक्षण-उपनिषच्छास्त्र, एवं तन्निबन्धन ईश-केन-कठ-आदि व्यवहार की पारिभाषिकी दिशा का दिग्दर्शन—

एतदतिरिक्त अनारभ्याधीत–पुरुषार्थ--विधियों की विज्ञानगर्भिता--ज्ञानोपयिका--उपनिषदों का, तथा कर्म्मसामान्यविधियों की विज्ञानगर्भिता ज्ञानोपनिषदों का बोधसौकर्य्यमात्र के लिए ऋषियोंनें जो एकत्र संग्रह कर दिया है, वही स्वतन्त्र संग्रह व्यवहारजगत् में--'ईश–केन–कठादि–उपनिषद्ग्रन्थ' नाम से प्रसिद्ध है, जो कि संहिता, विधि, आरण्यक नामक तीनों ग्रन्थों से किसी विभिन्न स्वतन्त्र अपूर्व

दृष्टि से ही ग्रन्थ के आरम्भ में 'नूतनजलधररुचये' इत्यादिरूप से ग्रन्थकार मङ्गलविधान कर रहे हैं ××××। बिना मङ्गल के विघ्न नष्ट नहीं होते, एवं विघ्नविनाश के बिना ग्रन्थ निर्विघ्न सम्पन्न--निष्पन्न- नहीं होता, जबकि यह निश्चित सिद्धान्त है, तो जो ग्रन्थ बिना भी मङ्गलारम्भ के सम्पन्न--निष्पन्न–देखे सुने जातेहैं, तो उनके सम्बन्ध में हमें यह मान लेना चाहिए कि, उन ग्रन्थकर्त्ताओंनें अपने पूर्वजन्म में अवश्य ही मङ्गलसंस्मरण कर लिया होगा। उसी जन्मान्तरीय मङ्गलसंस्कारानुग्रह से इस वर्त्तमान जन्म में उनके ग्रन्थ बिना भी मङ्गलारम्भ के निर्विघ्न सम्पन्न होगए हैं। एवमेव जिन (कादम्बरी आदि) ग्रन्थों में मङ्गल के विद्यमान रहते हुए भी निर्विघ्न समाप्ति नहीं देखी सुनी जाती, उनके सम्बन्ध में कहना पड़ेगा कि, अवश्य ही उनके इस ग्रन्थनिर्म्माण-कार्य्य में कोई बहुत बड़ा वैसा विघ्न, किंवा छोटे छोटे वैसे अगणित विघ्न उपस्थित होगए, जिनके कारण मङ्गल के रहते भी ग्रन्थसमाप्ति नहीं होसकी। वस्तुस्थिति ऐसी है कि, महान्, और अगणित विघ्नों के प्रति महान् और अगणित मङ्गलों को ही कारणता है। (अतएव ग्रन्थकर्त्ता को महान्, और अगणित ही मङ्गल--संस्मरण करते रहना चाहिए)। नव्यनैय्यायिक इस सम्बन्ध में यह कहते हैं कि, मङ्गल केवल विघ्नों का ही विनाश करने की क्षमता रखते हैं। कदापि ग्रन्थसमाप्ति मङ्गलमात्र पर ही विश्रान्त नहीं है। ग्रन्थसमाप्ति का महान् उत्तरदायित्त्व तो स्वयं ग्रन्थकर्त्ता की प्रतिभा--मेधा--योग्यता-क्षमता--पर ही अवलम्बित है"।

तथ्य का निरूपण न कर उन तीनों का 'पूरकशास्त्र' ही प्रमाणित होरहा है, जैसाकि तत्रैव विस्तार से स्पष्ट किया जाचुका है।

३३–अनरभ्याधीत, तथा कर्म्मसामान्याधीत-विधिवचनों की विज्ञानगर्भिता ज्ञानोपनिषदों की समष्टि से अनुप्राणिता-'अध्यात्मविद्योपनिषत्', एवं ज्ञान-कर्म्मोभय-समन्वयात्मिका 'अध्यात्मविद्या' से अनुप्राणिता 'मङ्गलोपनिषत्' का रहस्यात्मक-समन्वय-प्रयास—

अनारभ्याधीत–विधियों की, तथा कर्म्मसामान्यविधियों की विज्ञानगर्भिता–ज्ञानरहस्योपनिषदों का यदि हम समष्टिरूप से एक नामकरण करना चाहें, तो वह होगा–'अध्यात्मविद्योपनिषत्', जिसकी सीमा में ज्ञान, और कर्म्म, दोनों समाविष्ट माने जायँगे। अतएव उपनिषदों की 'अध्यात्मविद्या' के साथ कर्म्मशून्य विशुद्ध निष्कैवल्य, किंवा अखण्डब्रह्मभावना को ही कदापि अनुप्राणित नहीं माना जासकता, जैसाकि स्वयं आरम्भ की उपनिषत् के ही–'कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच्छतं समाः' (ईशोपनिषत्) से स्पष्ट प्रमाणित है। ज्ञानकर्म्मोभय-समन्वयात्मिका इस 'अध्यात्मविद्या' के सम्बन्ध में ही हमें 'मङ्गलोपनिषत्' के रहस्यात्मक समन्वय के लिए एक विशेष तथ्य का समन्वय कर लेना है।

३४–अमृतात्मक-सद्भावापन्न-रसनिबन्धन-अपरिवर्त्तनीय ज्ञान, एवं मृत्यु-रूप असद्भावापन्न-बलनिबन्धन-परिवर्त्तनीय-कर्म्म के सहसमन्वय से अनुगत 'परात्पर' रूप 'अखण्ड'-'अद्वय'-आत्मब्रह्म का संस्मरण, एवं तन्निबन्धन-औपनिषद-पुरुष से अनुप्राणिता 'ब्राह्मी–स्थिति'—

'अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन!" के अनुसार सल्लक्षण–अमृतनिबन्धन (अपरिवर्त्तनीय 'रस'-तत्त्वनिबन्धन) ज्ञान, तथा असल्लक्षण–मृत्युनिबन्धन (परिवर्त्तनीय–'बल'-तत्त्वनिबन्धन) कर्म्म, इन दोनों की अभिन्नावस्था से समन्वित विशुद्ध तत्त्वविशेष (सर्वबलविशिष्टरसैकघन 'परात्परतत्त्व' विशेष) का ही नाम 'आत्मा' है, जो कि 'विश्वातीत–अमायी–अद्वय–अखण्डब्रह्म' कहलाया है, जिसे कि अध्यात्मविद्या के परमाचार्य्योंनें–'औपनिषदपुरुष' कहा है। 'औपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' रूपेण इसी 'आत्मतत्त्व' की ओर प्रश्नात्मक परोक्ष सङ्केत हुआ है, एवं 'एषा बाव ब्राह्मी–उपनिषत्–उक्ता ते उपनिषत्' रूप से इसी की ओर उत्तरात्मक तटस्थ सङ्केत हुआ है।

३५–परिग्रहनिरपेक्ष-सापेक्ष-भेदानुगता आत्मस्वरूपनिबन्धना अवस्थाद्वयी, एवं परिग्रहषट्क से अनुगत आत्मा के महिमा-मय "मायी-सकल-सगुण-सविकार-सावरण-साञ्जन"-नामक षड्विध विवर्त्तों का नाम-संस्मरण—

इस 'आत्मतत्त्व' की 'परिग्रहसापेक्ष–आत्मा', एवं 'परिग्रहनिरपेक्ष-आत्मा' रूप से दो अवस्थाएँ मानीं हैं वैज्ञानिकोंनें। माया, कला, गुण, विकार, आवरण, अञ्जन, भेद से परिग्रह ६ प्रकार के विज्ञान-जगत् में प्रसिद्ध हैं, जिन इन ६ परिग्रहों की क्रमिक–सापेक्षता से वह एक ही आत्म–ब्रह्म–क्रमशः मायी–

सभल-सगुण-सविकार-सावरण-साञ्जन इन ६ आत्ममहिमा-(विवर्त्त)-भावों में परिणत होरहा है, जबकि इन ६ ओं परिग्रहों से सर्वथा निरपेक्षदशा में वही आत्मब्रह्म अमायी-निष्कल-निर्गुण-निर्विकार-निरावरण-निरञ्जन-भाव से नित्य अनुप्राणित है ।

३६-निरपेक्षभावानुगत 'आत्मा', एवं सापेक्षभावानुगत-'आत्मन्वी', नामक विभिन्न आत्मविवर्त्तों से अनुप्राणित सञ्चर-प्रतिसञ्चर-भाव, तदनुगता ज्ञान-विज्ञान-विद्या, तदनुप्राणिता सर्ग--प्रतिसर्ग--विद्या, एवं तत्स्वरूप-विश्लेषक--'आर्य्यसर्वस्वशास्त्र' (पुराणशास्त्र)—

उक्ता सापेक्षता-निरपेक्षता से ही आत्मब्रह्म के आत्मा, और आत्मन्वी, ये दो संस्थान सम्पन्न होजाते हैं । जिन इन दोनों संस्थानों के आधार पर सृष्टिविद्या के सुप्रसिद्ध सञ्चर, और प्रतिसञ्चर नामक दो प्रधान स्तम्भ व्यवस्थित हुए हैं । ज्ञानगर्भिता विज्ञानविद्या का नामक ही है-'सञ्चरविद्या', जिसे 'सर्गविद्या' भी कहा गया है । एवं विज्ञानगर्भिता ज्ञानविद्या का नाम ही है-'प्रतिसञ्चरविद्या', जिसे-'प्रतिसर्गविद्या' भी कहा गया है, जिन इन दोनों विद्याओं के-स्वरूप-विस्तार के लिए ही 'आर्य्यसर्व-स्वशास्त्र' (पुराणशास्त्र) प्रवृत्त हुआ है आख्यानोपाख्यानभाषा के माध्यम से * ।

३७-उद्देश्य, तथा विधेय के एकत्व-अनेकत्व-से अनुप्राणिता पारिभाषिकी स्थिति के आधार पर ज्ञान, और विज्ञान-शब्दों का पारिभाषिक-समन्वय-प्रयास—

परिग्रह-सापेक्ष आत्मा को उद्देश्य मानकर तत्स्थाने परिग्रह-निरपेक्ष आत्मा का विधान करने वाली सृष्टिविद्या ही ज्ञानविद्या है, यही प्रतिसञ्चरात्मिका प्रतिसर्गविद्या है । एवं परिग्रहनिरपेक्ष-आत्मा को उद्देश्य मानकर तत्र परिग्रहसापेक्ष-आत्मा का विधान करने वाली सृष्टिविद्या ही विज्ञानविद्या है, यही सञ्चरात्मिका-सर्गविद्या है, जिन इन दोनों विद्याओं के सम्पूर्ण-स्वरूप-का संग्रह करने के लिए ही इन दोनों के लिए क्रमशः ज्ञान, और विज्ञान, ये दो शब्द नियत हुए हैं ।

---

*-आख्यानैश्चाप्युपाख्यानैर्गाथाभिः कल्पशुद्धिभिः ॥
पुराणसंहितां चक्रे भगवान् बादरायणः ॥१॥
सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तरस्तथा ॥
वंशानुचरितञ्चैव पुराणं पञ्च--लक्षणम् ॥२॥

३८–सर्वपरिग्रह-निरपेक्ष, सजातीय-विजातीय-स्वगत-भेद-त्रय-शून्य, एकं-एव-अद्वितीयम्-रूप-आत्मब्रह्म, एवं सर्वपरिग्रह-सापेक्ष-'विभक्तमिव च स्थितम्' से अनुगत-षोडश-कल-आत्मन्वी-ब्रह्म का संस्मरण—

सर्वपरिग्रह–निरपेक्ष वही आत्मब्रह्म–सजातीय–विजातीय–स्वगत नामक तीनों भेदों से * असंस्पृष्ट रहता हुआ जहाँ 'एकम्'-'एव'-'अद्वितीयम्' है, वहाँ सर्वपरिग्रहसापेक्ष वही आत्मब्रह्म परिग्रहात्मक–बलानुबन्धी भेदों से–'विभक्तमिव च स्थितम्' (गीता) रूपेण नानाभावपन्न भी प्रमाणित होरहा है जैसाकि–'आत्मा उ एकः सन्नेतत्-त्रयम्'-सचते स षोडशी'-षोडशकलो वाऽयं पुरुषः (आत्मा) इत्यादि श्रौतवचनों से प्रमाणित है।

३९–सर्वपरिग्रहनिरपेक्ष-सर्वभेदासंस्पृष्ट-ज्ञान, तथा सर्वपरिग्रह-सापेक्ष-सर्वभेदसंस्पृष्ट-विज्ञान-भावों से अनुप्राणिता निर्वचनात्मिका स्थिति का स्वरूप-समन्वय-प्रयास—

'ज्ञानम्' शब्द 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' लक्षण परिग्रहनिरपेक्ष एकत्वनिबन्धन निरुपाधिक आत्मब्रह्म-का संग्राहक है। अतएव इस का लक्षण हुआ है–'एकं–ज्ञानं–ज्ञानम्'। ठीक इस के विपरीत–'विज्ञानम्' शब्द विविध–भावापन्न–परिग्रहसापेक्ष–सोपाधिक–आत्मब्रह्म का संग्राहक है। अतएव इस का लक्षण हुआ है–'विविधं–ज्ञानं-विज्ञानम्'।

४०–प्रतिसर्गात्मिका-एकत्वनिबन्धना ज्ञानविद्या, तथा सर्गात्मिका-अनेकत्वानुगत-विज्ञान-विद्या का पारिभाषिक-स्पष्टीकरण, एवं 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'-श्रुति से अनुप्राणिता उपनिषदों की 'पराविद्या' का संस्मरण—

एकत्वनिबन्धन–निरपेक्ष–ज्ञानब्रह्म से सम्बन्ध रखने वाली उसी **आत्मविद्या** का नाम है–**प्रतिसर्गात्मिका–ज्ञानविद्या**, जिस में अनेकत्वोद्देश्येन एकत्व विहित है। अर्थात् जिस इस ज्ञानविद्या में नानाभावपन्न आत्मविवर्त्तों को आधार बनाकर इन में एतत्त्व ही स्थापित हुआ है, जिस इस प्रतिसर्गात्मक **'ज्ञान'** तथ्य का ही–**"सर्वं खल्विदं ब्रह्म"** इस श्रुति से स्पष्टीकरण हुआ है। **'इदं सर्वम्'** रूप नानाभावों में **'एक ब्रह्म'** का स्थापन–विधान ही होरहा है। **यही ज्ञानविद्या उपनिषदों में-'पराविद्या' कहलाई है**।

---

* आम्रवृक्ष अन्य नारिकेलादि वृक्षों से विजातीय है, यही **विजातीयभेद** का उदाहरण है। आम्रवृक्ष दूसरे आम्रवृक्ष से भिन्न है, यही **सजातीयभेद** का उदाहरण है। एक ही आम्रवृक्ष के मूल–शाखा-प्रशाखा-पर्ण-मञ्जरी-फल-आदि परस्पर विभिन्न है, यही **स्वगतभेद** का उदाहरण है। निरपेक्ष ब्रह्म इन तीनों भेदों से असंस्पृष्ट है। इन तीनों भेदों के निराकरण के लिए ही श्रुति ने **एकम्-एव-अद्वितीयम्** ये तीन शब्द व्यवस्थित किए हैं। 'एवम्' विजातीय भेद का निवर्त्तक है, 'एव' सजातीयभेद का, एवं **'अद्वितीयम्'** स्वगतभेद का निवर्त्तक है।

४१–'ब्रह्मैवेदं सर्वम्'–श्रुति से अनुप्राणिता उपनिषदनुगता सुप्रसिद्धा-'अपराविद्या', तन्निबन्धन पारिभाषिक 'विज्ञान'-शब्द, एवं 'ब्रह्मैव' रूप एकत्व में-'इदं सर्वम्' रूप अनेकत्व का स्थापन—

अनेकत्वनिबन्धन–सापेक्ष–विज्ञानब्रह्म से सम्बन्ध रखने वाली उसी आत्मविद्या का नाम है—सर्गात्मिका विज्ञानविद्या, जिस में एकत्वोद्देश्येन अनेकत्व ही विहित है। अर्थात् जिस इस विज्ञानविद्या में एकत्वभावापन्न आत्मब्रह्म को आधार बनाकर इस में अनेकत्व ही स्थापित हुआ है, जिस इस सर्गात्मक–"विज्ञान" तथ्य का ही—"ब्रह्मैवेदं सर्वम्" इस श्रुति से स्पष्टीकरण हुआ है। "ब्रह्मैव" रूप एकत्व में "इदं सर्वम्" रूप अनेकत्व का स्थापन--विधान–होरहा है। और यही विद्या उपनिषदों में 'अपराविद्या' कहलाई है।

४२- ज्ञान-विज्ञान-शब्दों से अनुप्राणिता जिज्ञासा, एवं सम्प्रश्न, तथा तदनुबन्धिनी ज्ञान-विज्ञान-विद्याओं का नाम-संस्मरण—

ज्ञान–विज्ञान–शब्दों से अनुप्राणिता उक्त दोनों विद्याओं के सम्बन्ध में हमें लोकानुबन्धिनी अपनी सहजभाषा के द्वारा इसी निष्कर्ष पर पहुँच जाना पड़ता है कि,–उस एक ब्रह्म से यह अनेकरूप विश्व कैसे उत्पन्न होगया? इस 'जिज्ञासात्मक प्रश्न' का समाधान करने वाली विद्या का नाम ही–'विज्ञान–विद्या' है। एवं-ये सब अनेकरूप कैसे एकरूप में परिणत हैं, किंवा होजाते हैं? इस-मूकजिज्ञासात्मक–सम्प्रश्न करने वाली विद्या का नाम हीं–'विज्ञानविद्या' है।

४३–विज्ञानविद्या, तथा ज्ञानविद्या से अनुगत शब्दनिबन्धन निर्वचनात्मक-चिरन्तन–इतिवृत्त, एवं ज्ञान, तथा विज्ञान-तत्त्वों का अमृत-मृत्यु-निबन्धन-ओतप्रोतभाव सम्बन्ध––

एक से अनेक का आविर्भाव ही 'विज्ञानविद्या' का सम्पूर्ण चिरन्तन इतिवृत्त हैं, तो 'अनेक का अन्ततो एकरूप में विलयन * हीं 'ज्ञानविद्या' का तटस्थ इतिवृत्त है। 'उधर से इधर आना हीं' विज्ञानविद्या-स्वारस्य है, तो 'इधर से उधर जाना हीं' ज्ञानविद्या का मर्म्म है। दोनों में दोनों ओतप्रोत हैं–'तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्य बाह्यत':-'अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम्'-'नामृतं मृत्युभिर्विना' इत्यादि आर्षवचनों के अनुसार।

---

* यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे- विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥ ॥
—मुण्डकोपनिषदि ३।२।८।

४४–अकर्म्मात्मक ज्ञान, तथा कर्म्म के रहस्यपूर्ण ओतप्रोतभाव निबन्धन-सम्बन्ध-विशेष का पारिभाषिक समन्वय, एवं तत्समर्थक गीतावचन का पावन-संस्मरण—

अकर्म्मात्मक ज्ञान के गर्भ में कर्म्म प्रतिष्ठित है, तो कर्म्म की प्रतिष्ठा अकर्म्मात्मक ज्ञान बना हुआ है। अकर्म्मात्मक ज्ञान में कर्म्म प्रोत है, तो कर्म्म में अकर्म्मात्मक ज्ञान ओत है। यों दोनों परस्पर ओत-प्रोत हैं, जिस इस तथ्य का ही निम्न लिखित शब्दों में स्पष्टीकरण हुआ है—

कर्म्मण्यकर्म्म यः पश्येत्, अकर्म्मणि च कर्म्म यः।
स बुद्धिमान्-मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्म्मकृत् ॥

—गीतायाम् ४।१८।

४५–'ज्ञान' की 'रस' निबन्धना, तथा 'कर्म्म' की 'बल' निबन्धना रहस्यपूर्ण-परिभाषा का समन्वय-प्रयास, तन्निबन्धन पुरुषार्थ के निवृत्तिपुरुषार्थ-प्रवृत्तिपुरुषार्थ-भेदेन द्विविध-विवर्त्तों का संस्मरण, और तदनुगत प्रतिसञ्चर-सञ्चर-भावद्वयी—

रस ही ज्ञान की स्वरूप-परिभाषा है, एवं 'बल' ही कर्म्म की स्वरूप-परिभाषा है। रसप्रधान ज्ञान के गर्भ में बलप्रधान कर्म्म विद्यमान है, तो बलप्रधान कर्म्म के गर्भ में ज्ञान विद्यमान है। अतएव स्पष्ट है कि, दोनों दोनों से समन्वित होकर अध्यात्मनिष्ठ-मानव के पुरुषार्थ की प्रतिष्ठा बना करते हैं, जो पुरुषार्थ क्रमशः निवृत्तिपुरुषार्थ, प्रवृत्तिपुरुषार्थ, भेद से दो भागों में विभक्त मान लिया गया है-तथाकथित 'ज्ञानात्मक-प्रतिसञ्चर, तथा विज्ञानात्मक-सञ्चर-भावों के अनुबन्ध से।

४६–मानव के शतायुर्भोगकाल से अनुप्राणित ब्रह्मचर्य्य-गृहस्थ-वानप्रस्थ-संन्यास-नाम के चतुर्विध विभक्त आश्रम, एवं ब्रह्मचर्य्य-गृहस्थाश्रम-द्वयी से अनुप्राणित प्रवृत्तिप्रधान-विज्ञानप्रधान-पुरुषार्थ का, तथा वानप्रस्थ-संन्यासाश्रम-द्वयी से अनुगत निवृत्तिप्रधान-ज्ञानप्रधान-पुरुषार्थ का पारिभाषिक-समन्वय-प्रयास—

अपनी आयु के ५० वें वर्ष पर्य्यन्त की आयु में (जो कि आयु ब्रह्मचर्य्य-गृहस्थ-नामक दो आश्रमों से समन्विता है) मानव विज्ञानप्रधान-प्रवृत्तिपुरुषार्थ का ही अनुगामी बना रहता है-'निवृत्तिरूप' ज्ञान को-मूल-प्रतिष्ठा बनाए रखता हुआ ही। अतएव यह 'प्रवृत्ति' भी इसे 'निवृत्ति' से ही समन्वित रखती है, और यही बुद्धियोगात्मक-निष्कामकर्म्मयोग की मूलोपनिषत् है। ५० के अनन्तर शेष आयु में (जो कि आयु वानप्रस्थाश्रम, एवं संन्यासाश्रम-नाम के दो आश्रमों से समन्विता है) मानव ज्ञानप्रधान-निवृत्तिपुरुषार्थ का अनुगामी बना रहता है, "नानवाप्तमवाप्तव्यं-वर्त्त एव च कर्म्मणि" के अनुसार प्रवृत्तिरूप-लोकसंग्राहक-कर्म्म को अग्रणी बनाए रखता हुआ ही।

४७–'निवृत्ति' का 'प्रवृत्ति' के साथ समन्वय, और ज्ञानकर्म्मोभय-समन्वयात्मिका बुद्धियोगनिष्ठा के महान् कौशल से अनुप्राणिता–'आश्रमजीवनपद्धति' का संस्मरण—

अतएव यह 'निवृत्ति' भी इसे लोकसंग्रहदृष्ट्या 'प्रवृत्ति' से ही समन्वित रखती है, और यही उभय–समन्वयात्मिका बुद्धियोगात्मिका योगनिष्ठा का वह महान् कौशल है, जो कर्म्मविरोधी काल्पनिक-अद्वैतवादी–ज्ञानाभिनिविष्ट के अनुग्रह से विगत अनेक शताब्दियों से मानव की 'आश्रमजीवनपद्धति' से पराङ्मुख ही प्रमाणिग होता चला आरहा है।

४८–ज्ञान-विज्ञान-प्रसङ्गेन सुसमन्विता सपरिग्रह-अपरिग्रह-भेदभिन्ना-आत्मविवर्त्तद्वयी का दिग्दर्शन, एवं अशरीरी आत्मा, तथा सशरीरी आत्मन्वी के साङ्केतिक-नाम-'प्रजापति' का संस्मरण—

ज्ञान–विज्ञान–शब्दों का प्रासङ्गिक दिग्दर्शन उपरत हुआ, जिस के माध्यम से प्रकृत में यही निवेदनीय है कि, परिग्रहनिरपेक्ष वही ब्रह्म ज्ञानप्रधान **'आत्मा'** है, एवं परिग्रहसापेक्ष वही ब्रह्म विज्ञानप्रधान **'आत्मन्वी'** है। निरपेक्ष आत्मा **'अशरीरी'** है, एवं सापेक्ष आत्मन्वी **सशरीरी** है। अर्थात् विश्वतीत विशुद्ध आत्मा **अशरीरी-आत्मा** है, यही परिग्रहात्मक शरीर से विशिष्ट बनता हुआ **'सशरीरी-आत्मन्वी'** बन जाता है, जिस का साङ्केतिक नाम **है-'प्रजापति'**।

४९–ज्ञानप्रधान 'ब्रह्म', तथा विज्ञानप्रधान 'प्रजापति'–विवर्त्तों से अनुप्राणिता स्थिति का स्पष्टीकरण, एवं ज्ञान, तथा विज्ञान-द्वयी पर ही 'ज्ञातव्य' की परिसमाप्ति का समन्वय—

परिग्रहविशिष्ट–परिग्रह–सापेक्ष–अशरीरी–आत्मन्वी–रूप आत्मा ही **'प्रजापति'** है, जिसकी अपेक्षा से परिग्रह-निरपेक्ष को 'ब्रह्म' नाम से समन्वित मान लिया जासकता है। तदित्थं परिग्रहनिरपेक्ष-**'ज्ञानप्रधान ब्रह्म'** एवं परिग्रहसापेक्ष-**'विज्ञानप्रधान प्रजापति'**, इन दोनों ज्ञान-विज्ञान-विवर्त्तों की सीमा में मानव के ज्ञातव्य-कर्त्तव्यादि सम्पूर्ण--इतिवृत्त समाविष्ट होजाते हैं। इन दोनों के वास्तविक स्वरूप--समन्वय--बोध के अनन्तर मानव के लिए अन्य कुछ भी तो ज्ञातव्य शेष ही नहीं रह जाता। इसी तथ्य को लक्ष्य बना कर भगवान् ने कहा है —

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यत्–ज्ञातव्यमवशिष्यते॥

—गीता ७।२।

५०–कर्म्मगर्भिता–ज्ञानप्रधाना निवृत्ति से सम्बद्ध सर्वपरिग्रहनिरपेक्ष, विश्वातीत–ब्रह्मरूप 'आत्मा' से अनुप्राणित पारिभाषिक--'अध्यात्मम्'—

विज्ञानगर्भिता, किंवा कर्म्मगर्भिता ज्ञानप्रधाना 'निवृत्ति' से सम्बन्ध रखने वाला सर्वपरिग्रह–निरपेक्ष, अतएव अमायी-निष्कल-निर्गुण-निर्विकार-निरावरण-निरञ्जन-नामों से उपस्तुत-विशुद्ध-

विश्वातीत-विश्वव्यापक-'ब्रह्म' नामक 'आत्मा' ही 'अध्यात्मम्' का प्रथम विभाग है, जिस के आधार पर ही मानव का-"वानप्रस्थाश्रमानुगत-संन्यासाश्रम" व्यवस्थित, एवं प्रतिष्ठित है ।

५१–ज्ञानगर्भिता-विज्ञानप्रधाना प्रवृत्ति से सम्बद्ध सर्वपरिग्रहसापेक्ष-विश्वात्मक–प्रजापति-रूप 'आत्मन्वी' से अनुप्राणित–पारिभाषिक–'अध्यात्मम्'—

एवमेव ज्ञानगर्भिता विज्ञानप्रधाना, किंवा कर्म्मप्रधाना 'प्रवृत्ति' से सम्बन्ध रखने वाला सर्व–परिग्रहविशिष्ट, अतएव मायी-महेश्वरप्रजापति, सकल-षोडशीप्रजापति, सगुण-सत्यप्रजापति, सविकार–यज्ञप्रजापति, सावरण–विराट्प्रजापति, साञ्जन-विश्वप्रजापति, नामों से उपवर्णित, समन्वयात्मक, विश्वात्मक, विश्वरूप–प्रजापति नामक आत्मन्वी ही 'अध्यात्मम्' का द्वितीय–विभाग है, जिस के आधार पर ही मानव का ब्रह्मचर्य्याश्रमानुगत–गृहस्थाश्रम व्यवस्थित प्रतिष्ठित है ।

५२–परिग्रहनिरपेक्षमध्यात्मम्, एवं परिग्रहसापेक्षमध्यात्मम्, रूपेण–द्विधा विभक्त अध्यात्म विवर्त्तों की लक्ष्यानुगति, और मङ्गलसंस्मरण —

यों एक ही 'अध्यात्मम्' के 'परिग्रहनिरपेक्षमध्यात्मम्', एवं 'परिग्रहसापेक्षमध्यात्मम्' भेद से दो विवर्त्त निष्पन्न होजाते हैं । इन दोनों अध्यात्मविवर्त्तों को अवधानपूर्वक लक्ष्य बनाते हुए ही हमें उपनिषदों के आद्यन्त में विहित मङ्गलसंमरण की 'उपनिषत्' (रहस्य) के समन्वय मे प्रवृत्त होना चाहिए ।

५३-परिग्रहसापेक्ष-अध्यात्म के ईश्वरीयाध्यात्म, एवं जीवानुगत-अध्यात्मरूपेण दो विवर्त्त, तथा दोनों विवर्त्तों से अनुगत साक्षी–सुपर्णप्रजापतिरूप–अधिदैवतरूप का, एवं भोक्ता–सुपर्णरूप–अध्यात्मरूप अध्यात्म का पारिभाषिक-समन्वय—

उक्त दोनों अध्यात्मविवर्त्तों में से परिग्रहविशिष्ट-'प्रजापति' नामक दूसरा 'अध्यात्मम्' ही ईश्वर, जीव, इन दो विवर्त्तों के भेद से द्विधा विभक्त होरहा है, जो सङ्केत-भाषा में क्रमशः'साक्षीसुपर्णप्रजापति,' एवं भोक्तासुपर्णप्रजापति नामों से प्रसिद्ध है । साक्षीसुपर्ण 'ईश्वरात्मन्वी-प्रजापति' है, भोक्तासुपर्ण 'जीवात्मन्वी--प्रजापति' है, और 'अध्यात्मम्' के ये ही दोनों प्राजापत्यविवर्त्त क्रमशः अधिदैवतम्--अध्यात्मम् नामों से प्रसिद्ध हुए हैं ।

५४–अधिदैवतरूप अध्यात्मतन्त्र से अनुगत ईश्वरतन्त्र, अध्यात्मरूप–अध्यात्मतन्त्र से अनुगत जीवतन्त्र, एवं पारिभाषिक-'तदेव' से अभिन्न ईश्वरपुरुष का स्वरूप संस्मरण—

अधिदैवतरूप अध्यात्म ही ईश्वरतन्त्र है, एवं अध्यात्मरूप अध्यात्म ही जीवतन्त्र है । अधिदैवतरूप ईश्वरतन्त्र परिग्रहविशिष्ट बना रहता हुआ भी, सगुण-साञ्जन-बन रहता हुआ भी अविद्या, अस्मिता, आसक्ति (रागद्वेष) अभिनिवेशादि * पाप्मा–धर्म्मों से सर्वथा असंस्पृष्ट रहता हुआ अपने उस

---

* क्लेशकर्म्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः । (पातञ्जल–योगसूत्र)
अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः ॥ (पा० योगसूत्र)

परिग्रहनिरपेक्ष, निर्गुण-निरञ्जन-'ब्रह्म' नामक विशुद्ध आत्मभाव से सर्वात्मना अभिन्न है । अतएव 'तदेव' रूप से ब्रह्म, और प्रजापति एक ही वस्तुतत्त्व प्रमाणित होरहे हैं ।

५५—अध्यात्मरूप-आध्यात्मिक-जीवप्रजापति की-'तदेव' से अभिन्नता का दिग्दर्शन, एवं क्लेशकर्म्मविपाकशयादि धर्म्मों से सम्परिष्वक्त जीव की दुःखानुगति—

'अध्यात्म' रूप आध्यात्मिक-जीवप्रजापति भी अपने सर्वस्वभूत 'अधिदैवत' रूप आध्यात्मिक-ईश्वरप्रजापति से अभिन्न रहता हुआ यद्यपि परम्परया 'तदेव' रूपेण वही है । तथापि क्लेश-कर्म्म-विपाकाशयादि से संस्पृष्ट होजाने के कारण यह मानवीय भोक्ता सुपर्णप्रजापति अपने उस 'तदेव' रूप महिमा-भाव को विस्मृत कर मृत्युमय-दुःखों से परिष्वक्त ही होजाता है ।

५६-भोक्ता-जीव के स्वरूपोद्बोधन से अनुप्राणित उपनिषदर्थ के पारिभाषिक-प्रमुख-उद्देश्य का रहस्यात्मक-स्पष्टीकरण, एवं तदनुगता-पारिभाषिकी-लक्षणात्मिका स्थिति का समन्वय—

"इसे वास्तविक-तत्त्वबोध के द्वारा इन दुःखपाशों से उन्मुक्त करते हुए इसे इसके प्राकृतात्मपर्वों के माध्यम से ईश्वरीय-प्राजापत्य-प्राकृतात्मपर्वों की ओर आकर्षित करते हुए इन पर्वों के माध्यम से अन्ततोगत्त्वा ईश्वरप्रजापति से अभिन्न ब्रह्म के निरञ्जन-निवृत्तिप्रधान-विशुद्ध आत्मभाव की ओर आकर्षित कर तत्र प्रतिष्ठित कर देना हीं अध्यात्मविद्यास्वरूप-विश्लेषक-सम्पूर्ण-उपनिषदों का एकमात्र प्रमुख उद्देश्य है" ।

५७—दृष्टिकोणभेदनिबन्धन-प्रश्नानुगत समाधान, एवं तदनुगत आत्मा-प्राण-भूत-त्रिक का नाम-समन्वय—

पुनश्च एक दूसरे दृष्टिकोण से भी हमें—'उपनिषदों में क्या है' ?' इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न का समन्वय कर लेना चाहिए । मानवीय आत्मा के सर्वस्व बने हुए ईश्वर-प्रजापति में आत्मा, प्राण, भूत, ये विभिन्न तीन संस्थान माने गए हैं । इनमें क्रमशः आत्मा पशुपति है, प्राण ही पाश है, एवं भूत ही पशु है । तीनों में भूतात्मक पशुभाग ही पशुपतिवित्त, किंवा आत्मवित्त कहलाया है ।

५८—आत्मवित्तानुगता पारिभाषिकी अन्तर्वित्त-वहिर्वित्त-द्वयी, एवं पाश के माध्यम से पशुपति के द्वारा वित्तरूप पशुका भोगात्मक-समन्वय—

यह आत्मवित्त अन्तर्वित्त, बहिर्वित्त रूप से दो भागों में विभक्त है । सप्तधातुमय-सप्तचितिमय-सप्तलोकात्मक-महाभुवनरूप महान् विश्व ही ईश्वरात्मा का अन्तर्वित्त (अन्तरङ्गवित्त) है, एवं इन महाभुवनों के वे प्रवर्ग्यांश ही बहिर्वित्त कहलाए हैं, जिनकी आहुति से ही विश्वगर्भीभूत चर-अचर-भूत-भौतिक सर्गों का स्वरूप-निर्म्माण हुआ है । ये दोनों हीं वित्त साक्षात्-रूपेण, तथा परम्परया पशुपति आत्मा के भोग्य बने हुए हैं, जो भोग्य ही विज्ञानभाषा में-'पशु' कहलाया है ।

५९–भोक्ता-भोगसाधन–भोग–रूपेण–त्रिवर्त्त–त्रयी से अनुगता ईश्वरीया--प्राजापत्य--संस्था का दिग्दर्शन—

प्राणतत्त्व 'भोगसाधन' है, एवं स्वयं आत्मा 'भोक्ता' है। भोग्यरूप पशु, भोगसाधनरूप पाश, तथा भोक्ता पशुपति, इन तीनों की समष्टि से, किंवा आत्मा–प्राण–भूत–इन तीनों के समन्वय से ही 'ईश्वरीया–प्रजापत्यसंस्था' का स्वरूप सम्पन्न–निष्पन्न–हुआ है।

६०–समन्वयदृष्ट्या अनुप्राणिता आध्यात्मिकी-मानवसंस्था के आत्मा-प्राण-भूत-भावों का स्वरूप दिग्दर्शन—

समन्वयदृष्ट्या आध्यात्मिकी–मानवसंस्था के माध्यम से स्थिति को लक्ष्य बना लीजिए। मानवीय जीवात्मा–भोक्ता–पशुपति ही–'आत्मा' है। भोगसाधनभूत समनस्क–इन्द्रियप्राण–समष्टिरूप 'पाश' ही 'प्राण' है। एवं तीसरा पशुरूप वित्त ईश्वर-संस्थावत् अन्तः–बहिर्वित्तरूप से दो भागों में विभक्त है।

६१–मानवसंस्थानुगत अन्तर्वित्त-बहिर्वित्त-का स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं मानवीया-प्राजापत्य-संस्था का स्वरूप--समन्वय—

पाञ्चभौतिक-शरीर, पत्नी, पुत्र तो इस मानव के अन्तर्वित्त हैं, एवं अनुचर–गृह–अन्न–द्रव्यादि शेष समस्त परिग्रह बहिर्वित्त हैं। उभयवित्तात्मक भोग्य ही भोक्ता जीव का उसी प्रकार वित्तात्मक पशु है, जैसे कि मानवी के भोक्ता जीव के लिए इसका शरीर–पति–पुत्र–तो इसके अन्तर्वित्त बने हुए हैं, एवं अनुचरादि बहिर्वित्त। यही 'मानव–मानवीया–प्राजापत्या–संस्था' का स्वरूप–समन्वय है।

६२–'विधि'-नामक-ब्राह्मणभाग से, तथा उपनिषद्भाग से अनुगत प्रतिपाद्य-विषयों के पारिभाषिक तथ्य का स्पष्टीकरण —

वेद का 'विधि' नामक 'ब्राह्मणभाग' जहाँ प्राजापत्यसंस्था के प्रवृत्तिप्रधान पशु, और पाशात्मक-भूत, और प्राण, इन दो पर्वों को प्रमुखरूप से लक्ष्य बनाता हुआ गौणरूप से आत्मभाव की ओर सङ्केत–ग्रह कराता है, वहाँ वेद का 'उपनिषद्भाग' इस संस्था के निवृत्तिप्रधान आत्मकलाभावों को प्रमुखरूप से लक्ष्य बनाता हुआ गौणरूप से प्राण और भूत की ओर भी सङ्केतग्रह करा रहा है।

६३–प्रवृत्तिप्रधान-ब्राह्मणभाग, तथा निवृत्तिप्रधान उपनिषद् भाग से अनुगता 'प्रवृत्ति' और-'निवृत्ति' के तथ्यार्थ का समन्वय, एवं कर्म्मत्याग-तथा कर्म्मसंग्रह-से अनुगता भ्रान्ति का निराकरण-प्रयास—

इसी दृष्टि से ब्राह्मणभाग को जहाँ हम प्रवृत्तिप्रधान शास्त्र कह सकते हैं, वहाँ उपनिषद्भाग को 'निवृत्तिप्रधानशास्त्र' कहा जासकता है, जबकि इस सम्बन्ध में यह अविस्मरणीय है कि, न तो उपनिषदों का 'आत्मा' विश्वातीत–अखण्ड–आत्मा ही है, नैव 'निवृत्ति' का अर्थ 'कर्म्मत्याग' ही है। क्योंकि–विश्वातीत अखण्डतत्त्व शब्दातीत बनता हुआ जहाँ शास्त्रानधिकृत है, वहाँ–सर्वथा–असम्भावित कर्म्मत्याग भी केवल कल्पना हीं कल्पना है।

६४–ईश्वरीया-अधिदैवतसंस्था के 'प्राणाः' नामक पारिभाषिक तत्त्व के पञ्चविध-विवर्त्तों का, तथा मानवीया-अध्यात्मसंस्था से अनुगत 'प्राणाः'-निबन्धन पञ्चविध-विवर्त्तों का नाम–दिग्दर्शन—

भोगसाधनरूप–प्राणात्मक 'पाश' तत्त्व ईश्वरीय–अधिदैवतसंस्था में क्रमशः आग्नेयप्राण, वायव्यप्राण, आदित्यप्राण, दिक्सोम्यप्राण, भास्वरसोम्यप्राण, इन नामों से प्रसिद्ध है, जो कि मानवीया अध्यात्मसंस्था में क्रमशः वाक्–प्राणः–चक्षुः–श्रोत्रं–मनः–इन इन्द्रियप्राणों के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये पाँचों ही व्यष्ट्यात्मक–अङ्गभूत–प्राण जिस समष्टिरूप अङ्गीभूत एक प्राण में रश्मिवत् आबद्ध रहते हैं, वही 'उद्गीयप्राण' 'उक्थप्राण'–'अङ्गीप्राण' कहलाया है।

६५–उक्थप्राणात्मक-अङ्गीप्राण की प्रमुखता, हृदयस्थ आत्मा में समर्पित उक्थप्राण, अशीति के द्वारा महदुक्थप्राण का आप्यायन, एवं भोगसाधनरूप प्राणपञ्चक का मुण्डकश्रुति के द्वारा स्वरूप-दिग्दर्शन—

पञ्चप्राणात्मक यह प्रमुख उक्थप्राण (अङ्गीप्राण) हृदयस्थ जिस आत्मदेवता में समर्पित रहता, वही भोक्ता–पशुपति–आत्मप्रजापति– 'महदुक्थ' कहलाया है, जिसका प्राणमाध्यम से अशीतिरूप–भोग्य–पशुओं के द्वारा आप्यायन होता रहता है, जैसाकि– अशीतिभिर्महदुक्थमाप्यायते' इस श्रौतवचन से स्पष्ट है। भोगसाधनरूप इसी प्राणपञ्चक को लक्ष्य बनाते हुए महर्षि मुण्डक ने कहा है—

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश।
प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा॥
—मुण्डकोपनिषत् ३।१।६।

६६–उद्गीथात्मक-मुख्यप्राण से समन्वित-पञ्चप्राणों से आबद्ध-पशुरूप भोगविवर्त्त, आत्मा-प्राण-पशु-भावानुबन्धिनी-त्रिवृद्भावापन्ना पारिभाषिकी स्थिति का दिग्दर्शन, एवं-तदनुगता तन्निबन्धना 'प्राजापत्यविद्या' से अभिन्ना 'उपनिषद्विद्या' का पारि-भाषिक-समन्वय--प्रयास—

उद्गीथात्मक 'मुख्यप्राण' से समन्वित पञ्चप्राणों से ही शरीरादिरूप पशुभाग आबद्ध है। इस पारस्परिक–ग्रन्थिबन्धन से ही आत्मा–प्राण–भूत, नामक तीनों प्राजापत्य विवर्त्त परस्पर आबद्ध हैं, अविना-भूत हैं। अतएव तीनों एक दूसरे के बिना सर्वथा अनुपपन्न, अतएव अग्राह्य हैं। अतएव प्रमुखरूपेण आत्मा को ही, इसके विभिन्न महिमा-विवर्त्तों को ही अपना प्रधान लक्ष्य बनता हुआ भी उपनिच्छास्त्र ग्रन्थिबन्धनानु-गत शेष प्राण, तथा भूत भागों को भी अनिवार्य्यरूप से अपना लक्ष्य बना लेता है। अतएव अब हम असंदिग्धरूप से यह कह सकते हैं कि, आत्म–प्राण–भूत–समष्टिरूपा 'प्राजापत्यविद्या' का नाम हीं 'उपनिषद्विद्या' है। दूसरे शब्दों में–उपनिषच्छास्त्र 'प्रजापति' का ही स्वरूप–निरूपण कर रहा है"।

६७–सञ्चर-प्रतिसञ्चर-भावानुगता पूर्वोक्ता दृष्टि का संस्मरण, एवं ब्राह्मणशास्त्र, तथा उपनिषच्छास्त्र–भेदभिन्न दोनों ही शास्त्रों की 'प्रजापतिशास्त्रता' का पारिभाषिक समन्वय—

अब पुन: उन संचर, प्रतिसंचर–शब्दों की ओर आप का ध्यान आकर्षित करते हैं, जिनका ज्ञान–विज्ञान–महिमा–प्रसङ्ग से पूर्व में यशोगान होचुका है। ब्राह्मणशास्त्र भी प्रजापतिशास्त्र ही है, एवं उपनिषच्छास्त्र भी प्रजापतिशास्त्र ही है। फिर दोनों में वह ऐसा कौनसा अन्तर है, जिससे एक ही शास्त्र के दो, अथवा तो विधि–आरण्यक–उपनिषत्–रूप से तीन संस्थान बन गए ?, प्रश्न का उत्तर सञ्चर–प्रतिसञ्चर–शब्दों के इतिवृत्त-समन्वय पर ही अवलम्बित है।

६८–विज्ञानमूलक-सञ्चरभाव से अनुगत प्रवृत्तिपथानुगामी ब्राह्मणशास्त्र की, तथा ज्ञानमूलक-प्रतिसञ्चरभाव से अनुप्राणित-निवृत्तिपथानुगामी उपनिषच्छास्त्र की पारिभाषिकी-प्राजापत्यशास्त्ररूपता का दृष्टिकोणभेद से स्पष्टीकरण—

प्रजापति की आत्मकला के आधार पर प्राजापत्य प्राण, और भूत–नाम की दोनों कलाओं को प्रमुख रूप से अपना प्रतिपाद्य–विषय बनाता हुआ, इस 'विज्ञानमूलक–सञ्चरभाव' को प्रधान मानता हुआ ब्राह्मणशास्त्र प्रवृत्तिप्रधान–उसी प्राजापत्य-स्वरूप–का विश्लेषण कर रहा है, तो प्रजापति की प्राण–भूत कलाओं के माध्यम से आत्मकलाओं को प्रमुखरूप से अपना प्रतिपाद्य–विषय बनाता हुआ, इस ज्ञानमूलक–प्रतिसञ्चरभाव को प्रधान मानता हुआ उपनिषच्छास्त्र निवृत्तिप्रधान उसी प्राजापत्यस्वरूप का स्वरूपोपबृंहण कर रहा है।

६९· ब्राह्मणग्रन्थानुगता-सञ्चरदृष्टि से अनुगत-प्रजापति का स्वरूपोपवर्णन, एवं तदनुगता आचारनिष्ठा, तथा उपनिषद्ग्रन्थानुगता–प्रतिसञ्चरदृष्टि से अनुगत प्रजापति का स्वरूपोपवर्णन, एवं तदनुगता तत्त्वनिष्ठा, और आचारात्मिका तत्त्वनिष्ठा से अनुप्राणिता समन्वयदृष्टि का दिग्दर्शन—

एक में **सञ्चरदृष्ट्या** उसी प्रजापति का स्वरूप उपवर्णित है, तो दूसरे में **प्रतिसञ्चरदृष्ट्या** उसी का यशोगान है। एक में सञ्चरमूलक **'आचार'** प्रधान है, तो दूसरे में प्रतिसञ्चरमूलक **'तत्त्व'** प्रधान है। **'आचारमीमांसक-ब्राह्मणग्रन्थ'** यदि उपनिषदों की अपेक्षा रख रहे हैं, तो **'तत्त्वमीमांसात्मक-उपनिषद्-ग्रन्थ'** ब्राह्मणों के प्रति सापेक्ष बने हुए हैं। तत्त्वरूप उपनिषत् को आधार बनाने वाला आचार ही वास्तविक आचार है, तो आचाररूप कर्म्म को आधार बनाने वाला तत्त्व ही वास्तविक तत्त्व है। यों दोनों एक दूसरे के पूरक ही बने हुए हैं। अतएव न तो ब्राह्मणभाग के बिना उपनिषदों का ही समन्वय सम्भव, एवं न उपनिषदों के बिना ब्राह्मणभाग का ही समन्वय सम्भव।

७०-आत्मसाम्य से वञ्चित तत्त्वशून्य आचार की दम्भरूपता, एवं आचारधर्म्म से शून्य केवल तत्त्वविजृम्भणात्मक औपनिषद्-काल्पनिक-ज्ञान का ततोऽपि भूयो रूपेण तमोभावप्रवर्त्तकत्व, तथा ब्राह्मणग्रन्थानुगत प्रमुख-प्रतिपाद्य-विषयों का पारिभाषिक-समन्वय प्रयास—

उपनिषन्मूलक आत्म-साम्य से वञ्चित तत्त्वशून्य आचार जहाँ 'दम्भ' है, वहाँ ब्राह्मणमूलक--आचार-धर्म्म से शून्य केवल तत्त्वविजृम्भणात्मक औपनिषद--ज्ञान ततोऽपि भूय एव अन्धकार का प्रवर्त्तक बन जाता है *। "सम्पूर्ण विश्व उस एक ही आत्मा का, एक ही प्रजापति का वैभव है" इस तथ्य का ही नाम है--"सञ्चरमूला--ज्ञानगर्भिता--विज्ञानात्मिका--प्राजापत्य-विद्या', एवं यही है 'ब्राह्मणग्रन्थों का प्रमुख--प्रतिपाद्य--विषय'। "सम्पूर्ण विश्व आत्ममय है, ईश्वरमय है"--इस तथ्य का ही नाम है--"प्रतिसञ्चरमूला-विज्ञानगर्भिता-ज्ञानात्मिका-प्राजापत्य-विद्या', एवं यही है-"उपनिषद्ग्रन्थों का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय"। उसी 'ज्ञान' को 'यथार्थज्ञान' माना जायगा, जिसमें 'विज्ञान' अनुस्यूत होगा। एवमेव उसी 'विज्ञान' को अभ्युदय का संसाधक माना जायगा, जिसके मूल में आत्मोपयिक--ज्ञान प्रतिष्ठित रहेगा।

७१-प्राजापत्या-विद्या से सम्बद्ध आत्मतत्त्व, तन्निबन्धन रस-बलानुगत 'अव्ययाक्षरात्मक्षरविकारक्षरविश्वसृट्पञ्चजनपुरञ्जनपुर' आदि आदि भेदभिन्न विवर्त्तभावात्मक आत्मसंस्थानों का नाम-संस्मरण—

प्राजापत्या--विद्या से सम्बन्ध रखने वाला 'आत्मतत्त्व' रसानुगत-बलों के ग्रन्थिबन्धन-तारतम्य से अव्यय, अक्षर, आत्मक्षर. विकारक्षर, विश्वसृट्, पञ्चजन, पुरञ्जन, पुर, यदि भेदन अनेक विवर्त्त भावों में परिणत होरहा है, जिन इन अनेकों आत्ममहिमा-भावों का पूर्वकथनानुसार-षट्परिग्रहात्मक-मायीमहेश्वर--सकल--षोडशी आदि ६ प्रमुख विवर्त्तों में पर्य्यवसान बतलाया गया है।

७२-समष्टि, तथा व्यष्टि-रूपेण तथोक्त आत्मविवर्त्तभावों के पारिभाषिक-निरूपण से अनुगत उपनिषच्छास्त्र, और तन्निबन्धन रहस्यपूर्ण प्रतिसञ्चरात्मक-ज्ञानपक्ष का समन्वय—

उपनिषच्छास्त्र इन आत्ममहिमा-भावों को कहीं समष्टिरूप से, तो कहीं व्यष्टिरूप से उद्देश्य बनाता हुआ ही तत्र विधेयरूप से 'तदेव' रूपेण एकत्वनिबन्धन--अभिन्न--आत्मभाव का ही संस्थापन कर रहा है। "नानाभावों के स्वरूपबोधपूर्वक नानाभावों के मूल में एक आत्मतत्त्व का संस्थापन" ही उपनिषच्छास्त्र-निष्कर्ष है, और यही प्रतिसञ्चरात्मक-ज्ञानपक्ष है।

---

*-अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः॥
—ईशोपनिषदि

७३-लोकभाषा के माध्यम से औपनिषद-आत्मविवर्त्तों से अनुप्राणित-सोपानपरम्परानिबन्धन अध्ययभावों का पारिभाषिक-दिग्दर्शन, खण्डात्मद्वार-माध्यम से अखण्डात्मानुगति का समाश्रय, एवं तद्द्वारा अन्ततोगत्त्वा 'अव्ययात्मानन्द' में समवलय, और-कर्म्मगर्भिता अध्यात्मविद्या का पावन-संस्मरण—

लोकभाषानुसार-पशु-द्रव्य--अनुचर-गृह-सन्तति-जाया-आदि आदि से अनुप्राणित भूतप्रपञ्च के प्रति अनासक्त बनते हुए, शम-दम-तप-सत्य-अहिंसा-ब्रह्मचर्य्य-एकान्तवास आदि आरण्यक-नियमोपनियमों का अनुगमन करते हुए इन्द्रिय-संयममाध्यम से शारीरिक--लिप्सात्मक-भोगों के प्रति उदासीन-वदासीन बन जाना, इन्द्रियों को **प्रज्ञानात्मा (मन) में**, प्रज्ञानात्मा को **विज्ञानात्मा (बुद्धि) में**, विज्ञानात्मा को **महानात्मा** में, महानात्मा को **'अव्यक्त'** नामक **शान्तात्मा** में, अव्यक्तात्मा को **आत्मक्षर** में, आत्मक्षर को **अक्षर** में, अक्षर को अव्यय की **वाक्कला** में, वाक्कला को **प्राणकला में**, प्राणकला को श्वोवसीयम् नामक **अव्ययमन** में, इसे अव्यय के **विज्ञानमयकोश** में लीन करते हुए अन्ततोगत्त्वा अपने आप को सर्वतोभावेन सर्वान्तरतम **'अव्ययानन्द'** में लीन करते हुए, सर्वपरिग्रह-निरपेक्ष बनते हुए, इसी निरपेक्षतानुग्रह से विश्वासक्ति से (विश्व से नहीं) एकान्ततः बाहिर निकलते हुए केवल निष्कैवल्य-निरञ्जन-आत्मस्वरूपभाव से आत्मवत् बन जाने का ही नाम ही क्षीणोदर्क-मूलक निवृत्तिपथ है, यही ज्ञानपक्ष है। और उपनिषदों का प्रधान उद्देश्य आत्मनिर्भरता-लक्षण इस निवृत्ति का ही समर्थन है प्रधानरूपेण। यही है-ज्ञानात्मक--सम्रग्पक्ष, और यही है **कर्म्मगर्भिता--अध्यात्मविद्या।**

७४-'भूमोदर्कभावानुगत-'प्रवृत्तिपथ' का संक्षिप्त स्वरूप-दिग्दर्शन, और मुक्तिमार्ग, तथा बन्धनमार्ग का पक्षानुगत विभेदरूप-पारिभाषिक-दिग्दर्शन—

अब दूसरे पक्ष का समन्वय कीजिए। हृदयस्थ-महोक्थरूप-मूल आत्मा के साथ परिग्रहों का समन्वय करते जाना, इस समन्वय का अन्ततोगत्त्वा पशु-परिग्रह पर पर्य्यवसान कर लेना, और यों अपने समग्र स्वरूप को इस परिग्रह-प्रवृत्ति के माध्यम से परिग्रहविशिष्ट बना लेना हीं दूसरा पक्ष है। प्रथम पक्ष **मुक्तिमार्ग** है, एवं द्वितीयपक्ष **बन्धनमार्ग** है।

७५-उद्देश्य, एवं विधेय के दृष्टिकोणभेद-निबन्धन अमुक-पारिभाषिक-तथ्य से अनुगत औपनिषद-प्रतिपाद्य-विषय का रहस्यात्मक-समन्वय-प्रयास—

ज्ञान, तथा **विज्ञान**, प्रधान इन **मुक्ति**, तथा **बन्धनरूप**, दोनों मार्गों में से उपनिषच्छास्त्र विज्ञानमार्ग का स्वरूपविश्लेषण-करता हुआ शनैः शनैः आत्मा को परिग्रहों से पृथक् करते जाने के आदेशों से ही समन्वित करता जाता है। इस क्रमनिवृत्ति के द्वारा अन्ततोगत्त्वा उपनिषत् इसे लक्ष्यीभूत **ऐकात्म्यसाम्य पर** ही प्रतिष्ठित कर देती है। **प्रवृत्तिमार्ग यहाँ उद्देश्य है, निवृत्तिमार्ग यहाँ विधेय है।** विश्व साधन है, किंवा **विज्ञान साधन है**, और **ज्ञान साध्य है।**

७६-ब्राह्मणानुगत प्रवृत्तिप्रधान गृह्यधर्म्म, तथा उपनिषदनुगत निवृत्तिप्रधान वन्यधर्म्म-से अनुगत एक विशेष तथ्य का संस्मरण, और तन्निबन्धन प्रश्नसमाधान-प्रयास-

अथवा तो **कर्म्म साधन है, ब्रह्म साध्य है**। निष्कर्षत: उपनिषत् मानवीय अध्यात्मतन्त्र को क्योंकि विश्वपरिग्रहों की आसक्ति से, दूसरे शब्दों में प्रवृत्तिप्रधान गृहस्थधर्म्म से पृथग्वत् करती आती है, अतएव इसे 'गृह्यधर्म्म' न मान कर-'वन्यधर्म्म' ही मान लिया गया है। क्या तात्पर्य्य है इस वन्य-धर्म्म का ?, प्रश्न के समाधान के लिए हमें पुन: एक विशेष तथ्य की ओर ही उपनिषत्प्रेमियों का ध्यान आकर्षित करना पड़ेगा।

७७-लोकप्रसिद्ध सुप्रसिद्ध चतुर्विध-मानवीय-आश्रम, आश्रमभोक्ता मानवीय-आत्मा, तन्निबन्धन बृहती-सहस्रमित (३६००-छत्तीसहजारमित) आयुःसूत्र, और तद-नुगता शतायुर्म्मर्य्यादा —

पहिला **ब्रह्मचर्य्य**, दूसरा **गृहस्थ**, तीसरा **वानप्रस्थ**, एवं चौथा **संन्यास**, इन नामों से चार **'आश्रम'** प्रसिद्ध हैं। ज्ञान-कर्म्मोभयसमन्वयात्मिका मानवीया **अर्द्धेन्द्रता की पूर्णेन्द्रता** के लिए, परिपूर्णता के लिए ही आश्रमव्यवस्था व्यवस्थित हुई है वैज्ञानिक-महर्षियों के द्वारा। अमृतभावप्रधान सल्लक्षण ज्ञान, एवं मृत्युभावप्रधान (परिवर्तनप्रधान) असल्लक्षण कर्म्म, इन दोनों तत्त्वों की समन्वितावस्था से कृतरूप **'अहम्'** शब्दवाच्य आत्मतत्त्व अवश्य ही ज्ञानकर्म्ममय है, जिस इस मानवीय आत्मा के शरीरनिबन्धन आयु:-सूत्र सौर बृहतीछन्द के षड्त्रिंशदक्षरों (३६) के सहस्रधा वितान से **षट्त्रिंशत्सहस्र** (छत्तीसहजार) संख्या में परिणत रहते हैं, जिनके सम्वत्सर (वर्ष) होते हैं १०० (सौ)।

७८-'शतायुर्वै पुरुष:'-श्रुति से अनुप्राणिता ज्ञान-कर्म्म-निबन्धना-रहस्यपूर्णा-आश्रम--व्यवस्था का पावन--संस्मरण—

इसी आधार पर **'शतायुर्वै पुरुषः'** [तै०ब्रा० ३।८।५।३] निगम प्रतिष्ठित है। इन सौ वर्षों की आयु में, किंवा षट्त्रिंशत्बृहती-सहस्रप्राणों में ज्ञानकर्म्ममय ईश्वरप्रजापति का अंशभूत यह मानवात्मा ज्ञान, तथा कर्म्म, ईश्वरप्रदत्त इन दोनों विभूतियों को सर्वात्मना परिपूर्ण करने में जिस वैज्ञानिकी व्यवस्था से समर्थ होजाता है, उसी व्यवस्था का नाम है **'आश्रमव्यवस्था'**।

७९-कर्म्मात्मक--ज्ञानात्मक--पुरुषार्थों से अनुगत कर्म्माश्रम, एवं ज्ञानाश्रम का स्वरूप-दिग्दर्शन, तथा-'स्थूलारुन्धती-न्याय' मूला पारिभाषिकी-स्थिति का स्पष्टीकरण-प्रयास—

कर्म्मात्मक, एवं **ज्ञानात्मक**, दोनों पुरुषार्थों को स्वच्छन्दस्वरूप से, पृथग्-व्यवस्थितरूप से सुसम्पन्न करने की कामना से ही मानवायु के ५०-५० वर्षों के दो विभाग कर लिए गए हैं। कर्म्म स्थूल है, ज्ञान सूक्ष्म है। प्रकट में कर्म्म स्फुट है, ज्ञान अन्तर्लीन है। अतएव **स्थूलारुन्धती-न्याय से प्रथम स्थूल-व्यक्त-कर्म्माश्रम ही मानव के सम्मुख आता है**, अनन्तर **द्वितीय सूक्ष्म-अव्यक्त-ज्ञानाश्रम इसके सम्मुख उपस्थित होता है।**

८०-ज्ञान, और कर्म्म की अन्योऽन्याश्रयता, 'कर्म्माश्रम' नामक प्रथमाश्रम से अनुगत ज्ञानाश्रम का, तथा 'ज्ञानाश्रम' नामक द्वितीयाश्रम से समन्वित कर्म्माश्रम का संस्मरण, एवं तन्निबन्धन पारिभाषिक-विभेद का दिग्दर्शन—

'कर्म्मण्यकर्म्म यः पश्येत्, अकर्म्मणि च कर्म्म यः' (गीता ४।१८) इत्यादि पूर्वोक्त सिद्धान्तानुसार कर्म्म बिना ज्ञान के अनुपपन्न है, तो ज्ञान बिना कर्म्म के अनुपपन्न है। निष्कर्षतः दोनों एक दूसरे के बिना अनुपपन्न हैं। अतएव पहिले कर्म्माश्रम के साथ भी ज्ञानाश्रम समन्वित रहता है, तो दूसरे ज्ञानाश्रम के साथ भी कर्म्माश्रम समन्वित रहता है। अन्तर दोनों में यही है कि, पहिले कर्म्माश्रम में ज्ञानाश्रम क्रत्वर्थरूप गौण आश्रम है, एवं स्वयं कर्म्माश्रम पुरुषार्थरूप प्रधान आश्रम है।

८१-ज्ञानाश्रम से अनुगत क्रत्वर्थरूप कर्म्माश्रम का समन्वय, ज्ञान-कर्म्म-भावानुबन्धी चतुर्विध-आश्रमों की अपेक्षाभावनिबन्धना साध्य, तथा साधन-रूपता, एवं चतुष्टयी का पारिभाषिक-समन्वय—

एवमेव दूसरे ज्ञानाश्रम में कर्म्माश्रम क्रत्वर्थरूप गौण है, एवं स्वयं ज्ञानाश्रम पुरुषार्थरूप प्रधान है। आरम्भ के दोनों में ज्ञानाश्रम साधन है, कर्म्माश्रम साध्य है। एवं उत्तर के दोनों में कर्म्माश्रम साधन है, ज्ञानाश्रम साध्य है। ज्ञान-कर्म्मानुबन्धी इन्हीं चार विवर्त्तों के कारण २५-२५ के अनुपात से ५०-५० के दो दो अवान्तर भेद होजाते हैं। फलतः दो प्रमुख आश्रमों के चार आश्रम होजाते हैं।

८२-ब्रह्मात्मिका-ज्ञानचर्य्या से अनुप्राणित ब्रह्मचर्य्याश्रम, तन्निबन्धना पूर्वा-पञ्चविंशति, एवं उत्तरा पञ्चविंशति से अनुगत गृहस्थानुबन्धी-पुरुषार्थ के संसाधक ज्ञानार्ज्जन का दिग्दर्शन—

आरम्भ की पञ्चविंशति (२५ वर्ष समष्टि) पुरुषार्थ-स्थानीय कर्म्माश्रम की संसिद्धि से सम्बन्ध रखने वाली ब्रह्मात्मिका ज्ञानचर्य्या से अनुप्राणित है, यही साधनस्थानीय-क्रत्वर्थरूप पहिला ब्रह्मचर्य्याश्रम है। उत्तरा पञ्चविंशति में (आयु के २६ वें वर्ष से ५० वें वर्ष पर्य्यन्त) पुरुष गृहस्थानुबन्धी जो पुरुषार्थ करने वाला है, उसे सुव्यवस्थित-ज्ञानपूर्वक-(समझ-बूझ-पूर्वक) सम्पन्न करने के लिए तदनुष्ठान से पूर्व ही आचार्य्यकुलों में नियम-तपोऽनुष्ठानपूर्वक रहते हुए जो ज्ञानार्ज्जन किया जाता है, उस का प्रथमाश्रम से सम्बन्ध है।

८३-कर्म्मकर्तृत्वानुगता-योग्यता के सम्पादक प्रथमाश्रम के उद्देश्य का समन्वय, व्यक्तकर्म्मनिबन्धन-गृह्य-कर्म्मों से अनुप्राणित 'गृह्यधर्म्म', एवं तन्निबन्धन द्वितीय-गृहस्थाश्रम का स्पष्टीकरण—

कर्म्म करने की योग्यता का सम्पादन करना हीं इस प्रथमाश्रम का मुख्य उद्देश्य है। प्रथमाश्रम के द्वारा ज्ञाननिष्ठ बना हुआ मानव विवेकपूर्वक ही उत्तर की पञ्चविंशति में कर्म्मानुष्ठान के लिए प्रवृत्त होता है, जो व्यक्तकर्म्म गृह्यानुबन्धी (लोकानुबन्धी) बनता हुआ 'गृह्यधर्म्म' नाम से भी व्यवहृत हुआ है। इस कर्म्मानुष्ठान का ही है-नाम दूसरा गृहस्थाश्रम।

८४–सम्यग्रूपेण अनुष्ठित पुरुषार्थरूप गृहस्थाश्रम के द्वारा मानवीय 'आत्मा' के कर्म्मात्मक-'अर्द्ध' भाग की पूर्णतानुगता-कृतकृत्यता––

सम्यग्रूपेण पुरुषार्थरूप इस कर्म का अनुष्ठान करने से निश्चयेन इस गृहस्थाश्रम के द्वारा मानवीय आत्मा का अर्द्ध 'कर्म्म' भाग परिपूर्ण बनता हुआ ईश्वरीय अर्द्ध कर्म्म के साथ सायुज्यसम्बन्ध स्थापित कर लेता है। यही इसके 'अर्द्ध जीवन' की कृतकृत्यता है।

८५–क्रमप्राप्ता तृतीया-पञ्चविंशति से अनुप्राणित 'साधन' स्थानीय-वानप्रस्थाश्रम, एवं तदनुगता 'क्रत्वर्थकर्म्मरूपता' का पारिभाषिक-समन्वय—

अब क्रमप्राप्त उत्तर-पञ्चाशद्वर्षानुगत ज्ञानाश्रम उपस्थित होता है, जिस के भी २५-७५ के अनुपात से साधन-साध्य-रूप से दो विभाग कर दिए गए हैं। ज्ञान की परिपूर्णता से सम्बन्ध रखने वाला निवृत्ति-प्रधान कर्म्म ही क्रमप्राप्ता तीसरी पञ्चविंशति में अनुष्ठेय बनता है, एवं इसी का नाम है–'वानप्रस्थाश्रम', जो संन्यासाश्रमरूप पुरुषार्थ का स्वरूप-साधक बनता हुआ तदङ्गभूत 'क्रत्वर्थकर्म्म' ही प्रमाणित हो–रहा है।

८६–'तपश्चर्य्या'-अभिधा से युक्त-'निवृत्तिकर्म्म' से अनुगत एकान्तवातावरण, तदनुगत-'वन्यभाव', एवं तन्निबन्धन-'वानप्रस्थ' नाम का पारिभाषिक-समन्वय—

'तपश्चर्य्या' नाम से प्रसिद्ध 'निवृत्तिकर्म्म' का अनुष्ठान गृह्य–वातावरण में सम्भव नहीं है। अतएव 'अरतिर्जनसंसदि' मूलक यह ऐकान्तिक तपोऽनुष्ठान 'वन्य' कहलाया है, एवं तत्सम्बन्ध से ही यह आश्रम वानप्रस्थाश्रम कहलाया है।

८७-'एकाकी यतचित्तात्मा' लक्षणा ऐकान्तिकी अध्यात्मानुगता-निष्कामकर्म्मानुगति, तदनुगत ज्ञान-चिन्तनाधिकार, एवं 'तस्य कार्य्यं न विद्यते' मूलक सिद्धान्त का संस्मरण—

'एकाकी यतचितात्मा' (गीता ६।१०) लक्षणा ऐकान्तिकी आध्यात्मिकी--कर्म्मानुगति ही इस आश्रम का प्रमुख उद्देश्य है। इस के परिपाक के अनन्तर ही मानव को सर्वान्त की पञ्चविंशति (७६ से १०० पर्य्यन्त) अवस्था में अनुष्ठेय 'ज्ञान' का चिन्तनाधिकार उपलब्ध होता है, जिस में-'सर्वं कर्म्माखिलं पार्थ ! ज्ञाने परिसमाप्यते' (गीतायाम्) के अनुसार सम्पूर्ण प्रवृत्ति-कर्म्म ज्ञानात्मक ही बन जाते हैं-'तस्य कार्य्यं न विद्यते, इत्यादि स्मार्त्त-सिद्धान्तानुसार।

८८–तुरीयावस्थानुगता कर्म्मत्यागभावना का निराकरण, कर्म्म का ज्ञानमयत्व-संस्थापन, एवं-'यस्य ज्ञानमयं तपः' का संस्मरण—

कदापि कर्म्म का त्याग तो इस तुरीयावस्था में भी सम्भव नहीं है। अपितु बाह्य-भूतों की अपेक्षाबुद्धि मात्र ही उपरत होती है इस अवस्था में। सम्पूर्ण कर्म्म ज्ञानमय ही बन जाते हैं। एवं 'यस्य ज्ञानमयं तपः' ही इस कर्म्म की स्वरूप-परिभाषा है।

८९-'सर्वकर्म्मपरित्याग' का-'सर्वानुबन्धापेक्षापरित्याग' रूप-तात्त्विक-समन्वय, 'त्यागेनैके-अमृतत्त्वमानशुः' मूलक-'त्याग' की स्वरूप-परिभाषा, एवं त्यागनिबन्धन-चतुर्थाश्रम की ससिद्धि से मानवीय-'आत्मा' के ज्ञानात्मक-'अर्द्धभाग की पूर्णतानुगता कृतकृत्यता का पारिभाषिक-स्पष्टीकरण—

सर्वकर्म्मपरित्याग का अर्थ है सर्वानुबन्धापेक्षा का परित्याग। यही औपनिषद-'त्याग' की परिभाषा है, जिस के सम्बन्ध में-'त्यागेनैकेऽमृतत्त्वमानशुः' कहा गया है। यही चौथा 'परमपुरुषार्थ' रूप वह ज्ञानाश्रम है, जिस संन्याश्रम के द्वारा सर्वात्मना सफल होजाने पर मानव का अर्द्ध ज्ञान भाग भी परिपूर्ण बनता हुआ ईश्वरीय अर्द्ध ज्ञानभाग से सायुज्य-सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। और यहाँ आकर मानवजन्म सर्वात्मना कर्म्मणा ज्ञानेन च कृतकृत्य-धन्य बन जाता है "न स पुनरावर्त्तते, न स पुनरावर्त्तते"।

९०-औपनिषद-ज्ञानात्मक-ब्रह्मज्ञान, तदनुगता विदेहमुक्ति, ततसमन्वित-सिद्धावस्थापन्न-युक्तयोगी, तदनुगता जीवन्मुक्तावस्था, एवं विधिरूप-ब्राह्मण-आरण्यक, तथा उपनिषत्-नामक-वेदभागों के आश्रमानुगत-प्रतिपाद्य-विषयों का समन्वय—

यही औपनिषद्-ज्ञान है, यही ब्रह्मज्ञान है, यही विदेहमुक्ति है, ऐसा 'युक्तयोगी' ही जीवन्मुक्त कहलाया है। आरण्यकभाग मानव के तीसरे वानप्रस्थाश्रम से अनुप्राणित तथ्य का ही स्पष्टीकरण रहा है, एवं उपनिषद्भाग चौथे संन्यासाश्रम से अनुप्राणित तथ्य का स्पष्टीकरण कर रहा है, जब कि आरम्भ के प्रवृत्तिप्रधान ब्रह्मचर्य्य-गृहस्थ-आश्रमों का प्रधानरूपेण वेद का ब्राह्मणभाग ही प्रतिपादन कर रहा है।

९१-आरण्यकभाग की साधनरूपता, एवं उपनिषद्भाव की साध्यरूपता, साध्य-साधन-निबन्धना अभिन्नता, और इत्थंभूता अभिन्नता से अनुगत 'आरण्यकोपनिषद्' रूप पारिभाषिक-अभेदव्यवहार का समन्वय—

आरण्यक साधन है, उपनिषत् साध्य है। साधन अङ्गत्वेन साध्य से क्योंकि अभिन्न है। अतएव ये दोनों वेदविभाग-'बृहदारण्यकोपनिषत्' इत्यादि रूप से अभिन्ना अभिधा से भी समन्वित होगए हैं। आरण्यक-मूला तपश्चर्य्या ही उपनिषन्मूला ज्ञानसम्पत्ति की अभिव्यक्ति का कारण बनती है। अतएव दोनों वेदभागों का अभेदव्यवहार सर्वात्मना सुसमन्वित बन जाता है।

९२-आर्ष-मानव की तत्त्वमीमांसानुगता-आचारनिष्ठा से अनुप्राणिता-'आश्रमचतुष्टयी' का निष्कर्षार्थक-समन्वय, तन्निबन्धना-ज्ञान-कर्म्मविभूत्यनुगता परिपूर्णता, अमृत-मृत्यु-मय-पूर्णेश्वर के साथ सायुज्यभाव, एवं-'ब्रह्मवित्-ब्रह्मैव भवति' का संस्मरण—

निष्कर्ष यही हुआ कि-जो आर्षमानव ब्रह्मचर्य्य का यथाविधि पालन करता हुआ गृहस्थधर्म्म में दीक्षित होकर आश्रमधर्म्मानुकूल कर्म्मभाग में प्रवृत्त है, वही वानप्रस्थाश्रम में तपोऽनुष्ठान के माध्यम से सन्यास-

धर्म्म की दीक्षा का अधिकार प्राप्त कर सकता है, जिस इस चतुर्विधा आश्रमजीवनपद्धति में यथाक्रम-यथाकाल-यथाशास्त्र व्यवस्थित रहने वाला मानवश्रेष्ठ निश्चयेन अपनी मानवीया कर्म्म-ज्ञान-विभूतियों को परिपूर्ण प्रमाणित करता हुआ अमृत-मृत्युमय पूर्णेश्वर के साथ इस मानवदेह से ही सायुज्य स्थापित कर ब्रह्मरूप में ही परिणत होजाता है–'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' के अनुसार।

९३–ब्राह्मणारण्यकविशिष्ट-उपनिषदों के महान् उदर्क का संस्मरण, भारतराष्ट्र के आर्षमानव का महद्भाग्यशालिता, आश्रमजजीवन-पद्धति से असंस्पृष्टा केवल मनःशरीरनिबन्धना-भूतजीवन-पद्धति की, किंवा श्रमप्रधाना जीवनपद्धति की यातयामता, एवं तालिकाओं के माध्यम से आश्रमव्यवस्थानुगत–वेदविभागों की व्यवस्था का अधिकारसिद्ध-विभाजन-प्रयास—

ब्राह्मणारण्यकविशिष्ट-उपनिषदों का यही वह महान् उदर्क है, जिस का महद्भाग्य भारतराष्ट्र के शास्त्रनिष्ठ मानव को ही उपलब्ध होसकता है अञ्जसैव, जबकि अन्य मानवों को इस दिशा में आश्रमजीवनपद्धति से असंस्पृष्टा केवल-मनःशरीरनिबन्धना-भूतजीवनपद्धिति, किंवा श्रम-परिश्रमात्मिका जीवनपद्धति से कदापि तत्-सौभाग्य अञ्जसा तो उपलब्ध नहीं ही होसकता। निम्न लिखित–तालिकाओं से आश्रमविभागानुगता तथोक्ता ज्ञान-कर्म्म सम्पत्ति का भलीभाँति समन्वय होजाता है—

१–ब्रह्मचर्य्याश्रमः-तत्र-क्रत्वर्थज्ञानानुष्ठानम्–तदनुगता प्रथमा पञ्चविंशतिः-२५ (२५)

२–गृहस्थाश्रमः–तत्र-पुरुषार्थकर्म्मानुष्ठानम्-तदनुगता द्वितीया पञ्चविंशतिः-२५ (५०)

३–वानप्रस्थाश्रमः-तत्र-क्रत्वर्थकर्म्मानुष्ठानम्-तदनुगता तृतीया पञ्चविंशतिः २५ (७५)

४–संन्यासाश्रमः-तत्र-पुरुषार्थज्ञानानुष्ठानम्-तदनुगता चतुर्थी पञ्चविंशतिः-२५ (१००)

——*——

१–विश्वोपयिकं-ज्ञानमेव-साधनात्मकं ज्ञानम्-कर्म्मोपकारकः-ज्ञानानुगतः-प्रथमाश्रमः

२–विश्वात्मकं–कर्म्मैव-साध्यात्मकं कर्म्म–ज्ञानोपकृतः—कर्म्मानुगतः-द्वितीयाश्रमः

३–आत्मोपयिकं-कर्म्मैव-साध्यात्मकं कर्म्म–ज्ञानोपकारकः-कर्म्मानुगतः-तृतीयाश्रमः

४–आत्मात्मकं-ज्ञानमेव-साध्यात्मकं ज्ञानम्-कर्म्मोपकृतः–ज्ञानानुगतः-चतुर्थाश्रमः

——*——

एकं साख्यं च योगञ्च यः पश्यति, स पश्यति—

कर्म्मनिष्ठा वा योगनिष्ठा	१–उपकारकः-ब्रह्मचर्य्याश्रमः २–उपकार्य्यः-गृहस्थाश्रमः	कर्म्माश्रमः-सञ्चरानुगतः- विज्ञानपक्षः-(ब्राह्मणम्)	सेयं-आत्मयोगनिष्ठा-परिचर्या
ज्ञाननिष्ठा वा सांख्यनिष्ठा	१–उपकारकः-वानप्रस्थाश्रम २.–उपकार्य्यः-संन्यासाश्रमः	ज्ञानाश्रमः-प्रतिसञ्चरानुगतः- ज्ञानयज्ञः (उपनिषत्)	

६४–सञ्चरानुगत-कर्म्ममार्ग, एवं प्रतिसञ्चरानुगत ज्ञानमार्ग से अनुगता-प्रवृत्ति-निवृत्ति-द्वयी, उपनिषदों की निवृत्तिप्रधाना-ज्ञानप्रधाना-प्राजापत्या-विद्या का संस्मरण, तत्प्रमुख-अधिकारी मानव, एवं कर्म्मानुष्ठान से अनन्तरभावी-संन्यासमार्ग का संस्मरण—

सञ्चरानुगत–कर्म्ममार्ग, तथा प्रतिसञ्चरानुगत-ज्ञानमार्ग, इन दोनों प्रवृत्ति–निवृत्ति–प्रधान मार्गों के तथोक्त–दिग्दर्शन के अनन्तर हमें स्वतः ही इस निष्कर्ष पर पहुँच जाना पड़ा कि, उपनिषदों की निवृत्तिप्रधाना–ज्ञानप्रधाना–प्राजापत्या-विद्यात्मिका अध्यात्मविद्या-के प्रमुख अधिकारी वानप्रस्थाश्रमी तपस्वी, एवं संन्यासाश्रमी संन्यासी ही माने जायँगे, जिन्होंने यथाविधि ब्रह्मचर्य्य, तथा तदुत्तरभावी गृहस्थाश्रम के द्वारा प्रवृत्तिप्रधान कर्म्ममार्ग पर आरूढ रहते हुए अपनी आध्यात्मिकी कर्म्मकला को परिपूर्ण प्रमाणित कर लिया है। एवं इस कर्म्मानुष्ठान के अनन्तर ही जो श्रेष्ठ मानव सन्यासमार्ग में दीक्षित हुए हैं।

६५–मोहासंस्पृष्ट-वीतराग-लोकमुक्त-सन्यासी-वर्ग से अनुगत-उपनिषत्स्वाध्याय की सहजसिद्धा माङ्गलिकता, किन्तु गृहस्थानुगत-लोकयुक्त-गृहस्थी-वर्ग से अनुगत उपनिषत्स्वाध्याय की अमाङ्गलिकता का दिग्दर्शन, एवं भूत-भौतिक-परिग्रहों से अनुगता निरपेक्षता के प्रवर्त्तक-उपनिषच्छास्त्र का पावन-संस्मरण—

अवश्य ही वैसे वीतराग, मोहासंस्पृष्ट तपस्वी–संन्यासी–मानवों के लिए तो ज्ञानप्रधाना यह औपनिषदी ब्रह्मविद्या परममङ्गल का ही कारण मानी जायगी। जबकि ठीक इसके विपरीत उन गृह्यधर्म्मानुयायी-कर्म्ममार्गारूढ़-द्वितीयाश्रमी-गृहस्थाश्रमी मानवों के लिए इस उपनिषद्विद्या को लोकदृष्ट्या 'अमङ्गलकर' ही माना जायगा इसलिए कि, इस विद्या से जाया-पुत्र-भृत्य–पशु–सम्पत्ति आदि आदि भूत-भौतिक-परिग्रहों से मानवीय-भूतात्मा क्रम-क्रमशः निरपेक्ष ही बनता जाता है।

९६–उपनिषद्विद्यानुगत-प्रतिसञ्चरभावात्मक-ज्ञानप्रधान-मुक्तिभावरूप-प्रधान-लक्ष्य का संस्मरण, तन्निबन्धना अलौकिकी-परिग्रहनिरपेक्षता, लोक-समृद्धि-दृष्ट्या माङ्गलिकता का निरोध, समृद्धि-निराकरणात्मक भाव, गृहस्थानुबन्धी-लोकनिराकरण की महती-आशङ्का, और उपनिषच्छास्त्र—

क्योंकि उपनिषद्विद्या का प्रधान लक्ष्य प्रतिसञ्चरमूलक-ज्ञानप्रधान--मुक्तिभाव ही है। अतएव निश्चयेन इसके अनुग्रह से मानव की प्रज्ञा-बुद्धि--लोकपरिग्रहों से पृथक्-वत् ही बन जाती है, जो कि इत्थंभूत पार्थक्य कदापि गृहस्थाश्रमी लोकमानव के लिए लोक-समृद्धि-दृष्ट्या माङ्गलिक नहीं माना जासकता, नहीं बन सकता। 'तं यथा यथोपासते--तथैव भवति' (छान्दोग्य–उपनिषत्), 'श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः, स एक सः' के अनुसार ज्ञानप्रधान आत्मा की ओर क्रमशः अनुगत करने वाला उपनिच्छास्त्र गृहस्थियों के लिए अवश्य ही समृद्धिनिराकरण का कारण बन सकता है, जिस इस लोकनिराकरण को कदापि गृहस्थानुबन्ध से माङ्गलिक नहीं माना जासकता।

९७–उपनिच्छास्त्र की वेदाङ्गत्त्वेन स्वाध्यायदृष्ट्या अनिवार्य्यता, एवं तन्निबन्धना एक महती-समस्या का उत्थान—

तदित्थं, एक ओर उपनिषच्छास्त्र के स्वाध्याय में गृहस्थी के लिए अमङ्गलाशंसा, तो दूसरी ओर बिना औपनिषद–ज्ञान के समन्वय के गृहस्थानुबन्धी-ब्राह्मणग्रन्थोक्त आचारधर्म्मों की अनुपयोगिता, तथा पूर्वकथनानुसार दम्भ–प्रवर्त्तकता। अतएव उपनिषत् का स्वाध्याय भी वेदाङ्गत्त्वेन द्विजाति-गृहस्थी के लिए भी अनिवार्य्य।

९८–'ब्राह्मणेन निष्कारणं षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च'-आदेश से अनुगत उपनिच्छास्त्रानुबन्धी-स्वाध्याय की अनिवार्य्यता, एवं तत्सम्बन्ध में तैतिरीयोपनिषत् के शीक्षाध्याय (शिक्षाध्याय) का संस्मरण—

'ब्राह्मणेन निष्कारणं षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' आदेशानुसार मन्त्रब्राह्मणात्मक सम्पूर्ण वेदशास्त्र तो ब्राह्मण के जीवन का आरम्भ से अन्तपर्य्यन्त प्रमुख ही अध्यवसाय माना गया है, जिस वेदशास्त्र का अन्तिम भाग ही उपनिषत् कहलाया है। अपने ब्रह्मचर्य्याश्रम नामक प्रथम आश्रम में हीं द्विजातिमानव को अपने आचार्य्य से अन्यान्य वेदशिक्षाओं के साथ साथ साथ आचारप्रतिष्ठात्मिका उपनिषच्छिक्षा भी अनिवार्य्यरूपेण स्वीकार कर लेनी पड़ती है (तै० उप०–शीक्षाध्याय)।

९९-परमकारुणिक-ज्ञानविज्ञाननिष्ठ-महामहर्षियों के द्वारा निवृत्तिभावानुबन्धी-लोकनिराकरणात्मक-अमङ्गलभाव के उपशम के लिए ही प्रत्येक उपनिषत् के आदि और अन्त में मङ्गलविधान, एवं तदनुबन्धिनी मङ्गलमयी स्थिति का पारिभाषिक-स्पष्टीकरण-प्रयास—

परमकारुणिक, ज्ञानविज्ञाननिष्ठ महामहर्षियोंनें निवृत्तिभावानुन्धी लोकनिराकरणात्मक--इसी अमङ्गलभाव के उपशम के लिए प्रत्येक उपनिषत् के आदि, और अन्त में मङ्गलविधान

अनिवार्य्य माना है, जिस उभयतो मङ्गलसंस्मरण से आत्मज्ञानानुबन्धी-निराकरण भी अनिराकरणरूप में परिणत होजाता है--'अनिराकरणं मेऽस्तु' इत्यादि के अनुसार, एवं द्विजाति-गृहस्थी भी इस उभयतो-मङ्गलानुग्रह से अपनी लोकसमृद्धि को यथावत् सुरक्षित रखने में समर्थ बनता हुआ औपनिषद-ज्ञान--स्वाध्याय के द्वारा अपने आचारधर्म्म के परिपालन में भी असङ्गभाव से सर्वात्मना सफल होजाता है। इत्थंभूत महान्, और तात्त्विक प्रयोजन की सिद्धि के लिए ही उपनिषदों के आद्यन्त में 'मङ्गल--विधान हुआ है।

१००-मङ्गलविधान के तात्त्विक-कारण से अनुगता एक विशेष जिज्ञासा, तत्समाधानानुगत उपनिषन्निबन्धन-मङ्गलपाठ, एवं संहिता-चतुष्टयी से अनुगता उपनिषदों का क्रमिक-संस्मरण —

मङ्गलविधान के उक्त तात्त्विक कारण के सम्बन्ध में अब एक यही जिज्ञासा शेष रह जाती है कि, 'निर्दिष्ट तात्त्विक कारण' का प्रमाणात्मक आधार क्या ?। इस जिज्ञासा के समाधान के लिए विभिन्न उपनिषदों के विभिन्न मङ्गलविधान हीं पर्य्याप्त मान लिए जायँगे। दो शब्दों में इसी पर्य्याप्त का दिग्-दर्शन कराता हुआ प्रकृत प्रथम **माङ्गलिक-प्रकरण** उपरत होरहा है। आरम्भ के पारिभाषिक प्रकरण में हमने—ऋक्-यजुः-साम-अथर्व-नामकी चार संहिताओं के भेद से तदुपनिषदों का चतुर्द्धा ही वर्गीकरण किया है—(देखिए पृ० सं० ५४)।

१०१-सुप्रसिद्ध १२ उपनिषद्ग्रन्थ, तदनुगता वेदसंहिताचतुष्टयी, एवं तन्निबन्धन-विभक्त-मंगलपाठों के माध्यम से जिज्ञासा का पारिभाषिक-समाधान-प्रयास-

तत्तालिका में पाठक देखेंगे कि, आज दिन सुप्रसिद्ध १२ उपनिषदों का उक्त संहिताक्रमानुसार क्रमशः $\frac{१}{२}$-$\frac{३}{५}$-$\frac{२}{२}$-$\frac{४}{६}$-यह क्रमविभाग है। इन चारों विभागों में क्रमशः १-कौषीतकि, २-ऐतरेय नामक दो ऋग्वेदोपनिषत् १-तैत्तिरीय, २-श्वेताश्वतर, ३-कठ, ४-ईश, ५-बृहदारण्यक नामक पाँच-यजुर्वेदोपनिषत्, १-केन, २-छान्दोग्य नामक दो सामवेदोपनिषत्, एवं १-प्रश्न, २-मुण्डक, -माण्डूक्य, नामक तीन अथर्ववेदोपनिषत्, तदित्थं सम्भूय बारह उपनिषत् चारों संहिताओं से क्रमशः समन्वित हैं। इन चारों ही उपनिषदों के आद्यन्त के मङ्गल पृथक् पृथक् हैं। अन्तर है केवल कृष्णयजुर्वेदीया-तैत्तिरीयादि उपनिषदों के, तथा शुक्लयजुर्वेदीया ईशोपनिषत् आदि उपनिषदों के मङ्गलों में। अन्यत्र समान हैं मङ्गल-विधान। नीचे लिखी तालिका से उक्त १२ हीं उपनिषदों के मङ्गलस्वरूप स्पष्ट होजाते हैं।

१०२-[१-२]-ऋग्वेदीया--कौषीतकि, तथा ऐतरेयोपनिषत्-के मङ्गलविधान—

वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता, मनो मे वाचि प्रतिष्ठितम्। आविराविर्म एधि, वेदस्य म आणीस्थः। श्रुतं मे मा प्रहासीः। अनेनाधीतेन-अहोरात्रान्-सन्दधामि। ऋतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु, तद्वक्तारमवतु। मामवतु, वक्तारमवतु, वक्तारम्। ओं शान्तिः! शान्ति!! शान्तिः!!!

* * *

१०३–[३]–कृष्णयजुर्वेदीया–तैत्तिरीयोपनिषत् का मङ्गलविधान—

ओं शं नो मित्रः शं वरुणः । शं नो भवत्वर्य्यमा । शं न इन्द्रो बृहस्पतिः । शं नो विष्णुरुरुक्रमः । नमो ब्रह्मणे । नमस्ते वायो । त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि । त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि । ऋतं वदिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु । तद्वक्तार-मवतु । अवतु माम् । अवतु वक्तारम् । ओं शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

* * *

१०४–[४-५]–कृष्णयजुर्वेदीया-श्वेताश्वतर, एवं कठोपनिषत् के मङ्गलविधान—

ओं सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्य्यं करवावहै ।
तेजास्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै । ओं शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

* * *

१०५–[६-७]–शुक्लयजुर्वेदीया–ईश, और बृहदारण्यकोपनिषत् के मङ्गलविधान—

ओं पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते । ओं शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

* * *

१०६–[८-९]–सामवेदीया-केन, और छान्दोग्योपनिषत् के मङ्गल-विधान–

आप्याययन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च । सर्वाणि । सर्वं ब्रह्मोनिषदं । माहं ब्रह्म निराकुर्य्यां, मा मा ब्रह्म निराकरोत् । अनिरा-करणं मेऽस्तु, अनिराकरणं मेऽस्तु । तदात्मनि निरते य उपनित्सु धर्म्माः, ते मयि सन्तु, ते मयि सन्तु । ओं शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

* * *

१०७-[१०-११-१२]-अथर्ववेदीय-प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्योपनिषत् के मङ्गलविधान—

ओं भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः । भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः । स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिः । व्यशेम देवहितं यदायुः । स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः । स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः । स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः । स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु । ओं शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

* * *

१०८-माङ्गलिकसंस्मरणानुगता मानवीया-'शरीरत्रयी' का संस्मरण, एवं मानव के तुरीय-'आत्मा' के साथ मङ्गल-अमङ्गलात्मक-प्रति-द्वन्द्वी-भावों की असंस्पृष्टता—

उक्त माङ्गलिक-संस्मरणों के द्वारा मानव की 'शरीरत्रयी' की ही मङ्गल-कामना अभिव्यक्त होरही है, जिसके सम्बन्ध में त्रयीवेद के माध्यम से ही हमें दो शब्दों में एक विशेष-दृष्टिकोण का समन्वय कर लेना चाहिए। दिग्-देश-कालातीत तुरीय अर्द्धमात्रिक, अखण्ड निरपेक्ष 'आत्मा' के सम्बन्ध में तो मङ्गल, अमङ्गल-जैसे प्रतिद्वन्द्वी सापेक्ष भावों का यत्किञ्चित् भी सम्पर्क नहीं है।

१०९-दिग्देशकालानुबन्धी-सापेक्ष-अमङ्गल-मङ्गल-भावों से अनुगता दृष्टि, सौरकालात्मिका बुद्धि, चान्द्रदिगात्मक मन, एवं पार्थिवदेशात्मक शरीर, नाम की शरीरत्रयी का दिग्दर्शन—

अतएव इन दिग्देशकालानुबन्धी सापेक्ष मङ्गल-अमङ्गल-भावों की दृष्टि से मानव की अध्यात्मसंस्था में सौरकालात्मिका बुद्धि, चान्द्रदिगात्मक मन, एवं पार्थिवदेशात्मक शरीर, नामक काल-दिग्-देशात्मक-ये तीन मानवीय पर्व ही शेष रह जाते हैं। ये ही तीनों पर्व मानव की 'शरीरत्रयी'-नाम से 'दर्शनशास्त्र' में प्रसिद्ध हैं।

११०-कालात्मिका बुद्धि, दिगात्मक मन, एवं देशात्मक-शरीर-से अनुप्राणित मानवीय कारण-सूक्ष्म-स्थूल-नामक-तीन शरीरों का क्रमिक-समन्वय—

कालात्मिका बुद्धि ही मानव का-'कारणशरीर' है, दिगात्मक मन हीं मानव का 'सूक्ष्मशरीर' है, एवं देशात्मक शरीर ही मानव का 'स्थूलशरीर' है, जोकि लोकसामान्य में 'शरीर' नाम से प्रसिद्ध है।

१११-स्थूलदृष्टि से अनुगत सूर्य्य-चन्द्र-भू-पिण्ड, एवं सूक्ष्मदृष्टि से अनुगता प्राणदृष्टि के मौलिक-आधारत्व का संस्मरण—

अब इनके सम्बन्ध में देखना केवल यही है कि, इन तीनों शरीरों के स्थूलदृष्ट्या तो आधार क्रमशः सूर्य्य-चन्द्रमा-पृथिवी नामक सुप्रसिद्ध व्यक्त-मूर्त्त-विश्वपर्व बने हुए हैं। किन्तु तत्त्वदृष्ट्या (प्राणदृष्टया) इन शरीरों का मौलिक आधार क्या है?, यह प्रश्न उपस्थित होता है, जिसका तत्त्ववेददृष्टि के माध्यम से ही हमें समन्वय कर लेना है।

११२-दिग्देशकालातीत-तुरीय-आत्मा के आधार पर दिग्देशकालात्मिका शरीरत्रयी की स्वरूप-प्रतिष्ठा, एवं-मनः प्राण-वाङ्मय-सृष्टिसाक्षी आत्मा का पावन-संस्मकरण—

दिग्देशकालातीत-सृष्टिसाक्षी-जिस तुरीय आत्मा की मूलप्रतिष्ठा के आधार पर काल-दिग्-देशात्मक तीनों शरीरों की अभिव्यक्ति होती है, अभिव्यक्त होकर ये तीनों जिस आत्मदेवता पर ही प्रतिष्ठित रहते हैं, किंवा आत्ममहिमा में हीं प्रतिष्ठित रहते हैं, सृष्टिसाक्षी उस आत्मदेवता का सृष्ट्यनुबन्धी एक लक्षण माना गया है—'स वा एष आत्मा वाङ्मयः, प्राणमयो मनोमयः' (बृह० उप०)।

११३-अर्थ-क्रिया-ज्ञान-शक्तिघन-पारिभाषिक-तुरीय-आत्मा, एवं आत्मपर्वत्रयी के आधारपर ही काल-दिग्देशात्मक विश्वका, तथा तद्गर्भीभूत-भौतिक-पदार्थों का स्वरूपाविर्भाव—

वह आत्मा वाङ्मय है, अर्थात् अर्थशक्तिघन है। वह आत्मा प्राणमय है, अर्थात् क्रियाशक्तिघन है। एवं वह आत्मा मनोमय है, अर्थात् ज्ञानशक्तिघन है। ज्ञान-क्रिया-अर्थ-मय-मनःप्राणवाङ्मय-सृष्टिसाक्षी विश्वात्मा के इन तीनों आत्मपर्वों के आधार पर ही काल-दिक्-देश-स्वरूप विश्व का, तथा विश्वान्तर्गत भूत-भौतिक-पदार्थों का आविर्भाव हुआ है।

११४-ज्ञानशक्तिमय-मनोभाग से अनुगत कालसर्ग, क्रियाशक्तिमय-प्राणभाग से अनुगत दिक्सर्ग, एवं अर्थशक्तिमय-वाग्भाग से अनुगत देशसर्ग, और कालात्मक-सौरसर्ग, दिगात्मक चान्द्रसर्ग, एवं देशात्मक पार्थिव-सर्ग से अनुप्राणिता मानवीया 'कारण-सूक्ष्म-स्थूल-शरीरत्रयी'—

ज्ञानशक्तिमय मनोभाग ही 'कालसर्ग' की मूलप्रतिष्ठा बनता है, क्रियाशक्तिमय प्राणभाग ही 'दिक्सर्ग' का प्रवर्त्तक बनता है, एवं अर्थशक्तिमय वाग्भाग ही 'देशसर्ग' का आरम्भक बनता है। ये ही तीनों सर्ग क्रमशः—कालात्मक सौरसर्ग, दिगात्मक चान्द्रसर्ग, एवं देशात्मक पार्थिवसर्ग, इन तीनों सर्गों के प्रवर्त्तक बने हुए हैं, जिन इन तीनों विश्वसर्गों से ही मानव के कारण, सूक्ष्म, स्थूल, शरीरों की अभिव्यक्त हुई है।

११५-कालात्मक-सौरसर्ग से अनुगत मानवीय-बुद्धितन्त्र, दिगात्मक-चान्द्रसर्ग से अनुप्राणित मनस्तन्त्र, एवं देशात्मक-पार्थिवसर्ग से अनुप्राणित शरीरतन्त्र, और इष्टानिष्ट-सदसत् पापपुण्य-हिंसा-अहिंसा-सत्यानृत-अन्न-अन्नाद-भोग्यभोक्ता-हानि-लाभ-मानापमान-उत्थानपतन-संयोग-विप्रयोग-आदि आदि सापेक्षभावों से अनुगता शरीरत्रयी—

कालात्मक सौरसर्ग ही मानव की कारणशरीरात्मिका बुद्धि का प्रवर्त्तक है, दिगात्मक चन्द्रमा हीं मानव के सूक्ष्मशरीरात्मक मन का प्रवर्त्तक है, एवं देशात्मक भूपिण्ड (पार्थिवविवर्त्त)

ही मानव के स्थूलशरीरात्मक शरीर का आरम्भक है। इष्टानिष्ट, सदसत् पापपुण्य, हिंसा-अहिंसा, सत्यानृत, अन्न-अन्नाद, भोग्य-भोक्ता, हानि-लाभ, मानपमान, उत्थान-पतन, संयोग-विप्रयोग, आदि आदि यच्चयावत् सापेक्ष द्वन्द्वभावों का सम्बन्ध दिग्देशकालानुबन्धिनी इस शरीरत्रयी से ही माना गया है।

११६-विश्वात्मा के महिमा-मय 'विश्व' विवर्त्त का संस्मरण, काल-दिक्-देशात्मिका अभिव्यक्ति से अनुप्राणित विश्व, विश्वात्मांशभूत-'देही-भूतात्मा', तदनुगत भूतात्म-संस्थानरूप शरीर, तन्निबन्धना विवर्त्तत्रयी, एवं कारण-सूक्ष्म-स्थूल-शरीरनिबन्धना प्रज्ञा-प्राण-भूत-विवर्त्तत्रयी का संस्मरण—

विश्वात्मा का महिमामय विवर्त्त ही विश्व है। दूसरे शब्दों में-सृष्टिसाक्षी विश्वात्मा के ज्ञान-क्रिया-अर्थात्मक-मनः-प्राण-वाग्-रूपों की काल-दिक्-देशात्मिका अभिव्यक्ति का ही नाम विश्व है। मानव-संस्था में विश्वात्मा का अंश ही 'देही भूतात्मा' कहलाया है, एवं विश्वात्मा के काल-दिक-देशात्मक विश्व से सम्पन्न भूतात्मसंस्थान ही 'शरीर' कहलाया है, जिसके कारण-सूक्ष्म-स्थूल, तीनों विवर्त्त अध्यात्मभाषा में क्रमशः प्रज्ञा-प्राण-भूत-नाम से प्रसिद्ध हुए हैं।

११७-विश्वात्मा के विश्व की पारिभाषिकी 'घनरूपता', एवं तदंशभूत देही भूतात्मा की पारिभाषिकी 'अंशरूपता' का समन्वय, तथा-रहस्यपूर्णा-प्रज्ञामात्रा, प्राणमात्रा भूतमात्रा, नामकी मात्रा-त्रयी से अनुप्राणिता-'मात्रा' वृत्तियों का पारिभाषिक-समन्वय-प्रयास, और तन्निबन्धना अंशरूपता—

विश्वात्मा के महान् विश्व का स्वरूप 'घनभावापन्न' है। 'तस्यैव मात्रामुपादाय सर्वाणि भूतानि-उपजीवन्ति' के अनुसार इस घनभावकी अंशात्मिका मात्राओं से ही विश्वगर्भीभूत प्राणियों की शरीरसंस्थाओं का स्वरूप-निर्म्माण हुआ है। अतएव शरीरानुबन्धिनी ये अभिव्यक्तियाँ-'मात्रा' नाम से व्यवहृत हुई हैं। अंशभाव ही 'मात्रा' शब्द से सङ्केतित है। अतएव कालात्मिका-कारणशरीरात्मिका-बुद्धि से अनुप्राणिता ज्ञानशक्तिमयी मनःप्रधाना प्रज्ञा की अभिव्यक्ति 'प्रज्ञामात्रा' नाम से, दिगात्मिका सूक्ष्मशरीरात्मिका-मन से, अनुप्राणिता क्रियाशक्तिमयी प्राणप्रधाना प्राणाभिव्यक्ति 'प्राणमात्रा' नाम से, एवं देशात्मिका-स्थूलशरीरात्मिका शरीर से अनुप्राणिता अर्थशक्तिमयी वाक्प्रधाना भूताभिव्यक्ति-'भूतमात्रा' नाम से प्रसिद्ध होरही है। उसके तीनों पर्व जहाँ घनात्मक (अंशीरूप) हैं, वहाँ इसके तीनों पर्व मात्रात्मक (अंशरूप) हैं, यही वक्तव्य-निष्कर्ष है।

११८-आचारशून्या दार्शनिकता का महान् व्यामोहन, तन्निबन्धन-विभ्रामक-'अध्यात्म' शब्द से अनुप्राणिता नितान्त-भ्रान्तिपूर्णा-काल्पनिकी आध्यात्मिका का स्वरूप-विस्फोटन, एवं इत्थंभूता महती-भ्रान्ति के दुष्परिणाम-स्वरूप ही आचारनिष्ठा-प्रधान भी उपनिषच्छास्त्र की महती-उपयोगिता का उत्तरोत्तर अभिभव—

आचारशून्या दार्शनिकता के व्यामोहन से आज-'अध्यात्म' शब्द निरतिशयरूपेय भ्रामक बना ही हुआ है। 'अध्यात्म' शब्द के सुनने के साथ ही आज सर्वसाधारण का ध्यान किसी दिग्देशकालतीत अचिन्त्य

सूक्ष्मतम उस 'आत्मभात्र' की ओर ही आकर्षित होपड़ता है, जिस तुरीय आत्मभाव का दिग्देशकालानुबन्धी व्यावहारिक–भौतिक–जगत् के साथ कोई उपयोग नहीं है। अतएव 'आध्यात्मिक-चर्चा' शब्द आज हमारी प्रज्ञा को व्यावहारिक क्षेत्र से सर्वथा ही पृथक्कर देता है। इसी भ्रान्ति से उपनिषच्छास्त्र हमारी आचारनिष्ठा से, एवं तदनुबन्धिनी व्यावहारिकी लोकनिष्ठा से विगत अनेक शताब्दियों से सर्वथा पृथक् ही बन गया है, किंवा बलपूर्वक बना दिया गया है। अतएव च मानव–जीवन के लिए महान् भी उपयोगी उपनिषच्छास्त्र हमारे लिए आज एक अनुपयुक्त शास्त्र ही उद्घोषित होपड़ा है तथाकथिता आध्यात्मिकता की भ्रान्ति के कारण।

११९–'अध्यात्मम्' से अनुप्राणिता वस्तुस्थिति का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय-प्रयास, 'शरीर' निबन्धन पारिभाषिक-'अध्यात्म' शब्द का निर्वचनात्मक स्पष्टीकरण, एवं इत्थभूत-दिग्देशकालनिबन्धन-भूतानुगत-अध्यात्म-शब्द की व्याप्ति का दिग्दर्शन-प्रयास—

वस्तुस्थिति तो वास्तव में यही है कि, 'अध्यात्म' शब्द प्रधानरूप से मानवीय 'शरीर' का ही संग्राहक बना हुआ है। आत्मा के आधार पर, किंवा आत्ममहिमा में प्रतिष्ठिता शरीरत्रयी का ही नाम 'अध्यात्मम्' है। 'आत्मानमधिकृत्य यत्–प्रवर्त्तते' ही अध्यात्मशब्द का निर्वचनात्मक समन्वय है, जिसका सर्वथा सहज यही अर्थ अभिव्यक्त होरहा है कि, "तुरीय आत्मा को आधार बना कर स्वस्वरूप से अभिव्यक्त होने वाली कालदिग्देशात्मिका शरी त्रयी का ही नाम अध्यात्मम् है"। दूसरे शब्दों में–सृष्टिसाक्षी आत्मा से अनुगता शरीरत्रयी ही वह अध्यात्मम् है, जिसकी सीमा में सम्पूर्ण भूत-भौतिक प्रपञ्च समाविष्ट है। आपिपीलिकाभ्य:–कीटपतङ्गेभ्य:–स्थावर–जङ्गम–चर–अचर–सभी कुछ 'अध्यात्म' शब्द की सीमा में हीं अन्तर्भुक्त हैं।

१२०–आत्माधिकार से समन्विता आत्ममहिमा, एवं तद्वञ्चिता जीवनपद्धति की-'भौतिकता', तथा आत्ममहिमान्विता-भारतीया-नैष्ठिकी-'आध्यात्मिकी-जीवनपद्धति' के माङ्गलिक–विधि–विधानों का संस्मरण—

आत्माधिकार से, एवं तदन्विता आत्ममहिमा से वञ्चिता जीवनपद्धति जहाँ 'भौतिक-जीवनपद्धति' कहलाई है, वहाँ आत्ममहिमा से समन्विता भूतभौतिकी जीवनपद्धति ही 'आध्यात्मिकी–जीवनपद्धति' मानी गई है, और इसीका नाम है भारतीया–'सांस्कृतिक-जीवनपद्धति', जिसके सामान्य–विशेष, बड़े छोटे सभी विधि–विधान 'आध्यात्मिक-विधान' ही माने गए हैं।

१२१–आत्माधिकारमूला आत्ममहिमावृत्ति के आत्मरूप-विधि-विधान, 'अन्नं ब्रह्मेत्युपास्व' रूपा ब्रह्मभावना की भौतिकता का पारिभाषिक-समन्वय, एवं अध्यात्मसीमा में हीं अन्तर्भुक्त-'भूत'-जगत् का संस्मरण—

आत्माधिकारमूला आत्ममहिमा के अनुग्रह से ही भारतीय मानव के सम्पूर्ण भूत–भौतिक–विधान भी आत्ममय, किंवा ब्रह्ममय ही बने हुए हैं। अतएव दैनंदिनीय भोजनान्न भी अध्यात्मनिष्ठ भारतीय मानव की दृष्टि में केवल जड़भूत न होकर साक्षात् 'ब्रह्म' ही बना हुआ हैं, जैसाकि—'अन्नं ब्रह्मेत्युपास्व' (तै० उप०)

इत्यादि उद्घोषों से स्पष्ट प्रमाणित है। अतएव हमें मान लेना चाहिए कि, 'भूत' का आत्मा से पृथक् कोई स्वतन्त्र अस्तित्त्व नहीं है। भूत भी अध्यात्मसीमा में हीं अन्तर्भुक्त है।

१२२–'अध्यात्म' शब्द के द्वारा अनुगत-भौतिक-जगत् से पृथक्-भूत-अचिन्त्य-तत्त्व के भ्रान्तिपूर्ण-व्यामोहन का निराकरण-प्रयास, भूतसम्परिष्वक्त-अध्यात्म के पारिभाषिक-स्वरूप के विश्लेषक-श्रौत-स्मार्त-वचनों का संस्मरण, एवं भूतनिबन्धन अध्यात्म के समन्वय से अनुप्राणित आचारनिष्ठात्मक जीवनसौन्दर्य का दिग्दर्शन

अतएव कदापि हमें 'अध्यात्म' शब्द के द्वारा भौतिक-जगत् से पृथक् किसी अचिन्त्य तत्त्व के व्यामोहन में आसक्त नहीं होजाना चाहिए। 'भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः–प्रेत्यास्माल्लोकादमृता–भवन्ति'-'इह चेन्नावेदीत्–महती-विनष्टिः'–एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते'--अविभक्तं विभक्तेषु विभक्तमिव च स्थितम्'--'भूतभृन्नच--भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः'--'मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव' इत्यादि श्रौत-स्मार्त्त-सिद्धान्तों के अनुसार यह भूतभौतिक विश्व, एवं तदंशभूत शरीरत्रयात्मक यह भौतिक शरीर भी 'अध्यात्म' शब्द की सीमा में हीं समाविष्ट है, जिसे पृथक् कर देने पर मानव के जीवनसौन्दर्य्य का यत्किञ्चित् भी तो महत्त्व शेष नहीं रह जाता।

१२३–काल्पनिकी-आध्यात्मिकता में आविष्ट तत्त्व-मीमांसक-दार्शनिक की महती-भ्रान्ति से ही भारतीय-आर्षमानव के प्रकृतिसिद्ध-आचारात्मक-भूतभौतिक-जीवनसौन्दर्य्य का त्रिसहस्रवर्षानुगत अभिभव, एवं तन्निबन्धन काल्पनिक जगन्मिथ्यात्त्ववाद से राष्ट्र की श्रीविहीनता—

काल्पनिकी आध्यात्मिकता में आविष्ट तत्त्वमीमांसक दार्शनिक की भ्रान्ति से ही भारतीय–मानव का समस्त जीवनसौन्दर्य्य सर्वथैव कुण्ठित बनता चला आरहा है विगत तीन सहस्र वर्षों से। इसी भ्रान्ति से इसका भौतिक--आचार शिथिलप्राय बन गया है। इसी व्यामोहन से ब्रह्म का महिमामय भौतिक विश्व इसकी दृष्टि में 'मिथ्या' ही प्रमाणित होगया है। इसी जगन्मिथ्यात्त्ववाद ने इसे सर्वथैव श्रीविहीन ही प्रमाणित कर दिया है।

१२४–सर्वविध-इत्थंभूत अकाण्डताण्डवताओं का आविर्भावक काल्पनिक-'अध्यात्म' शब्द, तथा तन्निबन्धना भ्रान्ति से ही उपनिषच्छास्त्र की अनुपयोगिता, एवं—

और इन सब अकाण्डताण्डवों का प्रधान मूल बना है-'अध्यात्म' शब्द, जिसके-'अधि-आत्मम्' लक्षण निर्वचनार्थ के समन्वय से असंस्पृष्ट बने रह जाने के कारण हीं दार्शनिक ने अध्यात्म शब्द को अधिभूत से सर्वथा पृथक् कर मानव को एकप्रकार के काल्पनिक शून्यवाद पर ही ला खड़ा किया है। इसी शून्यवाद के अनुग्रह से जीवनव्यवहार के लिए अत्यन्त उपयोगी भी उपनिषच्छास्त्र आज केवल पूजन-अर्चन का ही साधन बना रह गया है।

१२५–उपनिषच्छास्त्र से समतुलितैव स्थिति का गीतादि-अन्य आचारशास्त्रों के साथ सङ्क्रमण, और अध्यात्मवाद–निबन्धना कल्पना का नग्नचित्रण, तथा 'अध्यात्म' शब्द के भूतानुबन्धी-रहस्य-पूर्ण-पारिभाषिक-समन्वय-से अनुगत कतिपय आर्ष-वचन (श्रुतिवचन)—

वही अवस्था गीतादि अन्य शास्त्रों की हुई है। अतएव यह आवश्यक है कि, भारतीय प्राच्यसाहित्य के समन्वय में प्रवृत्त होने से पूर्व ही हम इस 'अध्यात्म' शब्द का तात्त्विक समन्वय-बोध प्राप्त करलें, एवं तदाधार पर ही शास्त्रीय-तथ्यों की उपासना में प्रवृत्त होने की चेष्टा करें। यहाँ हम प्रसङ्गधिया कुछ एक वैसे श्रौतवचन उद्धृत कर देते हैं, जिनके आधार पर प्रज्ञाशील पाठक स्वयं ही–'अध्यात्म' शब्द के तथ्यार्थ का समन्वय कर सकेंगे।

(१)—अथो यान्यस्या--अध्यात्ममङ्गानि विषमाणि, तान्यस्यैताभिराप्रीणाति।

—शत० ६।२।१।३४।

(२)—अथाध्यात्मम्--शिर एव वैश्वानर आत्मैष आदित्यश्चरुः। शिरश्च-तदात्मानं च करोति। शिरस्तत्कृत्वात्मानं करोति।

—शत० ६।६।१।६।

(३)—अथाध्यात्मम्-आत्मैवाग्निः, प्राणाः शिक्यम्। प्राणैर्ह्ययमात्मा शक्नोति स्थातुम्। प्राणैरेवैनमतद्बिभर्त्ति।

—शत० ६।७।१।२०।

(४)—अथाध्यात्मम्। एतस्य तदात्मनो मांसैः संछादयति।

—शत० ८।७।४।१६।

(५)—अथाध्यात्मम्-पञ्चेमाश्चतुर्विधा अङ्गुलयः, द्वे कल्कुषी, दोरंसफलम्, चाक्षश्च, तत्पञ्चविंशतिः।

—शत० १०।३।४।१४।

(६)—अथाध्यात्मम्-यदेव पुरुषेऽन्नं, तदन्नम्। या आपस्ततपानम्। अस्थीन्येव श्रीः। मज्जानो ज्योतिः। प्राणोऽमृतम्। अन्नाद्वा अशनाया निवर्त्तते।

—शत० १०।३।१।१८

१२६–विश्वेश्वरात्मा से नित्य समन्वित विश्वानुबन्धी अधिदैवतभाव, जीवात्मनिबन्धन अध्यात्मभाव, एवं भूतनिबन्धन अधिभूतभाव, तथा दैवत-आत्मिक-भौतिक-विवर्त्त-त्रयी की अभिन्नतानुगता पूर्णता का संस्मरण—

विश्वेश्वरात्मा से नित्य समन्वित विश्व ही 'अधिदैवतम्' है। जीवात्मा से नित्य समन्विता शरीरत्रयी ही 'अध्यात्मम्' है। एवं आत्मस्वरूप की पूर्णाभिव्यक्ति से वञ्चित विशुद्ध भूत ही

'अधिभूतम्' है। ईश्वरसंस्था 'अधिदैवतम्' है, मानवसंस्था-'अध्यात्मम्' है, एवं तदतिरिक्त कृमि-कीट-पक्षी-ओषधि-वनस्पत्यादिवर्ग 'अधिभूतम्' है। अधिदैवतलक्षणा ईश्वरसंस्था के सर्वात्मना प्रवृत्त पूर्ण स्वरूप का ही नाम-मानवीया-अध्यात्मसंस्था है, जिसके लिए-'पूर्णमदः पूर्णमिदम्-पूर्णात्पूर्णमुदच्यते' इत्यादि प्रसिद्ध है।

१२७–चतुर्लोकात्मिका ईश्वरसंस्था, लोकचतुष्टयी से अनुप्राणित 'मा'-'प्रमा'-'प्रतिमा'-'अस्रीवि' नामक चार छन्द, एवं चारों छन्दों से अनुप्राणित क्रमानुगत 'त्रिवृत्' ६–'पञ्चदश' (१५)--'एकविंश' (२१)-त्रयस्त्रिंश' (३३)–भेदभिन्न चार स्तोम-विवर्त्त—

ईश्वरसंस्था चतुर्लोकात्मिका है, जो कि चारों लोक क्रमशः–पृथिवी, अन्तरिक्षं, द्यौः, आपः, इन नामों से प्रसिद्ध हैं। इन चारों लोकों के सीमाभावसम्पादक चार छन्द माने गए हैं, जो क्रमशः–मा–प्रमा–प्रतिमा–अस्रीवि–नामों से प्रसिद्ध हैं। देवच्छन्दानुबन्ध से ये ही चारों छन्द क्रमशः गायत्री-त्रिष्टुप्-जगती–अनुष्टुप्–नामों से प्रसिद्ध हैं, जिन इन चारों छन्दों का क्रमशः त्रिवृत् (९) पञ्चदश (१५)-एकविंश (२१)–त्रयस्त्रिंश (३३) नामक चार स्तोमों से क्रमिक सम्बन्ध है।

१२८–माछन्दोऽनुगत गायत्री-छन्द से अनुगत अग्निदेवता, प्रमाछन्दोऽनुगत त्रिष्टुप् छन्द से अनुगत वायुदेवता, प्रतिमाछन्दोऽनुगत जगती-छन्द से अनुगत आदित्य-देवता, एवं अस्रीविछन्दोऽनुगत-अनुष्टुप्-छन्द से समन्वित सोमदेवता, तथा तदनुप्राणिता ऋक्–यजुः-साम–अथर्वरूपा-तत्त्वात्मिका वेदचतुष्टयी का पावन-संस्मरण—

माछन्दोऽनुगता गायत्रीछन्द से छन्दित त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न पृथिवीलोक के अतिष्ठाता (अधिष्ठाता–शवसोनपात्) अग्निदेवता हैं। प्रमाछन्दोऽनुगत-त्रिष्टुप्-छन्द से छन्दित, पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न अन्तरिक्ष लोक के अतिष्ठाता वायुदेवता हैं। प्रतिमाछन्दोऽनुगत–जगतीछन्द से छन्दित, एकविंशस्तोमावच्छिन्न द्युलोक के अधिष्ठाता आदित्यदेवता हैं। एवं अस्रीविछन्दोऽनुगत-अनुष्टुप्छन्द से छन्दित, त्रयस्त्रिंशस्तोमावच्छिन्न चौथे आपोलोक के अधिष्ठाता सोमदेवता हैं। पार्थिव अग्निदेवता ऋक्तत्त्व से, आन्तरिक्ष्य वायुदेवता यजुस्तत्त्व से, दिव्य–आदित्यदेवता सामतत्त्व से, तथा आप्य सोमदेवता अथर्वतत्त्व से समन्वित हैं। अग्नि–वायु–आदित्य, तीनों एक ही अन्नादाग्नि की घन–तरल–विरल–नाम की तीन अवस्थामात्र हैं।

१२९–अग्नि की घन-तरल-विरलावस्थानुगता अवस्थात्रयी से अनुप्राणित–'अन्नाद' तत्त्व में अन्नतत्त्व का अन्तर्भाव, तन्निबन्धना त्रैलोक्यानुगता पारिभाषिकी वेदत्रयी के सम्बन्ध में मनुवचन का संस्मरण—

अन्नादत्रयी से समन्वित चौथे अथर्वात्मक अन्नसोम को 'अत्तैवाख्यायते नाद्यम्' (शतपथब्राह्मणे) के अनुसार अन्नादाग्नित्रयी में हीं अन्तर्भूत मान लिया जाता है। अतएव उसका स्वतन्त्ररूपेण व्यवहार नहीं

होता। अतएव च त्रैलोक्यानुगता वेदत्रयी ही व्यवहारप्रसिद्धा बनी हुई है, जैसाकि निम्नलिखित मनुवचन से स्पष्ट है—

अग्नि-वायु-रविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्-यजुः-साम-लक्षणम्॥
—मनुः १।२३।

१३०–आत्ममहिमाधिकृता ईश्वरीयसंस्था के अधिदैवतभावनिबन्धन–त्रिधामात्मक–मनःप्राणवाङ्मय-पारिभाषिक-विश्वात्मा का दिग्दर्शन—

सृष्टिसाक्षी जिस आत्ममहिमा को अधिकृत कर ईश्वरीय-संस्थानुगत त्रिधात्मात्मक अधिदैवत विश्व की*, तथा मानवीय-संस्थानुगत शरीरत्रयात्मक अध्यात्म–शरीर की अभिव्यक्ति होती है, मूलप्रतिष्ठारूप वह आत्मा मनः–प्राणवाङ्मय बनता हुआ ज्ञान–क्रिया–अर्थ–शक्तिमय ही है, जैसाकि पूर्व में स्पष्ट किया जाचुका है। (देखिए पृ० सं० १०१)। सृष्टिसाक्षी विश्वात्मा के ज्ञान-क्रिया-अर्थ-मय मनः–प्राण–वाक्–नामक तीनों पर्व त्रिवृद्भावापन्न हैं, जिस इस मनः–प्राण–वाक्–के त्रिवृद्भाव का विशद निरूपण ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य के प्रथमखण्ड से गतार्थ है।

१३१–मनः-प्राण-वाग्-अनुबन्धी-त्रिवृद्भाव के कारण आत्मकलात्रयी की (प्रत्येक की) त्रिवृद्रूपता, एवं त्रिभावनिबन्धना-पारिभाषिकी मनः-प्राण-वाङ्मयी-आत्मकलाओं का विश्वसापेक्ष-समन्वय-प्रयास—

इस त्रिवृद्भाव के कारण तीनों हीं आत्मकलाएँ (प्रत्येक) त्रिः–त्रिः–भावापन्ना हैं। तीनों में एक एक कला प्रमुख है, एवं शेष दो दो कलाएँ गौण हैं, जिसका फलितार्थ यही निकलता है कि, परमधामानुगता–कारणशरीरनिबन्धना–विश्व की प्रथमा–कला **वाक्–प्राण–गर्भिता–मनोमयी** है। मध्यमधामानुगता

---

*–ईश्वरीय–अधिदैवतसंस्थान के **स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य्य–चन्द्रमा–भूपिण्ड** नामक पांच पर्व प्रसिद्ध हैं, अतएव विश्वविद्या पञ्चपर्वा कहलाई है। पञ्चपर्वात्मक इस विश्व में स्वयम्भू, और परमेष्ठी, इन दोनों अमृतपर्वों का एक **'धाम'** है, जो **'परमधाम'** नाम से प्रसिद्ध है। विश्वमध्यस्थ अमृत–मृत्यु–मय–उभयात्मक सूर्य्य का एक धाम है, जो–**'मध्यमधाम'** कहलाया है। एवं चन्द्रमा, तथा भूपिण्ड, इन दोनों मर्त्यपर्वों का एक धाम है, और यही **'अवमधाम'** कहलाया है। परमधाम उसका **कारणशरीर** है, मध्यमधाम **सूक्ष्मशरीर** है, एवं अवमधाम **स्थूलशरीर** है। निम्न लिखित मन्त्र के द्वारा त्रिधात्मक इसी विश्वकर्म्मा का स्वरूपोपबृंहण हुआ है—

या ते धामानि परमाणि यावमा या मध्यमा विश्वकर्म्मन्नुतेमा।
शिक्षा सखिभ्यो हविषि स्वधा वः स्वयं यजस्व तन्वं वृधानः॥
ऋक्संहितायां १०।८१।५।

सूक्ष्मशरीरनिबन्धना विश्व की दूसरी कला **मनोवाग्गर्भिता प्राणमयी है** । एवं अवमधामानुगता-स्थूलशरीर-निबन्धना विश्व की तीसरी कला मनःप्राणगर्भिता वाङ्मयी है ।

१३२-अध्यात्मभाषा से अनुगत पारिभाषिक-कला-नाम-व्यवहार का समन्वय, एवं प्रथमा-द्वितीया-तृतीया--त्रिवृद्भावापन्ना--अन्योऽन्याश्रित भावनिबन्धन--गर्भ--भाव-समन्वित-त्र्यात्मक-रहस्यपूर्ण-तथ्य का स्पष्टीकरण—

अध्यात्मभाषा में मनोमयी ज्ञानकला मात्रात्मक अंशभाव के कारण **प्रज्ञामात्रा** कहलाई है, प्राणमयी क्रियाकला **प्राणमात्रा** नाम से व्यवहृत हुई है, एवं वाङ्मयी अर्थकला **भूतमात्रा** नाम से प्रसिद्ध हुई है, जिसका त्रिवृद्भावानुबन्ध से फलितार्थ यही निकलता है कि, ज्ञानशक्तिमय मन से अनुप्राणिता, कारणशरीर-निबन्धना-(अध्यात्म की) प्रथमा कला **भूत-प्राण-गर्भिता प्रज्ञामात्रामयी है** । क्रियाशक्तिमय प्राण से अनुप्राणिता, सूक्ष्मशरीरनिबन्धना द्वितीया कला **प्रज्ञा-भूत-गर्भिता प्राणमात्रामयी है** । एवं अर्थशक्तिमयी वाक् से अनुप्राणिता तृतीया-कला **प्रज्ञा-प्राणगर्भिता-भूतमात्रामयी है** । **त्र्यात्मिका प्रज्ञामात्रा ही मानव का कारणशरीर है, त्र्यात्मिका प्राणमात्रा ही इसका सूक्ष्मशरीर है, एवं त्र्यात्मिका भूतमात्रा ही इसका स्थूलशरीर है**, यही वक्तव्य-निष्कर्ष है ।

१३३-अवधानदृष्टि से अनुप्राणित त्र्यात्मक-आत्मकलानुबन्धी-समन्वय, तन्निबन्धन मङ्गलपाठ-समन्वय, एवं मङ्गलसमन्वयानुबन्धिनी-अध्यात्म-अधिदैवत-विवर्त्तद्वयी का तालिका-माध्यमेन-स्पष्टीकरण-प्रयास—

अत्यन्त अवधानपूर्वक इस त्र्यात्मक-समन्वय को लक्ष्य बनाकर ही हमें अधिदैवत, तथा अध्यात्म-संस्थानों के समन्वय में प्रवृत्त होना चाहिए, जिन इन दोनों त्र्यात्मक संस्थानों के समन्वय-बोध पर ही उपनिषदनुबन्धी आद्यन्त का मङ्गलपाठ सुसमन्वित होरहा है, जिस मङ्गलसमन्वयानुबन्ध से ही हमें इस अधि-दैवत-अध्यात्म-विवर्त्तद्वयी का संस्मरण कर लेना पड़ा है । आगे की तालिकाओं से उक्त तथ्य का सर्वात्मना स्पष्टीकरण होजाता है—

अधिदैवत-अध्यात्म-संस्थाविवर्त्त-परिलेखस्त्र्यात्मकः—

स वा एष आत्मा–वाङ्मयः, प्राणमयो मनोमयः

१—मनोमयः—प्राण–वाग्गर्भितः—मनोमूर्त्तिः—ज्ञानात्मा

२—प्राणमयः—मनो–वाग्गर्भितः—प्राणमूर्त्तिः—कर्म्मात्मा

३—वाङ्मयः—मन–प्राणगर्भितः—वाङ्मयः—भूतात्मा

अथाधिदैवतम्–ईश्वरसंस्थानुगतम्–अंशी–भावात्मकम्

१—स्वयम्भूः (१) २—परमेष्ठी (२)	अमृतात्मकं–परमधाम–कारणशरीरं मनोमयं–ईश्वरप्रजापतेः
३—सूर्य्यः (३)	उभयात्मकं–मध्यमधाम–सूक्ष्मशरीरं–प्राणमयं–प्रजापतेः
४—चन्द्रमाः (४) ५—भूपिण्डः (५)	मृत्युरूपं–अवमधाम–स्थूलशरीरं–वाङ्मयं–प्रजापतेः

अथध्यात्मम्–मानवसंस्थानुगतम्–अंशात्मकं–मात्रात्मकम्

१—प्राण–भूत–मात्रागर्भिता–मनोमयी–प्रज्ञामात्रा—कारणशरीरं–मानवस्य

२—प्रज्ञा–भूत–मात्रागर्भिता–प्राणामयी–प्राणमात्रा—सूक्ष्मशरीरं–मानवस्य

३—प्रज्ञा–प्राण–मात्रागर्भिता–वाङ्मयी–भूतमात्रा—स्थूलशरीरं–मानवस्य

१—कारणशरीरात्मिका–प्रज्ञात्मिका—बुद्धिः—कालात्मिका (सौरी)

२—सूक्ष्मशरीरात्मकं—प्राणात्मकं–मनः—दिगात्मकम् (चान्द्रम्)

३—स्थूलशरीरात्मकं—भूतात्मकं–शरीरम्—देशात्मकम् (पार्थिवम्)

अधिदैवत–अध्यात्म–संस्था–समतुलनपरिलेयखः–लोकात्मकः—

दिग्देशकालातीतः, किन्तु दिग्देशकालप्रतिष्ठालक्षणः–आत्मा

१—त्रयस्त्रिंशस्तोमः (३३)–अस्त्रीविच्छदः–अनुष्टुप–आपः–सोमः—अथर्वः

२—एकविंशस्तोमः (२१)–प्रतिमाछन्दः–-जगती—द्यौः-—आदित्यः-सामानि

३—पञ्चदशस्तोमः (१५)–प्रमाच्छन्दः—-त्रिष्टुप्-अन्तरिक्षम्-वायुः—-यजूँषि

४—त्रिवृत्स्तोमः (९)–माछन्दः—-–गायत्री—पृथिवी—अग्निः–-ऋचः

१—सोमोऽथर्वा–अन्नम् २—आदित्यः–सामानि–अन्नादः	सामानि–मनः–प्रज्ञामात्रा (कालः)–कारणशरीरम्
३—वायु–—यजूंषि–अन्नादः	यजूंषि–प्राणः–प्राणमात्रा (दिक्)–सूक्ष्मशरीरम्
४—अग्निः—-ऋचः-अन्नादः	ऋचः–वाक्–भूतमात्रा (देशः)–स्थूलशरीरम्

* * * *

१३४–तत्त्ववेदानुबन्धिनी स्थिति का प्रकारान्तरेण समन्वय, एवं 'सर्वं हीदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम्' इत्यादि तैत्तिरीय-वचन से अनुगत पारमेष्ठ्य-अथर्वब्रह्म के 'सर्ववेदमयत्त्व' का पारिभाषिक-दिग्दर्शन—

उक्त स्थिति का प्रकरान्तरेणयों भी समन्वय किया जासकता है कि, पार्थिव अग्नि ऋग्वेद की मूलप्रतिष्ठा है। आन्तरिक्ष्य वायु यजुर्वेद का मूलाधार है। एवं दिव्यलोकस्थ आदित्य, किंवा 'मघवा' नामक इन्द्र सामवेद की आलम्बनभूमि है। इन तीनों लोकों का, तथा तीनों लोकों के अधिष्ठाता अग्नि-वायु-इन्द्र-नामक तीनों प्राण-देवताओं का प्रभव-प्रतिष्ठा-परायणरूप चौथा सोमलोक (पारमेष्ठ्यलोक) ही अथर्वब्रह्म है, जिस के लिए-'सर्वं हीदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम्' (तै॰ ब्रा॰) यह प्रसिद्ध है।

१३५–अथर्वब्रह्मात्मक सोम की अग्नि में आहुति, तन्निबन्धना अवस्थात्रयी, एवं पार्थिव-ऋग्वेद से अनुगत-अग्नि-प्रधान-स्थूलशरीर के पारिभाषिक-स्वरूप का स्पष्टीकरण-प्रयास—

यह अथर्वब्रह्म (सोम) ही पार्थिव अग्नि में आहुत होकर घन–तरल–विरल–भेद से एक ही पार्थिव प्राणाग्नि के अग्नि (घनाग्नि)-वायु (तरलाग्नि)-आदित्येन्द्र (विरलाग्नि), ये तीन विभाग कर देता है, जैसा कि आगे चलकर **केनोपनिषद्भाष्य** में विस्तार से स्पष्ट होने वाला है। अतएव सोमरूप, अतएव च अन्नात्मक इस अथर्वब्रह्म का अन्नादरूपा प्राणाग्नित्रयी मे अवच्छिन्ना वेदत्रयी में ही अन्तर्भाव मान लेना न्यायसङ्गत बन जाता है। ऋक्–यजुः-साम, इन तीनों में से **अग्निमय पार्थिव ऋग्वेद का, किंवा ऋङ्मय अग्नि का** देशानुगत–पार्थिव–स्थूलशरीर के साथ प्रधान सम्बन्ध **है। स्थूलशरीर की प्रतिष्ठा ऋग्वेद ही है।**

१३६–वस्तुपिण्ड का स्वरूप-समर्पक अग्नितत्त्व, वायुमय आन्तरिक्ष्य यजुर्वेद, एवं आन्तरिक्ष्य-यजुर्वेद से अनुगत-वायुप्रधान-सूक्ष्मशरीर के पारिभाषिक-स्वरूप का स्पष्टीकरण-प्रयास—

प्रत्येक वस्तुपिण्ड अग्निमय है। दूसरे शब्दों में-जिन स्थूल पिण्डों का हम अपने चर्म्मचक्षुओं से साक्षात्कार कर हैं, वे सब ऋगग्नि–प्रधान ही हैं। इसी आधार पर–'**यच्च किञ्चिद्दार्ष्टिविषयकमग्नि–कर्म्मैव तत्सर्वम्**' [यास्कनिरुक्त-दैवतकाण्ड–७।८।३।] यह नैगमिक सिद्धान्त प्रतिष्ठित है। **वायुमय आन्तरिक्ष्य यजुर्वेद का, किंवा यजुर्म्मय वायु का** दिगनुगत-आन्तरिक्ष्य-सूक्ष्मशरीर के साथ प्रधान सम्बन्ध है। **सूक्ष्मशरीर की मूलप्रतिष्ठा यजुर्वेद ही है।**

१३७–यजुर्वेद के पारिभाषिक स्थिति-गति-प्रकृतिक यत्-जू-भावों का संस्मरण, तन्निबन्धना प्राणमात्रा, सूक्ष्मशरीरानुगता मूलप्रतिष्ठा, एवं द्युलोकीय–सामवेद, तथा तदनुगत-आदित्यप्रधान-कारणशरीर के पारिभाषिक-स्वरूप का स्पष्टीकरण-प्रयास, एवं परिलेख के माध्यम से वस्तुस्थिति का समन्वय—

इस यजुः में यत्, और जू नामक गति–स्थिति–प्रकृतिक दो तत्त्व समन्वित हैं। दोनों में यत् तत्त्व गतिमान् प्राण है। यही यद्रूप प्राण **प्राणमात्रा** का स्वरूप-समर्पक है। यही सूक्ष्मशरीर की मूलप्रतिष्ठा है। तीसरे **आदित्यमय दिव्य सामवेद का, किंवा साममय आदित्य का** कालानुगत–दिव्य–कारणशरीर के साथ प्रधान सम्बन्ध **है। सामवेद ही कारणशरीर** की मूलप्रतिष्ठा है। आदित्य ही कारणशरीररूप **आयुःसूत्र** का मूलप्रवर्त्तक **है।** आयुःसूत्र ही अध्यात्मसंस्था की मूलप्रतिष्ठा है। आगे के दोनों परिलेखों से इस स्थिति का सर्वात्मना समन्वय होजाता है—

१—प्रज्ञामात्रा—आत्मभावः—–ज्ञानानुगतः—एकविंशः-इन्द्रात्मकः (मनोमयं—कारणशरीरम्)

२—प्राणमात्रा-देवभावः —क्रियानुगतः-पञ्चदशः—वाय्वात्मकः (प्राणमयं—सूक्ष्मशरीरम्)

३—भूतमात्रा—भूतभावः—–अर्थानुगतः—त्रिवृतः—अग्न्यात्मकः (वाङ्मयं—स्थूलशरीरम्)

१—रविः—दिव्यः——साममयः—कारणशरीरसञ्चालकः, तत्प्रतिष्ठा च (बुद्धिविवर्त्तभावः)

२—बायुः—आन्तरिक्ष्यः-यजुर्म्मयः—सूक्ष्मशरीरसञ्चालकः, तत्प्रतिष्ठा च (मनोविवर्त्तभावः)

३—अग्निः—पार्थिवः—-ऋङ्मयः—स्थूलशरीरसञ्चालकः, तत्प्रतिष्ठा च (शरीरविवर्त्तभावः)

* * *

१३८–स्थूलशरीर-सूक्ष्मशरीर-एवं कारण-शरीर के देश-दिक्-काल-भावानुबन्धी छन्दस्त्रयी से समन्वित-अत्यन्त ही रहस्यपूर्ण पारिभाषिक-तथ्यों का संकलनात्मक संस्मरण, एवं छन्द-लोक-वेद-भावानुगता-'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्' इत्यादि अनुगमश्रुति का तद्दृष्ट्या समन्वय-प्रयास—

माछन्दोऽनुगत गायत्रीछन्द, त्रिवृत्स्तोम, पृथिवीलोक, अग्निदेवता, अर्थशक्ति, भूतमात्रा, ऋग्वेद, और दैशिक स्थूलशरीर (शरीर) ये सब विवर्त्त समतुलित हैं। प्रमाच्छन्दोनुऽगत त्रिष्टुप्छन्द पञ्चदशस्तोम, चान्द्रान्तरिक्षलोक, वायुदेवता, क्रियाशक्ति, प्राणमात्रा, यजुर्वेद, और दिश्य सूक्ष्मशरीर (मन), ये सब विवर्त्त समतुलित हैं। प्रतिमाछन्दोऽनुगत जगतीछन्द, एकविंशस्तोम, सौरदिव्य लोक, आदित्यदेवता, ज्ञानशक्ति, प्रज्ञामात्रा, सामवेद, और कालिक कारणशरीर (बुद्धि) ये सब विवर्त्त समतुलित हैं। तथैव च अस्रीविछन्दोऽनुगत अनुष्टुप्छन्द, त्रयस्त्रिंशस्तोम, पारमेष्ठ्य आपोलोक, सोमदेवता, सर्वशक्ति, सर्वमात्रा, अथर्ववेद, और अव्यक्त-अमूर्त्त-दिग्देशकालात्मक महद्ब्रह्म, ये सब विवर्त्त समतुलित हैं। नातोऽन्यत् किञ्चिदस्ति। चतुष्टयं वा इदं सर्वमित्याहुराचार्य्याः।

१३९–पार्थिव-ऋग्वेदानुगत-स्थूलशरीर, आन्तरिक्ष्य-यजुर्वेदानुगत-सूक्ष्मशरीर, दिव्य-सामवेदानुगत कारणशरीर, एवं समष्ट्यात्मक-अथर्ववेदानुगत-महद्ब्रह्म से अनुप्राणित उपनिषदों के आद्यन्तभावानुगत मङ्गलसंस्मरणों का पारिभाषिक-समन्वय-प्रयास—

दूसरे शब्दों में–पार्थिव ऋग्वेद का देशात्मक स्थूलशरीर (शरीर) के साथ, आन्तरिक्ष्य यजुर्वेद का दिगात्मक सूक्ष्मशरीर (मन) के साथ, सामवेद का कालात्मक कारणशरीर (बुद्धि) के साथ, एवं अथर्ववेद का कालदिग्देशात्मक—कारण—सूक्ष्म—स्थूल—इन तीनों शरीरों के साथ सम्बन्ध प्रमाणित होरहा है। प्रकृतिसिद्धा

इस सहज स्थिति के आधार पर ही चारों वेदों के उपनिषदों के आद्यन्तानुगत मङ्गलमन्त्रों का समन्वय करना चाहिए।

१४०-ऋक्-यजुः-साम-अथर्व-वेदानुबन्धिनी उपनिषदों से अनुप्राणिता स्थूल-सूक्ष्म कारण-महद्भावनिबन्धना-स्थिति का समतुलनात्मक-रहस्यात्मक-समन्वय-प्रयास, एवं तालिका के माध्यम से तत्समन्वय का स्पष्टीकरण—

इस तात्त्विकी-स्थिति से स्पष्ट है कि, ऋग्वेदीया-यच्चयावत् उपनिषदों के मङ्गलमन्त्रों के द्वारा प्रमुखरूप से ऋगनुबन्धी स्थूलशरीर की ही मङ्गलकामना अभिव्यक्त हुई है। यजुर्वेदीया-उपनिषदों के मङ्गलमन्त्र प्रमुखरूप से यजुरनुबन्धी, सूक्ष्मशरीर की ही मङ्गलकामना अभिव्यक्त कर रहे हैं। सामवेदीया-उपनिषदों के मङ्गलमन्त्र प्रमुखरूप से सामानुबन्धी कारणशरीर की ही मङ्गलकामना का समर्थन कर रहे हैं। एवं अथर्ववेदीया-उपनिषदों के मङ्गलमन्त्र तीनों ही शरीरों की मङ्गलकामना का अनुगमन कर रहे हैं। इसी मापदण्ड के आधार पर हमें चारों वेदों के चतुर्विध मङ्गलमन्त्रों का समन्वय करना चाहिए।

१—ऋग्वेदानुगतं—स्थूलशरीरम्——ऋग्वेदीयोपनिषच्छान्तिमन्त्राः

२—यजुर्वेदानुगतं—सूक्ष्मशरीरम्——यजुर्वेदीयोपनिषच्छान्तिमन्त्राः

३—सामवेदानुगतं—कारणशरीरम्——सामवेदीयोपनिषच्छान्तिमन्त्राः

४—त्रिवेदानुगत-अथर्वात्मकं महद्ब्रह्म—अथर्ववेदीयोपनिषच्छान्तिमन्त्राः

* * *

१४१-सामवेदीया-उपनिषदों के आद्यन्तभावानुबन्धी 'माङ्गलिक-संस्मरण' का पात्र-संस्मरण, एवं गृहस्थधर्मानुबन्धिनी मङ्गलभावना का स्पष्टीकरण—

तलवकारोपनिषत्-नामक केनोपनिषत्, छान्दोग्य, मैत्रायणी, योगचूड़ामणि, जाबाल, आदि सामवेदीया-उपनिषदों के अध्ययनाध्यापन से अध्यापक आचार्य्य, तथा अध्येता अन्तेवासी, दोनों के सामवेदानुबन्धी कारणशरीरों के पर्वों का ही विस्रंसन होता है, जो कि विस्रंसन प्रवृत्तिप्रधान गृहस्थधर्म्मानुबन्ध से अमाङ्गलिक ही माना गया है। इसी अमङ्गलोपशान्ति के लिए इन सामवेदीया-उपनिषदों के आद्यन्त में निम्नलिखित मङ्गल-संस्मरण अनिवार्य्य मान लिया गया है, जिसके अक्षरार्थमात्र का ही अत्र समन्वय कर लिया जाता है—

१४२-सामवेदीया-केनोपनिषत् का मङ्गलसंस्मरणात्मक-मन्त्र—

ओं-आप्यायन्तु ममाङ्गानि-वाक्-प्राण-श्चक्षुः-श्रोत्र-मथो बलमिन्द्रयाणि च
सर्वाणि सर्वं, ब्रह्मोपनिषदं, माहं ब्रह्म निराकुर्य्याम्
मा मा ब्रह्म निराकरोत्
अनिराकरणं मेऽस्तु, अनिराकरणं मेऽस्तु
तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्म्मास्ते मयि सन्तु, ते मयि सन्तु
ओं शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

१४३-सामवेदीय-मंगलसंस्मरणात्मक-मन्त्र का अक्षरार्थ-समन्वय—

प्रणवोङ्कारपूर्वक मेरे अङ्ग परितृप्त हों। वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्ररूप ज्ञानप्रधान इन्द्रियाँ, उक्थरूप मुख्यप्राणात्मक बल, हस्त-पादादि कर्म्मेन्द्रियाँ सब परितृप्त हों। ब्रह्म की सभी उपनिषदें परितृप्त हों। मैं अपनी अध्यात्मसंस्था से ब्रह्मविभूति न निकाल बैठूँ। ब्रह्मविभूति मुझे न छोड़ बैठे। मेरी अध्यात्मसंस्था के लिए उक्त सभी विभूतियों का अनिराकरण (संरक्षणात्मिका स्वरूप-स्थिति) हो, अनिराकरण हो। अध्यात्मस्वरूप-चिन्तन में उपनिषदों के जो धर्म्म हैं, वे मेरी अध्यात्मसंस्था में प्रतिष्ठित हों। प्रणवोङ्कारपूर्विका शान्ति प्रतिष्ठित हो ! शान्ति प्रतिष्ठित हो !! शान्ति प्रतिष्ठित हो !!!

* * *

१४४-बृहतीसहस्रसंख्या-मित-मनःप्राणवाङ्मय-आयुःसूत्रों से अनुप्राणित स्वरूपसंरक्षणात्मक महान्-उत्तरदायित्व से समन्वित मङ्गलमन्त्र का कारणशरीर-निबन्धन-तत्त्वार्थसमन्वय-प्रयास, एवं कारणशरीरनिबन्धना पारिभाषिकी स्वस्थता, तथा प्रकृतिस्थता का संस्मरण—

बृहतीसहस्रसंख्या-मित (३६००० छत्तीसहजारसंख्या से परिमित) अहोरात्रानुबन्धी-शतायुर्भोगकालात्मक मनःप्राणवाङ्मय-ज्ञान-क्रिया-अर्थात्मक आयु--सूत्रों का स्वरूप-संरक्षण तथाकथित मङ्गलमन्त्र से अनुप्राणित वाक्-प्राण-चक्षुः-श्रोत्र-आदि पर्वों के स्वरूप-संरक्षण पर ही अवलम्बित है। **वाङ्मय अर्थ-प्रधान पाञ्चभौतिक-स्थूलशरीर, एवं प्राणमय-क्रियाप्रधान-सूक्ष्मशरीर,** ये दोनों स्थूल-सूक्ष्मशरीर जब सर्वात्मना सुरक्षित-व्यवस्थित रहते हैं, तभी **मनोमय-ज्ञानप्रधान-कारणशरीर** स्वस्वरूप से स्वस्थ, एवं प्रकृत्या च **प्रकृतिस्थ** बना रहता है, बना रह सकता है।

१४५-अङ्गोपाङ्गात्मक-स्थूलशरीर, तथा प्राणनिबन्धन सूक्ष्म-शरीर से अनुगता मङ्गल-कामना से नित्यसमन्वित ज्ञानप्रधान-कारणशरीर, एवं सामवेदात्मक-सौर-आदित्यप्राण-निबन्धन-बृहती-छन्दोऽनुगत आयुःसूत्र के साथ तत्समन्वय—

इसी अभिप्राय से अङ्गोपाङ्गात्मक स्थूलशरीर, तथा प्राणनिबन्धन-इन्द्रियात्मक सूक्ष्मशरीर, इन दोनों की उक्त मन्त्र के द्वारा मङ्गलकामना अभिव्यक्त हुई है, जिस इस मङ्गलकामना का प्रधान लक्ष्य **ज्ञानशक्तिप्रधान-आयुःसूत्रात्मक-कारणशरीरात्मक 'ब्रह्म'** (आयुःसूत्रमय-जीवनाष्ठाधिता भूतात्मा)

ही है। "इत्थंभूत यह ब्रह्म (कारणशरीररूप भूतात्मा) मुझे न छोड़ बैठे" इत्यादि रूप से ("मा मा ब्रह्म निराकरोत्"-इत्यादिरूप से) केनोपनिषत् के मङ्गलपाठ के द्वारा प्रमुखरूपेण उस 'कारणशरीर' की ही मङ्गलकामना अभिव्यक्त हुई है, जो कि कारणशरीर सामवेदात्मक-सौर-आदित्यप्राण-निबन्धन-बृहती-छन्दोऽनुगत आयुःसूत्र से ही समन्वित माना गया है।

१४६–आत्मज्ञानोपयिक–उपनिषच्छास्त्र के स्वाध्याय, तथा–अध्यापन से प्रवृत्तिप्रधान–गृहस्थाश्रम का विकम्पक, तन्निबन्धना अमाङ्गलिकता, एवं तन्निराकरणोपायानुगता मङ्गलसंस्मृति का पारिभाषिक स्पष्टीकरण–प्रयास—

आत्मज्ञानोपयिक—उपनिषच्छास्त्र के स्वाध्याय से, तथा अध्यापन से निश्चयेन आत्मानुबन्धी निवृत्तिभाव प्रधान बन जाता है, जो कि निवृत्तिपथ प्रवृत्ति–प्रधान गृहस्थाश्रम के लिए बाह्य–भूतदृष्टया अमाङ्गलिक ही माना गया है। एतदतिरिक्त- आत्मनिबन्धन, किंवा आत्म–प्रधान औपनिषद–ज्ञान लोकानुबन्धी–तात्कालिक–रुचिप्रधान- प्रेयोभावों के साथ एकान्ततः असमाहित्य रखता हुआ विशुद्ध प्रेयोमार्ग ही है, जिसमें कि–'श्रेयांसि बहु विघ्नानि' के अनुसार लोकानुबन्धी विघ्नों का आक्रमण भी दुर्निवार ही बना रहता है। तदित्थं–सामान्य–लोकशास्त्रों का स्वाध्याय जहाँ केवल लौकिक-विघ्नों को ही लक्ष्य बनाता है, वहाँ उपनिषच्छास्त्रानुबन्धी अध्ययनाध्यापन लोकानुबन्धी (आधिभौतिक) विघ्नों के साथ साथ-स्थूल-सूक्ष्म-कारण-शरीरत्रयी से अनुप्राणित आध्यात्मिक विघ्नों से भी अनुप्राणित बनता रहता है।

१४७–रहस्यपूर्ण–उभयविध–प्रयोजनों से अनुप्राणित–'मङ्गल-संस्मरण', एवं 'माङ्गलिक-संस्मरणम्'-नामक प्रथम–प्रकरण का उपराम—

तदित्थं उपनिषच्छात्र द्विविध अमङ्गलों की आशङ्का से आतङ्कित बना रहता है। इस अमङ्गलद्वयी के निराकरण के लिए ही उपनिषदों के आदि, और अन्त में, उपक्रम, तथा उपसंहार में, उभयत्र 'मङ्गलपाठ' विहित हुआ है। "उपनिषदों के आदि, और अन्त में क्यों विभिन्न प्रकार के मङ्गलपाठ विहित हैं?", प्रश्न का यही संक्षिप्त समन्वय है।

इति—"तलवकारोपनिषद्विज्ञानभाष्ये"
("केनोपनिषद्विज्ञानभाष्ये"-वा)
'माङ्गलिक-संस्मरणम्'
नामकं
प्रथमं–प्रकरणमुपरतम्

१

श्रीः

इति-"तलवकारोपनिषद्विज्ञानभाष्ये"—

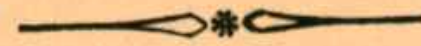
["केनोपनिषद्विज्ञानभाष्ये" -वा]

"माङ्गलिक-संस्मरणम्"

नामकं

प्रथमं-प्रकरणमुपरतम्

१



श्रीः

अथ–"तलवाकारोपनिषद्विज्ञानभाष्ये"—
("केनोपनिषद्विज्ञानभाष्ये"–वा)
"'प्रज्ञानात्म'-स्वरूपानुगत–आत्मस्वरूपनिदर्शनम्"

नामकं

द्वितीयं प्रकरणम्

२

श्रीः

* दृष्टिभेदानुगतश्चतुर्विंशतिकलोऽयं-प्रज्ञानात्मा-चान्द्रः-आत्मन्वी-(शरीरविशिष्टः-आत्मा)-

"प्रज्ञानात्मा"-वर्णनपरेयमुपनिषत्

भ्रुवोर्म्मध्ये ललाटे तु नासिकायास्तु मूलतः ।
जानीयादमृतं स्थानं तद्ब्रह्मायतनं महत् ॥

—ध्यानबिन्दूपनिषत् ४० मन्त्र

यत्-प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु ।
यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

—यजुःसंहितायाम् ३४।३।

१—श्वोवसीयस्—मनः	(एकविधम्—१)—आलम्बनब्रह्म
२—महद्ब्रह्म	(एकविधम्—१)—अधिष्ठानब्रह्म—प्रकृतिमहान्
३—प्रज्ञाभावः	(एकविधः—१)—सर्वेन्द्रियमनः
४—प्राणभावः	(एकविधः—१)—पार्थिवेन्द्रप्राणः
५—मनोभावः	(एकविधः—१)—संकल्पविकल्पात्मकः
६—विज्ञानभावः	(एकविधः—१)—प्रवृत्तविज्ञानभावः
७—प्रज्ञाभावः	(षड्विधः—६)—आदित्यभावः
८—प्राणभावः	(षड्विधः—६)—वायव्यभावः
९—भूतभावः	(षड्विधः—६)—आग्नेयभावः

* * *

केनोपनिषद्विज्ञानभाष्यनुगता–पारिभाषिकी–तत्त्वसूची—

तद्वर्णनपरेयं–केनोपनिषत्

चतुर्विंशतिकलोऽयं–प्रज्ञानात्मा–चान्द्रः

१–चित् (१) (आत्मनिबन्धनं-मनः)
२–मनः (२) (सोमययं सर्वेन्द्रियमनः)
} प्रज्ञाभावः } मनस्तन्त्रम् (आत्मा)

३–प्राणः (३) (पार्थिवदिव्येन्द्रप्राणः)
४–चित् (४) (श्वोवस्यसं-मनः)
} प्राणभावः

५–प्राणः (५) (दिव्यसौरप्राणः)
६–चित् (६) (श्वोवस्यसं ब्रह्म)
} विज्ञानभावः

} (प्राणभावः + विज्ञानभावः) प्राणतन्त्रम् (प्राणाः)

} (मनस्तन्त्रम् + प्राणतन्त्रम्) प्रज्ञानोक्थम्

७–प्रज्ञामात्रा (६) (ज्ञानमात्रा)——चिदंशः
८–प्राणमात्रा (६) (क्रियामात्रा)——देवाः
९–भूतमात्रा (६) (अर्थमात्रा)——भूतानि

*** शरीरम्**

१०–अग्निः (चित्याग्निः)——शरीरम्
११–वायुः (मरुत्वान्)——गतिः

} (७–११) वाक्तन्त्रम् (पशवः) } प्रज्ञानार्काः (रश्मयः)

} "स एषः–प्रज्ञानात्मा–आत्मन्वी"

श्रीः

अथ–"तलवकारोपनिषद्विज्ञानभाष्ये"
("केनोपनिषद्विज्ञानभाष्ये"–वा)
"'प्रज्ञानात्म'-स्वरूपानुगत-आत्मस्वरूपनिदर्शनम्"

नामकं

द्वितीयं–प्रकरणम्

२

द्वितीय-प्रकरणान्तर्गत—

"साध्य–भावनिबन्धन–'गूढोत्मा' नामक–त्रिपुरुषपुरुषात्मक–औपनिषद्पुरुषात्मक–चिद्ब्रह्म का स्वरूप–संस्मरण"

नामक

प्रथम–सन्दर्भ

१

* * *

१–'साध्य–चिद्ब्रह्म', साधन-'प्रज्ञानात्मा', एवं साधक-'भूतात्मा'–नामक–त्रिविध–आत्मविवर्त्तों का पारिभाषिक–संस्मरण, तथा "प्रज्ञानात्मस्वरूपानुगतं–आत्म–स्वरूपनिदर्शनम्" नामक–प्रस्तुत द्वितीय–प्रकरण के आधारभूत–'चिद्ब्रह्म' नामक 'गूढोत्मा'–का औपनिषदपुरुष-रूपेण-वैज्ञानिक–समन्वयोपक्रम—

'तलवकारोपनिषत्'–नाम से प्रसिद्धा 'केनोपनिषत्' में साध्य–साधन–साधन–रूपेण–क्योंकि प्रमुखरूप से गूढोत्मा, प्रज्ञानात्मा, भूतात्मा, नामक तीन आत्मविवर्त्तों का ही संस्पर्शात्मक–वैज्ञानिक–समन्वय–हुआ है, अतएव प्रस्तुत–'प्रज्ञानात्म–स्वरूपानुगतं–आत्मस्वरूपनिदर्शनम्' नामक क्रमप्राप्त 'द्वितीय–प्रकरण' में क्रमशः इन तीन आत्मविवर्त्तों के स्वरूप–विश्लेषण–का ही प्रयास–प्रक्रान्त होरहा

है, जिन इन तीनों में प्रथम स्थान-त्रिपुरुषपुरुषात्मक-उस-'गूढोत्मा' का ही माना जायगा, जो कि न केवल 'केनोपनिषत्' का ही, अपितु सभी उपनिषदों का एकमात्र प्रमुख-'साध्य' बना हुआ है, एवं जो कि-'औपनिषदपुरुष'-नाम से भी प्रसिद्ध है। सर्वप्रथम इसी चिद्ब्रह्म के उप पारिभाषिक-त्रिपुरुष-पुरुषात्मक-रहस्यपूर्ण-इतिवृत्त की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जारहा है, जो कि चिद्ब्रह्म आज की 'काल्पनिकी-वेदान्तभक्ति' के कारण अपने वैज्ञानिक-पारिभाषिक-स्वरूप से परा:परावत ही प्रमाणित होरहा है।

२-पारिभाषिक-तथ्यों की विलुप्ति से वैज्ञानिक-तथ्यों की दुरूहता, एवं तत्सम्बन्ध में भारतराष्ट्र की आस्था-श्रद्धा-परायणा-नैष्ठिकी-प्रजा से किञ्चिदिव-नम्र-आवेदन—

पारिभाषिक-तथ्य विगत-तीन-सहस्रवर्षों से क्योंकि विलुप्तप्राय हैं। अतएव इनके स्वरूप-विश्लेषण से अनुगत अग्रिम-पारिभाषिक-सन्दर्भ की ओर अत्यन्त-अवधानपूर्वक ही पाठकों को लक्ष्य-प्रदानानुग्रह करना चाहिए। पारिभाषिक-तथ्यों के स्वरूप-विश्लेषण के कारण ही चिद्ब्रह्मानुगत-प्रस्तुत-सन्दर्भ विभिन्न-दृष्टिकोणों से अनुगत होगया है, जिस का-'व्यवच्छेदो हि पाण्डित्यम्'-न्यायानुबन्ध से ही उपनिषत्प्रेमियों को समन्वय-प्रयास करना चाहिए, इस नम्र आवेदन के साथ ही भारतराष्ट्र की आस्था-श्रद्धा-परायणा-नैष्ठिकी-प्रजा के सम्मुख 'साध्यरूप-चिद्ब्रह्म' के सम्बन्ध में किञ्चिदिव निवेदन-प्रयास उपक्रान्त हो-रहा है।

३-भारतराष्ट्र की आस्था-श्रद्धा-परायणा-नैष्ठिकी प्रजा से अनुगत संहिता-ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषद्-भेद से चतुर्द्धा विभक्त-मन्त्रब्राह्मणात्मक-अपौरुषेय-वेदशास्त्र का परमाराध्यत्त्व, एवं तदाराधना से अनुप्राणित 'वेद' के अन्तभाग-रूप-'वेदान्त' नामक-उपनिषच्छास्त्र का संस्मरण—

भारतराष्ट्र की आस्था-श्रद्धा-परायणा नैष्ठिकी प्रजा के लिए संहिता-ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषत्-भेद से चतुर्द्धा विभक्त, 'मन्त्रब्राह्मणात्मक-अपौरुषेय-वेदशास्त्र' सदा से ही परमाराध्य बनता चला आरहा है, जिस इस 'परमाराधना' का प्रमुख केन्द्र विगत कुछ एक शताब्दियों से तथाकथित वेदशास्त्र का 'अन्त' भागरूप, अतएव-'वेदान्त' नामसे प्रसिद्ध, ईश-केन-कठ-आदि अभिधाओं से लोकप्रसिद्ध-'उपनिषच्छास्त्र' ही बना हुआ है।

४-उपनिषच्छास्त्र के 'परमाराध्यत्त्व' के सम्बन्ध में मान्यतानुगत-भावुकतापूर्ण-(आस्था-शून्य) समाधान-प्रयास, एवं 'उपनिषत्' शब्द के काल्पनिक व्यामोहन से भारतीय-आस्तिक-प्रजा की लक्ष्यच्युति का दिग्दर्शन—

ऐसा क्यों ?, इस प्रश्न के विशेष विस्तार में न जाकर अत्र इस सम्बन्ध में भारतीय आस्तिक-प्रजा की उस मान्यता ('आस्था' नहीं) के सम्बन्ध में हीं हम प्रसङ्गोपात्त दो शब्द निवेदन कर देना चाहेंगे,

जिस आपातरमणीया, सर्वथैव भावुकता-पूर्णा मान्यताने इस नैष्ठिकी भी भारतीय-आस्तिक-प्रजा को-'उपनिषत्' शब्द के व्यामोहन से विगत अनेक शताब्दियों से सर्वथैव लक्ष्यच्युत ही बनते रहना पड़ा है।

५-शास्त्रैकशरणा-आस्तिक-प्रजा के सर्वमूर्द्धन्य-वेदशास्त्र की तात्त्विकी-पारिभाषाओं के "यथावत्-समन्वय" के सर्वस्वाधारभूत "ज्ञान", तथा "विज्ञान" शब्दों का संस्मरण, एवं दोनों शब्दों की अन्योऽन्याश्रय-निबन्धना--नित्या-सापेक्षता का लक्ष्यानुगत--दिग्दर्शन—

शास्त्रैकशरणा आस्तिक प्रजा के सर्वमूर्द्धन्य वेदशास्त्र की तात्त्विक-पारिभाषाओं के 'यथावत्-समन्वय' के सर्वस्वाधार **'ज्ञान, विज्ञान'** नामक सुप्रसिद्ध दो शब्द ही प्रमाणित होरहे हैं। दोनों हीं शब्द नित्य-सापेक्ष-शब्द हैं। अतएव इन दोनों हीं शब्दों का चिरन्तनेतिवृत्तात्मक पारिभाषिक समन्वय उभयसापेक्ष ही बना हुआ है। इसी सापेक्षतानुबन्ध से दोनो शब्द दोनो शब्दों के 'पूरक' बने हुए हैं। अतएव च 'ज्ञान' को आधार बनाए बिना 'विज्ञान' का समन्वय असम्भव है, तो 'विज्ञान' को लक्ष्य बनाए बिना ज्ञान का समन्वय असम्भव है।

६-ज्ञानानुगत-'विज्ञान' के वास्तविक विज्ञानत्त्व का, एवं विज्ञानानुगत--ज्ञान के वास्तविक-ज्ञानत्त्व का समन्वय, तथा तन्निबन्धन-'ज्ञातव्य'-भाव की परिपूर्णता का संस्मरण—

ज्ञानानुगत विज्ञान ही वास्तविक 'विज्ञान' है, एवं विज्ञान से समन्वित ज्ञान ही तथ्यपूर्ण ज्ञान है। और ये ही दोनों तत्त्व सम्पूर्ण विश्वप्रपञ्च में प्रमुखरूप से 'ज्ञातव्य' बने हुए हैं, जिनके समन्वयात्मक परिज्ञान के अनन्तर कुछ भी तो और ज्ञातव्य-शेष नहीं रह जाता *।

७-दार्शनिक-आचार्य्यों, भाष्यकारों, तथा टीकाकारों की भाष्य--टीका--आदि से उपबृंहिता उपनिषच्छास्त्र की निरूपणीयता का नग्न- चित्रण, एवं तन्निबन्धन-शब्दातीत परात्परब्रह्मात्मक-निरपेक्ष-विश्वातीत-निरञ्जन-निर्द्धर्म्मक-निर्विशेष-अचिन्त्य-विश्वातीत तत्त्व की व्याख्या का महतो-महीयान् व्यामोहन—

विगत अमुक कतिपय शताब्दियों में भारतीय दार्शनिक आचार्य्यों, भाष्यकारों, तथा टीकाकारोंनें उपनिषच्छास्त्र को आधार बना कर जो भाष्य, तथा टीकाएँ प्रस्तुत कीं हैं, उनके सम्बन्ध में असंदिग्धरूप से

---

* ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्यामशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज् ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥
—गीतायाम्

यह स्पष्ट करदेने में हमें यत्किञ्चित् भी तो संकोच नहीं होरहा कि, तथाकथित भाष्य, तथा टीकाओं का प्रधान लक्ष्य वह **'निरपेक्ष ज्ञान'** ही बनता चला रहा है, जिसका विश्वातीत, निरञ्जन, निर्द्धर्म्मक, 'निर्विशेष परात्पर-ब्रह्म' से ही सम्बन्ध है, जोकि इत्थंभूत निरपेक्ष-निर्विशेष-विश्वातीत अखण्ड-परात्परतत्त्व पदार्थताव-च्छेदकावाच्छिन्न-भावनिबन्धना शब्दमर्य्यादा से एकान्ततः असंस्पृष्ट रहता हुआ सर्वथैव सभी दृष्टियों से 'अतीत' है।

८-शब्दशास्त्र के द्वारा ऐकान्तिकरूप से असंस्पृष्ट, एवं ज्ञान-भक्ति-कर्म्म-नामकी सुप्रसिद्धा काण्डत्रयी से पराःपरावत अचिन्त्य-परात्पर-ब्रह्म का सस्मरण--

अतएव शब्दशास्त्र के द्वारा तत्संस्पर्श भी सम्भव नहीं है ÷। अतएव वह निरवच्छिन्न-निर्विशेष-निरपेक्ष-तत्त्व तो अविज्ञेय, अनुपास्य, तथा अकर्म्मरूपत्वेन मानवीय सावच्छिन्न-सविशेष-सापेक्ष-मनःप्राण-वाग् निबन्धन ज्ञान, भक्ति, कर्म्म-नामक तीनों हीं काण्डों से सर्वथैव पराःपरावत ही प्रमाणित होरहा है।

९-यत्किञ्चित्-पदार्थतावच्छेदकावच्छिन्न में निरूढ शब्दशास्त्र का निरवच्छिन्न-निर्विशेष निरपेक्षज्ञानैकमूर्त्ति विश्वातीत अखण्डात्मा के क्षेत्र में आत्यन्तिकरूपेण गत्यवरोध—

इसप्रकार जबकि यत्किञ्चित्पदार्थतावच्छेदकावच्छिन्न में निरूढ शब्दशास्त्र की उस निरविच्छिन्न-निर्विशेष-निरपेक्ष-ज्ञानैकमूर्त्ति-विश्वातीत अखण्डात्मा में गति ही अवरुद्ध है, तो शब्दशास्त्रात्मक उपनिषच्छास्त्र कैसे उसे लक्ष्य बना सकता है ?।

१०-उपनिषच्छास्त्र का लक्ष्यानुगत सावच्छिन्न-सविशेष-सापेक्ष-धर्म्मोपपन्न-विश्वात्मा, एवं विश्वात्मा के विभूतिभावों से अनुगत-समन्वित गूढोत्मा-शान्तात्मा-महानात्मा-विज्ञानात्मा-आदि आत्मविवर्त्तों का नाम-संस्मरण —

अतएव संसिद्ध है कि, शब्दात्मक उपनिषच्छास्त्र का लक्ष्य वह 'सावच्छिन्न-सविशेष-विश्वात्मा' ही होसकता है, जो प्रकृतिनिबन्धन विभिन्न परिग्रहों से समन्वित रहता हुआ, प्रकृतिभेदानुगत प्राकृतभेदों की अपेक्षा से गूढोत्मा, शान्तात्मा, महानात्मा, विज्ञानात्मा, प्रज्ञानात्मा, सर्वभूतान्तरात्मा, भूतात्मा, साक्षी, आदि आदि विभिन्न महिमाभावों में परिणत होरहा है।

११-सापेक्ष-ज्ञानात्माओं के प्रतिपादन से अनुगत-समन्वित उपनिषच्छास्त्र, एवं तन्नि-बन्धन ज्ञानात्मविवर्त्तों का विज्ञानभावत्व—

निश्चयेन उपनिषच्छास्त्र इन सापेक्ष ज्ञानात्माओं को, इन सविशेषात्माओं को ही प्रमुखरूपेण अपना प्रमुख प्रतिपाद्य मान रहा है, जो सभी ज्ञानात्मा अपने सापेक्षभाव से 'विज्ञानभाव' से भी नित्य ही समन्वित हैं।

÷ संविदन्ति न यं वेदाः, विष्णुर्वेद न वा विधिः।
यतो वाचो निवर्त्तन्ते-अप्राप्य मनसा सह ॥

१२–"एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्"–मूलक--आत्मविवर्त्तानुबन्धी वैभव का विस्तार, एक की विभिन्नता से अनुप्राणित विज्ञानभाव, और विविध–ज्ञानात्मक–"विज्ञान"–शब्द—

'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्'–'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' इत्यादि मन्त्रवर्णानुसार तथाकथित सापेक्ष आत्मविवर्त्त उस एक ही के महिमामय विभिन्न विवर्त्त हैं। उस एक की यह विभिन्नता ही, अनेकता ही उस ज्ञानात्मा की प्राकृत–विश्वनिबन्धना विज्ञानरूपता है, और विज्ञानशब्द का यही–'विविधं-ज्ञानम्' निर्वचनात्मक तात्त्विक–समन्वय है।

१३–'एकं–निरपेक्षं–निर्विशेषं–ज्ञानमेव-ज्ञानम्', तथा–'नानाभावापन्नं-सापेक्षं--सविशेषं--ज्ञानमेव--विज्ञानम्'--रूपेण ज्ञान–विज्ञान--शब्दों का निर्वचनात्मक--पारिभाषिक–समन्वय, ज्ञानानुगता तत्त्वनिष्ठा, और विज्ञानसमन्विता आचारनिष्ठा से अनु--प्राणित निःश्रेयस्, तथा अभ्युदय-समन्वयात्मक–अलौकिक–तथ्य का संस्मरण—

'एकं-निरपेक्षं–निर्विशेषं–ज्ञानमेव ज्ञानम्, एवं-'नानाभावापन्नं'–सापेक्षं-सविशेषं--ज्ञानं–विविधं–ज्ञानमेव–विज्ञानम्', यही ज्ञान, विज्ञान–शब्दों का निर्वचनात्मक समन्वय है। और इस समन्वय से सम्बन्ध रखनेवाला विविध–ज्ञानात्मक-विशेषभावनिबन्धन–प्रकृतिभावापन्न–प्राकृतिक–विज्ञानात्मक–'सृष्टिविज्ञान' ही वह 'विज्ञान' है, जिसे आधार बनाकर ही उपनिषच्छ्रुति ने विज्ञानात्मलक्षण खण्डात्म–विवर्त्तों को लक्ष्य बनाते हुए मानव के सम्मुख वैसी 'आचारनिष्ठा' ही समुपस्थित की है, जिस कर्त्तव्यनिष्ठात्मिका आचारनिष्ठा के बल पर ही मानव अभ्युदय-निःश्रेयस्–का पथानुवर्त्मा बनने में समर्थ होता है।

१४-तत्त्वनिष्ठामूलक–ज्ञान, एवं आचारनिष्ठामूलक-विज्ञान के समन्वय से अनुप्राणित मन्त्रब्राह्मणात्मक-वेदशास्त्र, तत्त्वनिष्ठात्मक-ज्ञान से समन्विता–आचारनिष्ठा का स्वरूप-विश्लेषक ब्राह्मणभाग, एवं आचारनिष्ठात्मक-विज्ञान-से समन्विता-ज्ञाननिष्ठा का स्वरूप-विश्लेषक-उपनिषद्भाग, और तथाविध-पारिभाषिक-तारतम्य-का समन्वय-प्रयास—

तत्त्वनिष्ठामूलक ज्ञान, एवं आचारनिष्ठामूलक विज्ञान, इन दोनों का समन्वयात्मक शास्त्र ही तो वेदशास्त्र है, जिस के विध्यात्मक–ब्राह्मणभाग में जहाँ तत्त्वनिष्ठात्मक–ज्ञान से सन्विता आचारात्मिका विज्ञाननिष्ठा (कर्मनिष्ठा) का स्वरूप–विश्लेषण हुआ है, वहाँ वेद के उपनिषद्भाग में आचारनिष्ठात्मक विज्ञान से समन्विता तत्त्वनिष्ठात्मिका ज्ञाननिष्ठा का ही स्वरूप–समन्वय हुआ है, जिस इस समन्वयाधार पर हमें इस निष्कर्ष पर स्वतः ही पहुँच जाना पड़ता है कि, विज्ञानप्रधान ब्राह्मणग्रन्थ जहाँ ज्ञानप्रधान–उपनिषद्ग्रन्थों की नित्य अपेक्षा रखते हैं, वहाँ ज्ञानप्रधान उपनिषद्ग्रन्थ विज्ञानप्रधान ब्राह्मणग्रन्थों की सतत अपेक्षा रख रहे हैं।

१५-ब्राह्मणभाग से असंस्पृष्ट आरण्यकोपनिषद्भाग का, तथा तदसंस्पृष्ट ब्राह्मणभाग का समन्वयाभाव, एवं-'ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषत्-रूप' तीनों वेदविभागों की समष्टि-रूपा अभिन्ना शास्त्रता का पारिभाषिक-स्पष्टीकरण—

अतएव बिना ब्राह्मण के आरण्यकोपनिषत् का समन्वय असम्भव है, तो बिना उपनिषत् के ब्राह्मणभाग का समन्वय भी असम्भव ही है। 'ब्राह्मणारण्यकोपनिषत्' की समष्टिरूप एक ही शास्त्र है, जो परस्पर सापेक्ष है। एवं जो इत्थंभूता सापेक्षता सापेक्ष-ज्ञान-विज्ञान-भावों पर ही अवलम्बित है। अतएव उपनिषत् का समन्वय विज्ञानमूला सृष्टिविद्या के समन्वय पर ही प्रतिष्ठित माना जायगा, जैसाकि आरम्भ के पारिभाषिक-प्रकरण में विस्तार से स्पष्ट किया जाचुका है।

१६-दार्शनिक-भाष्यकारों, साम्प्रदायिक-भाष्यकारों, तथा उभयविध-टीकाकारों की दिग्देशकालानुबन्धिनी-बुद्धिवादात्मिका-प्रतिभा से काल्वालीकृत-उपनिषच्छास्त्र, और तन्निबन्धन-निर्विशेष-तत्त्व-(परात्परब्रह्म)—

दार्शनिक-भाष्यकारों, साम्प्रदायिक-भाष्यकारोंनें, तथा उभयविध टीकाकारोंने दिग्देशकालानुबन्धिनी बुद्धिवादात्मिका अपनी प्रतिभा के बल पर उपनिषच्छास्त्र को तत्समन्वयाधारभूत सृष्टिविज्ञानात्मक ब्राह्मण-भाग से सर्वथा पृथक् कर विशुद्ध-निर्विशेष-विश्वातीत ज्ञानात्मा को ही उपनिषदों का प्रतिपाद्य घोषित कर डाला।

१७-अभ्युदय-निःश्रेयस्-की दृष्टि से निर्विशेषानुगता मान्यता के भीषण-परिणाम, एवं तथाविधा-काल्पनिकी 'निर्विशेषता' की महती भ्रान्ति से सविशेषभावनिबन्धना-लोकाभ्युदय-प्रवर्त्तिका-आचारनिष्ठा का उत्तरोत्तर-अभिभव—

अभ्युदय-निःश्रेयस्-की दृष्टि से परिणाम क्या हुआ इस घोषणा का ?, प्रश्न के ऐतिहासिक-समाधान-समन्वय का अत्र अवसर नहीं है। इस सम्बन्ध में यही स्पष्ट कर देना पर्य्याप्त होगा कि, उप-निषदों की तथाभूता काल्पनिक-निर्विशेषताने ही, काल्पनिक-निर्विशेषज्ञानभिनिवेशने ही सविशेषभाव निबन्धना उस आचारनिष्ठा को सर्वथैव अभिभूत ही कर लिया, जिस का 'सृष्टिविज्ञान' से सम्बन्ध माना गया है, एवं जिस के द्वारा ही मानव लोकाभ्युदय-संसाधनपूर्वक आत्मनिःश्रेयस् प्राप्त करने में समर्थ बना करता है।

१८-अनवच्छिन्न-विश्वातीत-ब्रह्म की विश्वानुबन्धी-सावच्छिन्न-शब्दों के माध्यम से आपातरमणीया-समन्वय-प्रवृत्ति, अविज्ञेय-अनुपास्य-कर्म्मातीत-की काल्पनिक-चर्व्वणा, और तदनुबन्धेनैव-विश्वेश्वरात्मनिबन्धन-'सत्यं-शिवं-सुन्दरम्' लक्षण-आचारात्मक--विश्ववैभव--को जलाञ्जलि-समर्पण—

अनवच्छिन्न विश्वातीत की विश्वानुबन्धी-सावच्छिन्न शब्दों के माध्यम से खोज कर ने में अभिनिविष्ट भाष्य-कारों, टीकाकारोंनें अविज्ञेय-अनुपास्य-कर्म्मातीत की काल्पनिक-चर्व्वणा में विश्वेश्वर को, एवं तन्निबन्धन 'सत्यं-

शिवं-सुन्दरम्'-लक्षण विश्ववैभव को भी जलाञ्जलि ही समर्पित कर दी। उस का मिलना असम्भव था, अतः वह तो नहीं ही मिला। हाँ, जो सम्भव था, वह भी असम्भव ही प्रमाणित होगया।

१९–'ततो -भ्रष्टः--इतोऽपि भ्रष्टः'--न्यायानुगता उभयत्र--लक्ष्यच्युति, निर्विशेष--निरपेक्ष--विश्वातीत के प्रतिपादन का अभिनिवेश, तत्स्थाने च-सविशेष-सापेक्ष-विश्वानुबन्धी-वैज्ञानिक-तथ्यों की निरतिशया उपेक्षा, और इत्थंभूता केवल तत्त्वानुगता-आचार-शून्या-'चर्चा' का वागविजृम्भणञ्च--

'ततो भ्रष्टः इतोऽपि भ्रष्टः' के अनुसार यों दोनों लक्ष्यों से पराभूत ही होगया आचारशून्य केवल तत्त्वमीमांसक दार्शनिक–जगत्। और इस पराभूति का प्रमुख कारण बना 'निर्विशेष–निरपेक्ष–विश्वातीत के प्रतिपादन का अभिनिवेश, एवं सविशेष–भावनिबन्धन–विज्ञानप्रधान–सृष्टितत्त्वों की उपेक्षा करते हुए, दूसरे शब्दों में जगन्मिथ्यात्ववादाभिनिवेश से सृष्टिसौन्दर्य्य की उपेक्षा करते हुए, सापेक्षज्ञान को सापेक्षता–पूरक विज्ञान से सर्वथैव पृथक् करते हुए आचारशून्या तत्त्वचर्चा का वागविजृम्भण''।

२०–उपनिषच्छास्त्रानुगत-साम्प्रदायिक-भाष्यों, तथा व्याख्याओं की तथाभूता वागविजृम्भणात्मिका-अनुपयोगिकता के सम्बन्ध में किञ्चिदिव-आवेदन—

अतएव हमें स्वतः एव इस निष्कर्ष पर पहुँच जाना पड़ा कि उपनिषच्छास्त्रानुगत भाष्य, तथा व्याख्याएँ निर्विशेष–व्यामोहनानुगता बनतीं हुईं विज्ञान से एकान्ततः ही परा:परावता हैं। अतएव इत्थंभूत वागविजृम्भण मानव के अभ्युदय–निःश्रेयस्–संसाधन में सर्वथैव असमर्थ बने रह गए।

२१–'ब्राह्मणारण्यकोपनिषत्'-जैसे महान् 'आचारशास्त्र' से, तथा 'श्रीमद्भगवद्गीता' सदृश 'आचारकौशलशास्त्र' से समन्विता भी भारतराष्ट्र की प्रज्ञा के पारतन्त्र्य का त्रिसहस्रवार्षिक-दुःख-पूर्ण-इतिवृत्त—

अन्यथा जिस राष्ट्र के प्रज्ञाकोश में ज्ञानविज्ञानात्मक "ब्राह्मणारण्यकोपनिषत्" जैसा महान् आचारशास्त्र प्रतिष्ठित हो, जिस का योगकौशलात्मक 'गीताशास्त्र' जैसा अभूतपूर्व शास्त्र विस्तार कर रहा हो, वह राष्ट्र शरीरतः-मनसा-बुद्ध्या, सर्वोपरि आत्मना च सर्वथैव परतन्त्र बना रहे विगत तीन सहस्र वर्षों से, ऐसा असम्भव ही था।

२२–दार्शनिक-व्यामोहन-के द्वारा राष्ट्रप्रज्ञा की आचारसमन्वयात्मिका-विज्ञाननिष्ठा का बलपूर्वक-अपहरण, तत्स्थाने च वागविजृम्भणात्मक-कर्म्मशून्य-शब्दाडम्बरमात्र का अनुगमन, तद्दुष्परिणाम, एवं तीन सहस्र-वर्षों से भारतराष्ट्र का-शून्यं-शून्यं-लक्षण के प्रति ही अनुधावन—

किन्तु दार्शनिक व्यामोहनने हीं राष्ट्र की प्रज्ञा से आचारात्मिका विज्ञाननिष्ठा का बलात् अपहरण कर ही तो लिया, जिस के घोरघोरतम दुष्परिणाम-स्वरूप ही वागविजम्भृणात्मक शब्द, तदनुप्राणित काल्प-

निक-विश्वातीत ज्ञान, तन्निबन्धन काल्पनिक आदर्श ज्यों ज्यों प्रवृद्ध होते गए, त्यों त्यों ही विज्ञानमूला आचारनिष्ठा अभिभूत ही होती गई । और यों सम्पूर्ण प्रज्ञावैभव की विद्यमानता में भी हमारा भारतराष्ट्र ज्ञानाभिनिवेशात्मक-विज्ञानवञ्चित-तथाकथित दार्शनिक विजृम्भणों से विगत तीन सहस्र वर्षों से सभी दृष्टियों से शून्यं शून्यं हो प्रमाणित होता रहा ।

२३-आचारनिष्ठात्मिका-विज्ञानपरम्परा की विलुप्ति से अनुगता शून्यभावानुगति, एवं आचारात्मक-कर्त्तव्य के क्षेत्र की दृष्टि से भारतराष्ट्र की अन्तर्मुखता—

आचारनिष्ठात्मिका-विज्ञानपरम्परा कैसे, और क्यों विलुप्त होगई ?, प्रश्न के स्वरूप-समन्वय का अत्र अवसर नहीं है । विलुप्त होगई, यह सर्वात्मना निश्चित तथ्य है । अतएव सबकुछ भाण्डार में विद्यमान रहते भी हम आज कुछ भी नहीं है-भारतराष्ट्र के आचारात्मक कर्त्तव्य के क्षेत्र में ।

२४-सापेक्ष-ज्ञाननिबन्धन (सापेक्ष-आत्मनिबन्धन) सापेक्ष-विज्ञानमूलक-(सृष्टिविज्ञान-मूलक) पारिभाषिक-तथ्यों की विलुप्ति के दुष्परिणाम, उपनिषदों के ज्ञान-विज्ञान-सम्मत-आचारात्मक-पारिभाषिक-समन्वय का एकान्ततः-अभिभव, और तत्प्रवर्त्तक दार्शनिक, तथा साम्प्रदायिक-महानुभाव—

सापेक्ष-ज्ञाननिबन्धन, सापेक्ष-विज्ञानमूलक (सृष्टिविज्ञानमूलक) पारिभाषिक तत्त्वों की विलुप्ति का यही दुष्परिणाम हुआ है कि, स्व-स्व-काल्पनिक-मतवादोंनें अभिनिविष्ट भाष्यकारों, तथा टीकाकारोंनें स्व-स्व-मतवादों के पोषण के लिए ही स्व-स्व-मान्यतानुबन्धी दृष्टिकोण बलपूर्वक उपनिषच्छास्त्र के साथ समन्वित कर दिए हैं, जिस इस मान्यतानुबन्धी आवेशाविष्ट समन्वय मे ही उपनिषदों का ज्ञान-विज्ञान-सम्मत-पारिभाषिक, एव आचारात्मक समन्वय एकान्ततः ही अभिभूत होता आरहा है विगत तीन सहस्र-वर्षों की दार्शनिक, तथा साम्प्रदायिक-परम्पराओं के निग्रहात्मक अनुग्रह से ।

२५-तथाकथिक-उपलब्ध-अर्वाचीन-भाष्यों, तथा टीकाओं के सम्बन्ध में आचारात्मक-विज्ञानसिद्ध-वास्तविक-समन्वय की तटस्थता का दिग्दर्शन —

अतएव तथाकथिक उपलब्ध-प्राचीन-अर्वाचीन-भाष्यों, तथा टीकाओं के सम्बन्ध में असंदिग्ध-रूपेण आस्थापूर्वक यह कह देने में कोई भी संकोच नहीं किया जासकता कि, 'ये भाष्य-टीकादि प्रयास उपनिषदर्थ के पारिभाषिक-आचारात्मक-समन्वय में सर्वथैव यातयाम ही प्रमाणित होरहे हैं' ।

२६-तटस्थता-लक्षणा-तथाकथिता-'यातयामता' के परिशोध से अनुप्राणित-शतपथ, एवं उपनिषद्-भावानुबन्धी--पारिभाषिक-विज्ञान-सम्मत-प्रयास, एवं अनुगम-निगम-भाव से द्विधा विभक्ता चिरन्तन-मूल-परिभाषाओं के माध्यम से ही तथाविध-प्रयास की सफलता का अनुसरण—

तथाकथिता यातयामता के कारण ही हमें ब्राह्मणग्रन्थों में सुप्रसिद्ध शतपथब्राह्मण के, तथा कतिपय उपनिषदों के पारिभाषिक समन्वय में प्रवृत्त होना पड़ा है, जो पारिभाषिक समन्वय प्राचीन-अर्वाचीन किसी

भी भाष्य, किंवा व्याख्या (टीका) से यत्किञ्चित् भी सम्पर्क न रखता हुआ ब्राह्मणारण्यकोपनिषद्-ग्रन्थों की अनुगम-निगम-लक्षणा सुप्रसिद्धा तात्त्विकी-पारिभाषाओं के आधार पर ही, दूसरे शब्दों में स्वयं मूल-शब्दों के आधार पर ही व्यवस्थित हुआ है-सञ्चरात्मक दृष्टिकोण से ।

२७-ज्ञानात्मक-'प्रतिसञ्चर'-रूप-दृष्टिकोण से अनुगत-'प्रतिसर्ग' भाव, एवं विज्ञानात्मक-'सञ्चर'-रूप-दृष्टिकोण से अनुगत-'सर्ग' भाव, तथा तन्निबन्धन-प्रस्तुत-'विज्ञान-भाष्य'—

ज्ञानात्मक दृष्टिकोण ही **प्रतिसञ्चर** है, जिस के लिए-'प्रतिसर्ग' शब्द भी प्रसिद्ध है । एवं विज्ञानात्मक दृष्टिकोण ही **सञ्चर** है, जो-'सर्ग' नाम से भी प्रसिद्ध है । **तत्त्वमूला ज्ञानदृष्टि ही प्रतिसञ्चर है, एवं आचारमूला विज्ञानदृष्टि ही सञ्चर है** । प्रस्तुत-उपनिषद्भाष्यों में क्योंकि **आचारमूलक-सञ्चरभाव** को ही हमने प्रधान माना है । अतएव इन भाष्यों की अभिधा(नामकरण)-**''विज्ञानभाष्य''** रूपेण व्यवस्थित मान ली गई है ।

२८-'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'-श्रुति से अनुप्राणित ज्ञानमूर्त्ति-महिमा-मय-ब्रह्म के वैविध्य से अनुगत-नानाभावनिबन्धन-'सत्यं-शिवं-सुन्दरम्'-लक्षण-विश्व, तदाधारभूत-सापेक्ष-'विश्वात्मा', तदनुगत-'प्राकृतात्मा', एवं पुरुषात्मा-प्राकृतात्मा-रूपेण-द्विविध-विज्ञानभावों का निरूपक-उपनिषच्छास्त्र—

'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्'-एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' के अनुसार एकत्वनिबन्धन उस ज्ञानमूर्त्ति का महिमामय वैविध्य ही यह नानाभावनिबन्धन-**'सत्यं-शिवं-सुन्दरम्-लक्षण 'विश्वम्'** है । नानाभावनिबन्धन, किंवा **विविधं-ज्ञानं-लक्षण-''विज्ञान''** भाव समन्वित विश्व के सम्बन्ध से ही वह **विश्वातीत निरपेक्ष-निर्विशेष**-भी **विश्वेश्वर-सापेक्ष-सविशेष**-प्रमाणित होरहा है, जिस इस **'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'** रूप विज्ञानमूर्त्ति विश्वेश्वर के ही **पुरुषात्मा, प्राकृतात्मा**, ये दो प्रमुख महिमा-विवर्त्त होजाते हैं, जिन का आगे यथावसर विस्तार से स्पष्टीकरण सम्भावित है ।

२९-'उपनिषदों में क्या है ?'-इत्थंभूत-प्रासङ्गिक-प्रश्न-से अनुप्राणित-'सविशेष-आत्मा', तन्निबन्धक-रसप्रधान, 'पुरुषात्मा', एवं बलप्रधान-'प्राकृतात्मा' का संस्मरण, और उपनिषत्-प्रतिपाद्य-दिग्दर्शन—

उपनिषदों में क्या है ?, किंवा **उपनिषत् किस तथ्य का प्रतिपादन कर रहे हैं ?**, प्रश्न का एकमात्र संक्षिप्त उत्तर है-**'सविशेष विश्वात्मा'** । **बलगर्भित रसप्रधान**-वही विश्वात्मा **'पुरुषात्मा'** है, **एवं रसगर्भित बलप्रधान** वही विश्वात्मा **'प्राकृतात्मा'** है । अतएव तत्संक्षिप्त उत्तर का अत्र यों भी अभिनय सम्भव है कि-**''उपनिषच्छास्त्र विश्वात्मा के पुरुषात्मा, एवं प्राकृतात्मा, नामक दो महिमा-मय विवर्त्तों का ही स्वरूप-विश्लेषण कर रहा है''** ।

३०–रसप्रधान–पुरुषात्मलक्षण त्रिपर्वा विश्वात्मा, एवं बलप्रधान–प्राकृतात्मलक्षण-पञ्च-पर्वा–विश्वात्मा और–'पुरुषात्म–निबन्धना आत्मत्रयी, तथा प्राकृतात्मनिबन्धन–आत्मपञ्चक का स्वरूप–विश्लेषक–उपनिषच्छास्त्र' रूप-प्रतिपाद्य–निष्कर्ष—

रसप्रधान पुरुषात्मलक्षण वही विश्वात्मा त्रिपर्वा है, एवं बलप्रधान प्राकृतात्मलक्षण वही विश्वात्मा पञ्चपर्वा है। दूसरे शब्दों में–त्रिपर्वात्मिका पुरुषात्मत्रयी का नाम हीं 'पुरुषात्मा' है, एवं पञ्चपर्वात्मक प्राकृतात्मपञ्चक का नाम हीं प्राकृतात्मा है। अतएव अब तत्संक्षिप्त उत्तर का इन शब्दों में भी अभिनय किया जासकता है कि,–"पुरुषात्मनिबन्धना आत्मत्रयी, तथा प्राकृतात्मनिबन्धना प्राकृतात्म–पञ्चक का स्वरूप–विश्लेषक शास्त्र ही उपनिषच्छास्त्र है"।

३१–रसप्रधान-पुरुषात्मा-के-'अमृत-ब्रह्म-शुक्र'-रूप तीन विवर्त्त, एवं बलप्रधान प्राकृतात्मा के-'अव्यक्त-गुण-दैव-सर्वभूत-भूत' नामक पाँच-विवर्त्त, तथा दैवतभावानुगत-अध्यात्म-से अनुप्राणित-पारिभाषिक-आत्मपञ्चक-का संस्मरण—

रसप्रधान उसी पुरुषात्मा के तीनों आत्मपर्व क्रमशः अमृतात्मा, ब्रह्मात्मा, शुक्रात्मा, * नामों से प्रसिद्ध हैं, एवं बलप्रधान उसी प्राकृतात्मा के पाँचों पर्व क्रमशः–अधिदैवत में–[१]अव्यक्तात्मा, [२]गुणात्मा, [३]दैवात्मा, [४]सर्वभूतान्तरात्मा, [५]भूतात्मा, इन नामों से, तथा अध्यात्म में [१]शान्तात्मा, [२]महानात्मा, [३]विज्ञानात्मा, [४]प्रज्ञानात्मा से समन्वित-प्राणात्मा, शरीरात्मा, इन नामों से प्रसिद्ध हैं।

३२–"उपनिषदों में समष्टि, तथा व्यष्टि-रूप से अमृत-ब्रह्म-शुक्र-समष्टिरूप पुरुषात्मलक्षण गूढोत्मा का, तथा तत्र प्रतिष्ठित पञ्चविध-प्राकृताओं का ही आचारात्मक समन्वय हुआ है"–रूप-प्रतिपाद्य-निष्कर्ष—

इस व्यवच्छेददृष्टि से अब तत्संक्षिप्त उत्तर का इन शब्दों में हीं स्पष्टीकरण कर देना अधिक समीचीन होगा कि–"उपनिषदों में समष्टि, तथा व्यष्टिरूप से अमृतात्मा–ब्रह्मात्मा–शुक्रात्मा, की समष्टिरूप 'पुरुषात्मलक्षण' 'गूढोत्मा' का, एवं तत्र प्रतिष्ठित पञ्चविध प्राकृतात्माओं का ही आचारात्मक समन्वय हुआ है"।

३३–पञ्चविध-प्राकृतात्माओं के अवान्तर-विभूतिभावों से अनुप्राणित-अष्टादश-(१८)-खण्डात्म–विवर्त्त, एवं-उपनिषच्छास्त्र के तन्निबन्धन-पारिभाषिक-प्रतिपाद्य का दृष्टि-कोण-भेद से रहस्यपूर्ण-समन्वय-प्रयास—

पञ्चविध प्राकृतात्माओं के ही आगे जाकर अष्टादश (१८) विवर्त्त होजाते हैं, जिसका ऋजुभावापन्न (सीधा सा) यही अर्थ निकलता है कि, "मानव की प्रकृतिनिबन्धना अध्यात्मसंस्था में पञ्च–

*–"तदेव शुक्रं, तद्ब्रह्म, तदेवामृतमुच्यते" (उपनिषत्)।

विव प्राकृतात्माओं के विवर्त्त भूत अठारह खण्डात्मा प्रतिष्ठित हैं। 'इन अष्टादश--खण्डात्मरूप--प्राकृतात्माओं में से किसी भी एक खण्डात्मा के सृष्ट्यनुबन्धी विज्ञानात्मक स्वरूप का विश्लेषण करते हुए तदपेक्षया अखण्ड बने हुए त्रिपर्वा पुरुषात्मा के साथ उसका समन्वय संसिद्ध कर देना, एवं इस समन्वयपद्धति से ही मानव का उस 'तत्' के साथ अभेद स्थापित करते हुए इसकी आचारात्मिका कर्त्तव्यनिष्ठा का स्पष्टीकरण देना हीं उपनिषच्छास्त्र का निकर्षार्थ है'' ।

३४–वस्तुस्थिति के पारिभाषिक-तथ्य से अनुगत विभिन्न-दृष्टिकोणों का समन्वय-प्रयास, एवं विश्वातीत-परात्परब्रह्म के विवर्त्त भूत-विश्वात्म–लक्षण–'विश्वकर्म्मा-भौवन' नामक-सप्त-भुवनाधिपति-सर्वकर्म्मा-सर्वेश्वर का संस्मरण —

सम्भवतः अभी वस्तुस्थिति का सर्वात्मना स्पष्टीकरण सम्भव नहीं बन सका। अतएव अब एक विभिन्न दृष्टिकोण से ही उपनिषदों के प्रतिपाद्य–विषय का समन्वय–प्रयास कर लेना चाहिए। उपनिषत् विश्वा--तीतब्रह्म--(परात्परब्रह्म) के विवर्त्त भूत जिस 'विश्वात्मा' को अपना प्रमुख लक्ष्य बनाती है, उसका मन्त्र-संहिता की दृष्टि से पारिभाषिक नाम है–'विश्वकर्म्मा–भौवन' *, जिसका फलितार्थ निकलता है–'सप्त–भुवनाधिपति–सर्वकर्म्मा सर्वेश्वर' ।

३५–सर्वेश्वर-विश्वकर्म्मा-लक्षण 'आभूप्रजापति', तदनुगत औपनिषद–गूढोत्मा–ईश–षोडशी-अश्वत्थ-नामक तत्त्व, पुराणपरिभाषानुगत-'मायीमहेश्वर', और तन्निबन्धना-''ईश्वर--विश्वेश्वर--विश्वात्मा--विश्वम्भर--विश्वकर्त्ता''-आदि पावन अभिधाओं का संस्मरण —

यही वेदशास्त्र का पारिभाषिक–'आभूप्रजापति' है, जो उपनिषदों में 'गूढोत्मा'–'ईश'–'षोडशी' 'अश्वत्थ' आदि भिन्न भिन्न नामों से व्यवहृत हुआ है। सृष्टिविज्ञाननिबन्धन भिन्न भिन्न अपेक्षाभावों के अनुबन्ध से यही विश्वकर्म्मा ईश पुराणपरिभाषा में–'महेश्वर' नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जिसकी संक्षिप्ता लोक–अभिधा–लोक में–'ईश्वर'–'विश्वेश्वर'–'विश्वात्मा'–'विश्वम्भर'– विश्वकर्त्ता' आदि रूपेण प्रसिद्धा है।

---

*–किंस्विदासीदधिष्ठानआरम्भणं कतमत्–स्वित्, कथासीत् ॥
यतो भूमिं जनयन्–'विश्वकर्म्मा' विद्यामोर्णोन्महिना विश्वचक्षाः ॥१॥
विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात् ॥
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्–देव एकः ॥२॥
—ऋक्सं॰ १०।८१।२,३ मं॰ ।

३६-विश्वकर्म्मा-भौवनरूप-विश्वात्मा से अनुप्राणित 'त्रिशवमूर्त्ति' सापेक्षतत्त्व, एवं 'सत्यं-ज्ञान-मनन्तं-ब्रह्म'-श्रुति-संसिद्ध पारिभाषिक-सत्यब्रह्म के तत्त्वार्थ का समन्वय प्रयास—

विश्वकर्म्मा-भौवनरूप यह विश्वात्मा विश्वेश्वर प्रकृतिभेदनिबन्धन वैविध्यलक्षण 'विज्ञान' के समन्वय से जहाँ--'त्रिज्ञानमूर्त्ति' है, वहाँ इसी विश्वकर्म्मा-भौवन का निरुपाधिक--मायातीत--विश्वातीत--परात्परस्वरूप निरपेक्ष--सत्यात्मक--'ज्ञानमूर्त्ति' है, जिसका--'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस प्रतिसञ्चरश्रुति से सङ्केतमात्र हुआ है, जब कि इस-'ज्ञानमूर्त्ति' परात्परब्रह्म के प्रथमावताररूप विज्ञानघन-'विज्ञानमूर्त्ति' विश्वकर्म्मा-भौव -विश्वेश्वर का ही-'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इस सञ्चरश्रुति के द्वारा स्पष्टीकरण होरहा है।

३७-ज्ञानमूर्त्ति-अनन्त-अनवच्छिन्न-ब्रह्म के त्र्यात्मक-प्रथमावतार से अनुगत-'स-ति-यम्'-रूपेण त्रिधा विभक्त-त्र्यक्षरमूर्त्ति-'सत्यब्रह्म' का स्वरूप-समन्वय-प्रयास, और तदनुप्राणित -पारिभाषिक-तथ्य का स्पष्टीकरण—

ज्ञानमूर्त्ति--अनन्त (अनवच्छिन्न) ब्रह्म का त्र्यात्मक -त्रिपर्वा-प्रथमावतार क्योंकि 'स--ति--यम्' रूपेण-'सतियम्' भाव से-'सत्यम्' बनता हुआ त्र्यक्षरमूर्त्ति है, और यह त्र्यात्मक-सत्यमूर्ति-विज्ञानमूर्त्ति विश्वातीत ज्ञानमूर्ति-अनन्त-ब्रह्मात्मक परात्पर परमेश्वर से अभिन्न है, दूसरे शब्दों में क्योंकि एकभावापन्न वह अनन्त ज्ञानात्मा ही विज्ञानात्मरूप-त्रित्वनिबन्धन त्र्यक्षरमूर्त्ति-'सत्य' रूप में परिणत हुआ है।

३८-'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म'-लक्षण, सजातीय-विजातीय-स्वगत-भेदत्रयशून्य-'तदेव' रूप अद्वैतसिद्धान्त-की ओर सङ्केत-विधि से ऋषिप्रज्ञा की अनुगति, एवं-तथाविध-त्र्यक्षरात्मक-सत्यभाव के साथ-'विश्वकर्म्मा-भौवन' का पारिभाषिक-समन्वय—

तथोक्त 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' लक्षण विजातीय-सजातीय--स्वगत--भेद-त्रयशून्य, 'तदेव' रूप अद्वैतसिद्धान्त की ओर सङ्केत करने के लिए ही अद्वैतमूर्ति-विश्वातीत-अनन्तज्ञानघन परात्परब्रह्म का प्रतिपादन करने वाली भी श्रुति ने इसके आरम्भ में हीं-'सत्यं--ज्ञानं-अनन्तं-ब्रह्म' इस रूप से उस त्र्यक्षरमूर्त्ति-'सतियम्' रूप 'सत्यम्' का सम्बन्ध समन्वित मान लिया है, जो त्र्यक्षरात्मक 'सत्यम्' भाव वस्तुतः विश्वकर्म्मा-भौवन--विश्वात्मा के साथ ही समन्वित है।

३९-'सत्यं'-'ज्ञानं'-'अनन्तं'-भावनिबन्धन-'ब्रह्म' से अनुप्राणिता, रहस्यपूर्णा-सङ्केत-विधि का दिग्दर्शन, तन्निबन्धन-एक रहस्यपूर्ण तत्त्व का ऋषिप्रज्ञा के द्वारा स्पष्टीकरण, एवं-'सं विदन्ति न यं वेदाः' लक्षणा अचिन्त्या स्थिति का संस्मरण—

विश्वात्मा की त्रिपर्वता का सङ्केतग्रह विश्वातीतानुबन्धी 'सत्यम्' से, विश्वात्मा की विज्ञानरूपता का सङ्केतग्रह विश्वातीतानुबन्धी-'ज्ञानम्' से, एवं विश्वात्मा की सर्वव्याप्तिरूपा (विश्वव्याप्तिरूपा)

अनन्तता का सङ्केतग्रह विश्वातीतानुबन्धी 'अनन्तंब्रह्म' वाक्य से होरहा है, जिस इस सङ्केतग्रह से निवेदन हमें यहाँ यही करना है कि, जो तत्त्व 'विश्वातीत' है, अतएव जो वाङ्मनसपथातीत बनता हुआ सर्वथैव 'अविज्ञेय' है, अतएव च जहाँ शब्द की गति आत्यन्तिकरूपेण अवरुद्धा है, उसका किसी भी तो शब्दात्मक श्रुतिवचन से तो संस्मरण भी सम्भव नहीं है, जैसा कि 'संविदन्ति न यं वेदाः' इत्यादिरूप से आरम्भ में भी स्पष्ट किया जाचुका है।

४०–महर्षि की 'पुराणी--प्रज्ञा' से अनुगता स्वाभाविकी ऋजुशैली, तन्निबन्धन-सोपाधिक-'सत्य', तदनुप्राणित-सोपाधिक-ज्ञान, और अनन्त-भाव, एवं तदनुबन्धी रहस्य-पूर्ण-तत्त्वदर्शन से समन्विता ऋषिदृष्टि, इति-''नमोनमः-परम-ऋषिभ्यः, परम-ऋषिभ्यः''—

एवं सति–'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' श्रुति को विश्वातीत-निरपेक्षब्रह्म की सङ्केतग्राहिका बतलाना भी सुसङ्गत नहीं बन सकता। सचमुच यह तो ऋषि की पुराणीप्रज्ञा से स्वतः ही विनर्गता वैसी ऋजुशैली है, जिसके माध्यम से सोपाधिक–'सत्यं' के साथ साथ सोपाधिक ही 'ज्ञानं–अनन्तं' शब्दों का अभिनय करते हुए भी ऋषिने एक विचित्र ही तटस्थ सङ्केत से उस विश्वातीत निरपेक्ष की ओर भी हमारा ध्यान आकर्षित कर दिया है। सोपाधिका वर्णनशैली से ही यों ऋषिभाषा निरुपाधिक की ओर भी तटस्थरूपेण सङ्केत करा रही है,, इति नमो नमः--परम--ऋषिभ्यः--परम--ऋषिभ्यः।

४१–'सत्यं-ज्ञानं-अनन्तं-ब्रह्म'-रूपा सापेक्षा श्रुति से अनुप्राणित सापेक्ष ब्रह्म-निबन्धन सङ्केत, एवं तद्द्वारा ही 'सत्यस्य--सत्यम्'-रूप निरपेक्षब्रह्म से अनुप्राणिता रहस्यपूर्णा-सङ्केतविधि का समन्वय—

हाँ, तो 'सत्यं-ज्ञान–अनन्तं–ब्रह्म' रूपा सापेक्षा श्रुति एक ओर जहाँ सापेक्ष–सत्य–विज्ञान–सर्वात्मक–विश्वेश्वर का सङ्केतग्रह करा रही है, वहाँ यही श्रुतिवचन तटस्थ सङ्केतविधि से 'सत्यम्' के द्वारा सत्य के महिमारूप 'सत्यस्यसत्यम्' रूप 'तत्' का, 'ज्ञानम्' के द्वारा निरपेक्ष–ज्ञानभाव का, एवं 'अनन्तं' के द्वारा 'अद्वैतता' का भी सङ्केत कर रही है।

४२–उभयप्रयोजनसंसाधिका-श्रुतियों से अनुगत महान् कौशल का समन्वय, नित्य-कूटस्था-अपौरुषेया-ऋषिवाणी की अचिन्त्या-अप्रतर्क्या-गरिमा-महिमा, एवं महर्षि दीर्घतमा की उद्बोधनात्मिका सूक्ति का पावन-संस्मरण—

उभयप्रयोजनसंसाधिका उक्त श्रुतियाँ महान् कौशल से ही 'सत्यम्' के द्वारा निमेषमात्र के लिए यदि 'विश्वात्मा' का सङ्केतग्रह करा रही है, तो तदुत्तरपठित–'ज्ञानं–अनन्तम्' शब्द तटस्थरूपेणैव 'विश्वातीत' का भी यशोगान कर रहे हैं। कुछ नहीं कहते हुए भी कुछ कहा जारहा है, सब कुछ कहते भी-ततसम्बन्ध में-कुछ भी न कहने की प्रतिज्ञा का निर्वाह किया जारहा है, और यही इस नित्यकूटस्था-अपौरुषेया-ऋषिवाणी की वह अचिन्त्या अप्रतर्क्या-महिमा है, जिसका मादृश प्राकृत

प्राणी कदापि यथावत् समन्वय नहीं कर सकते, नहीं कर सकते। सचमुच महर्षि दीर्घतमा के–'अचिकित्वाञ्चिकितुषश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्मने, न विद्वान्' (ऋक्सं० १।१६४।६।) इन सहज आर्ष उद्गारों का अपने स्थान में अत्यन्त ही रहस्यात्मक-समन्वय है।

४३–श्रुत्यनुगत-पारिभाषिक-'सत्यम्'-शब्द से अनुगता सोपाधिका त्र्यक्षरमर्य्यादा, तन्निबन्धन सोपाधिक-सविशेष-त्रिपर्वा-विश्वकर्म्मा-भौवन-प्रजापति, और तन्निबन्धन एक अन्य दृष्टिकोण का उपक्रम—

उक्त निवेदन से प्रकृत में वक्तव्यांश केवल यही है कि, 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' श्रुति का–'सत्यम्' शब्द अपनी सोपाधिका त्र्यक्षरमयर्य्यादा से वस्तुतः–सोपाधिक–सविशेष–त्रिपर्वा–विश्वकर्म्मा–भौवन-विज्ञानमूर्त्ति–'विश्वेश्वर' के ही त्र्यात्मक स्वरूप का संग्राहक बना हुआ है। और अब हमें त्र्यक्षरात्मक इस 'सत्य' तत्त्व के आधार पर प्रतिज्ञात एक अन्य दृष्टिकोण से भी उपनिषदों के प्रतिपाद्य अर्थ का दो शब्दों में स्पष्टीकरण करदेना है।

४४–विश्वेश्वर-विश्वात्मा का वाचक 'सत्यम्'-शब्द, 'सत्यम्' के वैज्ञानिक-निर्वचनात्मक-लक्षण का संस्मरण, एवं तन्निबन्धन-उक्थ-अर्क-अशीति-मन्त्र का पारिभाषिक-दिग्दर्शन-

'सत्यं-ज्ञानं-अनन्तं ब्रह्म'–श्रुति का 'सत्यम्' शब्द विश्वात्मा विश्वेश्वर का ही वाचक है, इसमें प्रत्यक्ष प्रमाण स्वयं 'सत्य' शब्द का पारिभाषिक निर्वचनार्थ ही बन रहा है। 'सहृदयं सशरीरं सत्यम्' ही 'सत्य' का स्वरूप-लक्षण है, जिस लक्षण का वैज्ञानिक निष्कर्ष निकलता है–'आत्म–प्राण–पशुत्त्वमेव सत्यत्त्वम्', जिस इस निष्कर्ष का फलितार्थ निकलता है-'उक्थार्का-शीति-मत्त्वमेव सत्यत्त्वम्'।

४५–नियतभावानुबन्धी-'केन्द्रभाव', तदनुगत-'पुरभाव', तत्सह–समन्वित 'वस्तुभाव', एवं सकेन्द्र-सपुर-वस्तुभावात्मक-त्रिपर्वा-सत्य-के पारिभाषिक--'स-ति-यम्'--स्वरूप का संस्मरण—

बात कुछ समझने जैसी है। जिस वस्तुभाव में एक नियत 'केन्द्र' होता है, इस केन्द्र के चारों ओर जो वस्तुभाव 'पुर' रूप पिण्डभाव से समन्वित रहता है, ऐसा सकेन्द्र–सपुर–वस्तुभाव–ही–'सत्य' कहलाया है। केन्द्र, वस्तुभाव, पुर, इन तीनों की समन्वितावस्था का नाम ही 'स-ति-यम्' रूप त्र्यक्षर-मूर्त्ति 'सतियम्' लक्षण 'सत्यम्' है।

४६-विश्वातीत-अमायी--अखण्ड–निर्विशेष--ज्ञानैकघन-अनन्त-परात्पर-ब्रह्म से अनुगता अत्यनपिनद्धता, एवं उसका केन्द्र-पुर-वस्तुभाव-त्रयी से असंस्पृष्टत्व—

विश्वातीत अमायी अखण्ड निर्विशेष ज्ञानैकघन अनन्त परात्परब्रह्म अपनी 'अत्यनपिनद्ध'-भावान्विता अनवच्छिन्नता–अपरिच्छिन्नता से न तो केन्द्रधर्म्म से समन्वित, एवं न सीमाभावात्मक पुररूप पिण्डात्मक शरीर से ही समन्वित।

४७-व्यापकभाव, और तत्र केन्द्र का अभाव, व्यापक के प्रति अणु का स्वतन्त्र केन्द्रस्वरूप अकेन्द्रधर्म्म, एवं असंख्य-अगणित-ब्रह्माण्डाधिनायक-तथाविध-अकेन्द्र-अशरीरी-विश्वातीत-ब्रह्म का संस्मरण—

व्यापक में कोई केन्द्र नहीं होता, नैव व्यापक में किसी भी प्रकार की सीमात्मक-पुरभाव-पिण्डभाव-की ही अभिव्यक्ति सम्भव। व्यापक में कोई केन्द्र नहीं, इसका तात्पर्य्य है-उसका तो अणु अणु ही स्वयं केन्द्ररूप है, जिस केन्द्रात्मक एक एक अणु से एक एक वैसे 'सत्यब्रह्माण्ड' का आविर्भाव-तिरोभाव होता रहता है, जिस इस आनन्त्य का कहीं भी विश्राम नहीं है-'जा के रोम कोटि ब्रह्मण्डा'। नियतकेन्द्रधर्म्म से असंस्पृष्टता, एवं सवत्र केन्द्ररूपता ही उसकी अकेन्द्रता, तथा अशरीरता (अपिण्डता) है।

४८-सहृदय-सशरीर-भावानुबन्धी-सोपाधिक-सत्यधर्म्म से अतीत अखण्डब्रह्म, तदनु-प्राणित-'सत्यस्य-सत्यम्'-विवर्त्त, सङ्केतविधि से अनुप्राणित श्रुतिवचनों के पारिभाषिक-तथ्यार्थों का समन्वय-प्रयास, एवं-'सत्यस्य सत्यमनु यत्र युज्यते तत्र देवाः सर्वे एकी भवन्ति' मूलक तथाविध-'सत्यस्यसत्यम्' का पारिभाषिक-स्पष्टीकरण—

अतएव तथाकथित सहृदय-सशरीर-भावानुबन्धी-सत्यात्मक धर्म्म से तो उस अकेन्द्रात्मक-केन्द्रमूर्त्ति-अपिण्डात्मक-विश्वातीत-ज्ञानघन-अनन्त-परात्परब्रह्म को सर्वथैव अतीत ही माना जायगा। और ऐसी अवस्था में यदि-'सत्यं-ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' श्रुति को प्रतिसञ्चरमर्य्यादा से सङ्केतविधि से तटस्थ-रूपेण विश्वातीत की ही सङ्केतग्राहिका मानने का अभिनिवेश होगा, तो उस अवस्था में इस श्रुति के 'सत्यम्' का विश्वानुबन्धी-व्यक्षरमूर्त्ति-केन्द्र-शरीरात्मक-सत्य अर्थ न कर-'सत्यस्य सत्यम्' ही समन्वय किया जायगा, जिस 'सत्यस्यसत्यंरूप' विश्वातीत में सभी नानाभाव, विविध-ज्ञानात्मक यच्चयावत् विज्ञानभाव एकत्व से ही समन्वित होजाया करते हैं-''सत्यस्य सत्यमनु यत्र युज्यते, तत्र देवाः सर्वे एकी भवन्ति" (उपनिषत्)। त्रिःसत्यात्मक विश्वात्मसत्य का सत्य (प्रतिष्ठा) वही विश्वातीत अद्वैतब्रह्म है, एवं यही उस 'सत्यस्यसत्यंरूप' 'सत्यम्' शब्द का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय है।

४९-सत्यभाव के स्वरूप-विश्लेषक सत्यशब्द की विश्वात्मानुबन्धिनी संग्राहकता, एवं तदनुगत त्रिभावापन्न-त्रिसत्य-विवर्त्तों का संस्मरण, एवं त्रिपर्वा सत्य से अनुप्राणित-'आत्मा-प्राणाः-पशवः' रूप तीनों सत्यपर्वों का स्वरूपार्थ-समन्वय-प्रयास—

हाँ, तो अब यह सर्वात्मना संसिद्ध है कि, सविशेष-सत्यभाव का प्रतिपादक 'सत्य' शब्द सविशेष विश्वात्मा का ही संग्राहक बन रहा है, जिस इस सहृदय-सशरीरी, अतएव सत्यमूर्त्ति विश्वात्मा के त्रिः-सत्यपर्व क्रमशः आत्मा, प्राणाः, पशवः, इन नामों से प्रसिद्ध हैं। केन्द्रस्थ मूलबिम्बात्मक वही तत्त्व-

'आत्मा' है। इस मूलविम्ब से उत्थिता रश्मियाँ हीं-'प्राणा:' हैं। एवं इन रश्म्यात्मक प्राणों से परिगृहीत वस्तुभाव ही 'पशवः' हैं।

५०-आत्मरूप-'उक्थ' का निर्वचनात्मक-स्वरूप-लक्षण, एवं तथाविध-उक्थात्मा से विनिर्गत गतिभावापन्न प्राणतत्त्व से अनुप्राणित गमनागमनरूप प्राणनापानन का दिग्दर्शन—

क्योंकि आत्मस्थानीय केन्द्रस्थ मूलविम्ब से ही रश्म्यात्मक प्राण समुत्थित है, अतएव-'उत्तिष्ठन्ति-अर्कभावा:-यत:-आत्मकेन्द्रात्' इस निर्वचन से केन्द्रात्मक, किंवा केन्द्रस्थ 'आत्मा' को अवश्य ही-'उक्थम्' कहा जासकता है, कहा गया है। **रश्म्यवच्छिन्न प्राण गतितत्त्व है**। 'गतितत्त्व' की सहज अवस्था-'प्राणनापानन' मानी गई है-जिसका लोकार्थ है-'गमनागमन'।

५१-'अर्चंश्चरति'-निबन्धना पारिभाषिकी स्थिति का स्वरूप-समन्वय, एवं अर्कात्मक प्राण से अनुगत प्राणन, और अपानन के पारिभाषिक-अर्थ का संस्मरण—

आदान-आगति-संग्रह-ही 'अपानन' है, एवं विसर्ग-गति-परित्याग ही-'प्राणन' है। पीछे हटना अपानन है, एवं आगे बढ़ना प्राणन है। प्राणन की प्रतिष्ठा अपानन है, तो अपानन का प्रवर्त्तक प्राणन है। यही गत्यात्मक प्राण का उभयधर्म्मात्मक सहज सञ्चरण है। इसी उभयधर्म्म को कहा जाता है-'अर्चंश्चरति'।

५२--प्राणनापानन-के द्वारा गत्यात्मक प्राण से अशीति का संग्रह, तन्निबन्धना बुभुक्षो-पशान्ति, और-'अर्का:'-लक्षणा पारिभाषिकी प्राणसंज्ञा का समन्वय—

प्राणनापानन से ही गत्यात्मक प्राण मध्यस्थ भावों का संग्राहक बनने में समर्थ होता है, जिस मध्य-स्थ संग्रह से ही प्राणानुगता अशनायात्मिका बुभुक्षा शान्त होती है। यह **'संग्रह'** ही प्राण का अर्चनात्मक-गमन-चरण है। और इस **'अर्चंश्चरन्'** धर्म्म से ही प्राणापाननधर्म्मा गतिरूप प्राण की पारिभाषिक-संज्ञा होगई है-'अर्का:'।

५३--अर्कात्मिका प्राणरश्मियों से संगृहीत प्रवर्ग्यान्न का अशीति-मयत्व, तद्द्वारा उक्थात्मा का आप्यायन, एवं-'अशीतिभिर्हि महदुक्थमाप्यायते' का संस्मरण—

अर्करूपा प्राणरश्मियों से जिस प्रवर्ग्यभाग का संग्रह होता है, वह प्रवर्ग्यांश ही प्राणाग्नि का 'अन्न' बनता हुआ-**'अशीति'** नाम से प्रसिद्ध है। केन्द्रस्थ उक्थात्मा का प्राणनिर्गमनरूप विस्रंसन (क्षति) होता रहता है। विस्रंसनमूला इस क्षति की पूर्त्ति क्योंकि प्राण के द्वारा परिगृहीत अशीतिरूप प्रवर्ग्यान्न से ही होती रहती है। अतएव विस्रंसनपूरक (क्षतिपूरक) इस अशीतिरूप प्रवर्ग्यान्न को 'उक्थ' का आप्यायन-कर्त्ता मान लिया गया है, जैसाकि--**अशीतिभिर्हि महदुक्थमाप्यायते'** इत्यादि श्रुतिवचन से प्रमाणित है।

५४-प्रवर्ग्यान्न का उक्थात्मा के हृद्यभाव से पार्थक्य, तदनुप्राणित-पशुधर्म्म, तन्निबन्धन अनात्म्य-अशीति-भाव, और तदनुगत 'पशु' शब्द का अर्थ-समन्वय-

प्रवर्ग्यभाग क्योंकि केन्द्रस्थ-उक्थरूप-हृद्य-आत्मा से पृथग्वत्-परित्यक्तवत् रहता है, अतएव इस अनात्म्य-उच्छिष्ट-प्रवर्ग्य-रूप-भौतिक-अशीतिभाग को 'अनात्म्य' मान लिया गया है। चराचरसृष्टि-प्रक्रिया में क्योंकि पशुसर्ग में आत्मा स्वस्वरूप से अभिव्यक्त नहीं रहता। और इधर प्रवर्ग्यरूप अशीति-अन्न भी आत्मस्वरूप की अभिव्यक्ति से वञ्चित रहता हुआ 'अनात्म्य' ही है। इसी सादृश्य से इस तीसरे अशीतिरन्न को-'पशु' कह दिया गया है।

५५-अनात्म्य-भूत-भावानुबन्धी धामच्छदधर्म्म, तदनुगत प्रत्यक्षभाव, प्रत्यक्षदर्शनानुगत पशुभाव, और पशुशब्द के दृष्टिकोणभेदनिबन्धन श्रौत-निर्वचनार्थ-का समन्वय-

अपिच-धामच्छदधर्म्म अनात्म्य-भूत का ही स्वरूप-धर्म्म माना गया है, जिस इस अनात्म्य-भूत के धामच्छद धर्म्म के आधार पर ही भौतिक-जगत् का प्रत्यक्ष हुआ करता है। इस प्रत्यक्षात्मक-दृष्टिविषयक-भौतिक-धर्म्म से भी 'यदपश्यत्-तस्मात्-पशुः' इस निर्वचन से प्रवर्ग्यरूप अशीतिरन्न को 'पशु' कहना अन्वर्थ बनता है *।

५६-केन्द्रस्थ आत्मा की उक्थरूपता, रश्मिरूप-प्राणों की अर्करूपता, एवं पशुरूप अन्न की अशीतिरूपता का पारिभाषिक-समन्वय, तथा रहस्यपूर्ण-अमृतं-ब्रह्म-शुक्रम्'-नामक त्रिविध-महिमा-विवर्त्तों का नाम संस्मरण—

तदित्थं केन्द्रस्थ आत्मा की उक्थरूपता, आत्मनोत्थित-रश्मिरूप प्राणों की अर्करूपता, एवं प्राणार्कों से परिगृहीत पशु की अशीतिरन्नरूपता का पूर्वसन्दर्भ से भलीभाँति स्पष्टीकरण होजाता है। हृदयस्थित उक्थरूप-आत्मा ही विश्वात्मसत्य का प्रथम 'अमृतम्' विवर्त्त है। पिण्ड-मण्डलस्थ-अर्करूप प्राण ही सत्यात्मा का द्वितीय 'ब्रह्म' विवर्त्त है। एवं पिण्ड, तथा मण्डल का क्षतिपूरक-प्रवर्ग्यान्नरूप-अशीति-भाग ही सत्यात्मा का तृतीय-'शुक्रम्' विवर्त्त है।

५७-आत्मा-उक्थ-अमृतं-त्रयी का, प्राणाः-अर्काः-ब्रह्म-त्रयी का, एवं पशवः-अशीतयः-शुक्रम्-त्रयी का समतुलन

आत्मा, उक्थ, अमृत, तीनों अंशतः समतुलित हैं। प्राणाः-अर्काः-ब्रह्म, तीनों अंशतः समतुलित हैं। एवं पशवः-अशीतयः-शुक्रम्, तीनों अंशतः समतुलित हैं। इन तीनों त्रिकों में 'आत्मोक्थामृत' रूप पहिला त्रिक ही सत्यात्मक 'हृदय' है, एवं उत्तर के दोनों त्रिक इस हृदयात्मक उक्थात्मा के 'शरीर' हैं।

---

*-स एतान् पञ्च पशूनपश्यत्। यदपश्यत्-तस्मादेते पशवः। तेष्वेतमपश्यत्, तस्मादु-एवैते पशवः। (शत० ६।१।४।४

५८–सहृदयं-सशरीरं-सत्यम्'-लक्षण सत्यात्मा-विश्वात्मा-से अनुप्राणित आत्मा, और शरीर नामक दो पर्वों का पारिभाषिक-समन्वय,-एवं तालिकाओं के द्वारा स्थिति का स्पष्टीकरण—

और यों आरम्भ के-'सहृदयं-सशरीरं सत्यम्' इस लक्षण के अनुसार विश्वात्मा विश्वेश्वर व्यक्षर-मूर्त्ति-'सत्यात्मा' ही प्रमाणित होरहे हैं, जिनकी यह सत्यरूपता उस विश्वातीत-अनन्तब्रह्म से सर्वात्मना अभिन्ना ही मानी जायगी, जो कि विश्वातीत परात्परब्रह्म अपने हीं महिमारूप--अमृत-ब्रह्म-शुक्रात्मक-इस त्रिसत्यमूर्त्ति-सत्यात्मा विश्वेश्वर के अनुबन्ध से 'सत्यस्य-सत्यम्' प्रमाणित होते हुए-'सत्यं-ज्ञानं-अनन्तं ब्रह्म' मूलक महतोमहीयान् अत्यनपिनद्ध-निरवच्छिन्न-स्वरूप की ओर ही सत्तोपासकों का तटस्थरूपेणैव ध्यान आकर्षित कर रहे हैं।

सहृदयं —सशरीरं -सत्यम्–इत्याहुर्वै ज्ञानिकाः

	१	२	३		
१	१—उक्थम्	२—आत्माः	३—अमृतम्-स	हृदयम्	सत्यम्
२	१—अर्काः	२—प्राणाः	३—ब्रह्म—ति	शरीरम्	
३	१—अशीतयः	२—पशवः	३—शुक्रम्—यम्		

—"तदेव शुक्रं, तद्ब्रह्म, तदेवामृतमुच्यते" (कठोपनिषत्)

* * *

(१) ज्ञानपक्षः—प्रतिसञ्चरात्मकः —"अयं सदेकमयात्मा"
-"सत्यं-ज्ञानमनन्तं-ब्रह्म"

(२) विज्ञानपक्षः-सञ्चरात्मकः— "आत्मा उ एकः सन्नेतत्त्रयम्"
--"नित्यंविज्ञानमानन्दंब्रह्म"

५९–सत्यमूर्त्ति, विश्वात्मा-त्र्यात्मक-तथाविध-तत्त्व से अनुप्राणिता, मानवीया बुद्धि के तात्कालिक कुतूहल के उपशमन से अनुगता दार्शनिक दृष्टि का उपक्रम—

यह तो हुई विश्वात्मा विश्वेश्वर षोडशीप्रजापति के त्र्यात्मक सत्यधर्म्म की वैज्ञानिक–स्वरूप–मीमांसा (वैदिक–विज्ञानसम्मता-मीमांसा) । अब दो शब्दों में इसी सत्यमूर्त्ति विश्वात्मा के त्र्यात्मक सत्यधर्म्म का आचारशून्या उस दार्शनिक–दृष्टि से भी समन्वय कर लीजिए, जिससे माननीय–बुद्धि का कुतूहल क्षणमात्र के लिए उपशान्त होजाया करता है ।

६०–दार्शनिकों का सुप्रसिद्ध 'त्रिपुटीवाद', तत्समाधानोपयिक-वाक्यों का संस्मरण, एवं ऐन्द्रियक-बोधानुगत सुप्रसिद्ध दार्शनिक-'प्रत्यय' (ज्ञान) का पारिभाषिक-दिग्दर्शन—

दार्शनिकों का **'त्रिपुटीवाद'** सुप्रसिद्ध है, जिसका दार्शनिकोंनें अपनी अवच्छेदकावच्छिन्ना लोकभाषा में–**'प्रत्यय'** रूप से समन्वय-प्रयास किया है । **'घटमहं जानामि'-'पटमहं जानामि'-'देवदत्तमहं जानामि' "मैं घट–पट–देवदत्त आदि को जान रहा हूँ"** इत्याकारक–चाक्षुष–प्रत्यक्ष–मूलक घट–पट–देवदत्तादि भूत–भौतिक–पदार्थों का जो ऐन्द्रियक बोध–(ज्ञान) है, वही **'प्रत्यय'** कहलाया है, जो इत्थंभूत ऐन्द्रियक-प्रत्यय त्रिपर्वा बनता हुआ त्रिभावात्मक–'सत्य' का ही स्वरूप–संग्राहक प्रमाणित होरहा है ।

६१–प्रत्ययकर्त्ता मानव के 'अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्य' नामक प्रथम-प्रक्रम का, एवं-'अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्न-चैतन्य' नामक द्वितीय-प्रत्यय का पारिभाषिक-दिग्दर्शन—

प्रत्ययकर्त्ता मानव में एक **'अन्तःकरण'** नामक तत्त्व है दार्शनिकों की मान्यता के अनुसार । यह अन्तःकरण चिन्मय–ज्ञानमय–बोधमय है । इस अन्तःकरण का दूसरा प्रक्रम इन्द्रियवर्ग है । अन्तःकरणानुगत चैतन्य ही इन्द्रियचैतन्य का कारण है, जोकि इन्द्रियचैतन्य हृदयस्थ अन्तःकरणात्मक चिद्घन की ही अंशात्मिका **'वृत्तियाँ'** हैं । अतएव **इन्द्रियचैतन्य** को हम दर्शनभाषा में **'अन्तःकरणवृत्तिचैतन्य'** कहसकते हैं, और यही चैतन्य का दूसरा प्रक्रम है ।

२–भूत-भौतिक-विषयों-पदार्थों से अनुगत, तृतीय-प्रक्रमात्मक-'विषयावच्छिन्न-चैतन्य' का दिग्दर्शन, एवं तदभिन्न भूत-भौतिक-चैतन्य का समन्वय—

अब शेष रह जाता है बाह्य जगद्रूप वह भूतभौतिक–प्रपञ्च, जिसके संस्पर्श से ही इन्द्रियवृत्ति के माध्यम से अन्तःकरण में भौतिक-विषयों का बोध अभिव्यक्त होता रहता है । भौतिक-विषय भी उस सर्वव्यापक चित् के अंश से अपृथक्, किंवा नित्य समन्वित हैं । अतएव इस **'भौतिक–चैतन्य'** को अवश्य ही **'विषयचैतन्य'** कहा जासकता है ।

६३–अन्तःकरणावच्छिन्न-चैतन्यरूप-ज्ञाता, अन्तःकरणवृत्यवच्छिन्न-रूप-ज्ञान, एवं विषयावच्छिन्न चैतन्यरूप ज्ञेय, रूपेण दार्शनिकों के-'त्रिपुटीवादात्मक' त्रिपर्वा पारिभाषिक-'प्रत्यय' का-स्पष्टीकरण-प्रयास—

तदित्थं–अन्तःकरण, अन्तःकरणवृत्ति, विषय, भेद से एक ही व्यापक चैतन्य के प्रक्रमानुगत स्थानभेद से तीन विभिन्न संस्थान होजाते हैं, यही एक का 'त्रिपुटीत्त्व' है। 'इलायची' का नाम ही 'त्रिपुटी' है। इलायची एक ही है, किन्तु पुटात्मक पर्व तीन हैं। तथैव चैतन्य एक ही है, जिसके पुटात्मक पर्व अन्तःकरणादि भेद से तीन हैं, जो तीनों पुट लोकव्यवहारभाषा में क्रमशः 'ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय' इन नामों से प्रसिद्ध हैं *।

६४–'ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय'-पर्वनिबन्धना प्रत्ययानुगता वस्तुबोध-समन्विता-प्रत्ययस्वरूप-लक्षणान्विता दार्शनिक-स्थिति का समन्वय-प्रयास—

अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य ही 'ज्ञाता' है, अन्तःकरणवृत्यवच्छिन्न चैतन्य ही 'ज्ञान' है, एवं---'विषयावच्छिन्न चैतन्य ही 'ज्ञेय' है। इन त्रिविध चैतन्यों के एकत्र समन्वय से ही 'प्रत्यय' (वस्तुबोध) नामक अपूर्व सांयौगिक–'जानामि' रूप ज्ञान अभिव्यक्त होता है, और यही त्रिपर्वा प्रत्यय का स्वरूप–लक्षण है, जैसाकि—निम्न लिखित रूप से दार्शनिक-जगत् में प्रसिद्ध है कि—

"अन्तःकरणावच्छिन्नं--चैतन्यं–अन्तःकरणवृत्यवच्छिन्नं--चैतन्यं–विषयावच्छिन्नं–चैतन्य, इत्येतेषां–संयोगत्त्वमेव प्रत्ययत्त्वम्"।

६५–हृदयावच्छिन्न–उक्थात्मा, पिण्डमण्डलावच्छिन्न-अर्कप्राण, एवं अशीति-पशु-रूपेण दार्शनिकदृष्टि से अनुप्राणित ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय-समन्वित-त्रिविध-चैतन्य-समन्वयात्मक पारिभाषिक तथ्य का समतुलनात्मक-स्पष्टीकरण—

हृदयावच्छिन्न उक्थरूप आत्मा ही अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य है। पिण्ड–मण्डलावच्छिन्न-अर्करूप प्राण हीं अन्तकरणवृत्यवच्छिन्न चैतन्य है। एवं भूतपिण्डात्मक-अशीतिरूप-पशु ही विषयावच्छिन्न चैतन्य है। अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्यरूप ज्ञाता-उक्थरूप आत्मा, अन्तःकरणवृत्यवच्छिन्न-चैतन्यरूप ज्ञान–अर्करूप-प्राण, एवं विषयावच्छिन्न चैतन्यरूप ज्ञेय–अशीतिरूप–पशु, इन तीनों की समन्वितावस्था से ही तो 'प्रत्यय' नामक 'बोध' की अभिव्यक्ति होती है।

---

*–ज्ञानं–ज्ञेयं–परिज्ञाता–त्रिविधा कर्म्मचोदना।
करणं–कर्म्म–कर्म्मेति–त्रिविधः कर्म्मसंग्रहः॥
—गीता १८।१८।

६६–उक्थात्मरूप-भोक्ता, अशीति-पशुरूप-भोग्य, एवं स्थाणुधर्म्म से समन्वित भोक्तात्मा का पारिभाषिक-'अनेजद्धर्म्म', तथा भोग्य-भोक्तृ-निबन्धना-'सर्वा दिशो बलिमस्मै हरन्ति' इत्यादि लक्षणा स्थिति का समन्वय-प्रयास—

ज्ञाता–उक्थ–आत्मा ही भोक्ता है, एवं ज्ञेय-अशीति–पशु ही इस आत्मा का **भोग्य है**। भोक्ता आत्मा केन्द्र में उक्थरूप से स्थाणुधर्म्म से प्रतिष्ठित रहने वाला **'अनेजत्' (अविकम्पित–स्थिर)** तत्त्व है। अतएव यह स्वयं भोग्य-विषय के प्रति कदापि अनुधावन नहीं करता। **'वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं-पूर्णं पुरुषेण सर्वम्'** इत्यादि सिद्धान्तानुसार आत्मपुरुष तो वृक्षवत् सर्वथा स्तब्ध–अविचाली–ही तत्त्व है। भोग्य ही इस पर आते हैं, यह स्वयं कदापि भोग्य–विषयों के प्रति अनुधावन नहीं करता— **'सर्वा दिशो बलिमस्मै हरन्ति'**।

६७–अशीतिरूप-पश्वन्न के प्रति अनुधावन करने वाले भोक्तात्मा की (मानव की) कालान्तर में पशुजगद्वत् अनात्मरूप में परिणति का दुर्भाग्यपूर्ण इतिवृत्त—

यदि भोक्ता आत्मा भोग्य–विषयों की ओर अनुधावन करता है, तो उस दशा में वह आत्मस्वरूपधर्म्म से वञ्चित होता हुआ स्वयमपि भोग्य के प्रति अनुधावन करते रहने वाले पशु–पक्षी–कृमि–कीटादि–प्राकृत–प्राणियों की भाँति केवल–प्राकृत–अनात्म्य-'पशुभाव' में हीं परिणत होजाता है।

६८–केन्द्रस्थ-अविचाली-अनेजत्-उक्थात्मा से महिमारूपेण परितः व्याप्त अर्करूप प्राणों से परिगृहीत अशीतिरूप अन्न का पारिभाषिक-तत्त्वार्थ-समन्वय—

केन्द्रस्थ अविचाली अनेजत्--उक्थात्मा से महिमारूपेण चारों ओर विनिर्गता अर्कात्मिका प्राण-रश्मियों के द्वारा ही भोग्य का भोक्ता के साथ सम्बन्ध होता रहता है। क्योंकि भूतभौतिक विषय अर्करूप ऐन्द्रियक प्राणों के माध्यम से उक्थरूप भोक्ता आत्मा के अन्नरूप भोग्य बनते रहते हैं, अतएव इस प्रवर्ग्यान्न-स्थानीय भोग्य--विषयप्रपञ्च को--**'अशीति'** कहना सर्वथा अन्वर्थ प्रमाणित होजाता है, जैसाकि पूर्व में भी स्पष्ट किया जाचुका है।

६९–वैदिक-विज्ञानानुमोदित-उक्थ-अर्क-अशीति-रूप-आत्म-प्राण–पशु--त्रय-समन्वयात्मक-त्रिःसत्यात्मक-विश्वेश्वर के साथ दार्शनिकों के प्रत्ययनिबन्धन-त्रिपुटी–सिद्धान्त का यथाकथञ्चित् समन्वय–प्रयास—

तदित्थं वैदिकविज्ञानानुमोदित **उक्थ--अर्क--अशीति-रूप आत्मा--प्राण-पशु**--समन्वयात्मक--त्रिः-सत्यात्मक सत्य--विश्वेश्वर के साथ दार्शनिकों के प्रत्ययनिबन्धन **'त्रिपुटीसिद्धान्त'** का भी यथाकथञ्चित् समन्वय सम्भव बन जाता है, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है—

१—अन्तःकरणावच्छिन्नं चैतन्यमेव--ज्ञाता--उक्थम्--आत्मा--अमृतम्
२—अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्नं चैतन्यमेव-ज्ञानं--अर्काः--प्राणाः--ब्रह्म
३—विषयावच्छिन्नं चैतन्यमेव—ज्ञेयम्—अशीतयः–पशवः--शुक्रम्
} **"सत्यम्"**

७०–सत्य की 'त्रिःसत्यता' का मापदण्ड, त्रिःसत्यात्मक पारिभाषिक–आत्मप्रजापति, एवं तदनुप्राणित–'त्रिःसत्या वै देवाः' इत्यादि पारिभाषिक–अनुगमवचन–का संस्मरण—

तथोक्त 'सत्य' की 'त्रिः-सत्यता' का एकमात्र मापदण्ड है-'आत्मसत्य की त्रिरूपता'। मायाबलावच्छिन्न-सोपाधिक--नित्य-विज्ञानानन्दमूर्त्ति-विश्वात्मसत्य क्योंकि स्वयं अपने मौलिकरूप से त्रिपर्वा है, अतएव आत्मसत्य उक्थ–अर्क–अशीति–रूपेण, किंवा आत्मा--प्राण-पशु-रूपेण त्रिःसत्यात्मक बना हुआ है। एवं इसी आधार पर–'त्रिःसत्या वै देवाः' यह निगम प्रतिष्ठित है।

७१–मनः-सत्यम्–प्राणाः–सत्यम्–वाक्–सत्यम्-रूपेण आत्मानुगता सत्यत्रयी का संस्मरण, एवं मनःप्राणवाङ्मय–त्रिःसत्य–आत्मा के ज्ञानक्रियार्थमयत्त्व का दिग्दर्शन—

त्रिःसत्यात्मक सत्यात्मा के ये तीनों पर्व ही क्रमशः मनःसत्यम्, प्राणाः सत्यम्, वाक्सत्यम्–रूपेण सुप्रसिद्ध हैं। अतएव तथाविध आत्मसत्य–"स वा एष आत्मा वाङ्मयः-प्राणमयो--मनोमयः" इत्यादि बृहदारण्यक-श्रुति के अनुसार मनःप्राणवाङ्मय ही प्रमाणित होरहा है, जिस इस 'मनःप्राणवाङ्मयता' का समन्वयार्थ है—'ज्ञानक्रियार्थमयता'।

७२–ज्ञान-क्रिया-अर्थ-शक्तित्रयी से अनुगत आत्मनिबन्धन-घनभावापन्न पारिभाषिक–'कोश', और कोशात्मिका शक्तित्रयी का पारिभाषिक-समन्वय-प्रयास—

ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति' अर्थशक्ति, आत्मा की ये तीन ही प्रमुख शक्तियाँ हैं। जिस घनात्मक कोश से ज्ञानशक्ति का प्रसार होता रहता है, उसी ज्ञानशक्तिघनकोश का नाम है–'मन'। जिस कोश से अनन्त–असंख्य–क्रियाभाव आविर्भूत–तिरोभूत–होते रहते हैं, उसी क्रियाशक्तिघनकोश का नाम है--'प्राण'। एवं जिस कोश से असंख्याताः–सहस्राणि–सहस्रशः–अर्थभाव व्यक्त–अव्यक्त होते रहते हैं, उसी अर्थशक्तिघनकोश का नाम है—'वाक्'।

७३–मनः-प्राण-वाङ्-मूर्त्ति-कोशात्मक-आत्मसत्य का पारिभाषिक-'प्रजापतित्त्व', एवं मनः-उक्थ-आत्मा-ज्ञान–अमृतम्–रूप-प्राण–अर्क--प्राणाः-ज्ञान-ब्रह्म–रूप, तथा वाक्–अशीति–पशु-ज्ञेय–शुक्र–रूप-त्रिविध-पञ्चकों की अभिन्नार्थता का समतुलनात्मक समन्वय, तथा तन्निबलिबन्धन-'त्रिमूर्त्ति-सत्यप्रजापति'—

मनः–प्राण–वाक्–कोशमूर्त्ति–ज्ञान–क्रिया–अर्थ-शक्तिघन कोशात्मक–त्रिपर्वात्मक ऐसा आत्मसत्य ही–'प्रजापति' नाम से प्रसिद्ध है। मन--उक्थ--आत्मा--ज्ञाता--अमृतम्, पाँचों पर्व समतुलित हैं। प्राण-अर्क-प्राणाः-ज्ञान-ब्रह्म, पाँचों पर्व समतुलित हैं। एवं वाक्-अशीति-पशु-ज्ञेय-शुक्र, पाँचों पर्व समतुलित हैं। और यही है विविधरूपेण उपवर्णित 'त्रिमूर्त्ति-सत्यप्रजापति' का संक्षिप्ततम-स्वरूप-समन्वव, जिसके आधार पर ही अब इसी के महिमामय विस्तार की ओर उपनिषत्प्रेमियों का ध्यान आकर्षित किया जारहा है।

७४–त्रिपर्वा-सत्यप्रजापति के महिमामय-विस्तार से अनुप्राणिता पारिभाषिकी त्रिवृद्-भावापन्ना स्थिति का संस्मरण, एवं विभिन्न-दृष्टिकोणनिबन्धन–'त्रिःसत्यात्मा' का पारिभाषिक समन्वय-प्रयास—

त्रिपर्वा–सत्यप्रजापति के महिमामय विस्तार की ओर अपनी रहस्यभाषा में सङ्केत करता हुआ—'त्रिवृद्वै सत्यम्' यह अनुगमवचन हमारे सम्मुख उपस्थित होता है। 'त्रिः' का त्रिगुणितभाव ही--त्रिवृत्' है। 'त्रिः-सत्यात्मक सत्य त्रिवृत् है' वाक्य का फलितार्थ निकलता है--'त्रिःसत्य का प्रत्येक पर्व--(तीनों सत्यपर्व) त्रिः--त्रिः--रूपेण अवान्तर महिमाभावों से समन्वित होकर ही विश्व में प्रतिष्ठित है", जिस इस त्रिवृद्भावापन्न महिमामय विस्तार का एक अन्य दृष्टिकोण से ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य में भी दिग्दर्शन कराया जाचुका है। यहाँ एक विभिन्न दृष्टिकोण से ही त्रिःसत्यात्मा का, एवं त्रिवृद्रूप महिमामय विस्तार का दो शब्दों में यशोगान कर लिया जाता है।

७५–त्रिःसत्यमूर्त्ति विश्वात्मा की मनः-प्राण-वाग्-रूपा–कलात्रयी से अनुप्राणित अमृत–मृत्युनिबन्धन–पारिभाषिक–ओतप्रोतभावात्मक-सम्बन्ध–विशेष का संस्मरण, एवं तदनुप्राणिता ब्राह्मणश्रुति—

त्रिःसत्यमूर्त्ति विश्वात्मा की मनः--प्राण--वाक्-नाम की तीनों हीं कलाएँ–'तदन्तरस्य सर्वस्य, तदु सर्वस्य बाह्यतः' रूप से प्रत्येक प्रत्येक में ओतप्रोत है, जिस ओतप्रोतप्रक्रिया को ही छान्दोग्यने–'त्रिवृत्करण' कहा है, एवं जो-इत्थंभूत त्रिवृत्करणसम्बन्ध ही–'अन्तरं मृत्योरमृतं--मृत्यावमृतमाहितम्' इत्यादि ब्राह्मणश्रुति से भी प्रमाणित है।

७६–आत्मानुगता मनः प्राण-वाक्-प्रधाना-प्रथमा-द्वितीया-तृतीया-कलाओं-से अनुप्राणित पारिभाषिक मनःप्राणवाग्निबन्धन त्रिवृद्भाव का समन्वय, तन्निबन्धन त्र्यात्मक ज्ञानात्मा, त्र्यात्मक कर्म्मात्मा, एवं त्र्यात्मक अर्थात्मा (भूतात्मा) के साङ्केतिक नामों का संस्मरण, तथा त्रिवृन्मन, त्रिवृत्प्राण, त्रिवृतावाक् के विवर्त्त-भावों से अनुप्राणित त्रिसंस्थ-महिमा-मय-विवर्त्तों का परिलेख के द्वारा स्पष्टीकरण-प्रयास—

आत्मा की प्रथमा 'मनः–कला' भी मनःप्राणवाङ्मयी, किन्तु मनःप्रधाना, किंवा मनोमयी है। द्वितीया प्राण–कला भी प्राण–मनोवाङ्मयी, किन्तु प्राणप्रधाना, किंवा प्राणमयी है। एवमेव तृतीया–'वाक्–कला' भी वाक्प्राणमनोमयी, किन्तु वाक्प्रधाना, किंवा वाङ्मयी है। और इसप्रकार तीन आत्म-कलाओं के त्रिवृद्रूप मनः- प्राण–वाक्–नामक कलाभावों के प्रत्येक के–त्र्यात्मक-त्र्यात्मक–रूपेण तीन महिमामय विस्तार होजाते हैं, जिन तीनों को मनः–प्राण–वाङ्मय ज्ञान–कर्म्म–अर्थ-प्राधान्य से क्रमशः त्र्यात्मक-ज्ञानात्मा, त्र्यात्मक कर्म्मात्मक त्र्यात्मक अर्थात्मा (भूतात्मा) इन साङ्केतिक नामों से भी व्यवहृत किया जासकता है। और यों त्रिपर्वा सत्यात्मप्रजापति अपने त्रिवृद्भाव से त्र्यात्मकरूपेण नवकल बनता हुआ 'त्रिःसत्यात्मक' (तीन सत्यों की समष्टिरूप) प्रमाणित होरहा है, जैसा कि आगे केपरिलेखों से स्पष्ट है।

त्रिवृद्वा-इदं सर्व्वम्

त्रिवृतं-मनः-३ त्र्यात्मकः-ज्ञानात्मा प्रथमा-सत्यत्रयी	१-मनोमयं-मनः-उक्थम्-आत्मा-ज्ञाता—अमृतम् २-मनोमयः-प्राणः-अर्काः-प्राणाः-ज्ञानम्—ब्रह्म ३-मनोमयी-वाक्-अशीतयः-पशवः-ज्ञेयम्-शुक्रम्	तदेतत्-सर्वं-मन एव (१ तदेतत्-सर्वं-उक्थमेव (२) तदेतत्-सर्वं-आत्मैव (३) तदेतत्-सर्वं-ज्ञातैव (४) तदेतत्सर्वं-अमृतमेव (५)
त्रिवृतः-प्राणः (३) त्र्यात्मकः-कर्म्मात्मा द्वितीया-सत्यत्रयी	१-प्राणमयं-मनः-उक्थम्-आत्मा-ज्ञाता-अमृतम् २-प्राणमयः-प्राणः-अर्काः-प्राणाः-ज्ञानम्-ब्रह्म ३-प्राणमयी-वाक्-अशीतयः-पशवः-ज्ञेयः—शुक्रम्	तदेतत्सर्वं-प्राण-एव (१) तदेतत्सर्वं-अर्का-एव (२) तदेतत्सर्वं-प्राणाः-एव (३) तदेतत्सर्वं-ज्ञानमेव (४) तदेतत्सर्वं-ब्रह्मैव (५)
त्रिवृता-वाक् (३) त्र्यात्मकः-भूतात्मा तृतीया-सत्यत्रयी	१-वाङ्मयं-मनः-उक्थम्-आत्मः-ज्ञाता—अमृतम् २-वाङ्मयः-प्राणः-अर्काः-प्राणः-ज्ञानम्-ब्रह्म ३-वाङ्मयी-वाक्-अशीतयः-पशवः-ज्ञेयः-शुक्रम्	तदेतत्सर्वं-वागेव (१) तदेतत्सर्वं-अशीतिरेव (२) तदेतत्सर्वं-पशुः-एव (३) तदेतत्सर्व्वं-ज्ञेयमेव (४) तदेतत्सर्व्वं-शुक्रमेव (५)

त्रिःसत्यमूर्त्तिः-प्रजापतिः

७७- त्रिवृद्भावापन्न-सत्यमूर्त्ति-त्रिःसत्यमूर्त्ति-प्रजापति के स्वरूपदिग्दर्शन से अनुप्राणित परमप्रजापति-प्रतिमाप्रजापति-प्रतिमानप्रजापति-त्रयी का पावन-संस्मरण—

उक्त त्रिवृद्भावापन्न सत्यमूर्त्ति, किंवा त्रिःसत्यमूर्त्ति प्रजापति के स्वरूप-दिग्दर्शन से अब हमें स्वतः ही इस निष्कर्ष पर पहुँच जाना पड़ा कि, एक ही सत्यप्रजापति त्रिवृद्रूप अपने तीन महिमामय विस्तारों से त्रिसंस्थ बनता हुआ उस एक ही के तीन प्राजापत्यसंस्थाओं का संग्राहक प्रमाणित होरहा है। जो कि उस एक ही के महिमामय वे प्राजापत्यविवर्त्त साङ्केतिकभाषा में [1]**परमप्रजापति**, [2]**प्रतिमाप्रजापति**, [3]**प्रतिमानप्रजापति**, इन नामों से यत्र तत्र उपवर्णित, एवं उपस्तुत हैं।

७८–दार्शनिक दृष्टिकोणानुबन्धेन त्रिविध-विवर्त्तों का क्रमशः-ईश्वर-विश्व-जीव-भावत्रयी से सम्बन्ध, एवं तदनुगत-ज्ञानबुद्धियोगात्मक-ज्ञानकाण्ड, ऐश्वर्य्यबुद्धियोगात्मक-भक्तिकाण्ड, तथा धर्म्मबुद्धियोगात्मक कर्म्मकाण्ड-लक्षणा काण्डत्रयी-का नाम-संस्मरण—

दार्शनिक-भाषा में इन्हीं तीनों प्रजापतिविवर्त्तों को क्रमशः–[1]"ईश्वर'--[2]'विश्व'--[3]'जीव' इन नामों से व्यवहृत किया जासकता है, जिन इन त्रिविध प्राजापत्य–विवर्त्तों के आधार पर ही मानव की आचारनिष्ठा से सम्बन्ध रखने वाले वैराग्यबुद्धियोगनिबन्धन ज्ञानबुद्धियोगात्मक ज्ञानकाण्ड, ऐश्वर्य्यबुद्धियोगात्मक भक्तिकाण्ड, तथा धर्म्मबुद्धियोगात्मक कर्म्मकाण्ड, नाम से सुप्रसिद्ध ज्ञानयोग- भक्तियोग--कर्म्मयोग–नामक तीन योग क्रमशः व्यवस्थित हुए हैं * ।

७९–त्र्यात्मक-प्रतिमानप्रजापति-प्रतिमाप्रजापति- परमप्रजापति-से अनुप्राणिता विधि-आरण्यक-उपनिषद्भागत्रयी, एवं नितान्त-अवधेय-त्रिवृद्भावापन्न-तथ्य का स्पष्टीकरण--प्रयास—

त्र्यात्मक–प्रतिमानप्रजापत्यनुप्राणित आचारात्मक कर्म्मयोग के स्वरूप–विश्लेषण के लिए ही वेद–शास्त्र का 'विधि' लक्षण **ब्राह्मणभाग** प्रवृत्त हुआ है । त्र्यात्मक–प्रतिमाप्रजापत्यनुप्राणित–आचारात्मक–भक्तियोग (उपासना) के स्वरूप–विश्लेषण के लिए ही **आरण्यकभाग** प्रवृत्त हुआ है । एवं त्र्यात्मक–परमप्रजापत्यनुप्राणित–आचारात्मक–ज्ञानयोग के स्वरूप–विश्लेषण के लिए ही **उपनिषद्भाग** प्रवृत्त हुआ है । और इसी दृष्टिबिन्दु पर एक विशेष तथ्य को भी सर्वथैव अवधेय बना लेना है, जिस अवधेयता के लिए ही हमें प्रजापति के त्र्यात्मक त्रिवृद्रूपों का अत्र यशोगान करना पड़ा है ।

८०–त्रिवृद्रूपतानुबन्धी-त्र्यात्मक-प्रजापति, प्रजापति-त्रयी के प्रतिपादक 'ब्राह्मण-आरण्यक उपनिषद्' भागों की त्र्यात्मकता, एवं प्रत्येक वेदविभाग के कृत्स्नसमन्वय से अनुप्राणित विशेषदृष्टिकोण का संस्मरण—

अपनी त्रिवृद्रूपता से तीनों ही प्रजापति त्र्यात्मक बने हुए हैं । अतएव तीनों के प्रतिपादक ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषत्-भागों को भी त्र्यात्मक ही माना जायगा-गौणप्राधान्य-रूप से । अतएव तीनों हीं वेदविभागों को तीनों का पूरक माना जायगा । और कहा जायगा कि, प्रत्येक वेदविभाग के कृत्स्न-समन्वय के लिए शेष दोनों विभाग भी अनिवार्य्यरूपेण संग्राह्य होंगे ।

---

*--वैराग्यबुद्धियोगानुगत-आचारनिष्ठात्मक इन तीनों योगों का विशद-वैज्ञानिक-समन्वय गीताभूमिकान्तर्गत-ज्ञानयोगपरीक्षा, भक्तियोगपरीक्षा, कर्म्मयोगपरीक्षा, नामक तीन स्वतन्त्र निबन्धों में हीं द्रष्टव्य है ।

८१–त्र्यात्मक तथ्य के आधार पर शास्त्रत्रयी की अन्वर्थता का समन्वय, ब्राह्मण, आरण्यक, एवं उपनिषत्-नामक वेदविभागों के अन्योऽन्याश्रयभावनिबन्धन-सहसमन्वयात्मक-पारिभाषिक-तथ्य-का स्पष्टीकरण-प्रयास, और तन्निबन्धन कर्त्तव्य-शास्त्ररूप अभिन्न-शास्त्र—

तथाविध त्र्यात्मक तथ्य के आधार पर तीनों मिल कर ही अपनी प्रतिपादकता अन्वर्थ बना सकेंगे। अतएव च कहा, और माना जायगा कि, ब्राह्मणभाग के समन्वय के लिए आरण्यकोपनिषत् अपेक्षित होंगे, तो आरण्यकभाग के समन्वय के लिए ब्राह्मणोपनिषत् अपेक्षित होंगे। एवमेव उपनिषदर्थ का भी तभी समन्वय होसकेगा, जबकि ब्राह्मण, तथा आरण्यकभागानुगत तत्त्वों का समन्वय कर लिया जायगा, जिस इस तथ्य का निष्कर्षार्थ यही होगा कि, तीनों स्वतन्त्र तीन शास्त्र नहीं हैं। अपितु तीनों मिल कर एक ही 'कर्त्तव्य-शास्त्र' है।

८२–'विशुद्धा-प्रवृत्ति' की भ्रान्ति से अनुगत कर्म्ममार्ग, तथा 'विशुद्धा-निवृत्ति' से अनुगत ज्ञानकर्म्म की आपातरमणीयता, तदनुगता ब्राह्मणारण्यकोपनिषत्त्रयी की विच्छिन्नता, एवं इत्थंभूत मान्यतानुगत प्रौढिवादमात्र का दिग्दर्शन—

कर्म्म का अर्थ 'विशुद्धा प्रवृत्ति' मानकर ब्राह्मणग्रन्थों का आरण्यकोपनिषद्ग्रन्थों से विच्छेद कर देना जैसे आपातरमणीय है, एवमेव 'ज्ञान' का अर्थ 'विशुद्ध–निवृत्ति' मानने की भ्रान्ति में आविष्ट होते हुए उपनिषदों का ब्राह्मणारण्यकग्रन्थों से विच्छेद करते हुए, उपनिषदों के आत्मा, तथा ज्ञान को निरपेक्ष–विश्वातीत ब्रह्म-परक लगाते हुए उपनिषदर्थ का समन्वय-प्रयास भी मान्यतानुगत प्रौढिवादमात्र के अतिरिक्त और कुछ भी अर्थ नहीं रख रहा।

८३–निर्विशेषभावान्विता महती-भ्रान्ति के दुष्परिणाम-स्वरूप-ही उपनिषच्छास्त्र की आचारनिष्ठात्मिका गरिमा-महिमा का एकान्ततः अभिभव—

इसी निर्विशेष-भ्रान्ति से उपनिषत् के भाष्यकारों, तथा टीकाकारोंनें को उपनिषदों के ब्राह्मणभागानुगत-तात्त्विक–विज्ञान (सृष्टिविज्ञान) से सर्वथा ही विच्छिन्न करते हुए उपनिषदों की आचारनिष्ठात्मिका गरिमा–महिमा को एकान्ततः तो अभिभूत ही कर दिया है, जैसाकि-प्रकरणोपक्रम में भी निवेदन किया जा–चुका है।

८४–परम-प्रतिमा-प्रतिमान-रूप विभिन्न तीन उद्देश्य, एवं त्रिविध उद्देश्यों का ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषत् के साथ समतुलन—

उद्देश्य तीनों के क्रमशः–परम–प्रतिमा–प्रतिमान–प्रजापति ही हैं। किन्तु तीनों के विधेय अभिन्न हैं। उद्देश्यधिया ब्राह्मणग्रन्थ प्रतिमानप्रजापति को ही प्रधानरूपेण अपनी व्याख्या का अवलम्ब बना रहे हैं। आरण्यकग्रन्थ प्रतिमाप्रजापति को ही, एवं उपनिषद्ग्रन्थ परमप्रजापति को ही अपना उद्देश्य मान रहे हैं।

८५–निष्कामभावानुबन्धी 'विधेय'-रूप आत्मतत्त्व की त्रिभावनिबन्धना अभिन्नता, एवं तन्निबन्धन त्रिवृद्भावविज्ञान का संस्मरण—

किन्तु निष्कामभावानुबन्धी विधेयरूप-आत्मतत्त्व तीनों विभिन्न भी उद्देश्यों में अभिन्न ही है। यही तीनों वेदविभागों की भिन्नतानुगतापि अविभिन्नता का मौलिक–समन्वय है, जिस का त्रिवृद्भावविज्ञान के आधार पर ही क्योंकि समन्वय सम्भव था। अतएव अत्र उस त्रिवृद्भाव का हमें दिग्दर्शन कराना पड़ा।

८६–सर्वभावानुगत, एवं कृत्स्नभावानुगत पारिभाषिक-दृष्टिकोण के माध्यम से त्रिवृद्–धर्म्मानुबन्धी ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषत्-ग्रन्थों का विधेयानुगत समन्वय, एव त्रिवृद्भावापन्ना प्रजापतिसंस्थात्रयी का संस्मरण—

परमप्रजापति प्रतिमा–प्रतिमान–विवर्त्तों से अभिन्न है, तो प्रतिमानप्रजापति परम-प्रतिमान-विवर्त्तों से, एवं प्रतिमाप्रजापति परम–प्रतिमान–विवर्त्तों से अभिन्न है। एक को उद्देश्य बनाने के अव्यवहितोत्तर-काल में ही त्रिवृद्धर्म्मानुबन्ध से शेष दोनों भी स्वतः ही लक्ष्यारूढ बन जाते हैं। इस सर्व, और कृत्स्नात्मक पारिभाषिक–दृष्टिकोण को आधार बनाए बिना–ब्राह्मणारण्यकोपनिषद–विभागों के एक वचन का भी यथावत् समन्वय सम्भव नहीं है। अब दो शब्दों में हमें त्रिवृद्भावापन्ना-प्रजापति-संस्थात्रयी का ही संक्षेप से दिग्दर्शन करा देना है।

८७–'परमप्रजापति'-लक्षणा सर्वाधारभूता-अमृतात्मसंस्था, तद्रूप-'सहस्रवल्शेश्वर-अश्वत्थप्रजापति', तत्रूप-'षोडशीप्रजापति', एवं त्रिपुरुष-पुरुषात्मक-पारिभाषिक-विश्वकर्त्ता-'ईश्वर'—

'परमप्रजापति' पहिली, और प्रमुख, तथा सर्वाधारभूता–प्रजापतिसंस्था है, जिसे हम–'अमृतात्म–संस्था' भी कह सकते हैं। इसी का पारिभाषिक–नाम है–'सहस्रवल्शेश्वर–अश्वत्थप्रजापति'। इसी की दूसरी पारिभाषिक अभिधा है–"षोडशीप्रजापति"। यही "विश्वेश्वर"–"विश्वात्मा"–"विश्वकर्म्मा"–'विश्वकर्त्ता'-प्रथम-अमृतसत्यात्मक-पारिभाषिक–'ईश्वर' है, जिस का स्वरूप–'त्रिपुरुषपुरुषात्मक' माना गया है।

८८–पञ्चकलात्मक-पुरुषरूप अव्यय, पञ्चकलात्मक-पराप्रकृतिरूप अक्षर, पञ्चकलात्मक-अपराप्रकृतिरूप-आत्मक्षर, एवं अर्द्धमात्रिक-अमात्रिक-परात्पर से समन्वित-षोडश-कल-षोडशीप्रजापति-रूप-'परमप्रजापति' का संक्षिप्त चिरन्तनेतिवृत्त—

आनन्द-विज्ञान-मनः-प्राण-वाङ्-मय पञ्चकल अव्ययपुरुष अमृतब्रह्मा-इन्द्र-अग्नि-सोम-मय-पञ्चकल अक्षरपुरुष, मर्त्य–ब्रह्मा–इन्द्र–अग्नि–सोम–मय-पञ्चकल आत्मक्षरपुरुष, एवं सर्वातीत–अमात्रिक–अर्द्धमात्रिक–अभिन्न–परात्पर, इन षोडशकलाओं की समष्टिरूप, अव्यय-अक्षर–आत्मक्षर–रूपेण त्रिपुरुषपुरुषात्मक षोडशकल, अतएव-'षोडशी' नाम से प्रसिद्ध-सहस्रवल्शात्मक-तत्त्व ही-'परमप्रजापति' का संक्षिप्त-चिरन्तन-इतिवृत्त है।

८९-मनोमय-आत्मा-उक्थ-ज्ञाता-अमृत-आदि विवर्त्तभावानुबन्धी पुरुषविवर्त्त, तदनुगत मनःप्राणवाग्निबन्धन-पारिभाषिक-त्रिवृद्भाव, एवं पञ्चकल-अव्यय, पञ्चकल-अक्षर, तथा पञ्चकल-आत्मक्षर-पुरुष से अनुप्राणिता पारिभाषिकी स्थिति का स्पष्टीकरण-प्रयास—

यही मनोमय आत्मा है, यही 'उक्थ' है, यही 'ज्ञाता' है, यही 'अमृतम्' है, जिसके सम्बन्ध में यह विवेक और कर लेना चाहिए कि, मनोरूपता क्योंकि त्रिवृद्भावमयी है । अतएव इसके महिमामय तीनों पुरुषविवर्त्त क्रमशः मनोमय मनोरूप, मनोमय प्राणरूप, तथा मनोमय वाग्रूप बने हुए हैं, जिस इस मनोमयी–मनः–प्राण-वाग्रूपता का तात्पर्य्य यही निकलता है कि-पञ्चकल–अव्ययपुरुष इसी मनोमय का मनःप्रधानरूप है, पञ्चकल-अक्षरपुरुष इसी मनोमय का प्राणप्रधानरूप है, एवं पञ्चकल-आत्मक्षरपुरुष इसी मनोमय का प्राणप्रधानरूप है ।

९०-रूपत्रयी का पारिभाषिक-मनःप्राणवाङ्मयत्व, तन्निबन्धन-आत्म-प्राण-पशु-मयत्व, तद्भिन्न-उक्थ-अर्क-अशीति-मयत्व, एवं तत्समन्विता 'अमृतं-ब्रह्म-शुक्रम्' लक्षणा ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय-त्रयी का रहस्य-पूर्ण-पारिभाषिक-समन्वय-प्रयास—

तीनों रूप मनःप्रधान बनते हुए मनः–प्राण–वाङ्मय हैं, आत्मप्रधान बनते हुए आत्मा–प्राण–पशुमय हैं, उक्थप्रधान बनते हुए उक्थ–अर्क–अशीति–मय हैं, अमृतप्रधान बनते हुए अमृत-ब्रह्म-शुक्र-मय हैं, एवं ज्ञातृप्रधान बनते हुए ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय-मय हैं । अत्यन्त सुगम होता हुआ ही यह त्र्यात्मक-समन्वय पारिभाषिक-बोध से पराङ्मुख बनता हुआ सम्भवतः आज के दार्शनिक-भावुक मस्तिक के लिए तो दुरधिगम्य ही प्रमाणित होसकता है ।

९१-सर्वाधारभूत-सर्वात्मक-परमप्रजापति-षोडशीप्रजापति-सहस्रवल्शेश्वर- अश्वत्थप्रजापति-अमृतात्मसत्य-आदिरूपेण विभिन्ना अभिधाओं से उपवर्णित पारिभाषिक-'ईश्वर' तत्त्व का समन्वय-प्रयास, एवं तत्समन्वयानुगत पारिभाषिक ही 'विश्व', तथा 'जीव'-स्वरूपद्वयी का संस्मरण—

अतएव तालिका के माध्यम से अवधानपूर्वक ही इस रहस्यपूर्ण-सर्वाधारभूत-सर्वात्मक–परप्रजापति–षोडशीप्रजापति–सहस्रवल्स्वेश्वर–अश्वत्थप्रजापति–अमृतात्मसत्य–आदि रूपेण विविध–अभिधाओं से उपवर्णित पारिभाषिक उस–'ईश्वर' का समन्वय कर ही लेना चाहिए, जिस समन्वय के आधार पर ही शेष प्रतिमाप्रजापति, तथा प्रतिमानप्रजापति नामक दोनों विवर्त्तों से अनुप्राणित पारिभाषिक 'विश्व' तथा पारिभाषिक–'जीव' का स्वरूप-समन्वय अवलम्बित है । यही परमप्रजापति–'ईश्वर' क्योंकि उपनिषच्छास्त्र का प्रधान-उद्देश्य-लक्ष्य-प्रतिपाद्य है, अतएव यह सर्वथैव उपास्य बन रहा है-उपनिषदर्थ-समन्वय-जिज्ञासु-मानव-श्रेष्ठों के लिए, जैसाकि आगे की तालिका से स्पष्ट है ।

६२- १-मनोममय-परमप्रजापति-स्वरूप-परिलेखः—

सोऽयं — 'ईश्वरः' — "तस्य वाचकः—प्रणवः" इति हि भगवान् पतञ्जलिराह

अर्द्ध मात्रा — *— विश्वातीतः—परात्परः (१६)-निष्कलः—अव्ययात्मकः —

अकारः—स्पर्शः

१-मनोमयः-आनन्दः (१५)-मनः
२-मनोमयं—विज्ञानम् (१४)-प्राणः
३-मनोमयं-मनः (१३)-मनः
४-मनोमयः-प्राणः (१२)-प्राणः
५-मनोमयी-वाक् (११)-वाक्

मनोमयं-मनस्तन्त्रम्
मनोमयं-मनः
पञ्चकलोऽव्ययः
परः-पुरुषः
१

मन एव
उक्थमेव
आत्मैव
ज्ञाता-एव
अमृतमेव
ज्ञानात्मा
१

उकारः—स्वरः

१-मनोमयः-अमृतब्रह्मा (१०)-वाक् मनः
२-मनोमयः-अमृतविष्णुः (६)-प्राणः
३-मनोमयः-अमृतेन्द्रः (८)-वाक् मनः
४-मनोमयः-अमृतसोमः (७)-प्राणः
५-मनोमयः-अमृताग्निः (६)-वाक्

मनोमयं-प्राणतन्त्रम्
मनोमयः-प्राणः
पञ्चकलोऽक्षरः
पराप्रकृतिरात्म
न्तरा
२

प्राणएव
अर्क एव
प्राण एव
ज्ञानमेव
ब्रह्म-एव
कर्म्मात्मा
२

मकारः—व्यञ्जनम्

१-मनोमयः-मर्त्यब्रह्मा (५) वाक् मनः
२-मनोमयः-मर्त्यविष्णुः (४) प्राणः
३-मनोमयः-मर्त्येन्द्रः (३) वाक् मनः
४-मनोमयः-मर्त्यसोमः (२) प्राणः
५-मनोमयः-मर्त्याग्निः (१) वाक्

मनोमयं-वाक्तन्त्रम्
मनोमयी-वाक्
पञ्चकलः-आत्मक्षर
अपराप्रकृतिर
न्तरङ्गा
३

वागेव
अशीति०
पशुः-एव
ज्ञेयमेव
शुक्रमेव
भूतात्मा
३

तदेतत्सर्वं-ह्यात्मकं मन एव । तदेवतत्सर्वं-उक्थमेव । तदेतत्सर्वमात्मैव । तदेतत्सर्वं-ज्ञातैव । तदेतत्सर्वं-अमृतमेव-इति स एष परमप्रजापतिर्विश्वात्मा-सहस्रवल्शेश्वरः-ईश्वरः-पारिमाषिकः-अश्वत्थमूर्तिः

६३-सहस्रवल्शात्मक-अश्वत्थमूर्त्ति-महामायावच्छिन्न-मायी-महेश्वर-परमप्रजापति-षोडशी -पुरुष-स्वरूप-समर्थक--श्रुति-स्मृति-वचनानि—

१—सहस्रधा पञ्चदशान्युक्था यावद्द्यावापृथिवी तावदित्तत् ।
सहस्रधा महिमानः सहस्रं यावद्ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक् ॥
-ऋक्सं० १०।११४।८।

२—वनस्पते ! शतवल्शो वि रोह सहस्रवल्शा वि वयं रुहेम ।
यं त्वामयं स्वधितिस्तेजमानः प्रणिनाय महते सौभगाय ॥
ऋक्सं० ३।८।११।

३—यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा ।
प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी ॥
—यजुःसं० ८।३६।

४—यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित् ।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥
—श्वेताश्वतरोपनिषत् ३।९।

५—तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम् ।
पतिः पतीनां परमं परस्तात्-विदाम देवं भुवनेशमीड्यम् ॥
—श्वे० उप० ६।७।

६—ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः ।
तदेव शुक्रं —तद्ब्रह्म—तदेवामृतमुच्यते ॥
तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति किञ्चन ॥ एतद्वै तत् ॥
—कठोपनिषत् २।६।१।

७—द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय—'ईश्वरः' ॥
—गीता १५।१६,१७,।

८—"तस्य वाचकः प्रणवः" । (पातञ्जल-योगसूत्र)

६४–सोपाधिक-सविशेष-सापेक्ष-सर्वधर्म्मोपपन्न-विश्वात्मा-सत्यप्रजापति के मनः-प्राण-वाग्-भावों के त्रिवृत्करणानुबन्ध से अनुप्राणित त्रिविध-प्राजापत्य-विवर्त्त, एवं तत्र प्रथम–'मनोमय-परमप्रजापति'-के पारिभाषिक-स्वरूप का उपराम—

निवेदन किया गया है कि, सोपाधिक-सविशेष-सापेक्ष, अतएव सर्वधर्म्मोपपन्न विश्वात्मा सत्यप्रजापति के मनः-प्राण-वाग्-भावों के त्रिवृत्करणानुबन्ध से ही तीन प्राजापत्यविवर्त्त होजाते हैं, जिनमें त्रिवृद्भावापन्न (अतएव मनः-प्राण-वाग्-भावापन्न) 'मन' नामक प्रथम उक्थ–आत्मा–ज्ञाता–अमृतम्–नामक पर्व की षोडशकलात्मिका अभिव्यक्ति का नाम ही 'मनोमय-परमप्रजापति' है।

६५–क्रमप्राप्त त्रिवृद्भावापन्न 'प्राण' विवर्त्त का संस्मरण, प्राणमय पारिभाषिक 'प्रतिमाप्रजापति', और तत्समन्वयोपक्रम—

अब इसके अनन्तर क्रमप्राप्त इसी परमप्रजापति का दूसरा त्रिवृद्भावापन्न वह 'प्राण' विवर्त्त हमारे सम्मुख आता है, जो त्रिवृन्मन की भाँति मनः–प्राण–वाग्रूपेण त्र्यात्मक ही बना हुआ है। त्र्यात्मक इस दूसरे 'प्राणसत्य' के महिमामय विस्तार का नाम ही प्राणमय-प्रतिमाप्रजापति नामक दूसरा प्रजापति-विवर्त्त है, जिसका भी दो शब्दों में निम्नलिखितरूपेण यशोगान कर लेना अप्रासङ्गिक न माना जायगा।

६६–ऋक्संहितानुगत एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न, प्रतिमा-छन्द-आज्य-परिधि-प्रउग-उक्थ-साम-आदि समष्टिरूप यज्ञ के माध्यम से अनुप्राणिता यज्ञिया-स्थिति, एवं तदनुगत-'मा' शब्दनिबन्धन-सीमाभाव, और पारिभाषिक-'माछन्द' का संस्मरण—

ऋक्संहिता में एक महत्त्व पूर्ण प्रश्न को उत्थानिका हुई है कि, "वह प्रतिमा कौनसी है, जिसका छन्द-आज्य-परिधि-प्रउग-उक्थ-साम-आदि की समष्टिरूप यज्ञ के माध्यम से सम्पूर्ण देव-देवता यजन-पूजन-करते हैं ? *"। शब्दार्थक, एवं मानार्थक (परिमाणार्थक) 'माङ्' धातु ('माङ्'-माने, शब्दे च-दिवादि) से, किंवा मानार्थक 'माङ्' धातु ('माङ्' माने–दिवादि) धातु से ही 'मा' शब्द का स्वरूप-निर्म्माण हुआ है, जिसका फलितार्थ है-'सीमाभाव'-'परिच्छिन्नभाव'-सीमित वस्तुतत्त्व'।

६७–ब्रह्म के सीमित, असीमित-रूप दो विवर्त्त, तत्स्वरूप-समन्वय, एवं सीमित-असीमित-भावानुबन्धी 'मा', और 'अमा'-शब्दों का पारिभाषिक-समन्वय-प्रयास—

ब्रह्म के सीमित, एवं असीमित, ये दो विवर्त्त माने गए हैं। अत्यनपिनद्ध-विश्वातीत-मायातीत-परात्परब्रह्म ही 'असीमित' है, एवं विश्वात्मा--मायामय--पूर्वप्रदर्शित--परमप्रजापतिरूप षोडशीलक्षण पुरुषब्रह्म ही 'पुर' रूप सीमाभाव के अनुबन्ध से–'सीमित' है। अतएव असीमित-परात्पर को जहाँ हम–'अमा' कहेंगे, वहाँ सीमित 'पुरुष' को 'मा' कहा जायगा।

---

*- कासीत्-प्रमा, प्रतिमा, किं निदानमाज्यं किमासीत् परिधिः क आसीत्।
छन्दः किमासीत्-प्रउगं किमुक्थं यद्देवा देवमयजन्त विश्वे ॥
—ऋक्सं० १०।१३०।३।

६८–सीमाभावानुगत-सीमित-मायावृत्त, तन्निबन्धन मायाबल, 'माया' शब्द-निबन्धन-पारिभाषिक-निर्वचन, एवं-'महामाया-योगमाया--ब्रह्ममाया--विष्णुमाया--शिवमाया–इन्द्रमाया'-रूपेण तद्विवर्त्तों का संस्मरण—

सीमित षोडशीपुरुष का सीमात्मक वृत्त इस सीमाभाव के कारण ही 'मायावृत्त' कहलाया है। 'मिनाति या–सा--माया'-'मीयते--अनया सा--माया' ही 'माया' शब्द का निर्वचनात्मक समन्वय है। अमित–असीम को यत्किञ्चिदंश से सीमित-मित–कर देने वाला बलविशेष ही–'माया:बल' नाम से प्रसिद्ध है, जिसके सृष्टयनुबन्धी बड़े–छोटे सीमावृत्तों के तारतम्य से महामाया, योगमाया, ब्रह्ममाया, विष्णुमाया, शिवमाया, इन्द्रमाया, आदिरूपेण अनेक महिमा–विवर्त्त होजाते हैं।

६९-सीमाभावात्मक-मायातत्त्व की यज्ञानुगता छन्दोरूपता, तदनुगत-'छन्द:पुरुष' का संस्मरण, एवं मायाबलानुगत पारिभाषिक-'वृत्तौजा' भाव का समन्वय-प्रयास—

सीमाभाव का प्रवर्त्तक यही मायातत्त्व यज्ञपरिभाषा में–'छन्द' नाम से प्रसिद्ध है, जिसके आधार पर ही महामायी प्रजापति को भगवान् ऐतरेयने–'छन्द:पुरुष इति--यमवोचाम' (ऐतरेयआरण्यक– ३।२।३।) इत्यादिरूप से–'छन्द:पुरुष' नाम से भी व्यवहृत कर दिया है। यज्ञपरिभाषा का यह 'छन्द' ही सर्गपरिभाषा में 'माया' है, एवं लोकभाषा में यही वह 'वृत्त' है, जिससे प्रजापति–'वृत्तौजा:' ÷ बने रहते हैं—

१००–माछन्दोमूर्त्ति-परमप्रजापति, अमारूप-अमायी-विश्वातीत परात्पर, उभयविवर्त्तानुगता लक्ष्यारूढता, एवं तत्प्रसङ्ग से अनुप्राणित-'प्रतिमा' भाव, और तदनुगत 'प्रतिरूप' शब्द का पारिभाषिक-स्पष्टीकरण—

मायात्मक वह महतोमहीयान् महावृत्त ही--'मा' इस एकाक्षर शब्द से सङ्केतित है, और यही सुप्रसिद्ध–'माछन्द' है। माछन्दोमूर्त्ति-परमप्रजापति, एवं अमारूप--अमायी-विश्वातीत-परात्पर, दोनों आत्मविवर्त्तों को लक्ष्य बनाइए, एवं इसी आधार पर-'प्रतिमा' शब्द का समन्वय कीजिए। किसी महान् सीमित तत्त्व की प्रतिकृति (नकल) ही उस महान् तत्त्व का–'प्रतिरूप' कहलाया है। 'उसके जैसा रूप' यही–'प्रतिरूप' शब्द का अक्षरार्थ-समन्वय है।

१०१–'प्रतिरूप' से अनुप्राणिता स्थिति का रहस्यपूर्ण-दिग्दर्शन, एवं लौकिक-शब्दोदाहरण के माध्यम से प्रतिरूप-शब्द के तत्त्वार्थ का समन्वय-प्रयास—

'उसके जैसा' वाक्य प्रतिद्वन्द्विता का ही संग्राहक बन रहा है। जिसे लोकभाषा में-'उलटा' कहा जाता है, उसीके लिए–'प्रति' शब्द नियत है। 'वादी' का विरोधी ही तो 'प्रतिवादी' कहलाया है, जो

÷-ततः स्वयम्भूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम्।
महाभूतादि–'वृत्तौजा:' प्रादुरासीत्तमोनुदः॥
—मनुः १।६।

कि वादी का प्रतिद्वन्द्वी है। एक के सम्मुख दूसरे का उसी साजसज्जा से सन्नद्ध होजाना हीं प्रतिद्वन्द्विता है, और यही समसम्मुखानुगत इस द्वितीयभाव, किंवा द्वितीयरूप का–'प्रति' भाव (प्रतिद्वन्द्वितात्मकभाव) है। अतएव इस अवान्तररूप को–'प्रतिरूप' कहा गया है।

१०२–माछन्द, और तत्प्रतिरूप-प्रतिच्छन्द, प्रतिच्छन्दोऽनुगता-तद्रूपा-'प्रतिमा', एवं 'प्रतिमा' शब्द-निबन्धन-चिरन्तनेतिवृत्त का पारिभाषिक-स्पष्टीकरण—

'मा' यदि 'छन्द' है, तो यह प्रतिरूप–'प्रतिच्छन्द' है। और इस प्रतिच्छन्द का नाम ही है–'प्रतिमा'। 'मा' का 'प्रति' भावात्मक प्रतिरूप ही--'प्रतिमा' शब्द का चिरन्तन इतिवृत्त है। पाञ्चभौतिक विश्व में अणु से अणु, एवं महान् से महान्, समष्टि–व्यष्ट्यात्मक यच्चयावत् भूतभौतिक पदार्थ उस 'मा' रूप परमप्रजापति–महामायी–महेश्वर के प्रतिरूपात्मक–प्रतिच्छन्दस्क–'प्रतिमा' भाव ही प्रमाणित होरहे हैं।

१०३–नितान्त-अवधेया स्थिति, एवं तन्निबन्धना 'मा' लक्षणा पारिभाषिकी छन्दो मर्य्यादा, और प्रतिरूपानुगता-'एकमेवाद्वितीयं-ब्रह्म'-श्रुति का संस्मरण—

'प्रतिमा' शब्द के तथाकथित चिरन्तन-इतिवृत्त के साथ ही यह भी अवधेय है कि, 'मा' रूपा छन्दोमर्य्यादा (सीमाभाव) से अतीत, अमायी विश्वातीत का कोई भी 'प्रतिरूप' नहीं बन सकता। उसके जैसा तो "एकमेवाद्वितीयंब्रह्म" वही है।

१०४–'मा'-भावसापेक्षा-'प्रतिमा', एवं 'अमा'-रूप परात्परब्रह्म से असंस्पृष्टा प्रतिमा, और-"न तस्य प्रतिमा-अस्ति-यस्य नाम महद्यशः" इत्यादि श्वेताश्वतर-वचन से अनुप्राणित तथ्यार्थ का रहस्यात्मक-समन्वय-प्रयास—

'मा' [सीमितभाव] की ही 'प्रतिमा' होसकती है। कदापि 'अमा' [असीम] का प्रतिरूपात्मक 'प्रतिमा' भाव सम्भव ही नहीं है। इसी तथ्य के आधार पर ऋषि ने–'न तस्य प्रतिमा अस्ति' * सिद्धान्त स्थापित–किया है। अमूर्त–विश्वातीत–मायातीत–परात्परब्रह्म की कदापि 'मूर्त्ति'--'प्रतिमा'--'प्रतिछन्द'--'प्रतिरूप' सम्भव नहीं है।

---

* नैनमूर्ध्वं-न तिर्य्यञ्चं न मध्ये परिजग्रभत्।
न तस्य 'प्रतिमा' अस्ति, यस्य नाम महद्यशः॥
—श्वेता० उप० ४।१६।

उक्त श्वेताश्वतरवचन को अपने कुत्सित--तर्कवाद का ब्रह्मास्त्र बनाते हुए वेदभावुक महानुभाव 'प्रतिमापूजन' को अवैदिक अतएव अशास्त्रीय प्रमाणित करते रहने का बालचापल्य व्यक्त करते रहते हैं। प्रतिमाभावानुगत ऊर्ध्व--तिर्य्यक्--मध्य--[ऊँचा--टेढा--बीच]--आदि छन्दोमय भाव विश्वातीत में कदापि सम्भव नहीं है। अतएव वह 'मा' भाव से पृथक् रहता हुआ 'प्रतिमा' भाव से भी असंस्पृष्ट है। प्रतिमापूजन का अनुगामी वेदनिष्ठ आर्षजगत् स्वयं भी इसी तथ्य के आधार पर अपने ये उद्गार अभिव्यक्त कर रहा है कि—

१०५-प्रतिमाशब्देतिवृत्तानुगत-निष्कर्ष से अनुप्राणित महस्रबल्शेश्वर-महामायावृत्तात्मक-महतोमहीयान्-परमप्रजापति, एवं तत्प्रतिरूपात्मक-'प्रतिमाप्रजापति'-विवर्त्तों का संस्मरण—

तथोक्त प्रतिमाशब्देतिवृत्त से प्रकृत में यही निवेदनीय है कि, सहस्रबल्शेश्वर-मायीमहेश्वर जहाँ-'महामाया-वृत्तात्मक' महतोमहीयान् महान् छन्द से सीमित है, वहाँ इस महामायावृत्त के गर्भ में उसी के प्रतिरूप स्व-ल्पवृत्तों से अनुप्राणित प्रतिच्छन्दोरूप-छोटे वृत्त ही-'प्रतिमाप्रजापति' की स्वरूपाभिव्यक्ति के कारण बने हुए हैं।

१०६-महामायावृत्तगर्भित-प्रतिरूपात्मक-अवान्तर-मायावृत्तों की 'योगमाया'-रूपा-पारिभाषिकी संज्ञा का निर्वचनात्मक समन्वय, एवं तन्निबन्धन वचनों का प्रासङ्गिक-संस्मरण—

क्योंकि महामायावृत्तगर्भित-प्रतिरूपात्मक ये सब अवान्तर मायावृत्त उस महामाया के आधार पर ही अभिव्यक्त होते हुए उसी से नित्य 'युक्त' रहते हैं। अतएव उन्हें-'**महामायया-युक्ता-अवान्तर-माया-एव-योगमाया**' निवचन से 'योगमाया' कहा गया है, जिसका आगमशास्त्र के-'**योगमाया-हरेश्चैतत्-तया संमोह्यते जगत्**', इत्यादि सन्दर्भ से, गीताशास्त्र के-'**नाहं प्रकाशः-सर्वस्य योगमायासमावृतः**' इत्यादि सन्दर्भ से, एवं '**वीक्ष्य-रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः**' इत्यादि पुराणसन्दर्भ (श्रीमद्भागव-रास-पञ्चाध्यायी-सन्दर्भ) से यशोगान हुआ है।

---

१५५ वें पृष्ठ की टिप्पणी का शेषांश—

अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः।
उपासकानां सिद्ध्यर्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना॥

एक ओर उस अमायी विश्वातीत की 'प्रतिमा' जहाँ कदापि सम्भव नहीं है, दूसरी ओर मायी महेश्वर-की 'मा' रूप छन्दोमयता के आधार पर तो सभी सच्छन्दस्क-सीमित-मूर्त्त-भाव उसी के प्रतिरूपात्मक-प्रतिमाभाव प्रमाणित होरहे हैं, जैसाकि स्वयं मूलसंहिता के ही-'**रूपं-रूपं-प्रतिरूपो बभूव**'-**इन्द्रो मायाभिः पुररूप ईयते**,-'**मा-छन्दः-प्रमाच्छन्दः-प्रतिमाच्छन्दः**'-इत्यादि मन्त्रों से स्पष्टतमरूपेण-मूर्त्त-सगुण-'**मा**' **रूप** परमप्रजापति के मूर्त्तभावापन्न-'**प्रतिमा**' रूपों का उद्घोष होरहा है। सर्वथा विभक्त वस्तुतत्त्वों के व्यवच्छेदात्मक वैज्ञानिक-पारिभाषिक-समन्वय के अभिभूत होजाने से ही आज तत्त्वसिद्ध प्रतिमोपासनादि-सिद्धान्तों के माध्यम से व्यर्थ का वाक्कलह जागरूक होपड़ा है, जिसकी उपशान्ति के लिए ही दो खण्डों में गीताभूमिकानुगता-'**भक्तियोगपरीक्षा**' उपनिबद्धा हुई है, जिसके '**पूर्वखण्ड**' के-'**प्रतिमोपासनात्मक-प्रमाणसन्दर्भ**' नामक अवान्तरप्रकरण को ही इस दिशा में विशेषरूप से लक्ष्य बनाना चाहिए।

१०७–'योगमायी-प्रतिमाप्रजापति' के सम्बन्ध में गणनानुगत-आनन्त्य से अनुगता एक प्रासङ्गिकी आशङ्का, एवं 'महामायी-परमप्रजापति' के माध्यम से तत्समाधानोपक्रम—

यहाँ एक नवीन आशङ्का अभिव्यक्त होपड़ी, जिस का भी प्रसङ्गोपात्त समन्वय कर ही लेना चाहिए। महामायी–महेश्वर–परमप्रजापति के महावृत्त में यदि अनेक 'योगमायावृत्त' हैं, एवं एक योगमायावृत्त यदि एक 'प्रतिमाप्रजापति' की अभिव्यक्ति का कारण है, तो क्या 'योगमायी--प्रतिमाप्रजापति' असंख्य हैं ?, यही प्रासङ्गिकी आशङ्का का स्वरूप–निदर्शन है। उत्तर में यही कहा जायगा कि, स्वयं महामायी--परमप्रजापति के सम्बन्ध में हीं यह आशङ्का क्यों न उपस्थित कर ली जाय। उस आसङ्का का जो समाधान होगा, वही समाधान प्रस्तुत आशङ्का का भी मान लिया जायगा।

१०८–अखण्ड-विश्वातीत-मायातीत-परात्परब्रह्म-के यत्किञ्चिदंश से अनुगत महामायाबल, अगणितभावात्मक-मायाबल, तदनुगत-'सहस्र' शब्द, एवं-'सहस्रधा-महिमानः सहस्रम्'-का संस्मरण—

अखण्ड–विश्वातीत-मायातीत-परात्परब्रह्म के यत्किञ्चिदंश में जिस महामायाबल का सम्बन्ध बतलाया गया है, वह मायाबल एक मायाबल न होकर असंख्य अगण्ति–भावापन्न है, जिस अगणित–असंख्य–भाव के लिए 'सहस्र' नामक पारिभाषिक शब्द प्रयुक्त हुआ है, जिसका अथ कदापि 'हजारसंख्या' नहीं है। 'सहस्रं वै पूर्णम्' के अनुसार 'सहस्र' शब्द वस्तुतः सर्वात्मिका–अनन्तात्मिका–पूर्णता का ही वाचक है। इसी आधार पर–'सहस्रधा महिमानः सहस्रम्' यह कहा गया है, जिसका लौकिकार्थ-समन्वय है- 'हजारों के हजारों', जिसका फलितार्थ निकलता है–असंख्य--अगणित।

१०९–लोकव्यवहारानुगत-उदाहरण के माध्यम से-'सहस्र'-शब्दानुगता अनन्तता का पारिभाषिक-समन्वय, एवं अत्यन्त रहस्यपूर्ण-पारिभाषिक-'सहस्र' शब्द के सम्बन्ध में विघटिता प्रतीच्य-विद्वानों की आपातरमणीया-काल्पनिक-भ्रान्ति का निराकरण-प्रयास—

यही कारण है कि, लोकव्यवहार में जहाँ आज भी अगणित–असंख्य–पदार्थों, किंवा प्राणियों, किंवा मानवों का सङ्केत अभीप्सित होता है, वहाँ प्रायः 'हजारों की भीड़' यही वाक्य व्यवहृत होता है, जिसका अर्थ कदापि 'हजार ही संख्या' नहीं है। अपितु इस 'हजारों की भीड़' का अर्थ होता है– 'असंख्यों की भीड़'। यही 'सहस्र' शब्द का पारिभाषिक–समन्वय है। अतएव ऋषि ने 'सहस्र' शब्द को ही सख्यानन्त्य का सूचक मान लिया है *।

---

*—ऐसा सुना गया है कि, वेदार्थ में प्रवृत्त, किन्तु वैदिक–परिभाषा–बोध से असंस्पृष्ट कतिपय प्रतीच्य-विद्वानोंनें वेदशास्त्र के इस–'सहस्र' शब्द के आधार पर इत्थंभूता आपातरमणीया कल्पना करली है कि, "वैदिक--युग में गणित का ज्ञान अपूर्ण था। वैदिक--ऋषि नामक मानवों को अधिक से अधिक हजार

११०–विभिन्न दृष्टिकोण से 'सहस्र' शब्द के पारिभाषिक अर्थ का समन्वयोपक्रम, तत्त्वात्मिका वेदत्रयी का संस्मरण, और सौरत्रयीवेद से अनुगत-'सहस्रवर्त्मा-सामवेदः' का अनुगमन, तथा 'ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्त्तिमाहुः' का दिग्दर्शन-

अन्यदृष्टि से 'सहस्र' शब्द की अनन्तता के परिभाषिक तथ्य का समन्वयानुग्रह कीजिए। तत्त्वात्मक ऋक्-यजुः-साम-भावों से अनुप्राणित वेदवितान के द्वारा ऋक्-यजु-रनुगत मण्डलात्मक साम के आरम्भ में सहस्र (हजार) ही मण्डल होते हैं, जैसाकि-'सहस्रवर्त्मा सामवेदः' से स्पष्ट है। सूर्य्य को उदाहरण मानकर इस सहस्रता का समन्वय कीजिए। प्रत्यक्ष दृष्ट स्वय सूर्य्यपिण्ड (सूर्य्यरूपा-प्रतिमा-मूर्त्ति) ही 'ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्त्तिमाहुः' के अनुसार-'ऋक्' है।

१११–ऋङ्मूर्त्तिरूप सूर्य्यपिण्ड से अनुगत मण्डलानुगत 'साम' तत्त्व का समन्वय, रश्मिमण्डलानुगत सामतत्त्व की पारिभाषिकी सहस्ररूपता, तथा 'सहस्रदीधिति' शब्द का पारिभाषिक-समन्वय-प्रयास—

इस ऋङ्मूर्त्तिरूप सूर्य्यपिण्ड के केन्द्रावच्छिन्न महदुक्थ से रश्मिरूपेण-आसमन्तात्-विनिर्गत-प्राण-मण्डल ही-'साम' तत्त्व है। एवं मूर्त्तिपिण्डात्मिका ऋक्, तथा रश्मिमण्डलात्मक साम, दोनों का संयोजक सम्पूर्ण सौरमण्डल में व्याप्त-प्राणदपानद्धर्म्मा-आदानविसर्गधर्म्मा-गत्यात्मक-वस्तुतत्त्व ही यजुः है। यों सौरसंस्था त्रयीवेदात्मिका ही बनी हुई है *। इस संस्था के केन्द्रानुगत बहिर्म्मण्डल (रश्मिमण्डल) आरम्भ में एक सहस्र सामात्मक ही हैं। अतएव सूर्य्य का एक पारिभाषिक नाम-'सहस्रदीधिति' (हजार-किरणों वाला) भी होगया है।

पृष्ठसं० १५७ की टिप्पणी का शेषांश—
तक की ही गिनती आती थी। वे इसे ही पूर्ण संख्या मानते थे, जैसाकि उनके-'सहस्रं वै पूर्णम्' से स्पष्ट है"। कहना न होगा कि, इत्थंभूता प्रतीच्यधारणा का बालचापल्य से अधिक कोई भी महत्त्व नहीं है। सहस्र-लक्ष--कोटि--अर्बुद-खर्बुदादि लोकप्रसिद्ध गणनाओं का अतिक्रमण करने वाली, आज के प्रतीच्य गणितज्ञों के लिए तो सर्वथैव कल्पनातीत-जिस 'परमपरार्ध्य'-संख्या का ऋषिमानवोंनें यत्रतत्र विस्तार से उपबृंहण किया है, उन ऋषियों के पारिभाषिक-दृष्टिकोण से सर्वथैव अपरिचित बने रहने के कारण ही हमारे तथाकथित प्रतीच्य बालबन्धुओंनें-'सहस्र' शब्द के सम्बन्ध में तथाविधा भ्रान्तकल्पना करली है।

* यदेतन्मण्डलं तपति तन्महदुक्थं-ता ऋचः, स ऋचा लोकः। अथ तदेतदर्चि-र्दीप्यते-तानि सामानि, स साम्नां लोकः। अथ य एतस्मिन्डण्डले पुरुषः-सोऽग्निः, तानि यजूँषि, स यजुषां-लोकः। सैषा त्रय्येव विद्या तपति।

—शतपथब्राह्मणे १०।५।२।१,२।

११२–प्रत्येक-रश्मि के सहस्रधा प्रतिफलन से अनुगत सहस्ररश्मि-मण्डल, एवं रश्मि-प्रसारानुगत आतान-वितान-भाव से सौरमण्डल की अच्छिद्रपवित्रता में परिणति, और तन्निबन्धन अवारपारीण-आलोकमण्डल –

आगे चलकर प्रत्येक रश्मि से प्रतिफलन–प्रक्रिया के द्वारा रश्मियों का प्रसार होता है, जिस इस इस स्थिति को समझने के लिए यों भी अभिनय किया जासकता है कि, एक सहस्र रश्मियों में से प्रत्येक रश्मि से पुनः एक एक सहस्र–रश्मियाँ विनिर्गता हैं। इनमें से भी प्रत्येक से पुनः सहस्र–सहस्र–रश्मि–वितान।

११३–सहस्रभावानुगत-रश्मिमण्डलों के सहस्रधा-वितान से अगणित-सहस्र-भावों की स्वरूपाभिव्यक्ति––

परिणाम इन सहस्रों के सहस्रों रश्मिवितानों का यह होता है कि, समस्त सौरब्रह्माण्ड रश्मियों के महिमात्मक आतान–वितानात्मक–प्रसार–विस्तार–व्याप्ति से वैसा अच्छिद्र बन जाता है, मानो अवारपारीण एक वैसा अच्छिद्र पट ही हो, जिसमें सूचिका–प्रवेश भी असम्भव है। वही तो वह आतपमण्डालात्मक–अच्छिद्रभावापन्न प्रकाशमण्डलात्मक–आलोकमण्ड है, जो अवारपारीण–एकाकार ही प्रमाणित होरहा है।

११४–सहस्रधा-महिमानः-सहस्ररूपा-सौररश्मि के 'अच्छिद्रपवित्र' भाव का समन्वय-प्रयास, एवं 'सहस्र' शब्द की अगणित-अनन्त-महिमा-भाव पर विश्रान्ति–

इसी तथ्य को व्यक्त करने के लिए ऋषि ने सहस्रधा–महिमानः–सहस्ररूपा–सौररश्मि का पारिभाषिक नाम रख दिया है–'अच्छिद्रपवित्र'। और यों मूलभूत सहस्रसंख्यात्मक–रश्मिमण्डलात्मक–सामों का महिमात्मक वितान ही अन्ततोगत्वा सहस्रधा-महिमानः-सहस्र-बनता हुआ अनन्त-असंख्य-अगणित-भावात्मक-पूर्णभाव पर ही विश्रान्त होरहा है।

११५–मनस्त्वेन शीर्षभावापन्न, प्राणत्वेन चक्षुर्भावापन्न, एवं वाक्त्वेन च पाद्भावापन्न सहस्रशीर्षः-सहस्राक्षः-सहस्रपात्-मूर्ति-सहस्रभावापन्न प्रजापति से अनुप्राणित सहस्रभावनिबन्धन-आनन्त्य का पारिभाषिक-स्पष्टीकरण—

यही 'सहस्र' शब्द की अनन्ता–अगणित–निबन्धना पूर्णता का दूसरा पारिभाषिक समन्वय है, जिसके आधार पर ही **मनस्त्वेन शीर्षभावापन्न**, **प्राणत्वेन, चक्षुर्भावापन्न** तथा **वाक्त्वेन पाद्भावा–पन्न** बने हुए प्रजापति की अनन्तविभूति का–**'सहस्रशीर्षः–सहस्राक्षः–सहस्रपात्'** इत्यादि रूप से ऋषि ने **'पूर्णता–अनन्तता'** के संग्राहक **'सहस्र'** शब्द से ही यशोगान किया है, इत्यलमतिपल्लवितेन प्रासङ्गिकेन 'सहस्र'–शब्द–प्रसङ्ग–समन्वयेन।

११६–अनन्त-परिपूर्ण-विश्वातीत-परात्पर-ब्रह्मरूप महान् समुद्र में वीचि-रूपेण सहस्र-अनन्त-महामायाबलों का आविर्भाव-तिरोभाव, एवं रसानुगता दिग्देशकालान-वच्छिन्नलक्षणा अनन्तता का, तथा बलानुगता-संख्यालक्षणा अनन्तता का समन्वय—

प्रकृतमनुसरामः। अनन्त–परिपूर्ण–विश्वातीत–परात्परब्रह्मरूप महासमुद्र में वीचिरूपेण प्रतिष्ठित सुप्रसिद्ध मायाबल एकाकी नहीं है। अपितु वह तो वैसा **कोशात्मक बल है,** जिसकी अनन्तता–असंख्यता

की उसी प्रकार इयत्ता नहीं है, जैसेकि तदाधारभूत दिग्देशकालातीत अनन्त--रसमूर्त्ति--परात्पर की अनन्तता की कोई इयत्ता नहीं है। सचमुच उसका यदि **रसभाव** अनन्त है, तो बलभाव भी अनन्त ही है।

११७-उभयविध-'अनन्त' भाव का तात्त्विक-स्पष्टीकरण, एवं-अनाद्यनन्तात्मक आनन्त्य का, तथा सख्यानन्त्य का स्वरूप-विश्लेषण—

अन्तर दोनों की अनन्तता में एतावन्मात्र ही है कि, रसमूर्त्ति वही परात्परब्रह्म जहाँ--दिग्देशकाल से अतीत होता हुआ 'अनन्त' है, वहाँ बलमूर्त्ति वही परात्परब्रह्म संख्यादृष्ट्या अनन्त है। तात्पर्य्य यही है कि, रसतत्त्व संख्या से 'एक' रहता हुआ जहाँ दिग्देशकाल से अनाद्यनन्तात्मक अनन्त है, वहाँ कोशात्मक बल दिग्देशकाल से सादि सान्त होते हुए भी संख्यात: अनन्त हैं।

११८-अनन्तरसमूर्त्ति-परात्परब्रह्म से अनुप्राणित अनन्त-असंख्य-महामायाबलों में से एक बलानुगत-महामायी परमप्रजापति का दिग्दर्शन, एवं 'न विश्वमूर्त्तेरवधार्य्यते' वपुः' का संस्मरण—

अनन्तरसमूर्त्ति परात्परब्रह्म में अनन्त (असंख्य) ही मायाबल, एक एक मायाबल से एक एक महामायी परमप्रजापति की स्वरूपाभिव्यक्ति। और यों उस अनन्त के गर्भ में अनन्त--असंख्य-मायाबलों के अनुबन्ध से अनन्त--असंख्य--ही महामायी--परमप्रजापति, जिस उस अनन्त के इस अनन्त विस्तार की कल्पना भी तो नहीं कर सकती प्राकृत--मानव की दिग्देशकालनुबन्धिनी--सादि--सान्ता--प्राकृत--बुद्धि--इति--'न विश्वमूर्त्तेरवधार्य्यते वपुः'।

११९-दिग्देशकालातीत--अखण्ड-अनन्त--ब्रह्म---धरातल-पर प्रतिष्ठित--सहस्रभावानुगत--असंख्य-मायाबल, तदनुप्राणित असंख्य ही परमप्रजापति-विवर्त्त, एवं तत्समुल्लित-योगमायावच्छिन्न-प्रतिमाप्रजापतियों के पारिभाषिक-आनन्त्य का रहस्यात्मक-समन्वय-प्रयास—

हाँ, तो दिग्देशकालातीत, अतएव अनन्त-अपरिच्छिन्न-मायातीत-रसमूर्त्ति-परात्परब्रह्मरूप अखण्ड-धरातल पर दिग्देशकालात्मक-संख्यया अनन्त-अतएव सहस्रधा-महिमानः-सहस्र रूप-कोशात्मक-मायाबलों से ही मायी–महेश्वर–रूप असंख्य–अनन्त–परमप्रजापति–नामक अश्वत्थप्रजापतिरूप–विश्वेश्वर-विवर्त्तों की अभिव्यक्ति होती है, जिन अनन्त–असंख्य–महामायी–परमप्रजापति-विवर्त्तों में से केवल एक **'परमप्रजापति'** को आधार बना कर ही मानवमहर्षि हमारे सम्मुख इसी से अनुप्राणित–प्रतिमाप्रजापति–विवर्त्तों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर रहे हैं।

१२०-दिग्देशकालानुबन्धिनी-सादि-सान्तता-से अनुप्राणिता संख्या का समन्वय, एवं दिग्देशकालसमन्वित योगमाया के असंख्य-विवर्त्तों के अनुबन्ध से प्रतिमाप्रजापतियों के भी आनन्त्य का समन्वय-प्रयास—

जबकि अपनी दिग्देशकालानुबन्धिनी-सादि-सान्तता से संख्या में अनन्त-असंख्य बने हुए महामायाबल ही असंख्यात्मक बनते हुए सहस्रात्मक, अर्थात् पूर्णात्मक हैं, तो इत्थंभूता महामाया के गर्भ में अभिव्यक्त होने वाली

वाली दिग्देशकालात्मिका योगमाया क्यों नहीं सहस्रभावान्विता बनेगी ?, और अतएव क्यों नहीं इसके भी सहस्रधा–महिमानः-सहस्रं-रूप सहस्रात्मक पूर्ण (असंख्य) योगमाया विवर्त्त सम्पन्न होंगे ? ।

१२१–'मायी-महेश्वर' की मायाबलानन्त्यलक्षणा-असंख्यता से समतुलित-'योगमायी-बल्शेश्वर'-की योगमायाबलानन्त्यलक्षणा-असंख्यता का पारिभाषिक-समन्वय, एवं एक महामायी-परमप्रजापति से अनुप्राणिता सहस्र-बल्शाओं का संस्मरण–

और अतएव च क्यों नहीं उस एक मायी-महेश्वर की सीमा में हीं उसीप्रकार सहस्रधा महिमानः-सहस्रं–रूप असंख्य-योगमायावच्छिन्न प्रतिमाप्रजापति–विवर्त्त होंगे, जैसे कि परात्परब्रह्म के गर्भ में असंख्य महामाया-विवर्त्तानुबन्धी असंख्य ही महामायी परमप्रजापति-प्रतिष्ठित हैं, जिन इन अगणित भी अनन्त-असंख्य भी विवर्त्तों को मानवप्रज्ञा की बोधदृष्टि से ऋषिप्रज्ञाने अनुग्रह कर सहस्रात्मक सीमित संख्याभाव पर ही तथा-कथित आनन्त्य का पर्य्यवसान मान लिया है, जिस साहस्री-भावानुबन्ध से ही महामायी परमप्रजापति 'सहस्रबल्शेश्वर' नाम से प्रसिद्ध होरहा है, जिसका केवल बोधदृष्टि से इन अक्षरों में समन्वय किया जासकता है कि, अनन्त-असंख्य-महामायी-सहस्रबल्शेश्वर-परमप्रजापतियों में से केवल एक महामायी-परमप्रजापति से अनुप्राणित सहस्र [एकहजार] बल्शाएँ हीं अत्र अभिप्रेत हैं ।

१२२–'शाखा'-रूपा-'बल्शा' का छन्दोऽभ्यस्तात्मिका-वेदभाषा के माध्यम से अर्थसमन्वय, परमप्रजापति की अश्वत्थवृक्षरूपता, और एक सहस्रबल्शाओं से अनुगत एकसहस्र योगमायावृत्तों का पारिभाषिक-दिग्दर्शन—

संस्कृतभाषा का 'शाखा' शब्द ही छन्दोऽभ्यस्ता नाम की वेदभाषा में 'बल्शा' कहलाई है, जिसका लोकार्थ होता है 'टहनी' । स्वयं महामायी परमप्रजापति यदि 'अश्वत्थ' नामक-'वृक्ष' है, तो योगमाया-वच्छिन्न प्रतिमाप्रजापति इस वृक्ष की एक बल्शा-[टहनी-शाखा] है । ऐसी एक हजार बल्शाएँ, अर्थात् एकसहस्र **योगमायावृत्त** उस महामायी अव्ययेश्वर की महामाया-सीमा में गर्भीभूत हैं ।

१२३–एक एक योगमायावृत्त से एक एक प्रतिमा-प्रजापति का स्वरूपोद्भव, और योगमायावच्छिन्न प्रतिमाप्रजापति–विवर्त्तों की सहस्रसंख्यानुगता महत्ता का रहस्यात्मक-समन्वय—

एक एक योगमाया से एक एक जिस प्रजापति-विवर्त्त की अभिव्यक्ति होती है, वही योगमायी विवर्त्त-उस महामायारूप 'मा' छन्द की प्रतिकृतिरूप प्रतिरूप, किंवा प्रतिच्छद बनता हुआ–'प्रतिमा' नाम से प्रसिद्ध है । और यों बल्शात्मिका सहस्र-शाखा–रूप सहस्रविध-योगमाया-विवर्त्तों के अनुबन्ध से सहस्र ही योगमायावच्छिन्न-प्रतिमाप्रजापतियों की सत्ता प्रमाणित होजाती है उस एक ही महामायी-महेश्वर-परमप्रजा-पति के गर्भ में ।

१२४–ऊर्ध्वभावनिबन्धन-अत्यन्त पारिभाषिक--अश्वत्थमूर्त्ति-मायी-महेश्वर–रूप-परमप्रजापति के-'केन्द्र' से अनुप्राणिता अश्वत्थवृक्षानुगता एक 'शाखा', तदनुगत एकवल्शेश्वरप्रतिमा-प्रजापति, और तदध्यक्ष-सहस्रवल्शेश्वर-'परमप्रजापति' का संस्मरण–

क्योंकि अश्वत्थकेन्द्र से [परमप्रजापति के केन्द्र से जो कि केन्द्र परिभाषापेक्षया–'उर्ध्व' कहलाया है] अश्वत्थ की परिधिपर्य्यन्त [जो कि प्रान्तानुगता परिधि–परिभाषापेक्षया–'अधः' * कहलाती है]—अवार–पारीणरूपेण परिव्याप्ता अश्वत्थवृक्ष की एक शाखा [वल्शा] ही एक योगमाया है। एकशाखात्मिका एक योगमाया ही क्योंकि एक प्रतिमाप्रजापति की स्वरूपाभिव्यक्ति का कारण है, अतएव प्रतिमाप्रजापति का साङ्केतिक नाम उसी प्रकार–'एकवल्शेश्वर'--किंवा--'वल्शेश्वर' होगया है, जैसे कि ऐसी सहस्र-वल्शाओं के आधिपत्य के कारण महामायी परमप्रजापति 'सहस्रवल्शेश्वर' नाम से प्रसिद्ध होरहे हैं।

१२५–बुद्बुद-समतुलित-असंख्य-अगणित-महामायावृत्तों के अनुबन्ध से सम्पन्न असंख्य-अनन्त-मायी-महेश्वररूप परमप्रजापतिविवर्त्त, एवं तत्समतुलिता स्थिति का एक-वल्शेश्वर-प्रतिमा-प्रजापति के साथ भी समन्वय-प्रयास—

अन्यच्च–निवेदन किया गया है कि, मायातीत-दिग्देशकालातीत–अखण्ड–अनन्त–परात्परब्रह्म–धरातल पर समुद्रे बुद्बुद्सम असंख्य-अगणित–महामायावृत्तों के अनुबन्ध से सम्पन्न असंख्य–अनन्त–महामायी-सहस्रवल्शेश्वर–नामक-अश्वत्थमूर्त्ति-परमप्रजापतियों में से केवल एक ही महामायी सहस्रवल्शेश्वर हमारे [मानव के] सर्गानुबन्ध से हमारी लक्ष्यभूमि बन रहा है। ठीक यही परिस्थिति योगमायावच्छिन्न सहस्र-एकवल्शेश्वर-प्रतिमाप्रजापति-विवर्त्तों के साथ समन्वित होरही है।

१२६–वेदशास्त्र का मुख्य-प्रतिपाद्य केवल एक वल्शेश्वर-प्रतिमा-प्रजापति, और तद्–भिन्न सहस्रवल्शेश्वर-मायी-महेश्वर-परमप्रजापति, तथा-'एकेन विज्ञातेन सर्वमिदं विज्ञातं भवति' इत्यादि पारिभाषिक-वचन का समन्वय-प्रयास—

उक्त स्थिति का निष्कर्षार्थ यही निकलता है कि—"सहस्र–प्रतिमाप्रजापतियों में से हमारा वेदशास्त्र महामायी–परमप्रजापति को मूल बनाता हुआ केवल एक ही प्रतिमाप्रजापति के ज्ञान–विज्ञान–स्वरूप–का उपबृंहण करता है", जिस इस एक ही के स्वरूप-विश्लेषण से 'स्थालीपुलाकन्याय' से इतर नवशती से समन्वित नवतीर्नव [९९९] प्रतिमाप्रजापतियों का स्वरूप भी गतार्थ बन जाता है, तत्सहैव सहस्रवल्शेश्वर परमप्रजापति का भी, एवं तदनुबन्धेनैव परात्परधरातले प्रतिष्ठित अन्य अनन्त-असंख्य–परमप्रजापति-विवर्त्तों का भी स्वरूप स्वतः ही समन्वित होजाता है। इसी तथ्य के आधार पर तो ऋषि की पुराणी--प्रज्ञा से—'एकेन विज्ञातेन–सर्वमिदं विज्ञातं भवति' जैसा रहस्यात्मक सूत्र अभिव्यक्त हुआ है।

---

* ऊर्ध्वमूलोऽवाक् शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।

'ऊर्ध्वं' को 'केन्द्र' क्यों कहा जाता है?, एवं 'अधः' के द्वारा 'परिधि' का ग्रहण किस आधार पर कर लिया जाता है?, इत्यादि प्रश्नों का समाधान प्रक्रान्त द्वितीय-प्रकरण में ही आगे चल कर होने वाला है।

१२७-प्रतिमा-प्रजापति की स्वरूपगाथा से अनुप्राणित-तटस्थ-लक्षणात्मक-स्वरूप का समन्वय-प्रयास, एवं त्रिवृद्भावापन्न-'प्राण' से कृतरूप-'प्रतिमा-प्रजापति' के स्वरूप-लक्षण का उपक्रम—

यह है 'प्रतिमाप्रजापति' की स्वरूपगाथा का तटस्थ-लक्षणात्मक-स्वरूप-समन्वय, जिसके अनन्तर अब दो शब्दों में इसी के स्वरूप-लक्षण का भी यशोगान कर लिया जाता है। जिसप्रकार महामायी परमप्रजापति का स्वरूप त्रिवृद्भावापन्न मन से अनुप्राणित है, तथैव योगमायी इस प्रतिमाप्रजापति का स्वरूप-त्रिवृद्भावापन्न 'प्राण' से ही अनुप्राणित है, जैसाकि आरम्भ में हीं सङ्केत कर दिया गया है।

१२८-प्रतिमेश्वर की प्राणरूपता के समन्वय से अनुप्राणिता सुप्रसिद्धा पञ्चदेवतोपासना का संस्मरण, एवं तदनुबन्धी 'पञ्चरात्रयज्ञ' से अनुगत-'नारदपञ्चरात्र' का श्रौत-समन्वयात्मक-दिग्दर्शन—

प्रतिमेश्वर की इस प्राणरूपता के स्वरूप-समन्वय के लिए सर्वप्रथम हम प्रतिमोपासक नैष्ठिकों का ध्यान सुप्रसिद्धा उस 'पञ्चदेवतोपासना' की ओर ही आकर्षित करेंगे, जिसका मूल वेदशास्त्र के सुप्रसिद्ध उस 'पञ्चरात्रयज्ञ' * पर ही प्रतिष्ठित है, जिसकी आगे चलकर-सुप्रसिद्ध-भक्तिपथ में-'नारदपञ्चरात्र' रूप से अभिव्यक्ति, किंवा विस्तार हुआ है।

१२९-शिव-विष्णु-सूर्य्य-दुर्गा-गणपति-रूपेण-प्रसिद्धा-पञ्चदेवोपासना से समतुलित-त्रिवृद्-भावापन्न-पञ्चविध-पारिभाषिक-प्राणतत्त्व, एवं तन्निबन्धन-पञ्चरात्रतत्त्व—

शिव-विष्णु,-सूर्य्य-दुर्गा-गणपति-इन पाँच देव-देवताओं से अनुप्राणिता-स्मार्त्ती-प्रतिमोपासना का मूल प्रतिमाप्रजापति-एक वलल्शेश्वर के अवयवभूत-पञ्चरात्र-विवर्त्त ही हैं, जैसाकि अनुपद में हीं स्पष्ट होने वाला है। महामायी परमप्रजापति का त्रिवृद्भावापन्न प्राण ही-'यस्मिन् प्राणः पञ्चधा-संविवेश' के अनुसार पाङ्क्त (पञ्चावयव)-सम्पत्ति से समन्वित होता हुआ पञ्चरात्ररूप में परिणत होरहा है।

१३०-पञ्चरात्रविवर्त्तानुबन्धी-प्रतिमाप्रजापति के स्वरूपलक्षण से अनुगता पारिभाषिकी स्थिति का उपक्रम—

एक प्राण के ये पञ्चरात्रविवर्त्त ही प्रतिमाप्रजापति के मूलस्वरूप के संग्राहक बने हुए हैं, जिस इस पाङ्क्तता का प्रथमारम्भ परमप्रजापति के प्रथम अव्ययविवर्त्त से ही होजाता है। अत्यन्त अवधानपूर्वक ही प्रतिमा-प्रजापति के पञ्चप्राणात्मक स्वरूप-लक्षण के स्वरूपान्वेषण में हमें प्रवृत्त होना चाहिए।

---

* पुरुषो ह नारायणोऽकामयत-'अतिष्ठेयं सर्वाणि भूतानि, अहमेवेदं सर्वं स्याम्' इति। स एतं पुरुषमेधं पञ्चरात्रं यज्ञक्रतुमपश्यत्।

—शतपथब्राह्मणे १३।६।१।१

१३१- आनन्द-विज्ञान-मनश्चिति-लक्षणा अन्तश्चिति, तथा मनः-प्राण-वाक्-लक्षणा-बहिश्चिति से अनुगत-पञ्चकल चिदात्मा, एवं तन्निबन्धन-पारिभाषिक-त्रिपुरुष-पुरुषात्मक-पुरुषविवर्त्त का संस्मरण —

निष्कल-अव्ययात्मक-परात्पर-पुरुष (सोलहवें *) रसानुगता अन्तश्चिति-(आनन्दविज्ञान-मनश्चिति), एवं बलानुगता बहिश्चिति (मनःप्राणवाक्चिति)-रूप से चिद्भावापन्न बनता हुआ, अतएव 'चिदात्मा' नाम से प्रसिद्ध होता हुआ 'पञ्चकलपुरुष' रूप में परिणत होरहा है, जिस इस पञ्चकल अव्ययपुरुष की प्रकृति का ही बलगर्भित रसात्मक स्वरूप जहाँ 'अक्षर' कहलाया है, वहाँ इसी प्रकृति का रसगर्भित बलात्मक स्वरूप- 'आत्मक्षर' नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जिन इन दोनों प्रकृतिविवर्त्तों को भी पुरुषाविनाभूतता से-'पुरुष' अभिधासे व्यवहृत कर दिया जाता है, जैसाकि—'द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च' इत्यादि गीतावचन से स्पष्ट है।

१३२-पुरुषनिबन्धना-अक्षर-क्षरानुगता-'परा'-'अपरा'-प्रकृतिद्वयी की 'पुरुष'-अभिधा का पारिभाषिक समन्वय, एवं तन्निबन्धन-अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग-भावों का तथ्यपूर्ण-इतिवृत्त—

अक्षरपुरुषात्मिका मर्त्यबलगर्भिता अमृतरसात्मिका अक्षरप्रकृति ही–'पराप्रकृति' कहलाई है, एवं आत्मक्षरपुरुषात्मिका अमृतरसगर्भिता मर्त्यबलात्मिका क्षरप्रकृति ही–'अपराप्रकृति' कहलाई है। अव्ययपुरुषा--पेक्षया जहाँ 'परा--अक्षर प्रकृति' को आभ्यन्तरा--अन्तरङ्गा--प्रकृति कहा जायगा, वहाँ आत्मक्षरप्रकृति को अव्ययपुरुषापेक्षया बहिरङ्गा-प्रकृति कहा जायगा। किन्तु विकारक्षरात्मक--विश्व की अपेक्षा से जब इन दोनों प्रकृतियों का विचार--किया जायगा, तो अक्षरप्रकृति आभ्यन्तरप्रकृति मानली जायगी, एवं क्षरप्रकृति को अन्तरङ्गप्रकृति मान लिया जायगा। पृष्ठ सं० १५१ के परमप्रजापतिस्वरूप--परिलेख में इसी दृष्टिकोण का समन्वय हुआ है।

१३३-पञ्च-पञ्च-पञ्च-एक--कलानुगत--षोडशकल-परमप्रजापति की बहिरङ्गप्रकृतिरूपा--आत्मक्षरकला के 'पञ्चक' से अनुगता नितान्तमवधेया-पारिभाषिकी स्थिति का दिग्दर्शन, और तन्निबन्धन आत्मक्षरानुगत विस्तार का उपक्रम—

परात्परमूर्त्ति निष्कलाव्ययधरातल पर प्रतिष्ठित अव्ययपुरुष की आनन्द–विज्ञानादि पाँच कोशकलाएँ ही पराप्रकृतिरूप–अक्षरपुरुष की अमृत-ब्रह्मा-विष्णु–आदि पाँच अक्षरकलाओं की प्रवृत्तिका बनीं हुई हैं। अव्ययाधार पर प्रवृत्त अमृताक्षर की पाँच अमृतकलाएँ हीं मर्त्य–ब्रह्मा–विष्णु आदि पाँच आत्मक्षर–कलाओं की प्रवर्त्तिका बनीं हुई हैं। एवं प्राणात्मक प्रतिमाप्रजापति के स्वरूप–लक्षण–समन्वय के लिए अत्र हमें परमप्रजापति के **अव्यय-अक्षर-आत्मक्षर**-नामक तीनों पञ्चकों में से तीसरे–सर्वान्त के मर्त्य–ब्रह्मादिरूप–'आत्मक्षर' नामक पञ्चक को की अत्यन्त अवधानपूर्वक अपना लक्ष्य बना लेना है।

---

*–'परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' से जिस 'परात्पर-पुरुष' की ओर सङ्केत हुआ है, वह विश्वातीत-परात्पर से अभिन्न, अतएव–'परात्पर' नाम से ही समन्वित विशुद्ध–निर्गुण–निष्कल–अव्यय ही है, जिसकी आगे जाकर पञ्चकलरूप में अभिव्यक्ति होती है। (देखिए पृ सं० १५१ की तालिका)

१३४-आत्मक्षर के प्रारम्भिक-'विका पञ्चक' का पारिभाषिक-स्वरूप-दिग्दर्शन एवं-'विश्वसृट्' नाम की पारिभाषिकी अभिधा का समन्वय—

विकारभाव से सर्वथा पृथक्-आत्मक्षर की मर्त्य-ब्रह्मादि-पाँचों कलाओं से सर्वप्रथम जो 'पञ्चविकारक्षर' अभिव्यक्त होते हैं, वे ही क्योंकि वैकारिक-पञ्चमहाभूतात्मक विश्व के मौलिक-आरम्भण (उपादान) बनने वाले हैं। अतएव आत्मक्षरपञ्चक से अभिव्यक्त विकारक्षरपञ्चकात्मक 'प्राण' का साङ्केतिक नाम होगया है—'विश्वसृट्'।

१३५-विश्वसृट्-पञ्चक से अनुप्राणित पञ्चविध-मर्त्यकलाओं का नाम-संस्मरण, एवं तदनुबन्धी-मर्त्य-ब्रह्मादि पञ्चक—

आरम्भ के पांच 'विकारक्षर' ही 'विश्वसृजः' हैं, यही वक्तव्यनिष्कर्ष है। ये हीं पाँचों विश्वसृट्, किंवा विकारक्षररूप एक ही विश्वसृट्-प्राण के पाँच महिमाविवर्त्त क्रमशः—'प्राणः[1]-आपः[2]-वाक्[3]-अन्नम्[4]-अन्नादः[5]' नाम से प्रसिद्ध हैं, जो क्रमशः—'मर्त्यब्रह्मा[1]-विष्णु[2]-इन्द्र[3]-सोम[4]-अग्नि[5]-इन पाँच कलाओं से ही सम्बद्ध हैं।

१३६-पञ्चविध-विकारभावों के पारिभाषिक-नामों का दिग्दर्शन, एवं यज्ञपरिभाषानिबन्धन पञ्चरात्र का संस्मरण—

क्षरब्रह्मा का विकारप्राण ही 'प्राणः' है। क्षरविष्णु का विकारप्राण ही-'आपः' है। क्षर इन्द्र का विकारप्राण ही 'वाक्' है। क्षर-सोमका विकारप्राण ही 'अन्नम्' है। एक क्षर अग्नि का विकार-प्राण ही 'अन्नादः' है। और ये पाँच विकारप्राण ही यज्ञपरिभाषा में-'पञ्चरात्र' नाम से व्यवहृत हुए हैं, जिनके आधार पर ही पञ्चदेवोपासना का स्वरूप अभिव्यक्त हुआ है।

१३७ पञ्चरात्रात्मक-पञ्चविकारप्राण, और तदाधारभूत-त्रिपुरुष-पुरुषात्मक-पारिभाषिक-परमप्रजापति का संस्मरण, एवं-'यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश'-का दिग्दर्शन—

पञ्चरात्रात्मक ये पञ्चविकारप्राण ही प्रतिमाप्रजापति के स्वरूप के मौलिक-आधार बनते हैं, जैसा कि अनुपद में हीं स्पष्ट होने वाला है। ये पाँचों विश्वसृट्प्राण अपने मूलसर्जक आत्मक्षर के द्वारा परम्परया त्रिवृन्मनोमूर्त्ति-उस परमप्रजापति में हीं प्रविष्ट रहते हैं, जिस इस प्रारम्भिक-तथ्य को लक्ष्य बनाते हुए ही श्रुति ने कहाहै—

> **एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन्-प्राणः पञ्चधा संविवेश।**
> **प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा ॥**
>
> —मुण्डकोपनिषत् ३।१।९

१३८–पञ्चप्राणात्मक-त्रिवृद्भावापन्न-'विश्वसृट्' नामक विकारक्षर के पञ्चीकरण से अभिव्यक्ता नवीना स्थिति, एवं त्रिवृत्करण से समतुलिता पञ्चीकरण–प्रक्रिया के अर्द्ध-अर्द्ध--भावनिबन्धन–तात्त्विक–स्वरूप का समन्वय-प्रयास—

पञ्चप्राणात्मक त्रिवृद्भावापन्न 'विश्वसृट्' नामक 'विकारक्षर'--रूप प्राण का आगे जाकर उसी–प्रकार **पञ्चीकरण** होता है, जैसे कि आत्मा की मनः--प्राण–वाक्–कलाओं का **त्रिवृत्करण** होता है। एक एक प्राण को **आधारात्मक अग्नि** बना कर शेष चारों प्राणों की **आधेयात्मक सोम**--रूप से आहुति होजाने की जो एक सहज प्रकिया है, उसी का नाम है–'पञ्चीकरण', जिस इस यज्ञात्मिका प्रथमा पञ्चीकरण–प्रक्रिया से पाँचों विश्वसृजों के प्रत्येक में अर्द्ध भाग में तो स्वयं आधारात्मक--अग्निस्थानीय प्राण प्रमुख बना रहता है, एवं शेष अर्द्ध भाग में आधेयात्मक--सोमस्थानीय शेष चारों प्राण गर्भीभूत होते हैं।

१३९–पञ्चविध–विश्वसृजों के पारिभाषिक–नामों से अनुगत–'वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्-वादः' न्याय का समन्वय–प्रयास, एवं पारिभाषिक–पञ्चीकरण के सम्बन्ध से अभिव्यक्त 'पञ्चजन' तत्त्व का तालिकाओं के माध्यम से स्पष्टीकरण—

यों पाँचों विश्वसृट् (प्रत्येक) यद्यपि बन जाते हैं पञ्चात्मक ही। तथापि पाँचों में प्रधानता क्योंकि अर्द्ध--अर्द्ध–भागानुगत से क्रमशः--प्राणः--आपः--वागादि प्राणों की ही रहती है। अतएव--"**वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः**' न्याय से इन पञ्चीकृत--प्राणादि का नाम **'प्राणः-'** **'आपः-'** आदि ही रहता है। और यही पञ्चप्राणमूर्त्ति--विकारक्षरात्मक--विश्वसृजों का पञ्चीकृत--प्रथम--आविर्भाव है, जिसका पारिभाषिक नाम है-पञ्चीकरण-सम्बन्ध से **'पञ्चजन'**, जैसा कि निम्नलिखि श्रुति से अनुप्राणिता तालिकाओं से स्पष्ट है—

यस्मिन् पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः।
तमेव मन्ये-आत्मानं विद्वान् ब्रह्माऽमृतोऽमृतम्॥

—बृहदारण्यकोपनिषत् ४।४।१७।

१—आत्मक्षरात्मकः--विशुद्धः–प्राण—	ततः–पञ्चीकृतप्राणस्योद्भवः
२—आत्मक्षरात्मिकाः–विशुद्धाः- आपः–	ततः–पञ्चीकृतापामुद्भवः
३—आत्मक्षरात्मिका--विशुद्धा–वाक्—	ततः–पञ्चीकृतवाचः–उद्भवः
४—आत्मक्षरात्मकं--विशुद्धं–अन्नम्--	ततः–पञ्चीकृतान्नस्योद्भवः
५—आत्मक्षरात्मकः--विशुद्धः–अन्नादः-	ततः–पञ्चीकृतान्नादस्योद्भवः
आत्मक्षरभावाः-अपञ्चीकृताः (विश्वसृजः) शुद्धाः	विकारक्षरभावाः–पञ्चीकृताः पञ्चजनाः यौगिकाः

* * * *

१ २ ३ ४ ५
१-अप्—वाक्—अन्न—अन्नाद-गर्भितः—पञ्चात्मकः—प्राणः—'प्राणः'—एव—नाम्ना
१ २ ३ ४ ५
२-प्राण—वाक्—अन्न—अन्नाद-गर्भिताः-पञ्चात्मिकाः-'आपः'-'आपः'—एव—नाम्ना
१ २ ३ ४ ५
३-प्राण—अप्—अन्न—अन्नाद-गर्भिता—पञ्चात्मिका—'वाक्'-'वाक्'—एव—नाम्ना
१ २ ३ ४ ५
४-प्राण—अप्—अन्न—अन्नाद-गर्भितं-पञ्चात्मकं—'अन्नम्'-'अन्नम्'—एव—नाम्ना
१ २ ३ ४ ५
५-प्राण—अप्—वाक्—अन्न-गर्भितः-पञ्चात्मकः—'अन्नादः'-'अन्नादः'-एव-नाम्ना

पञ्चीकृत-प्राणादयः—एव—पञ्च—'पञ्चजनाः'

* * * *

१-	आनन्दाव्ययानुगत-	अमृतब्रह्मसमन्वित—	मर्त्यब्रह्मात्मक्षर—	विकार एव—प्राणः,—	तस्य पञ्चीकृतभाव एव प्राणः
२-	विज्ञानाव्ययानुगत—	अमृतविष्णुसमन्वित-	मर्त्यविष्णवात्मक्षर—	विकार एव-आपः,—	तस्य पञ्चीकृतभाव एव आपः
३-	मनोऽव्ययानुगत—	अमृतेन्द्रसमन्वित—	मर्त्येन्द्रात्मक्षर—	विकार एव—वाक्,—	तस्य पञ्चीकृतभाव एव वाक्
४-	प्राणाव्ययानुगत—	अमृतसोमसोमन्वित—	मर्त्यसोमात्मक्षर—	विकार एव—अन्नम्—	तस्य पञ्चीकृतभाव एव अन्नम्
५-	वागव्ययानुगत—	अमृताग्निसमन्वित—	मर्त्याग्नि-आत्मक्षर—	विकार एव—अन्नादः-	तस्य पञ्चीकृतभाव एव अन्नदः
	पञ्चाव्ययभावाः ५	पञ्चाक्षरभावाः ५	पञ्चात्मक्षरभावाः ५	पञ्चविकारक्षरभावाः विश्वसृजः ५	पञ्च पञ्चजनभावाः ५

* * * *

१४०-पुरभाव-निबन्धन पञ्चविध-पुरञ्जनों का तात्त्विक-स्वरूपेतिवृत्त—

पञ्चात्मक-पञ्चीकृत-पञ्चजन-रूप-प्राणादि पाँचों का पुनः पञ्चीकरण होता है, जिस इस द्वितीय पञ्चीकरण से पञ्चीकृत-पञ्चजनादि प्राणादि पाँचों विकारक्षर घनभावापन्न-भूतात्मक 'पुर' भाव के प्रेरक धर्म्म से समन्वित होते हुए 'पुरञ्जन' नाम धारण कर लेते हैं ।

पञ्चात्मक-'प्राण' नामक प्रथम पञ्चजन में शेष अबादि चारों पञ्चजनों की आहुति होने से 'प्राण-पुरञ्जन' अभिव्यक्त होता है, जिस में द्विविध पञ्चीकरणों के समन्वय से पञ्चविंशति कलाएँ (२५) अभिव्यक्त रहतीं हैं। एवं शेष अबादि चारों पुरञ्जनों का भी यही समन्वय-क्रम है । पञ्चजनवत् इन पञ्च पुरञ्जनों में

भी आधे में पञ्चजनात्मक प्राणादि-अग्निस्थानीय हैं, एवं शेष आधे में पञ्चजनात्मक शेष अन्नादि सोम स्थानीय है। इसप्रकार पञ्चजन, तथा पुरञ्जन-विवर्त्तों की पञ्चीकरण-प्रक्रिया समतुलिता है। केवल परिणाम में विभेद है।

पञ्चीकृत-पञ्चजनों के उत्तरभावी इस द्वितीय पञ्चीकरण से प्राण-आपः-आदि के प्राणात्मक-अन्नात्मक आदि स्वरूपों में परिवर्त्तन होजाता है। अतएव इस द्वितीय-पञ्चीकरण में इन के नाम प्रथमपञ्चीकरणानुगत-पञ्चजनों के प्राणः-आपः-आदि नाम न रह कर नामान्तर होजाते हैं।

पञ्चकल **प्राणपञ्चजन** में पञ्चकल शेष अन्नादि चारों पञ्चजनों की आहुति से अभिव्यक्त, अतएव पञ्चविंशतिकल-**प्राणपुरञ्जन** ही-'[1]**वेदपुरञ्जन**' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। पञ्चकल **आपः-पञ्चजन** में पञ्चकल शेष प्राणादि शेष प्राणादि चारों पञ्चजनों की आहुति से अभिव्यक्त, अतएव पञ्चविंशतिकल-**आपः-पुरञ्जन** ही-'[2]**लोकपुरञ्जन**' नाम से प्रसिद्ध हुआ है।

पञ्चकल **वाक्पुरञ्जन** में पञ्चकल शेष प्राणादि चारों पञ्चजनों की आहुति से अभिव्यक्त, अतएव पञ्चविंशतिकल-**वाक्पुरञ्जन** ही '[3]**देवपुरञ्जन**' नाम से व्यवहृत हुआ है। पञ्चकल **अन्नपञ्चजन** में पञ्चकल शेष प्राणादि चारों पञ्चजनों की आहुति से अभिव्यक्त, अतएव पञ्चविंशतिकल **अन्नपुरञ्जन** ही '[4]**पशुपुरञ्जन**' नाम से व्यवहृत हुआ है। एवं पञ्चकल अन्नादपुरञ्जन में पञ्चकल शेष प्राणादि चारों पञ्चजनों की आहुति से अभिव्यक्त अतएव पञ्चविंशतिकल **अन्नादपुरञ्जन** ही '[5]**भूतपुरञ्जन**' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। तदित्थं पञ्चीकृत-पञ्च-पञ्चजनों के इस तथाकथित द्वितीय-पञ्चीकरण से पञ्च-पाञ्चीकृत-रूप, अतएव प्रत्येक-पञ्चविंशतिकल-जो पांच **पुरञ्जन** अभिव्यक्त होते हैं, वे ही क्रमशः-१-वेदाः, २-लोकाः, ३-देवाः, ४-पशवः, ५-भूतानि-इन नामान्तरों में परिणत होजाते हैं-जैसाकि-परिलेख से स्पष्ट है।

१-पञ्चीकृत-अप्(१)—वाक्(२)—अन्न(३)—अन्नाद(४)-पञ्चजनगर्भितं-**प्राणपुरञ्जनमेव-वेदपुरञ्जनम्**(५) (२५)
२-पञ्चीकृत-प्राण(१)—वाक्(२)—अन्न(३)—अन्नाद(४)-पञ्चजनगर्भितं-**अप्पुरञ्जनमेव-लोकपुरञ्जनम्**(५) (२५)
३-पञ्चीकृत-प्राण(१)—अप्(२)—अन्न(३)—अन्नाद(४)-पञ्चजनगर्भितं-**वाक्पुरञ्जनमेव-देवपुरञ्जनम्**(५) (२५)
४-पञ्चीकृत-प्राण(१)—अप्(२)—वाक्(३)—अन्नाद(४)-पञ्चजनगर्भितं-**अन्नपुरञ्जनमेव-पशुपुरञ्जनम्**(५) (२५)
५-पञ्चीकृत-प्राण(१)—अप्(२)—वाक्(३)—अन्न(४)-पञ्चजनगर्भितं-**अन्नादपुरञ्जनमेव-भूतपुरञ्जनम्**(५) (२५)

* * * *

१४१-षोडशी-पुरुष निबन्धन पारिभाषिक त्रित्व, एवं विश्वानुगता पारिभाषिकी-चतुष्टयी का समन्वय—

पञ्चा-पञ्चीकृत, अतएव पञ्चविंशतिकल (प्रत्येक)-वेद-लोक-वेद-पशु-भूत-नामक पञ्च 'पुरञ्जनों' से आगे जाकर सीमात्मक-अण्डवृत्तात्मक-जो विवर्त्त अभिव्यक्त हुए हैं, उन्हीं का नाम है-'पुर'। और इस

'पुरसर्ग' पर ही 'षोडशीपुरुष' नामक मायी-महेश्वर-परमप्रजापति का त्रिवृत्प्राणात्मक-आत्मक्षरप्रकृतिमूलक-प्राणसर्ग सर्वात्मना सुसम्पन्न हुआ है।

तथोक्त पुरसर्गात्मक पञ्चप्राणात्मक त्रिवृत्प्राणसर्ग के स्वरूप-समन्वय के लिए-हमें भूतेश, भूतभावन, भूतयोनि, विश्वसृट्, पञ्चजन. पुरञ्जन, पुर, इन सात महिमाभावों को ही लक्ष्यारूढ बनाए रखना पड़ेगा, जिन सात महिमा-भावों में आरम्भ के भूतमहेश्वर, किंवा भूतेश, भूतभावन-भूतयोनि, इन तीन का तो एक विभाग माना जायगा, एवं विश्वसृट्-पञ्चजन-पुरञ्जन-पुर-इन चारों का एक विभाग माना जायगा, जिन इन दोनों विभागों के आधार पर ही 'त्रिवृद्वा इदं सर्वम्'-एवं-'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्' ये अनुगम-वचन समन्वित हैं।

' तीन हीं सब कुछ है" इस सिद्धान्त का आधार त्रिमूर्त्ति परमप्रजापति है, एवं-'चार ही सब कुछ है' इस सिद्धान्त का आधार चतुर्म्मूर्त्ति प्रतिमाप्रजापति है। परमप्रजापति का पञ्चकल-अमृताव्यय ही भूतेश है, महेश्वर, किंवा भूतेश पञ्चकल-ब्रह्माक्षर ही-'भूतभावन' है, एवं पञ्चकल शुक्रात्मक्षर ही भूतयोनि है *।

इन तीनों की समन्वितावस्था ही त्रिपुरुषपुरुषात्मक-त्रिमूर्त्ति-सर्वात्मक-परमप्रजापति है, जैसाकि पूर्व में स्पष्ट किया जाचुका है। प्रतिमाप्रजापति का अपञ्चीकृत-विशुद्ध-मौलिक-विकारक्षरपञ्चक ही 'विश्वसृट्' है, पञ्चीकृत-यौगिक-विकारक्षरपञ्चक ही 'पञ्चजन' है। पञ्चपञ्चीकृत-यागात्मक- वैकारिकक्षरपञ्चक ही 'पुरञ्जन' है, एवं अण्डवृत्तात्मक-पञ्च-सीमा-भावानुबन्धी-महाक्षरपञ्चक ही 'पुर' है।

१४२-गुण-अणु-रेणु-भूत-भेद से पञ्चतत्त्वानुबन्धी-पारिभाषिक-विस्तार, और 'तत्त्व' का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय—

दर्शनभाषा में प्रतिमाप्रजापति के तथाकथित चारों महिमाविवर्त्तों को क्रमशः-गुणभूत, अणुभूत, रेणुभूत, महाभूत, इन नामों से मनःपरितोषमात्र के लिए समन्वित किया जासकता है। 'मनःपरितोषमात्र' इसलिए कहना पड़ रहा है कि, आचारनिष्ठात्मिका-वैदिक-विज्ञानपद्धति से असंस्पृष्ट केवल तत्त्वमीमांसक दर्शनशास्त्रने तत्त्वपरिगणन के-दृष्टिमाध्यममात्र से ही इन गुणभूत-अणुभूत-आदि शब्दों का उद्घोष कर दिया

---

*-(१)-अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
'परं' भावजानन्तो मम-"भूतमहेश्वरम्" ॥
—गीता ९।११।

(२)-न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा 'भूतभावनः' ॥
—गीता ९।५।

६)-तद् 'भूतयोनिं' परिपश्यन्ति धीराः।
—मुण्डकोपनिषत् १।१।६।

है । इन का मूल कहाँ से, कैसे, क्यों, अभिव्यक्त हुआ ?, इस प्रश्न का विज्ञान-सम्मत-व्यवच्छेदात्मक-कोई भी समन्वय नहीं हुआ है दर्शनशास्त्र में, जैसाकि इस के दर्शनमात्रप्रिय-'**दर्शन**' शब्द से ही प्रतिध्वनित है ।

शब्द--स्पर्श--रूप--रस--गन्ध-नाम से व्यवहियमाणा प्राधानिक-दर्शन-(सांख्यदर्शन)-सम्मता सुप्रसिद्धा '**पञ्चतन्मात्रा**' ही-'**गुणभूत**' है, जिन्हें-'**पञ्चतत्त्व**' कहा गया है दर्शनभाषा में हीं । अपने मौलिक-विशुद्ध-रूप के कारण हीं इन्हें महाभूतदृष्ट्या-'**तत्त्व**' कहा जासकता है, जबकि तन्मूलभूत आत्मक्षर की दृष्टि से तो इन्हें भी विशुद्ध '**तत्त्व**' का सम्मान नहीं मिलसकता ।

इन की दृष्टि से तो भूतयोनिरूप अक्षर को '**तत्त्व**' माना जायगा । तद्दृष्ट्या भूतभावनरूप अक्षर को '**तत्त्व**' कहा जायगा, तो तद्दृष्ट्या भूतमहेश्वर अव्यय को '**तत्त्व**' माना जायगा । और सर्वान्त में इस 'तत्त्व' की वास्तविक तत्त्वरूपता का पर्य्यवासन क्षेत्र माना जायगा-विश्वातीत-निष्कलाव्ययात्मक-परात्पर नामक अन्तिम '**तत्त्व**', जिस का साङ्केतिक नाम है-'**तत्**' ।

"**तत्**" ही "**तत्त्वम्**" का वास्तव में स्वरूप-संग्राहक है, जिस इस "**तत्**" रूप "**तत्त्वम्**" के रहस्यात्मक स्वरूप-विश्लेषण के लिए ही-"**तत्त्वमसि**" जैसा महान् सूत्र ऋषिप्रज्ञा से आविर्भूत हुआ है ।

परमप्रजापति के परात्पररूप 'तत्' नामक मौलिक 'तत्त्वम्' को लक्ष्य बना कर ही मानो ऋषि करहे हैं कि, हे परात्परब्रह्म ! '**तत्त्वमसि**' अर्थात् आप ही '**तत्त्व**' रूप हैं । अन्यदपि-तदभिन्न मानव के 'तत्' रूपे जीवभाव को लक्ष्य बनाकर ही मानो ऋषि कह रहे हैं कि-'तुम' (मानव) '**तत्**' रूप ही हो । **अर्थात् परात्पराव्यय ही मानव का 'तत्' रूप तत्त्वात्मक मौलिक स्वरूप है ।**

'**एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्**' के अनुसार नानाभेदभिन्न यह सम्पूर्ण लौकिक-चराचरप्रपञ्च किसी एक ही सत्तासिद्ध-अलौकिक-वस्तुभाव की महिमामयी विभूति, किंवा महिमाममय विस्तार है । उसी निरपेक्ष-मूलतत्त्व को, सत्तासिद्ध मौलिक-सर्वादिभूत-सर्वान्तरतमरूप-वस्तुभाव को विस्तारात्मक-'**तनु**' (**तनु--विस्तारे**) धातु के आधार पर-'**तत्त्वम्**' कहा जासकता है, कहा गया है, जिस-'**तत्त्वम्**' का सहज निर्वचन- **तनोति महिमाभावेन सर्वमिदम्**' यही माना जायगा ।

और ऐसी निरपेक्षा-निर्विशेषलक्षणा-असपत्न-'**तत्त्वरूपता**' एक मात्रा विश्वातीत-निर्गुणाव्ययात्मक-विशुद्ध-सत्तासिद्ध, अतएव अगोचर * परात्परब्रह्म के साथ ही समन्वित मानी जायगी । इस मूलभूत निरपेक्ष-परात्परब्रह्मरूप-'तत्त्वम्' के अतिरिक्त तन्महिमारूप इतर यच्चयावत् विवर्त्तों को **सापेक्षतत्त्व**, **सापेक्ष यौगिकभाव**, तथा **सापेक्षयागभाव** ही कहा जायगा, जिन इन तीनों सापेक्षभावों का भी अमुक विशेष ही रहस्य माना जायगा ।

*** -प्रत्यस्ताशेषभेदं यत् सत्तामात्रमगोचरम् ।**
वचसामात्मसंवेद्यं तज्ज्ञानं-'ब्रह्म' संज्ञितम् ॥
—अर्वाचीनदर्शनसूक्तिः

१४३-विभूति-योग-बन्ध-भेदानुगता सम्बन्धत्रयी—

निरपेक्ष-तत्त्वरूप वही निर्गुणाव्यय मायामय विश्व में सर्वथा विभिन्न तीन सम्बन्धों से ही महिमारूपेण अभिव्याप्त रहता है, किंवा तीन प्रकार से वह 'तत्'-'इदम्' रूपेण परिव्याप्त रहता है, जो कि प्रकारात्मक तीनों सम्बन्ध क्रमशः **विभूतिसम्बन्ध-योगसम्बन्ध-बन्धसम्बन्ध**-इन नामों से समन्वित हैं, जिस इस उदाहरणत्रयी के समन्वय लिए के अशतः समतुलित सौरमण्डल को उदाहरण माना जा-सकता है।

सौरज्योतिर्भाव सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड (सौरब्रह्माण्ड) में एकरूप से जिस सम्बन्ध से अभिव्यक्त है, वही **'विभूतिसम्बन्ध'** कहलाया है। दर्पण-स्फटिक-आदि आदि प्रतिबिम्बग्राहक जिन जिन वीध्र-धरातलों पर सूर्य बिम्ब जिस सम्बन्ध से अभिक्त होता है, वही दूसरा-**'योगसम्बन्ध'** है। विभूतिसम्बन्ध आधिदैविक उदाहरण है, तो योगसम्बन्ध आधिभौतिक उदाहरण है।

तीसरा यागात्मक सम्बन्ध आध्यात्मिक-उदाहरण से स्पष्टरूप से समन्वित है। चेतनप्राणियों का अहंभावात्मक चिंदश **'सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च'** के अनुसार मनःप्राणवाङ्मय उसी सौर ज्योतिर्भाव का अंश है, जो प्राणियों में अन्तर्य्यामात्मक-ग्रन्थिबन्धन-सम्बन्ध से समन्वित होरहा है, जो कि अन्तर्य्याम-सम्बन्ध ही **'अग्निचयन'** की परिभाषा में-**'चितिसम्बन्ध'** कहलाया है।

क्या यागसम्बन्ध का भौतिक उदाहरण नहीं है?। है, और अवश्य है, जिस का चित्र (फोटो) के द्वारा समन्वय सम्भव है। पुत्र-पौत्रादि के साथ जो हमारा आत्मसम्बन्ध है, वह विभूतिसम्बन्ध है। दर्पणादि के साथ हमारी मुखाकृति का, किंवा शरीराकृति का जो सम्बन्ध है, वह योगसम्बन्ध है, एवं अमुक-भौतिकद्रव्यों से आप्लुत-अमुक-विशेष-दर्पण (प्लेट) पर खचित होजाने वाली हमारी आकृति यागसम्बन्धात्मिका है। इन सभी सम्बन्धों का **छान्दोग्योपनिषद्विज्ञानभाष्य** में क्योंकि विस्तार से स्पष्टीकरण होगया है, अतएव इस चर्चा को अत्रैव उपरत किया जारहा है।

स्वयं अपने **अव्ययरूप** से अभिव्यक्त होने वाला अव्ययसम्बन्ध ही **विभूतिसम्बन्ध है। अक्षररूप** से (अक्षरमाध्यम से) अभिव्यक्त होने वाला अव्ययसम्बन्ध ही **योगसम्बन्ध** है। एवं आत्मक्षररूप से (आत्मक्षरमाध्यम से) अभिव्यक्त होने वाला अव्ययसम्बन्ध ही **यागसम्बन्ध** है।

इसप्रकार अपने ही **विभूति-योग-बन्धा-त्मक सकल-अव्यय, सगुण-अक्षर,** तथा **सविकार-आत्मक्षर**-इन महिमात्मक विवर्त्तों से वह अनिर्वचनीय **'तत्'** नाम तत्त्व अपनी निर्गुणाव्ययात्मिका-निष्कलात्मिका तत्त्वरूपता से तीन सम्बन्धों से **'इदं सर्वम्'** रूप से वितत होरहा है, और **'तत्त्वम्'** शब्द का यही प्रासङ्गिक चिरन्तन-इतिवृत्त है।

१४४-पारिभाषिक-'गूढोत्मा'-का स्वरूप-संस्मरण—

तथोक्त इतिवृत्त के आधार पर अब हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ रहा है कि, 'तत्त्व' शब्द **यद्यपि वस्तुतः** अविभाज्य-अखण्ड-निरपेक्ष-शुद्ध-सत्तासिद्ध उस अद्वयभाव में हीं निरूढ है, जिस तत्त्वात्मिका

१४३-विभूति-योग-बन्ध-भेदानुगता सम्बन्धत्रयी—

निरपेक्ष-तत्त्वरूप वही निर्गुणाव्यय मायामय विश्व में सर्वथा विभिन्न तीन सम्बन्धों से ही महिमारूपेण अभिव्याप्त रहता है, किंवा तीन प्रकार से वह 'तत्'-'इदम्' रूपेण परिव्याप्त रहता है, जो कि प्रकारात्मक तीनों सम्बन्ध क्रमशः विभूतिसम्बन्ध-योगसम्बन्ध-बन्धसम्बन्ध-इन नामों से समन्वित हैं, जिस इस उदाहरणत्रयी के समन्वय लिए के अशतः समतुलित सौरमण्डल को उदाहरण माना जा-सकता है।

सौरज्योतिर्भाव सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड (सौरब्रह्माण्ड) में एकरूप से जिस सम्बन्ध से अभिव्यक्त है, वही '**विभूतिसम्बन्ध**' कहलाया है। दर्पण-स्फटिक-आदि आदि प्रतिबिम्बग्राहक जिन जिन वीध्र-धरातलों पर सूर्य्य बिम्ब जिस सम्बन्ध से अभिक्त होता है, वही दूसरा-'**योगसम्बन्ध**' है। विभूतिसम्बन्ध आधिदैविक उदाहरण है, तो योगसम्बन्ध आधिभौतिक उदाहरण है।

तीसरा यागात्मक सम्बन्ध आध्यात्मिक-उदाहरण से स्पष्टरूप से समन्वित है। चेतनप्राणियों का अहंभावात्मक चिंदश '**सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च**' के अनुसार मनःप्राणवाङ्मय उसी सौर ज्योतिर्भाव का अंश है, जो प्राणियों में अन्तर्य्यामात्मक-ग्रन्थिबन्धन-सम्बन्ध से समन्वित होरहा है, जो कि अन्तर्य्याम-सम्बन्ध ही '**अग्निचयन**' की परिभाषा में-'**चितिसम्बन्ध**' कहलाया है।

क्या यागसम्बन्ध का भौतिक उदाहरण नहीं है ? । है, और अवश्य है, जिस का चित्र (फोटो) के द्वारा समन्वय सम्भव है। पुत्र-पौत्रादि के साथ जो हमारा आत्मसम्बन्ध है, वह विभूतिसम्बन्ध है। दर्पणादि के साथ हमारी मुखाकृति का, किंवा शरीराकृति का जो सम्बन्ध है, वह योगसम्बन्ध है, एवं अमुक-भौतिकद्रव्यों से आप्लुत-अमुक-विशेष-दर्पण (प्लेट) पर खचित होजाने वाली हमारी आकृति यागसम्बन्धात्मिका है। इन सभी सम्बन्धों का **छान्दोग्योपनिषद्विज्ञानभाष्य** में क्योंकि विस्तार से स्पष्टीकरण होगया है, अतएव इस चर्चा को अत्रैव उपरत किया जारहा है।

स्वयं अपने **अव्ययरूप** से अभिव्यक्त होने वाला अव्ययसम्बन्ध ही **विभूतिसम्बन्ध** है। **अक्षररूप** से (अक्षरमाध्यम से) अभिव्यक्त होने वाला अव्ययसम्बन्ध ही **योगसम्बन्ध** है। एवं आत्मक्षररूप से (आत्मक्षरमाध्यम से) अभिव्यक्त होने वाला अव्ययसम्बन्ध ही **यागसम्बन्ध** है।

इसप्रकार अपने ही **विभूति-योग-बन्धा-त्मक सकल-अव्यय, सगुण-अक्षर**, तथा **सविकार-आत्मक्षर**-इन महिमात्मक विवर्त्तों से वह अनिर्वचनीय '**तत्**' नाम तत्त्व अपनी निर्गुणाव्ययात्मिका-निष्कलात्मिका तत्त्वरूपता से तीन सम्बन्धों से '**इदं सर्वम्**' रूप से वितत होरहा है, और '**तत्त्वम्**' शब्द का यही प्रासङ्गिक चिरन्तन-इतिवृत्त है।

१४४-पारिभाषिक-'गूढोत्मा'-का स्वरूप-संस्मरण—

तथोक्त इतिवृत्त के आधार पर अब हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ रहा है कि, 'तत्त्व' शब्द यद्यपि वस्तुतः अविभाज्य-अखण्ड-निरपेक्ष-शुद्ध-सत्तासिद्ध उस अद्वयभाव में हीं निरूढ है, जिस तत्त्वात्मिका

निरूढता के अनुबन्ध से ही वह तत्त्वात्मक निर्गुण-अव्यय 'गूढोत्मा' नाम से व्यवहृत हुआ है *, तथापि सापेक्षभावापन्न परमप्रजापति के—**सकल-(पञ्चकल) अव्यय-पञ्चकलोपेत सगुण-अक्षर-पञ्चकलोपेत सविकार-आत्मक्षर**-परमप्रजापति के इन तीनों महिमा-विवर्त्तों में भी हम **तत्त्व** शब्द का समन्वय मान सकते हैं।

इसीप्रकार प्रतिमाप्रजापति के—**विश्वसृट्-पञ्चजन--पुरञ्जन--पुररूप--गुणभूत, अणुभूत, रेणुभूत, महाभूत,** नामक महिमा-विवर्त्तों में भी अपेक्षाभेद-निबन्धन तत्त्व शब्द का व्यवहार सम्भव बन जाता है, जिसका सहज अर्थ यही है कि, पूर्व-पूर्व-संस्थान उत्तरोत्तर संस्थानापेक्षया **'तत्त्व'** है, एवं उत्तरोत्तर संस्थान पूर्व पूर्व संस्थानापेक्षया **योगात्मक**, तथा **यागात्मक** भाव हैं। और इसी प्रतिमाप्रजापत्यनुबन्धी सापेक्ष **'तत्त्वभाव'** के आधार पर विश्वसृट्-पञ्चजन-पुरञ्जन-पुर-आदि **यौगिक**,-तथा **याज्ञिक**-भाव भी--**'तत्त्व'** नाम से समन्वित होगए हैं।

१४५—भारतीय-पञ्चतत्त्व का स्वरूप-समन्वय, तदनुगता प्रतीच्या आपातरमणीया आलोचना, और तदनुबन्ध से किञ्चिदिव स्पष्टीकरण-प्रयास—

अतएव च अपने निरपेक्ष-निर्विशेष-मौलिक--विशुद्ध--एकत्व--धर्म्म से अनुप्राणित भी **'तत्त्व'** शब्द के साथ सगुणाव्ययादि-पुरान्त विवर्त्तों के सापेक्ष--पञ्चकलात्मक--भावानुबन्धों से **'पञ्च'** शब्द समन्वित होपड़ा है।

यों लोकव्यवहार में सर्वथा-संख्या-निरपेक्ष जैसा भी **'तत्त्व'** शब्द **'पञ्चतत्त्व'** रूप से प्रसिद्धि में आगया है, जिस इस रहस्यपूर्ण तत्त्व शब्द की सापेक्षतामूला **विभूति-योग-याग-सम्बन्धत्रयसन्विता-**रहस्यात्मिका परिभाषा से एकान्ततः ही असंपृष्ट आज के भूतविज्ञानवादियोंनें भारतीय **'पञ्चतत्त्ववाद'** की आपातरमणीया ही आलोचना कर डाली है, जो—**'अज्ञानं तस्य शरणम्'** अनुबन्ध से तत्त्वनिष्ठ आर्ष भारतीय की दृष्टि से तो क्षम्य ही मानली जायगी।

इसलिए क्षम्य मानली जायगी कि, परिभाषाबोध के बिना जब कि विगत तीन सहस्रवर्षों से स्वयं हमारे देश के भारतीय-दार्शनिक-विद्वान् हीं वेदविज्ञानसिद्ध-आचारपथ को प्रणम्य मानते हुए इस दिशा में एकान्ततः शून्यं शून्यं हीं प्रमाणित होते आरहे हैं, तो उन पश्चिमी भूतविज्ञानवादियों को क्या दोष दिया जाय, और कैसे दिया जाय, जिन्हें इन भारतीय दार्शनिकों के दर्शनप्रधान—आचारात्मक—विज्ञानशून्य—व्याख्याग्रन्थों के आधार पर ही अपनी तथाविधा काल्पनिक मान्यताएँ बना लेने का साहस, किंवा दुःसाहस होपड़ा है। अतएव यदि ये पश्चिमी विद्वान्—**भारतीय पञ्चतत्त्ववाद** के सम्बन्ध में अनर्गल प्रलाप करने लग पड़ें, तो तो बालचपलताप्रयुक्त इस सौम्यधर्म्म से अवश्य ही वे क्षम्य ही मान लिए जाने चाहिएँ।

***—एष सर्वेषु भूतेषु 'गूढोत्मा' न प्रकाशते।**
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सुक्ष्मदर्शिभिः॥
—कठोपनिषत् ३।१२।

अत्यन्त अवनतशिरस्कतापूर्वक हमें यह मान लेने में यत्किञ्चित् भी संकोच नहीं होरहा कि, विगत तीन सहस्रवर्षों से तथाकथित दार्शनिकों, तथा तद्व्याख्याग्रन्थों के निग्रहात्मक अनुग्रह से ही हमारा **ज्ञानसमन्वित सम्पूर्ण विज्ञानवैभव** सर्वथा अभिभूत ही होता चला आरहा है।

अतएव हम इस त्रिसहस्रवर्षात्मिका दार्शनिकयुगावधि से केवल शब्दाडम्बरों की चर्व्वणा में हीं सतत आसक्त व्यासक्त होते हुए आचारात्मक-परीक्षणात्मक-वैदिकविज्ञान के पारिभाषिक बोध से, तथा तदनुबन्धिनी विज्ञानसिद्ध कर्त्तव्यकर्म्मनिष्ठा से सर्वथा स्खलित ही प्रमाणित होते आरहे हैं, जबकि निष्ठापूर्वक जागरूक आज के प्रतीच्य भूतवैज्ञानिक विद्वान् अध्यवसायपूर्वक-भूतमाध्यम से अहोरात्र-अन्वेषण-परीक्षण, एवं तदनुगत आचरण में प्रगतिशील बने हुए हैं।

यह वस्त्वन्तर है कि, अन्तभावानुगत-भूत-माध्यम से समन्वित, अतएव अनन्तात्मभावमूला ज्ञानप्रतिष्ठा से सर्वथैव वञ्चित, अतएव च अपने क्षरधर्म्मात्मक-क्षणिकभाव से परिणामे क्षणिकं-क्षणिकं, अतएव शून्यं-शून्यं,-अतएव च दुःखं-दुःखं ही प्रमाणित होने वाला आज का भूतविज्ञान अपने तथाकथित अन्वेषण-परीक्षण, एवं तदनुगत आचरण से विश्वमानवता की सहज शान्ति-स्वस्ति का विध्वंसक ही प्रमाणित होता जारहाहो,-जैसाकि तदनुबन्धी **'उपक्रमोपसंहारसमतुलनन्याय'** के माध्यम से * स्पष्ट है।

परिणामदृष्ट्या आज के उस अन्तभावानुबन्धी-भूतात्मक-भूतविज्ञान को कदापि भारतीय आर्ष मानव मानवता के क्षेत्र में तो श्रेयःपन्था नहीं मान सकता, जिसका अन्त **'सर्वनाश'** के अतिरिक्त और कुछ भी तो नहीं है।

यह सबकुछ तथ्यपूर्ण होने पर भी एतावता ही भारतीय-मानव अपनी त्रिसहस्रवार्षिकी उस महामोहनिद्रा के अभियोग से तो कदापि आत्मपरित्राण नहीं कर सकता, जिसने दार्शनिकी आत्ममृगमरीचिका के काल्पनिक आकर्षण से वेदविज्ञानसिद्धा आचारनिष्ठा को जलाञ्जलि समर्पित कर **'इतो भ्रष्टः, ततोऽपि भ्रष्टः'** को अक्षरशः चरितार्थ कर लिया है, जब कि आज का भूतविज्ञानवादी जागरूकता के साथ क्षणिक-भूतविज्ञान की आराधना में आत्मविस्तृत होता हुआ क्षणमात्र के लिए-**'इतः'** दृष्टि से **सुखाभासभ्रान्ति** का तो अनुगामी बनता ही जारहा है।

और सम्भवतः यही वह तात्कालिक-भूताकर्षण है, जिससे आकर्षितान्तःकरण बन जाने वाला आज का भारत अपनी मूलनिधि के अन्वेषण से सर्वथैव तटस्थ-निरपेक्ष बनता हुआ **धर्म्मनिरपेक्षता** जैसे भयानक भाव में आसक्त होता हुआ अपना सभी कुछ विस्मृत करता हुआ आज पश्चिम की तात्कालिकी भूतविज्ञान-निबन्धना मृगमरीचिका की ओर, एवं तदनुप्राणिता क्षणिकतुष्टि--प्रवर्त्तिका **भूतजीवनपद्धति** की ओर अन्धरूपेणैव उसीप्रकार अनुधावन करता जारहा है, जैसे कि एक अन्धा दूसरे अन्धे के सङ्केत पर सन्मार्गानु-

---

* जो जिसका **उपक्रम** होता है, वही उसका **उपसंहार** होता है, यह प्रकृति का सनातन-नियम है। **भूत अन्तधर्म्मा है, एवं आत्मा अनन्तधर्म्मा**। अनन्तधर्म्मा आत्मा से उपक्रान्त वस्तुतत्त्व का परिमाणात्मक उपसंहार भी जहाँ अनन्तभावात्मक ही बनता है, वहाँ अन्तधर्म्मा भूत से उपक्रान्त वस्तुतत्त्व का परिणामात्मक उपसंहार भी अन्तभावात्मक ही प्रमाणित होता है।

गामी बनने का भ्रम करता रहता है, जिस इस आत्मवञ्चिता दयनीया पतनावस्था के प्रति ही महर्षि ने निम्न लिखित शब्दों में मानव को उद्बोधन प्रदान किया है—

अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः ।
दंद्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥

—कठोपनिषत्

१४६-पञ्चतत्त्वानुगता वर्त्तमाना भ्रान्ति के निराकरण-प्रसङ्ग से अनुगता रूढस्कन्धादि-भावों की स्वरूप-व्याख्या, एवं योगजभावों का स्पष्टीकरण—

क्योंकि प्रसङ्ग उपस्थित होपड़ा । अतएव दो शब्दों में भारतीय 'पञ्चतत्त्व' के सम्बन्ध में अन्यदपि किञ्चिदिव स्पष्टीकरण आपेक्षिक बन रहा है । अविभाज्य-उस मौलिक-भाव का ही नाम सम्भवतः प्रतीच्य-भूतविज्ञानकाण्ड में 'तत्त्व' की स्वरूप-परिभाषा है, जिसे वे अपनी भाषा में-'एटम्' कहा करते हैं ।

अन्तोपक्रममूला पूर्वोक्ता विशुद्धा भूतदृष्टि से प्रतीच्य-विद्वानोंनें धामच्छद-स्थानावरोधी-भूत-भौतिक-पदार्थों के मौलिक-उपादानतत्त्व का अन्वेषण करते हुए क्रम-क्रमशः अनेक तत्त्वों का आविष्कार किया, और उनका यह तत्त्व-संस्थानक्रम उत्तरोत्तर वृद्धिगंत ही होता गया । भौतिक पदार्थों के वैचित्र्य के आधार पर अनेक तत्त्व आविर्भूत होपड़े भूतविज्ञान के क्षेत्र में, जिनके कि सिस-लिथ-मेगेनिज-टाइट्रान आदि आदि भेद से कुछ ही समय पूर्व लगभग पञ्चाशत् (५०) संख्या को समलङ्कृत कर रहे थे, जो संख्या आज भी नवीनान्वेषण के माध्यम से वृद्ध्युन्मुखा ही बनी हुई है ।

तथाकथित प्रतीच्य तत्त्वों को **अणु**, तथा **स्कन्ध**, भेद से दो श्रेणियों में विभक्त किया जासकता है, किया गया है । विभिन्न जातीय अनेक अणुओं के पारस्परिक-संघात से सम्पन्न होने वाला पिण्डीभूत एक एक पदार्थ ही-**'स्कन्ध'** नाम से व्यवहृत हुआ है । क्योंकि प्रत्येक स्कन्ध में विभिन्न-जातीय अनेक अणु समन्वित रहते हैं, अतएव इन स्कन्धपदार्थों के **रूढस्कन्ध**, **योगस्कन्ध**, रूप से दो विभाग होजाते हैं ।

विभिन्न-जातीय--रूढपरमाणुओं से असंस्पृष्ट स्वर्णपरमाणुओं से सम्पन्न भाव ही--**'स्वर्णस्कन्ध'** कह--लाया है । तथैव ताम्रस्कन्ध, राजतस्कन्ध, आदि आदिरूपेण इन रूढस्कन्धों के अनेक विवर्त्त होजाते हैं ।

एतदतिरिक्त विभिन्नजातीय विभिन्न अणुओं के संघात से समुत्पन्न पिण्डभाव **योगस्कन्ध** कहलाए हैं, जिनके ओषधिवर्ग--प्राणिशरीरवर्ग--आदि आदि अगणित विवर्त्त हैं ।

सुवर्ण--रजतत--ताम्र--काँस्य--सीसक--पारद--लौह--आदि आदि 'धातुद्रव्यों', के स्तम्ब-लता-गुल्म--पादप (वृक्ष) आदि आदि 'मूलद्रव्यों' के, तथा कृमि--कीट--पक्षी--पशु--मनुष्य--आदि 'जीवद्रव्यों' के इत्यादि, यच्चयावत् स्थूलभावात्मक अर्थभावों (पदार्थों) के तत्त्वात्मक ततत् विभिन्न विभिन्न 'परमाणु' रूप 'अणुभाव' ही मौलिक--उपादान बने हुए हैं ।

विभिन्न जातीय अणु--परमाणुओं के संयोग--विभागात्मक संश्लेषण--विश्लेषण के उच्चावच सन्निवेश--तारतम्य से ही इन अर्थभावों में परस्पर विरुद्ध भावों, एवं विचित्र विचित्र स्वरूप--संस्थानों का आविर्भाव तिरोभाव होता रहता है ।

आलोच्य मान लिया ?, इस प्रश्न का इस के अतिरिक्त और क्या उत्तर होसकता है कि,-तत्त्व-वाचक पृथिवी-जल-तेज-आदि शब्दोंनें हीं उन्हें तथाविधा भ्रान्ति की ओर आकर्षित कर लिया है ।

स्थिति वस्तुगत्या यह है कि—षड्भावविकारात्मक–परिवर्त्तनशील–नाशमान्–अतएव सर्वथैव योगज (तत्त्वों के रासायनिक सम्मिश्रण से उत्पन्न) प्रत्यक्षदृष्ट–अनुभूत–सुप्रसिद्ध पाचों–"**महाभूतों**" के मूल '**रेणुभूतात्मक पञ्चभूत**' हैं, जिन्हें हमनें–पूर्व की निरूढ योगस्कन्ध-स्वरूप-मीमांसा में–'**त्रसरेणु**' भी कहा है ।

इन पाँचों त्रसरेणुभूतों के मूल-'**अणुभूतात्मक पञ्चभूत**' हैं, जिन्हें हमनें पूर्व में-**अविभाज्य-परमाणु** कहा है । इन पाँचों परमाणुरूप-अणुभूतों के मूल '**गुणभूतात्मक-पञ्चभूत**' हैं, जिन के नामस्पर्श से भी आज का भूतविज्ञानवादी आत्यन्तिकरूपेणैव अपरिचित है ।

तदित्थं गुणभूत अणुभूतों के, अणुभूत रेणुभूतों के, एवं रेणुभूत लोकव्यवहार–प्रसिद्ध महाभूतों के क्रमशः अभिव्यञ्जक बने हुए हैं, जो चारों भूतविवर्त्त ही वैदिक-विज्ञानभाषा में क्रमशः **अपञ्चीकृत विश्वसृट् (गुणभूत)**, **पञ्चीकृत पञ्चजन (अणुभूत)**, **पञ्चपञ्चीकृत पुरञ्जन (रेणुभूत)**, **एवं सर्वात्मक पुर (महाभूत)**, इन नामों से व्यवहृत हुए हैं ।

इन चारों हीं भूतविवर्त्तों में आपेक्षिकी–तत्त्वरूपता, एवं **योगजता** समन्वित है । आरम्भ के विश्व–सृड्रूप-अपञ्चीकृत गुणभूत आगे के शेष तीनों भूतवर्गों की अपेक्षा से अविभाज्य '**विशुद्ध तत्त्व**' हैं, एवं ये शेष तीनों इस गुणभूतापेक्षया योगज । पञ्चजनरूप-पञ्चीकृत अणुभूत (परमाणु) गुणभूतापेक्षया योगज बनते हुए भी आगे के रेणुभूतों की अपेक्षा से अविभाज्य बनते हुए '**विशुद्ध-तत्त्व**' बने हुए हैं, एवं शेष दोनों इस अणुभूतापेक्षया योगज बन रहे हैं ।

एवमेव पुरञ्जनरूप-पञ्चपञ्चीकृत-रेणुभूत (त्रसरेणु) अणुभूतापेक्षया योगज बनते हुए भी आगे के महाभूतों की अपेक्षा से अविभाज्य बनते हुए '**विशुद्धतत्त्व**' प्रमाणित होरहे हैं, एवं शेषभूत इस-रेणुभूतापेक्षया योगज बन रहे हैं ।

क्या तथाविधा सापेक्षता सर्वात्मक-योगज–पञ्चमहाभूतों पर परिसमाप्त होगई ? नहीं । अभी तो वह चतुर्द्दशविध (चौदह प्रकार का) **भूतसर्ग (प्रजासर्ग)** शेष है, जिसकी भूतभौतिकी **सत्त्वसंस्था (शरीरसंस्था)** का स्वरूप–निर्म्माण योगज–पृथिव्यादि–पञ्चमहाभूतों से ही हुआ है, होता रहता है । अतएव भूतसर्गात्मक प्रजासर्ग का मौलिक–उपदानकारण ये योगज पञ्चमहाभूत ही बने हुए हैं ।

"योगज'–का स्वरूप जहाँ-'कार्य्यभाव' पर व्यवस्थित है, वहाँ 'तत्त्व' का स्वरूप 'कारण–भाव' पर व्यवस्थित मान लिया गया है कार्य्यकारणात्मक- भूत–भौतिक–सर्ग के सापेक्ष–सम्बन्धों के अनुबन्ध से", इस सामान्य–परिभाषा के अनुसार 'कारण' के साथ 'तत्त्व' शब्द निरूढ होगया है, एवं 'कार्य्य' के साथ-'**योगज**' शब्द निरूढ़ होगया है–भारतीय–विज्ञानकाण्ड में ।

इसी सापेक्षतानुबन्ध से अब हम सर्वथैव यौगिक–योगज भी पृथिव्यादि पञ्चमहाभूतों को भूत--प्रजारूप कार्य्यों की कारणता के अनुबन्ध से अवश्य ही–'**पञ्चतत्त्व**' शब्द से भी व्यवहृत कर सकते हैं, एवं इन कारणभूत पञ्चतत्त्वों की अपेक्षा से अब इससे उत्पन्न कार्य्यरूप भूतसर्ग को योगज कह सकते हैं ।

मूलोपादानभूत तथाविध **'अणु'** तत्त्व को **परमाणु--त्रसरेणु--भेद** से दो प्रकार से समन्वित माना जासकता है। पूर्वोक्त--**रूढस्कन्धात्मक अर्थभावों** की विशकलनात्मिका खण्ड--खण्डात्मिका क्रमधारा से अन्ततोगत्वा जिस अन्तिम खण्ड पर इस खण्डात्मिका विभाजन--परम्परा का अवसान होजाता है, जिस अन्तिम विभाजन के अनन्तर पुन: उसका अन्य खण्डात्मक विभाजन सम्भव नहीं है, अतएव जिस अवि--भाज्य--अन्तिम--सूक्ष्मतम खण्ड को अविभाज्यता के कारण--**'अखण्ड'** कह दिया जासकता है, सर्वान्त का वही अखण्डात्मक--अविभाज्य--मौलिक खण्ड **'परमाणु'** कहलाया है, जिसका शब्दार्थ है--**'अन्तिम-अविभाज्य-- सूक्ष्मतम--अणुतत्त्व'**। सूक्ष्मदर्शक--अणुवीक्षणयन्त्र भी तथाविध परमाणुतत्त्व के साक्षात्कार में असमर्थ है।

एवमेव पूर्वोक्त **योगरूढात्मक--अर्थभावों** की तथाविध ही पारम्परिकी--विशकलनरूपा--खण्ड--खण्डात्मिका प्रक्रिया से जो अन्तिम अविभाज्य--खण्ड--शेष--रहजाता है, वही--**'त्रसरेणु'** कहलाया है। किंवा इस त्रसरेणु को **'अणु'** भी कह दिया जासकता है। **इसप्रकार रूढस्कन्धों के परम--अन्तिम--खण्डात्मक--परमाणु, एवं योगस्कन्धों के परम--अन्तिम--खण्डात्मक त्रसरेणु, किंवा अणुभेद से अणुतत्त्व का ही द्विधा वर्गीकरण होजाता है।**

उक्त दोनों अणुवर्गों में योगस्कन्धात्मक पदार्थों के अन्तिम--खण्डात्मक **'त्रसरेणु'** के सम्बन्ध में यह भी प्रासङ्गिक स्पष्टीकरण समन्वित कर ही लेना चाहिए कि, योगस्कन्धात्मक अर्थभावों के अन्तिम-खण्डात्मक त्रसरेणु को अविभाज्य ही मान लिया जाता है।

किन्तु तत्त्वत: अनेक परमाणुओं के रासायनिक--सम्मिश्रण से ही क्योंकि त्रसरेणुओं की स्वरूप-निष्पत्ति होती है, अतएव त्रसरेणु के भी पारम्परिक खण्ड सम्भावित हैं। अतएव च इन त्रसरेणुओं को तत्त्वतः परमाणुवत् अविभाज्या अखण्डता का सम्मान नहीं मिल सकता। यह सबकुछ वस्तुगत्या मान्य होने पर भी योगरूढ--पदार्थों की सापेक्षता के अनुबन्ध से इन त्रसरेणुओं की अखण्डता को भी मान्यता प्रदान की जासकती है।

उदाहरण के माध्यम से स्थिति का समन्वय कीजिए। **एक ऑक्सिजन--परमाणु, तथा दो हाइ--ड्रोजन--परमाणु,** इन तीन परमाणुओं के रासायनिक--सम्मिश्रण से संसृष्ट जो एक **'अणु'** निष्पन्न होगा, वही योगरूढात्मक--**'जल' (पानी)** होगा। स्पष्ट है कि योगरूढात्मक इस **'जलस्कन्ध'** का जलीयाणु ही चरमखण्ड मान लिया जायगा, जिस जलीय अणु को त्रसरेणु भी कहा जाता है।

यदि इस जलीयाणुरूप त्रसरेणु का भी विभाजन अपेक्षित होगा, तो परमाणुत्रयरूप से इस त्रसरेणु को भी खण्ड--खण्ड--रूप में परिणत किया जासकेगा। और यही व्यवस्था स्थालीपुलाकन्यायेन सभी योग--रूढस्कन्धों के साथ समन्वित मानी जायगी। यही नहीं, अपितु रूढस्कन्धों में भी कहीं कहीं यही व्यवस्था समन्वित रहेगी। उदाहरणार्थ--हाइड्रोजन के दो परमाणुओं के रासायनिक सम्मिश्रण से एक **'अणु'** का स्वरूप निष्पन्न होजायगा।

उक्त रूढ, स्कन्ध--चर्चा से प्रकृत में वक्तव्य **यही है** कि, प्रतीच्यभूत--विज्ञान की दृष्टि में--भूत--भौतिक--इस चराचर--विश्व के मूल उपादानभूत अविभाज्य--पचासों 'तत्त्व' हैं, जबकि भारतीय--प्राच्य--विज्ञान

इस विश्व के मूलोत्पादनतत्त्वों को **'पाँच-संख्या'** पर ही परिसमाप्त मान रहा है। अतएव जिसकी दृष्टि में सभी पदार्थों का अन्तिम--परिणाम--'**पञ्चतत्त्व**' ही प्रमाणित होरहा है, एवं जो पञ्चतत्त्व क्रमशः **आकाश--वायु-तेज-जल पृथिवी**--इन नामों से प्रसिद्ध हैं। यवनसम्प्रदायवादी की दृष्टि में **वायु-तेज-जल-पृथिवी** नामक चार ही तत्त्व प्रसिद्ध हैं।

१४७-भारतीय पञ्चतत्त्ववाद, तथा तदनुगत त्रिधातुवाद का संस्मरण—

तथाविध भारतीय पञ्चतत्त्ववाद आज के अनेकतत्त्ववादी--प्रतीच्य--भूतविज्ञानवादी की दृष्टि में उसीप्रकार निस्तत्त्व उद्घोषित है, जैसे कि उनकी दृष्टि में शरीरजगत् के चिकित्सक भारतीय आयुर्वेद - शास्त्र का **वात-पित्त--कफ (वायु--अग्नि--सोम)** की समष्टिरूप--**'त्रिधातुवाद'** अवैज्ञानिक बना हुआ है। अतएव च जिन प्रतीच्यों की भूतदृष्टि में वर्त्तमाना--प्रतीच्या--चिकित्सा--पद्धति (डाक्टरी) के समतुलन में **भारतीया आयुर्वेदचिकित्सा-पद्धति**, तथा तत्सहैव--**युनानीचिकित्सापद्धति** सर्वथा अवैज्ञानिकी ही प्रमाणित होरही है।

१४८-भारतीय-पञ्चतत्त्ववाद के सम्बन्ध में प्रतीच्या-धारणा का दिग्दर्शन—

त्रिधातुवाद को अन्य प्रसङ्गदृष्टया छोड़ते हैं। प्रसङ्गोपात्त पञ्चतत्त्ववाद की प्रामाणिकता-अप्रामाणिकता के सम्बन्ध में हीं दो शब्द निवेदित हैं। भारतीय पञ्चतत्त्ववाद के सम्बन्ध में प्रतीच्य--भूतविज्ञानवादियों के इत्थंभूत उद्गार की कर्णाकर्णि-परम्परया सुने गए हैं कि-स्वर्ण--रजत--लौह-हीरक-पारद--गन्धकादि सप्तति-तत्त्वों के समन्वय से सम्पन्न होने वाली पृथिवी (भूपिण्ड) की यौगिकस्कन्धरूपता स्पष्ट ही जब प्रमाणित है, तो कदापि इसे **तत्त्व (मौलिक--अविभाज्यभाव)** नहीं कहा जासकता। क्योंकि तत्त्व की सहजपरिभाषा उसकी अविभाज्यता ही मानी गई है।

एवमेव **ऑक्सिजन, हाइड्रोजन** नामक तत्त्वविशेषों की अमुक नियतमात्रा के रासायनिक--सम्मिश्रण से उत्पन्न, अतएव सर्वथा यौगिक दूसरे--**'जल'** को भी कदापि **'तत्त्व'** नहीं कहा जासकता।

अब क्रमप्राप्त तीसरे--**'तेज'** नामक तत्त्व को लक्ष्य बनाए। तेज का सम्भवतः **'अग्नि'** ही अर्थ होगा भारतीय--विज्ञानजगत् में। तेजोभावसूचक इस 'अग्नि' शब्द से यदि 'ताप' (ऊष्मा) तत्त्व अभि--प्रेत है, तो ऐसी दशा में तापधर्म्मा अग्नि को भी कदापि जलवत् 'तत्त्व' नहीं माना जासकता। क्योंकि ताप तो सापेक्ष-पदार्थों की सापेक्षतामूला एक विशेष अवस्थामात्र ही है।

अतएव कदापि इसे स्वतन्त्र तत्त्व, किवा स्वतन्त्र पदार्थ नहीं माना जासकता। अथवा अग्नि शब्द से यदि सुप्रसिद्धा **'अर्चि'** (ज्वाला) अभिप्रेत है, तो उस अवस्था में भी इसकी तत्त्वरूपता इसलिए मान्य नहीं बन सकती कि, सुप्रसिद्ध **ऑक्सिजनतत्त्व**, तथा **कार्बनतत्त्व**, इन दोनों के रासायनिक-सम्मिश्रण से ही 'अर्चि' नामक यौगिक-पदार्थ अभिव्यक्त होपड़ता है। सुतरां-तापरूपेण, किंवा ज्वालार्चिरूपेण उभयथापि तेजोरूप अग्नि की भी तत्त्वरूपता की सर्वथैव आपातरमणीयता प्रमाणित होजाती है।

यही अवस्था भारतीयों के चौथे वायु नामक तत्त्व से समन्वित होरही है। **ऑक्सिजन,** तथा **नाइट्रोजन**-तत्त्वों की नियतमात्रा से सम्पन्न रासायनिक-सम्मिश्रणात्मक यौगिकपदार्थ-विशेष का ही नाम जबकि स्पर्शधर्म्मा वायु है, तो इसे भी 'तत्त्व' श्रेणि में कैसे प्रतिष्ठित किया जासकता है?।

अब शेष रह जाता है भारतीयों का 'आकाश' नामक काल्पनिक तत्त्व, जिसका–'शून्य' से अतिरिक्त और कुछ भी तो अर्थ नहीं है। पृथिवी–जल-तेज-वायु-नामक चारों तत्त्वों ?, के, हमारी मान्यता से यौगिक-पदार्थों ?, के अवस्थान से सम्बन्ध रखने वाला अवकाशात्मक शून्यप्रदेश ही आकाश का स्वरूप–परिचय है।

फलतः इसकी तो यौगिक–पदार्थता भी सम्भव नहीं है। रिक्तस्थान (खाली जगँह) तो पदार्थों के अभाव का ही संग्राहक है, जिसे भी एक तत्त्व मान कर भारतीयोंनें अपने विज्ञानदारिद्र्य को मानो सर्वात्मना ही अभिव्यक्त कर दिया है।

उपरि दृष्टि-निक्षेप से जो नीलवर्ण प्रतीत होरहा है, क्या यह आकाश का स्वरूप-परिचायक है ?, जैसा कि भारतीयों के–'नीलाकाश'-शब्दव्यवहार से स्पष्ट है ?। नहीं, कदापि नहीं। चित-संचित–घनीभूत, एवं बहुविस्तृत–वायुस्तरात्मक संघ ही तथाविधा नीलवर्णप्रतीति का कारण बना हुआ है। प्रत्यक्षदृष्टा यह नीलिमा घनवायु की घनता-मात्र से ही सम्बन्ध रख रही है। अतएव भारतीय वैशेषिक-(कणाद)–नैय्यायिकादि जो दार्शनिक वायु को नीरूप मान रहे हैं, उनकी यह मान्यता भी प्रत्यक्षदृष्टा वाय्वनुगता नीलवर्णता से सर्वथैव भ्रान्तिपूर्णा प्रमाणित होजाती है, और अब यह सर्वात्मना स्पष्टतमरूपेण प्रमाणित होजाता है कि—

"भारतीयों का अपदार्थरूप शून्य आकाश को तत्त्व मानना, ऑक्सिजन–नाइट्रोजन के संयोग से उत्पन्न यौगिक–वायु को तत्त्व मानना, तापात्मिका अवस्थाविशेष को, किंवा ऑक्सिजन-कार्बन-के संयोग से उत्पन्न यौगिक–अर्चिमात्र को अग्निरूप तेजस्तत्त्व मानना, ऑक्सिजन–हाइड्रोजन के सम्मिश्रणमात्र से उत्पन्न यौगिक जल को तत्त्व मानना, एवं स्वर्णरजत–लौहादि अनेक तत्त्व के सम्मिश्रण से उत्पन्न, प्रत्यक्ष में हीं सर्वथा योगज मृद्रूपा पृथिवी को तत्त्व मान बैठना कदापि एक सामान्यप्रज्ञ की दृष्टि से भी मान्य नहीं बन सकता, फिर विज्ञानक्षेत्र की दृष्टि से तो इस दिशा में इस पञ्चतत्त्व-मान्यता-जैसी महती भ्रान्ति का विचार ही सर्वथा निरर्थक बन रहा है"।

१४९–पञ्चतत्त्वानुगता–प्रतीच्या–धारणा का नीर-क्षीरविवेक, एवं अत्यन्त पारिभाषिक-भारतीय-पञ्चतत्त्ववाद का समन्वय, और तदनुगता योगजस्थिति—

जैसाकि निवेदन किया जाचुका है, आचारनिष्ठात्मिका–विज्ञानदृष्टि से असंस्पृष्टा त्रिसहस्रवार्षिकी आत्मदर्शनव्यामोहनात्मिका सर्वनाशकारिणी दार्शनिकता की कृपा से ही मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र का पारिभाषिक **'विज्ञानकाण्ड'** अभिभूत ही होता आरहा है, एवं तत एव च तन्मूला विज्ञानसिद्धा आचारात्मिका कर्त्तव्य-निष्ठा भी अभिभूत ही प्रमाणित होती आरही है।

अतएव आज हम अपने मुख से 'विज्ञान' शब्दोच्चारण का भी साहस नहीं कर सकते। अपनी इस शून्यं-शून्या-दुरवस्था के कारण आज हम प्रतीच्य-भूतविज्ञाननिष्ठ-उन विद्वानों के आक्षेपों के सम्बन्ध में स्पष्टीकरणानुगत किञ्चिदिव भी आवेदन-निवेदन-करने जैसे साहस-भावनिबन्धन आयास-प्रयास को पराभवात्मक अतिमान के अतिरिक्त और कुछ तो भी नहीं मान रहे। अतएव त्रिसहस्रवर्षों से प्रक्रान्ता इस हीनता को देखते हुए हमें

अवनतशिरस्कतापूर्वक प्रचीच्य विद्वानों के सभी आक्षेपों, तिरस्कारों का समादर ही कर लेना चाहिए, और निष्कर्षत:-'मौनावलम्ब' को ही इस हीनदशा में श्रेय:पन्था मान लेना चाहिए ।

भारतीय पञ्चतत्त्व की वैज्ञानिकता के सम्बन्ध में गच्छत:-स्खलन-रूपेणापि जब हमारा ध्यान वैदिक-परिभाषाओं की ओर आकर्षित होपड़ता है, तो हम स्तब्ध ही बने रह जाते हैं । 'प्रत्येक वस्तुतत्त्व का व्यवच्छेदपूर्वक समन्वय करने वाले भारतीय-सिद्धान्त क्या वास्तव में यों पश्चिमी-विद्वानों की आलोचना के क्षेत्र बन जाने चाहिएँ ?, यही विषमा समस्या पुन: पुन: हमें उत्पीड़ित करती रहती है, जिस उत्पीड़न की उपशान्ति का एकमात्र उपाय है-त्रिसहस्र-वर्षों से विलुप्तप्राय भारतीय-वैदिक-विज्ञान की परिभाषाओं के स्वरूप-बोधात्मक स्वाध्याय में हीं अनन्यनिष्ठा से प्रवृत्त होजाना ।

इस स्वाध्यायनिष्ठा के बल पर ही हम सम्भवत: एक शताब्दी के चिरन्तन-प्रयास के अनन्तर ही अपनी मूलविज्ञाननिधि का वैसा व्यवस्थित समन्वयबोध प्राप्त कर सकेंगे, जिस के आधार पर ही हमारी विज्ञानसिद्धा आचारनिष्ठा पुन: सुव्यवस्थितरूप से सुप्रतिष्ठिता बन सकेगी, और तभी उन प्रतीच्य-भूतवैज्ञानिकों के उन आपातरमणीय-आक्षेपों का सम्यक्-समाधान-सम्भव बन सकेगा, जो आज हमारे अपने ही दोष से भारतीय-तत्त्ववाद के सम्बन्ध में अनर्गल-प्रलाप करते हुए पराभवमूलक अतिमान का ही अनुगम करते जारहे हैं, इति-**'नान्यः पन्था विद्यते-अयनाय'** ।

भारतीय पञ्चतत्त्व के सूचक **आकाश-वायु-तेज-जल-पृथिवी**-शब्द अत्यन्त ही पारिभाषिक-शब्द हैं, जिन्हें केवल **'भूत'**, किंवा **'महाभूत'** परक मान बैठने से ही पश्चिमी विद्वानों को इन शब्दों के द्वारा भ्रान्ति होपड़ी है । सर्वथा-यौगिक, अतएव **'भूत'** नाम से, किंवा **'महाभूत'** नाम से प्रसिद्ध आकाशादि-पृथिव्यन्त पाँचों विवर्त्त तो भारतीय-विज्ञानजगत् में भी-**'नाशवान्'** ही माने गए हैं, जिस नाशधर्म्म का यौगिक-पदार्थों से ही सम्बन्ध माना गया है ।

सर्वथा यौगिक, अनेक-तत्त्वों के रासायनिक-सम्मिश्रण से सम्पन्न-मर्त्य-परिवर्त्तनशील-पृथि-व्यादि को इन की योगजता के अनुबन्ध से ही 'भूत' कहा गया है, जिस का निर्वचनार्थ है—**"बहुत्त्वमेव भूतत्त्वम्"** ।

अन्यदपि-**'भूतम्'** का अर्थ **है-'उत्पन्नम्'** । और इस **'उत्पत्ति'** का एकमात्र अर्थ है-**अनेक तत्त्वों के रासायनिक सम्मिश्रण से अभिव्यक्त होपड़ने वाला अपूर्वभाव**, जिस इस उत्पन्न भावविकारात्मक-भौतिक-जगत् के समष्टि-व्यष्टिरूप से-**'अस्ति-जायते-विपरिणमते-वर्द्धते-अपक्षीयते-नश्यति'** नामक सुप्रसिद्ध **षड्भावविकार** माने गए हैं, जो विकारधर्म्म योगजपदार्थों में ही सम्भव हैं ।

यही योगजता गीता के शब्दों में भौतिकपदार्थानुबन्धी-विस्रंसनात्मक-संसरणशील-क्षर-धर्म्म के कारण-**'क्षर'** नाम से ही व्यवहृत हुई है, जैसा कि-**'क्षरः सर्वाणि भूतानि'** मे प्रमाणित है । योगजतानु-बन्धिनी इसी संसरणता से पाञ्चभौतिक-योगज-विश्व **'संसार'** नाम से व्यवहृत हुआ है ।

इसप्रकार अनेक दृष्टियों से पृथिव्यादि पञ्च-महाभूतों की योगजरूपता विस्पष्टरूपेण स्वयं जब भारतीय-विज्ञानकाण्ड में हीं प्रमाणित है, तो फिर किस आधार पर प्रतीच्य-विद्वानोंनें भारतीय पञ्चतत्त्ववाद को

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्त्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि, नचाहं तेष्ववस्थितः ॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥

—गीता ९।४,५, ।

'मत्स्थानि-सर्वभूतानि' वाक्य अव्ययेश्वर के अक्षरनिबन्धन-ईशित्वधर्म्म से जहाँ इसे 'भूतेश' प्रमाणित कर रहा है, वहाँ-'न च मत्स्थानि भूतानि' वाक्य असम्बन्धात्मक-सम्बन्धरूप विभूतिसम्बन्ध से अव्यय को प्राणिस्विकरूप से भूतधर्म्म से सर्वथा असङ्ग भी प्रमाणित कर रहा है। इसी रहस्यपूर्ण स्थिति का—'न त्वहं तेषु ते मयि' रूपेण भी सङ्केत हुआ है। 'न त्वहं तेषु' वाक्य जहाँ अव्यय की विभूतिभावानुबन्धिनी भूततटस्थता व्यक्त कर रहा है, वहाँ-'ते मयि' वाक्य इसी अव्यय की अक्षरनिबन्धना भूतवृत्ति की ओर भी सङ्केत कर रहा है। और यों अव्यय का भूतधर्म्म विभूति-सम्बन्धेन अभूतात्मक ही प्रमाणित होरहा है।

१५३-अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग-प्रकृति-विशिष्ट-पुरुषात्मा का स्वरूप-समन्वय-प्रयास—

दूसरे अक्षरविवर्त्त को 'भूतभावन' कहा जाता है। अव्ययवत् यह अक्षर सर्वथैव असङ्ग-तटस्थ तो नहीं है भूतधर्म्म से। क्योंकि अव्ययपुरुष की एक ही प्रकृति के अमृतरसनिबन्धन, तथा मर्त्यबलनिबन्धन दो महिमा-विवर्त्त माने गए हैं। वही, एक ही प्रकृति रसानुबन्ध से, मानो अपने अर्द्धभाग से ही-'अमृताप्रकृति' है, यही आभ्यन्तरा-पराप्रकृति है, और इसी का नाम है-'अक्षर'। एवं वही एक ही प्रकृति बलानुबन्ध से, मानो अपने अर्द्धभाग से ही-मर्त्याप्रकृति है, यही अन्तरङ्गा-अपराप्रकृति है, और इसी का नाम है क्षर।

दोनों की समन्वितावस्था का नाम ही 'प्रकृति' है, जो कि विश्वानुबन्ध से-'प्रजापति'- स्वरूपाभिव्यक्ति का कारण बनी हुई है। प्रकृतिनिबन्धन-प्रजापति-विवर्त्त के रसानुबन्धी-अमृत-मर्त्य-भावात्मक इसी समन्वित रूप को लक्ष्य बना कर—'अन्तरं मृत्यावमृतं-मृत्यावमृतमाहितम्'-'अर्द्धं-ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीत्-अर्द्धममृतम्' इत्यादि श्रुतिवचन समन्वित हुए हैं।

१५४-विभूति-संशर-बन्ध-भावानुगता सम्बन्धत्रयी से अनुप्राणिता स्थिति का समन्वयात्मक-स्पष्टीकरण—

यह सबकुछ ठीक ठीक होने पर भी अक्षरानुगत-अमृतभाव कदापि चितिरूप-संसृष्टिलक्षण-यागसम्बन्ध में परिणत नहीं होसकता। अतएव मानना पड़ता है कि-असङ्ग अव्यय, एवं ससङ्ग आत्मक्षर के मध्य में प्रतिष्ठित अक्षर 'ससङ्गासङ्गात्मक--योगसम्बन्ध' से ही समन्वित होरहा है। इस योगसम्बन्ध में भी भूतानुगता-संसृष्टिरूपा यागप्रक्रिया का अभाव है। अतएव इसे भी अभूतात्मक ही भूत माना जायगा। इसीलिए तो इसे सृष्टि का उपादानकारण न मानकर असमवायिकारणात्मक-निमित्तकारण ही माना गया है।

यह निमित्तता ही उपादानानुबन्धिनी-भूतता से अक्षर को भी अन्यवत् पृथक् ही प्रमाणित कर रही है। इसीलिए तो इसे भूतों की भावनामात्र करने वाली 'भूतभावना' ही कहा गया है। सृष्टि का कर्म्मजनित—

इन योगज–भूतभौतिक सर्गों में भी सन्तननरूप–विस्तारभावानुबन्ध से अपेक्षया कारण, और कार्य्यात्मक द्वन्द्वप्रवाह प्रवाहित है। अतएव च तदनुबन्धी सापेक्ष–'तत्त्व'–और सापेक्ष–'योगज' व्यवहार सर्वथैव समन्वित है।

रासायनिक–सम्मिश्रणात्मक, अतएव सर्वथा योगज भी पृथिव्यादि पञ्चमहाभूत लोकव्यवहार में क्यों, और कैसे अयोगात्मक–'तत्त्व' व्यवहार से व्यवहृत होपड़े ?, इस व्यावहारिक–'तत्त्व' शब्द–व्यवहार का एकमात्र कारण तथोक्त-कारणकार्य्य–निबन्धन तत्त्व–योगज–रूप सापेक्ष–सम्बन्ध ही है, जबकि वस्तुगत्या एकद्रव्यात्मक, अतएव महाभूतदृष्ट्या अविभाज्य गुणभूतात्मक–परमाणुवर्ग को, तथा अणुभूतात्मक त्रसरेणुवर्ग को ही–'तत्त्व' कहा जायगा।

१५०–पञ्चतन्मात्रानुगत–'मात्रा' भाव, तदनुबन्धी 'भूतभाव', औरप्रतीच्य–जगत् का पदार्थ–विद्यानुबन्धी–'मेटर'—

वस्तुस्थिति तो कुछ ऐसी है कि, भले ही पाञ्चभौतिक-यौगिक-महाभूतों की दृष्टि से त्रसरेणुरूप अणुभूत, एवं परमाणुरूप गुणभूत 'तत्त्व' बन रहे हों। किन्तु इन दोनों में भी वास्तविकरूप से तो 'तत्त्व' मर्य्यादा से अपञ्चीकृत--विशुद्ध--विश्वसृट् नामक गुणभूतों को ही कहा जायगा, जो कि गुणभूत ही सांख्यपरिभाषा में--'मात्रा' नाम से व्यवहृत्र हुए है।

शब्दतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा रसतन्मात्रा, गन्धतन्मात्रा, नामों से प्रसिद्ध ये-'मात्राभाव' ही मितिभावापन्न, सीमित--यौगिक--महाभूतों के मूलजनक माने गए हैं। स्थूलभूतों का मौलिक--सुसूक्ष्म--(भूतापेक्षया) अविभाज्य--विशुद्धतत्त्व ही भूतपदार्थों को छन्दोरूप सीमाभाव से मित--परिमित--सीमित--स्वरूप--प्रदान करता हुआ--'मीयते–अनया' (माङ्माने–से 'त्रन्' प्रत्यय के द्वारा निष्पन्न) निर्वचन से--'मात्रा' कहलाया है। स्वयं मूलसंहिता * में भी इसी मौलिक--अविभाज्य--तत्त्व के लिए--'मात्रा' शब्द प्रयुक्त हुआ है।

'मात्रा' ही मितिकरणी है, किंवा मित--(सीमित)--करणी है। मितिभावापन्न भूत ही मितभावा--नुबन्धी मूर्त्त जगत् है, और इस मित से अनुप्राणित भूत ही प्रतीच्य जगत् का-'मेटर' (स्थूलभूत-पदार्थ) है, जो 'मात्रा' के 'मातर' का ही, किंवा 'मेतर'--का ही 'मेटर' रूप रूपान्तर माना जासकता है--निरुक्त--क्रमधिया।

"मात्रा–नाम से प्रसिद्ध रूपादि–पञ्चविध गुणभूत ही इस पाञ्चभौतिक विश्व का मौलिक--अविभाज्य--पारिभाषिक–'तत्त्व' है", यही पूर्व सन्दर्भ का निष्कर्ष है, जो इत्थंभूत-अपञ्चीकृत, अतएव विशुद्ध 'तत्त्व' ही आगे जाकर पञ्चीकरणप्रक्रिया से सर्वप्रथम–'पञ्चजन' नामक अणुभूत (परमाणु) में परिणत होता है, जिसे ही सम्भवतः प्रतीच्य-विज्ञान अविभाज्यभावापन्न–'तत्त्व (एटमस) मान रहा है,

---

*–प्र मात्राभी रिरिचे रोचमानः प्र देवेभिर्विश्वतो अप्रतीतः।
प्र मज्मना दिव इन्द्र पृथिव्याः प्रोरोर्महो अन्तरिक्षादृजीषी ॥
—ऋक्सं० ३।४६।३।

जबकि उत्तरभावी त्रसरेणुरूप रेणुभूतों की अपेक्षा इस अणुभूत की सापेक्षा तत्त्वरूपता के स्वीकृत कर लेने पर भी गुणभूतापेक्षया तो इस-परमाणुरूप पञ्चजनभूत की भी पञ्चीकरणानुबन्ध से योगजता, एवं तन्निबन्धना विभाज्यता ही प्रमाणित होरही है भारतीय-तत्त्वविज्ञान की दृष्टि से ।

और इसप्रकार भारतीय भूतानुबन्धी-भूतमूलरूप-पारिभाषिक--अविभाज्य--'तत्त्व' तो वर्त्तमान--भूतविज्ञान के पारिभाषिक--परमाणुरूप--तत्त्व से भी ऊर्ध्वकक्षा में हीं प्रतिष्ठित होरहा है । इस दृष्टि से पूर्व, और पश्चिम की 'तत्त्व'-मूला दृष्टि में किस का 'तत्त्ववाद' वास्तविकरूप से 'अविभाज्यतत्त्व'-मर्य्यादा का अनुगामी प्रमाणित होरहा है ?, प्रश्न का उत्तरदायित्त्व तो भूतविज्ञाननिष्ठ-परमाणुवादी-प्रतीच्य-विद्वानों की भूतप्रज्ञा पर ही छोड़ दिया जाता है ।

इसी सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण विप्रतिपत्ति और उपस्थित होजाती है-'भूतम्' शब्द के अनुग्रह से । जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया गया है-'बहुत्त्वम' का ही नाम ही 'भूतम्' है, जिसका अर्थ है-अनेक तत्त्वों की समष्टि । अनेक-तत्त्वों के समन्वय से ही बहुत्वधर्म्मावच्छिन्न-'भूतम्' का स्वरूपाविर्भाव प्रतिपादित हुआ है-पूर्व में ।

अनेक तत्त्वों की समन्वितावस्था को ही योगज, अतएव-'विभाज्य' पदार्थ माना गया है भारतीय-विज्ञान की परिभाषा में । ऐसी स्थिति में यदि अपञ्चीकृत-मात्रारूप-विश्वरुट्-नामक परमाणुरूप-अणु-भूतों के मूलभूत गुणभूत ही पूर्वकथनानुसार अविभाज्य-मौलिक-पारिभाषिक-'तत्त्व' हैं, तो फिर इनके साथ-'भूतम्' का सम्बन्ध कैसे समन्वित हुआ ।

क्योंकि गुणात्मक तत्त्वों में तो इनकी अविभाज्या विशुद्धरूपता से बहुत्त्वधर्म्मानुगत-भूतधर्म्म का आत्यन्तिक अभाव ही प्रमाणित किया गया है ? । यही यह महती प्रासङ्गिकी विप्रतिपत्ति है, जो 'भूतम्' शब्दानुबन्ध से अभिव्यक्त होपड़ी है ।

१५१-अत्यन्त ही रहस्यपूर्ण अव्ययानुगत-भूतेश, अक्षरानुगत-भूतभावन, एवं आत्मक्षरानुगत भूतयोनि-शब्दों का पारिभाषिक-चिरन्तन इतिवृत्त-समन्वय—

इस प्रासङ्गिकी विप्रतिपत्ति के निराकरण के सम्बन्ध में अत्र दो शब्दों में एतावन्मात्र की समन्वय कर लेना पर्य्याप्त होगा कि,--परमप्रजापति के जिस महिमामय षोडशीरूप का आरम्भ में हीं तालिकारूपेण दिग्दर्शन कराया गया था, (देखिए पृ०सं० १५१) उसी के प्रक्रान्त प्रतिमाप्रजापति-स्वरूप-प्रसङ्ग में पूर्व में भूतेश, भूतभावन, भूतयोनि, इन तीन भूतादि विवर्त्तों का भी संस्मरण हुआ है (देखिए-पृ० सं० १६६) । इसी मूलविवर्त्तत्रयी के माध्यम से अत्रोपस्थिता प्रासङ्गिकी विप्रतिपत्ति सर्वथैव निष्कृता, किंवा समाहिता होजाती है ।

अनेकता, किंवा विभिन्नता-ही-बहुत्त्व' का स्वरूप-परिचय है, एवं इत्थंभूत 'बहुत्त्व' भी 'भूतम्' शब्द का मौलिक-चिरन्तन इतिवृत्त है । परमप्रजापति का सकल-मायी-अव्यय-पुरुष भी आनन्द-विज्ञानादि सुप्रसिद्धा कोषात्मिका पञ्चकलाओं से बहुत्त्वरूप भूतधर्म्म से समन्वित है । अतएव इसे भूतेश, किंवा भूतमहेश्वर कहना अन्वर्थ बनता है ।

दूसरा सगुण-अक्षरपुरुष भी अमृतब्रह्मा-विष्णु आदि पाँचों पराप्रकृतिरूपा-आभ्यन्तरा-कलाओं से बहुत्त्वधर्म्माक्रान्त बनता हुआ-'भूतधर्म्म' का प्रेरयिता प्रमाणित होरहा है। अतएव इसे-'ममात्मा-भूतभावनः' रूपेण-'भूतभावन' नाम से व्यवहृत करना अन्वर्थ बन रहा है। एवमेव परमप्रजापति का तीसरा सविकार आत्मक्षरपुरुष भी मर्त्यब्रह्मा-विष्णु-आदि पाँचों अपराप्रकृतिरूपा अन्तरङ्गा कलाओं से अनेकभावाक्रान्त बनता हुआ 'भूतजनकता' से समन्वित होकर 'बहुत्व' रूप 'भूतम्' से अनुप्राणित होरहा है। अतएव इसे-'तद्भूतयोनिं परिश्यन्ति धीराः' इत्यादि के अनुसार-'भूतयोनि' शब्द से व्यवहृत करना चरितार्थ बन रहा है।

इसप्रकार त्रिधा विभक्त पञ्चकल-विवर्त्तों मे से परमप्रजापति के अव्यय-अक्षर-आत्मक्षर-नामक तीनों हीं आत्मविवर्त भी जब पञ्चात्मकता--रूपा 'अनेकता' से, एवं तन्निबन्धन 'बहुत्त्व' से समन्वित होते हुए भूत शब्द से अनुप्राणित होरहे हैं, तो तीसरे आत्मक्षर से अभिव्यक्त विकारक्षररूप अपञ्चीकृत, किन्तु प्राण-आपः-वागादिरूप से पञ्चात्मक-पञ्चकल बने हुए विश्वसृट् नामक गुणभूतात्मक मात्राभावों (शब्दस्पर्शादि तन्मात्राभावों) की बहुत्त्वनिबन्धना भूतधर्म्मता में तो कोई भी विप्रतिपत्ति नहीं उठाई जासकती।

बहुत्वनिबन्धना इसी भूतधर्म्मता से भूतमहेश्वर पञ्चकल अव्यय, भूतभावन-पञ्चकल अक्षर (आभ्यन्तरा-पराप्रकृति), एवं भूतयोनि पञ्चकल आत्मक्षर (अन्तरङ्गा-अपराप्रकृति), इन तीनों ही आत्मविवर्त्तों-परमप्रजापति-विवर्त्तों) की अनेकरूपात्मिका-विभिन्नकलात्मिका-बहुत्त्वनिबन्धना-भूतरूपता सर्वथैव स्पष्ट होजाती है। और इसी बहुत्वान्वित-भूतधर्म्मानुबन्ध से परमप्रजापति षोडशकल (सोलहकला-युक्त) बनते हुए—'त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी' के अनुसार 'षोडशी' जैसी बहुत्वधर्म्माभिव्यञ्जिका अभिधा से प्रसिद्ध होरहे हैं।

तीनों के आदि में समन्वित भूत शब्द भी बहुत्त्वधर्म्मानुबन्धिनी इसी भूतरूपता को अभिव्यक्त कर रहे हैं। और इसी रहस्यपूर्ण भूत शब्द-समन्वय के आधार पर अब अन्ततोगत्वा हमें उसी मौलिक-सैद्धान्तिक-निष्कर्ष का ही आश्रय ग्रहण करना पड़ा है—अविभाज्य-'तत्त्व' के सम्बन्ध में, जिसका पूर्व में-'तत्त्वमसि' श्रुति-समन्वय-प्रसङ्ग से सङ्केत कराया जाचुका है-(देखिए-पृ०सं० १७०)।

सर्वथैव निष्कल, विशुद्ध रसमूर्त्ति, अतएव एकान्ततः अखण्ड-अद्वय-निरवयव—सजातीय-विजातीय-स्वगत-नामक त्रिविध-भेदशून्य, विश्वातीत-मायातीत-परात्पराव्यय ही वास्तविकरूपेण वह मौलिक अविभाज्य-तत्त्व है, जिसका-'तत्'-'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि-नेदं यदिदमुपासते' इत्यादिरूपेण 'तत्' पद से भी सङ्केतात्मक-तटस्थ-संग्रह हुआ है—'तत्-ते-पदं-संग्रहेण ब्रवीमि' (कठोपनिषत्) 'एतद्वै-तत्'।

१५२-पञ्चतत्त्वानुगत-'बहुत्त्व' से अनुगत-'भूत'-धर्म्म का समन्वय, एवं भूतभृत्-भूतात्मा-भूतभावन-प्रजापति-का संस्मरण—

भारतीय-विज्ञानकाण्ड का मौलिक तत्त्ववाद तो तथाकथित-रूपेण—'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्'-'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' आदि मूलश्रुतियों के अनुसार उस 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' रूप मायातीत-

विश्वातीत–निष्फल-परात्पराव्यय * पर ही विश्रान्त है, जैसाकि पूर्व में भी स्पष्ट किया जाचुका है— (देखिए पृ० सं० १७० पृष्ठ)।

हमारा पञ्चतत्त्ववाद तो पञ्चमहाभूतात्मक विश्व का आधार बनता हुआ विश्वसापेक्षता पर ही विश्रान्त है। वस्तुगत्या तो हमारा तत्त्ववाद-'**एकतत्त्व**' से ही अनुप्राणित है, जो त्रिकाल में भी, किसी भी अवस्था में विभाज्य नहीं बन सकता। अतएव वैसे–'**एकम्**' को ही वास्तविकरूपेण-अविभाज्य-धर्म्मावच्छिन्न '**तत्त्वम्**' कहना अन्वर्थ बनता है।

तदतिरिक्त तो मायानुबन्धी सभी महिमामय विवर्त्तभाव अनेकभावानुबन्धी बहुत्त्वधर्म्म से अनुप्राणित बनते हुए '**भूतम्**' भाव से ही समन्वित माने गए हैं भारतीय-विज्ञानकाण्ड में, जिन नानाभावापन्न-भूतम् रूप महिमाविवर्त्तों के पूर्व पूर्व महिमा-विवर्त्त उत्तर के महिमाविवर्त्तों के अनुबन्ध से जहाँ अपेक्षया-'**कारण**' बनते हुए '**तत्त्वम्**' कहलाए हैं, वहाँ उत्तरोत्तर के महिमा-विवर्त्त पूर्व-पूर्व के महिमाविवर्त्तों के '**कार्य्य**' बनते हुए '**भूतम्**' कहलाए हैं।

और यों महामायात्मिका विश्वमाया की सीमा में भुक्त-त्रिविध आत्मविवर्त्त, तथा चतुर्विध विश्वविवर्त्त-अपेक्षया **तत्त्वम्** भी हैं, तो अपेक्षया-'**भूतम्**' भी हैं, और यही तथोक्ता महती विप्रतिपत्ति की निराकरणात्मिका संक्षिप्ता रूपरेखा है।

'**भूतम्**' शब्दानुगत–'बहुत्त्व' के सम्बन्ध में एक अन्य आवश्यक तथ्य का भी स्पष्टीकरण कर ही लेना चाहिए। पूर्व में स्पष्ट किया गया है कि, परमप्रजापति के **अव्यय–अक्षर-आत्मक्षर**-नामक तीनों पुरुष-विवर्त्त क्रमशः **विभूति-योग-बन्ध (चितिरूप-याग)** नामक तीन विभिन्न सम्बन्धों के प्रवर्त्तक बने हुए हैं। (देखिए पृ० सं० १७१)। इस सम्बन्धत्रयी की अपेक्षा से ही **भूतानुगत-बहुत्त्वधर्म्म** के भी **विभूतिरूप-बहुत्त्व, योगरूप--बहुत्त्व, यागरूप–बहुत्त्व**, भेद से तीन ही विवर्त्त होजाते हैं।

पञ्चकल अव्ययानुगत बहुत्त्व विभूतिलक्षण बहुत्त्व है, जो बहुत्त्वभावानुबन्धी माना जाता हुआ भी, अतएव भूतशब्दानुगत बनता हुआ भी अपने विभूतिभाव से तत्त्वतः एकात्मक ही बना हुआ है। इसी आधार पर—**परेऽव्ययये सर्व एकी भवन्ति**' यह सिद्धान्त व्यवस्थित हुआ है।

अतएव इसे '**भूतों का ईश**' (भूतेश) ही कहा गया है, जो ईश स्वदृष्टि से जहाँ **भूतभृत्** बना हुआ है, वहाँ विभूतिभावानुबन्ध से '**भूतातीत**' भी प्रमाणित होरहा है, जिस इस विभूतिसम्बन्धावच्छिन्ना अबहुत्त्व–रूपा विभूति से समन्विता भूतधर्म्मता का ही आगे के शब्दों में गीता के द्वारा रहस्यभाषा में हीं स्पष्टीकरण हुआ है—

*** सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु–सर्वासु च विभक्तिषु।**
वचनेषु च सर्वेषु–यन्न व्येति तदव्ययम्॥
—गोपथब्राह्मणे

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्त्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि, नचाहं तेष्ववस्थितः ॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥

—गीता ६।४,५, ।

'मत्स्थानि-सर्वभूतानि' वाक्य अव्ययेश्वर के अक्षरनिबन्धन-ईशित्वधर्म्म से जहाँ इसे 'भूतेश' प्रमाणित कर रहा है, वहाँ-'न च मत्स्थानि भूतानि' वाक्य असम्बन्धात्मक-सम्बन्धरूप विभूतिसम्बन्ध से अव्यय को प्राणिस्विकरूप से भूतधर्म्म से सर्वथा असङ्ग भी प्रमाणित कर रहा है। इसी रहस्यपूर्ण स्थिति का—'न त्वहं तेषु ते मयि' रूपेण भी सङ्केत हुआ है। 'न त्वहं तेषु' वाक्य जहाँ अव्यय की विभूति-भावानुबन्धिनी भूततटस्थता व्यक्त कर रहा है, वहाँ-'ते मयि' वाक्य इसी अव्यय की अक्षरनिबन्धना भूतवृत्ति की ओर भी सङ्केत कर रहा है। **और यों अव्यय का भूतधर्म्म विभूति-सम्बन्धेन अभूतात्मक ही प्रमाणित होरहा है।**

१५३-अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग-प्रकृति-विशिष्ट-पुरुषात्मा का स्वरूप-समन्वय-प्रयास—

दूसरे अक्षरविवर्त्त को '**भूतभावन**' कहा जाता है। अव्ययवत् यह अक्षर सर्वथैव असङ्ग-तटस्थ तो नहीं है भूतधर्म्म से। क्योंकि अव्ययपुरुष की एक ही प्रकृति के **अमृतरसनिबन्धन**, तथा **मर्त्यबलनिबन्धन** दो महिमा-विवर्त्त माने गए हैं। वही, एक ही प्रकृति **रसानुबन्ध** से, मानो अपने अर्द्धभाग से ही-'**अमृताप्रकृति**' है, यही आभ्यन्तरा-पराप्रकृति है, और इसी का नाम है-'**अक्षर**'। एवं वही एक ही प्रकृति **बलानुबन्ध** से, मानो अपने अर्द्धभाग से ही-**मर्त्याप्रकृति** है, यही **अन्तरङ्गा-अपराप्रकृति** है, और इसी का नाम है क्षर।

दोनों की समन्वितावस्था का नाम ही '**प्रकृति**' है, जो कि विश्वानुबन्ध से-'**प्रजापति**'-स्वरूपाभिव्यक्ति का कारण बनी हुई है। प्रकृतिनिबन्धन-प्रजापति-विवर्त्त के रसानुबन्धी-अमृत-मर्त्य-भावात्मक इसी समन्वित रूप को लक्ष्य बना कर—'**अन्तरं मृत्यावमृतं-मृत्यावमृतमाहितम्**'-'**अर्द्ध-ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीत्-अर्द्धममृतम्**' इत्यादि श्रुतिवचन समन्वित हुए हैं।

१५४—विभूति-संशर-बन्ध-भावानुगता सम्बन्धत्रयी से अनुप्राणिता स्थिति का समन्वयात्मक-स्पष्टीकरण—

यह सबकुछ ठीक ठीक होने पर भी अक्षरानुगत-अमृतभाव कदापि चितिरूप-संसृष्टिलक्षण-यागसम्बन्ध में परिणत नहीं होसकता। अतएव मानना पड़ता है कि-असङ्ग अव्यय, एवं ससङ्ग आत्मक्षर के मध्य में प्रतिष्ठित अक्षर '**ससङ्गासङ्गात्मक-योगसम्बन्ध**' से ही समन्वित होरहा है। इस योगसम्बन्ध में भी भूतानुगता-संसृष्टिरूपा यागप्रक्रिया का अभाव है। अतएव इसे भी अभूतात्मक ही भूत माना जायगा। इसीलिए तो इसे सृष्टि का उपादानकारण न मानकर **असमवायिकारणात्मक-निमित्तकारण** ही माना गय है।

यह निमित्तता ही उपादानानुबन्धिनी-भूतता से अक्षर को भी अन्यवत् पृथक् ही प्रमाणित कर रही है। इसीलिए तो इसे भूतों की भावनामात्र करने वाली '**भूतभावना**' ही कहा गया है। सृष्टि का कर्म्मजनित-

वासनासंस्कारपुटों से ही सम्बन्ध है, न कि ज्ञानात्मिका भावनामात्र से। अतएव अन्ययवत् इस भूतभावना अक्षर को भी हम **'अभूतात्मक भूत'** ही कहेंगे, और अतएव च इसे भी भूतानुबन्धी बहुत्वधर्म्म से निरपेक्ष ही मानेंगे।

अब शेष रह जाता है परमप्रजापति का वह तीसरा आत्मक्षरविवर्त्त, जिसे हमने **'भूतयोनि'** कहा है। अत्यन्त अवधानपूर्वक ही इस-**'भूतयोनि'** शब्द को लक्ष्य बनाने का अनुग्रह कीजिए, जो कि भूतयोनिरूप-आत्मक्षर ही तथाकथित तीनों सम्बन्धों में तीसरे, और अन्तिम-यागात्मक-चितिरूप-संसृष्टिलक्षण-**'बन्धसम्बन्ध'** से ही समन्वित माना गया है।

बलों का बलों के साथ होने वाला [1]**विभूतिसम्बन्ध ही** [1]**संशरबन्धन (ढीलाबन्ध)** कहलाया है, जिस से **संसृष्टिलक्षण (रासायनिक सम्भिश्रणलक्षण)** सृष्टि का कोई सम्बन्ध नहीं है, और **भूतेश-अव्यय** इस असम्बन्धात्मक सम्बन्ध से ही समन्वित है। बलों का बलों के साथ होने वाला [2]**योगसम्बन्ध** ही-[2]**वहिर्य्योबन्धन** कहलाया है, जिस से संसृष्टिलक्षणा सृष्टि तो नहीं होती। किन्तु तथाविधा सृष्टि को प्रारम्भिक-प्रेरणात्मिका भावना अवश्य मिल जाती है, और **भूतभावन-अक्षर** इस सामान्य बन्धात्मक सम्बन्ध से ही समन्वित है। एवं बलों का बलों के साथ होने वाला '[3]**बन्धसम्बन्ध'** ही '[3]**अन्तर्य्यामसम्बन्ध'** * कहलाया है, जिस से ही रासायनिक-सम्भिश्रणात्मिका संसृष्टिरूपा सृष्टि उपक्रान्त होती है।

और सृष्टि की दृष्टि से ही वास्तिवक वह **यागात्मक चितिसम्बन्ध है,** जिसे कि तत्त्वः **योगभावानुबन्धी-'भूतसम्बन्ध'** कहा जासकता है। अतएव-**'बहुत्त्व'** रूप **' भूतधर्म्म'** की उपक्रम-भूमि बन्ध-सम्बन्धावच्छिन्न आत्मक्षररूप-**'क्षरपुरुष' (अपराप्रकृति)** को ही माना जासकता है। इसी तथ्य को लक्ष्य बनाकर भगवान्ने-**'क्षरः सर्वाणि भूतानि'** (गीता) रूप से [1]**विभूति-**[2]**योग-**[3]**बन्ध**-सम्बन्धानुगत [1]**अव्यय-**[2]**अक्षर-**[3]**क्षर,** इन तीनों पुरुषविवर्त्तों में से तीसरे **बन्धानुगत क्षर** के साथ ही **'भूतानि'** शब्द समन्वित किया है। अतएव च महर्षि श्वेताश्वतरने इसे ही-**'तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः'** रूपेण क्षर प्रकृति को ही **'भूतयोनि'** नाम से व्यवहृत किया है।

१५५-प्रभव-प्रतिष्ठा-योनि-आशय-शब्दचतुष्टयी से अनुगता पारिभाषिकी स्थिति का तालिका-माध्यमेन-स्पष्टीकरण-प्रयास—

निवेदन किया गया है कि-**'भूतयोनि'** शब्द भूतसम्बन्धानुबन्ध से सर्वथा ही अवधेय बना हुआ है, एवं इसी पारिभाषिक-**'भूतयोनि'** शब्द के सम्बन्ध में किञ्चिदिव विशेष तथ्य का भी प्रासङ्गिक समन्वय कर ही लेना है। **"मर्त्यभावान्वित-भूतों की योनि"**-ही 'भूतयोनि' शब्द का सामान्य अक्षरार्थ है।

'योनि' शब्द सापेक्ष शब्द है, जिसकी सापेक्षता **प्रभव-प्रतिष्ठा-आशय,** इन तीन विभिन्न शब्दों से ही उपशान्त होती है। **प्रभव-प्रतिष्ठा-योनि-आशय**-इन चारों के समन्वय से ही भूतानुबन्धी औत्पत्तिक-संसृष्टिलक्षण-**भौतिक-क्षरधर्म्म** स्वस्वरूपेण सर्वाङ्गीणरूप से अभिव्यक्त हुआ करता है।

---

*-**अन्तर्य्यामे मघवन् ! मादयस्व। (ऋक्संहितायाम्)।**

'उत्पत्तिस्थान' ही 'प्रभव' है। 'मूलस्थितिस्थान' ही 'प्रतिष्ठा' है। 'निर्गमनद्वार' ही 'योनि' है। एवं 'व्याप्तिस्थान' ही 'आशय' है। समष्ट्यात्मक मनोमय परमप्रजापतिरूप षोडशीपुरुष ही अध्यात्मभाषा में-अमृतात्मा कहलाया है। प्राणमय प्रतिमाप्रजापति के सुप्रसिद्ध [1]स्वायम्भुव--[2]पारमेष्ठ्य--[3]सौर--[4]चान्द्र--[5]पार्थिव--नामक--ब्रह्मसत्यात्मक पाँचों आध्यात्मिक विवर्त्त ही क्रमशः [1]अव्यक्तात्मा--[2]महानात्मा-[3]विज्ञानात्मा (बुद्धि)-[4]प्रज्ञानात्मा (मन)-[5]भूतात्मा (शरीर)-इन नामों से प्रसिद्ध हैं।

वाङ्मय-प्रतिमान प्रजापति के सुप्रसिद्ध-[1]सर्वज्ञ-[2]हिरण्यगर्भ-[3]विराट्-नामक-देवसत्यात्मक तीनों आध्यात्मिक विवर्त्त ही क्रमशः [1]प्राज्ञ-[2]तैजस--[3]वैश्वानर-नामों से प्रसिद्ध हैं। यदि षोडशीप्रजापति के समष्ट्यात्मक विवर्त्तों का व्यष्टिरूप से संग्रह किया जाता है, तो उस के भी अव्ययात्मक अमृतात्मा-अक्षरात्मक ब्रह्मात्मा--आत्मक्षरात्मक-शुक्रात्मा-रूपेण तीन ही विवर्त्त होजाते हैं। तदित्थं-त्रिवृन्मनोमय-परमप्रजापति के तीन आत्मविवर्त्त, त्रिवृत्प्राणमय प्रतिमाप्रजापति के पाँच विवर्त्त, एवं त्रिवृत्-वाङ्मय प्रतिमान-प्रजापति के तीन विवर्त्त, सम्भूय ११ विवर्त्त होजाते हैं।

तथोक्त ग्यारहों विवर्त्तों में प्रत्येक में प्रभव-प्रतिष्ठा-योनि-आशय-रूप उत्पत्तिस्थान-मूलस्थितिस्थान-निर्गमनद्वार-व्याप्तिस्थानात्मक चारों भाव समन्वित रहते हैं, जिस इस चतुष्टयी का विस्तारभिया अत्र-समन्वय सम्भव नहीं है। अध्यात्मविज्ञान-प्रेमी पाठकों की प्रज्ञा के चिन्तनात्मक मनोरञ्जन के लिए यहाँ केवल तालिकारूपेण उन नामों का स्मरण कर लिया जारहा है।

प्रभव-प्रतिष्ठा-योनि-आशयानुबन्धिनः-परिलेखाः-अध्यात्मविज्ञानानुगताः

(१)-क- व्यष्ट्यात्मक-परमप्रजापत्यनुगत-त्रिविध-प्रभवादि-संस्थानपरिलेख-(अध्यात्मदृष्ट्या)

१ ज्ञानात्मा–अव्ययः	१–प्रभवः–	परात्परमूर्त्तिर्निष्कलोऽव्ययः	अव्ययात्मकः–अमृतात्मा [१]
	२–प्रतिष्ठा–	दभ्राकाशः	
	३–योनिः–	अक्षरः	
	४–आशयः–	क्षरात्मकं शरीरम्	
२ कर्मात्मा–अक्षरः	१–प्रभवः–	सकलोऽव्ययः	अक्षरात्मकः–ब्रह्मात्मा [२]
	२–प्रतिष्ठा–	हृदयाकाशः	
	३–योनिः–	आत्मक्षरः	
	४–आशयः–	क्षरात्मकं शरीरम्	
३ अर्थात्मा–आत्मक्षरः	१–प्रभवः–	सगुणोऽक्षरः	आत्मक्षरात्मकः–शुक्रात्मा [३]
	२–प्रतिष्ठा–	केन्द्रबिन्दुः	
	३–योनिः–	विकारक्षरः	
	४–आशयः–	क्षरात्मकं शरीरम्	

व्यष्ट्यात्मकस्य–षोडशीप्रजापतेः–परमप्रजापतेर्वा त्रीण्यात्म–विवर्त्तानि तानीमानि। तन्निबन्धना च प्रतिष्ठादि चतुष्टयी–व्यष्ट्यात्मिका

* * * *

(१)-ख–समष्ट्यात्मक-परमप्रजापत्यनुगत-एकविध-प्रभवादि-संस्थानपरिलेख–(अध्यात्मदृष्ट्या)

सोऽयं–अमृतात्मा	१–प्रभवः–वागापोऽग्निमयं-शुक्रम्	(सोऽयं-षोडशीपुरुषात्मा-'अमृतसत्यात्मा') षोडशीपुरुषानुगता–मनोमयपरमप्रजापत्यनुगता वा संस्थाचतुष्टयी-समष्ट्यात्मिका–प्रथमा
	२–प्रतिष्ठा–पारमेष्ठ्यो महानात्मा	
	३–योनिः–दहराकाशः	
	४–आशयः सर्वाङ्गशरीरम्	

* * * *

(२)––क–व्यष्ट्यात्मक-प्रतिमाप्रजापत्यनुगत-पञ्चविध-प्रभवादि-संस्थानपरिलेख––
(अध्यात्मदृष्ट्या)

* * *

आत्मा	क्रम		प्राकृत
१ प्राणात्मा–ब्राह्मः	१–प्रभवः––	–स्वयम्भूः	––प्राकृतः–अव्यक्तात्मा–शान्तात्मा वा (५) स्वयम्भुवः
	२–प्रतिष्ठा––	–हृदयम्	
	३–योनिः––	–शिरोगुहा	
	४–आशयः––	–सर्वाङ्गशरीरम्	
२ अबात्मा–वैष्णवः	१–प्रभवः––	–परमेष्ठी	––प्राकृतः–महानात्मा–सत्त्वात्मा वा (४) पारमेष्ठ्यः
	२–प्रतिष्ठा––	–हृदयम्	
	३–योनिः––	–शुक्रम्	
	४–आशयः––	–सर्वाङ्गशरीरम्	
३ वागात्मा–ऐन्द्रः	१–प्रभवः––	–सूर्य्यः	––प्राकृतः–विज्ञानात्मा–बुद्धिर्वा (३) सौरी
	२–प्रतिष्ठा––	–हृदयम्	
	३–योनिः––	–नान्दनद्वाः	
	४–आशयः––	–सर्वाङ्गशरीरम्	
४ अन्नात्मा–सौम्यः	१–प्रभवः––	–चन्द्रमाः	––प्राकृतः–प्रज्ञानात्मा–मनो वा (२) चान्द्रम्
	२–प्रतिष्ठा––	–हृदयम्	
	३–योनिः––	–शुक्रम्	
	४–आशयः––	–सर्वाङ्गशरीरम्	
५ अन्नादात्मा–आग्नेयः	१–प्रभवः––	–भूपिण्डः	––प्राकृतः–भूतात्मा–शरीरं वा (१) भौमम्
	[illegible] ष्ठा––	–मूलग्रन्थिः	
	३–योनिः––	–अन्नम्	
	४–आशयः––	–सर्वाङ्गशरीरम्	

व्यष्ट्यात्मकस्य–प्रतिमाप्रजापतेः–पञ्चात्मविवर्त्तानि । तन्निबन्धना च प्रभवादि–चतुष्टयी–व्यष्ट्यात्मिका

* * * *

(२)—ख -समष्ट्यात्मक-प्रतिमाप्रजापत्यनुगत-एकविध-प्रभवादि-संस्थानपरिलेख—
(अध्यात्मदृष्ट्या)

सोऽयं ब्रह्मात्मा

- १-प्रभवः—षोडशीगर्भितः-परोरजाः
- २-प्रतिष्ठा—विश्वकेन्द्रम्
- ३-योनिः—विश्वसृड् ब्रह्मा
- ४-आशयः—सर्वाङ्गशरीरम्

(सोऽयं-प्राकृतात्मा -'ब्रह्मसत्यात्मा')
—प्राणमय-प्रतिमाप्रजापत्यनुगता-संस्थाचतुष्टयी
समष्ट्यात्मिका-द्वितीया

* * * *

(३)—क-व्यष्ट्यात्मक-प्रतिमाप्रजापत्यनुगत-त्रिविध-प्रभवादि-संस्थानपरिलेख—
(अध्यात्मदृष्ट्या)

द्युलोकानुगतः एकविंशात्मा-पार्थिव-	१-प्रभवः—	त्र्यात्मकः-सर्वज्ञः-दिव्यः (२१)	—वैकारिकः-प्राज्ञात्मा (३) आदित्यात्मक	व्यष्ट्यात्मकस्य–प्रतिमाप्रजापतेः–त्रीण्यात्मविवर्त्तानि तन्निबन्धना च प्रभवादि–चतुष्टयी–व्यष्ट्यात्मिका
	२-प्रतिष्ठा—	हृदयम्		
	३-योनिः—	नाड़ी		
	४-आशयः-	सर्वाङ्गशरीरम		
अन्तरिक्षलोकानुगतः पञ्चदशात्मा-पार्थिव-	१-प्रभवः—	त्र्यात्मकः-हिरण्यगर्भः-आन्तरिक्ष्यः (१५)	—वैकारिकः-तैजसात्मा (२) वाय्वात्मकः	
	२-प्रतिष्ठा—	हृदयम्		
	३-योनिः—	तैजसनाड़ी		
	४-आशयः-	सर्वाङ्गशरीरम्		
पृथिवीलोकानुगतः त्रिवृदात्मा-पार्थिव-	१-प्रभवः—	त्र्यात्मकः-विराट्-पार्थिवः(६)	—वैकारिकः-वैश्वानरात्मा (१) अग्न्यात्मकः	
	२-प्रतिष्ठा—	हृदयम्		
	३-योनि :—	नाभिः		
	४-आशयः-	सर्वाङ्गशरीरम्		

* * * *

(३) ख-समष्ट्यात्मक-प्रतिमानप्रजापत्यनुगत-एकविध-प्रभवादि-संस्थानपरिलेख -
(अध्यात्मदृष्ट्या)

सोयं-शुक्रात्मा

-प्रभवः--त्रैलोक्यावच्छिन्नः-सर्वभूतान्तरात्मा
२-प्रतिष्ठा-स्तौम्यत्रैलोक्यकेन्द्रम्
३-योनिः-शुक्रशोणितद्वन्द्वम्
४-आशयः-सर्वाङ्गशरीरम्

(सोऽयं-वैकारिकात्मा-देवसत्यात्मा)
-वाङ्मय-प्रतिमानप्रजापत्यानुगता-संस्था-चतुष्टयी-समष्ट्यात्मिका-तृतीया

* * * *

१५६-विकारक्षरात्मक पारिभाषिक-'विश्वसृट्' से अनुप्राणित-'योनि'-भाव का संग्राहक-रहस्यपूर्ण-'भूतयोनि'-तत्त्व—

आत्मक्षरानुबन्धी-'भूतयोनि' नामक तीसरे विवर्त्त से अनुप्राणित-सापेक्ष-'योनि' शब्द के अपेक्षा-पूरक प्रभव--प्रतिष्ठा--आशय--भावों से अप्रानुणित। प्रासङ्गिकी संस्थाचतुष्टयी के तालिकारूपेण दिग्दर्शन करा देने के अनन्तर अब पुनः आत्मक्षरानुबन्धी उसी महत्त्वपूर्ण-'भूतयोनि' शब्द की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जारहा है एक विशेष तथ्य के समन्वय के लिए। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि, परमप्रजापति का त्रिवृद्वाङ्मय--भूतयोनिरूप-आत्मक्षर--ही भूतसृष्टि के मूलप्रवर्त्तक अपञ्चीकृत--विशुद्ध-तत्त्वात्मक--विकारक्षरों की अभिव्यक्ति का उपादानकारण बनता है। इसी आत्मक्षर के द्वार से विकारक्षर क्योंकि विनिर्गत होते हैं, अतएव योनि शब्द के निर्गमनद्वारात्मक पारिभाषिक अर्थ के कारण इस आत्मक्षर को-'भूतयोनि' ("भौतिक तत्त्वात्मक विशुद्ध पञ्चविध विकारक्षरों का उपादान--कारणात्मक--निर्गमनद्वार") शब्द से व्यवहृत करना भी समन्वित होरहा है। तथापि इस 'भूतयोनि' आत्मक्षर को भी तत्त्वतः हम भूतानुगता-रासायनिक-सम्मिश्रणलक्षणा--वास्तविकी योगजता से तो असंस्पृष्ट ही मानेगे। तभी तो इसे 'भूतयोनि' (भूतों का निगर्मनद्वारमात्र, नैव स्वयं भूत) कहना अन्वर्थ बनता है। भूतानुशयता का प्रथम उपभोक्ता तो भूतों का मौलिक--तत्त्वरूप-पञ्चविध विकारक्षर ही बनता है। अतएव इसे ही पाञ्चभौतिक विश्व के संसृष्टिलक्षण-सर्ज्जन का सम्मान प्राप्त हुआ है। और इसीलिए विकारक्षरपञ्चक को 'विश्वसृट्' सम्बोधन से व्यवहृत करना अन्यर्थ भी प्रमाणित होरहा है।

१५७-भूत-क्षर-आत्मा-योनि-आदि पारिभाषिक-शब्दों के माध्यम से-'भूतयोनि'-तत्त्व का स्वरूप-समन्वय-प्रयास —

इस विश्लेषण के द्वारा भूतयोनिरूप आत्मक्षर के सम्बन्ध में निवेदन-निष्कर्ष यही है कि, भूतों की योनिमात्र बनता हुआ आत्मक्षर वस्तुतः विश्व-सङ्गात्मक विकारभावों से अक्षर-अव्यय-वत् असंस्पृष्ट रहता हुआ भूतातीत-'आत्मा' की ही श्रेणि में ही अन्तर्भुक्त होरहा है। अतएव विकारनिर्गमनात्मक-योनि-भाव के कारण जहाँ यह-'क्षर' कहलाया है, वहाँ यही विकारासङ्गन से प्रातिस्विकरूपेण असंस्पृष्ट रहता

हुआ अविनाशी–अव्यय–अक्षर भावानुबन्धी–'**आत्मा**' शब्द से भी अनुगत होरहा है। अतएव इसकी पारिभाषिकी संज्ञा–'**आत्मक्षर**' ही होगई है, जिसका पारिभाषिक यही अर्थ--समन्वय है कि,–इसीसे क्योंकि–क्षरात्मक–विकारात्मक–विश्वमूलभूत–विश्वसृट्–नामक-क्षर विनिर्गत होते हैं, इसलिए तो (विकारविनिर्गतापेक्षया तो) इसके साथ 'क्षर' शब्द समन्वित होगया है। साथ ही अनन्त–असंख्य–विकारात्मक–क्षरों के (सृष्टिधारा के शाश्वत–चङ्क्रमणानुपात से) निकलते रहने पर भी यह अपने मौलिक-उत्पादक, किंवा योनिस्वरूप से उसी प्रातिस्विक–सनातन–अक्षुण्ण–अविकृतरूप में परिणत रहता है, जैसाकि विकारविनिर्गमन से पहिले। न तो विकारोत्पत्ति से इसके स्वरूप का क्षय ही होता, एवं न विकाराभिवृद्धि से मर्त्यभूतों की भाँति इसमें स्वरूपवृद्धि ही होती। अतएव इसे अविनाशी विश्वात्मा के स्वरूप में ही अन्तर्भूत मान लिया गया है। और इसीलिए विश्वानुबन्धेन 'अपराप्रकृति' रूप से उपवर्णित भी यह आत्मक्षर '**द्वा विमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च**' रूप से–'**पुरुष**' अभिधा से समन्वित होगया है। अतएव च त्रिपुरुष-पुरुषात्मक–षोडशी–नामक–प्रजापति का तृतीय–वाङ्मय स्थान ग्रहण करता हुआ **भूतयोनि-आत्मक्षर-विश्वात्मा** ही प्रमाणित होरहा है। आत्मक्षरानुबन्धी–रहस्यात्मक–पारिभाषिक–'**भूतयोनि**' शब्द इसी रहस्यात्मक समन्वय को अभिव्यक्त कर रहा है।

१५८–"शाश्वतधर्म्म-ऐकान्तिकसुख-अव्यय-अमृत-ब्रह्म"-रूपेण पंचविध-पारिभाषिक तत्त्वों का गीता के माध्यम से दिग्दर्शन—

एक दूसरी पारिभाषिकी दृष्टि से भी आत्मक्षर की **सनातना--आत्मधर्म्मता** का समन्वय कीजिए। **शुद्धरसमूर्त्ति निर्विशेष तत्त्व** गीतापरिभाषा में '**ऐकान्तिकसुख**' नाम से, **सर्वबलविशिष्ट--रसात्मक परात्परतत्त्व--'शाश्वतधर्म्म**' नाम से, **गूढोत्मा-पुरुषतत्त्व 'अव्यय**' नाम से, **पराप्रकृतिरूप--अक्षरतत्त्व 'अमृत**' नाम से, एवं **अपराप्रकृतिरूप--आत्मक्षरतत्त्व--'ब्रह्म**' नाम से व्यवहृत हुआ है। वस्तुस्थिति यही है कि, षोडशी-पुरुषात्मक जिस परमप्रजापति का तालिकारूपेण पूर्व में यशोगान हुआ है, उसके [1]**निर्गुणात्मक--निष्कल--परात्परपुरुषाव्यय**, [2]**अव्यय**, [3]**अक्षर**, [4]**आत्मक्षर**, इन चार महिमात्मक विवर्त्तों का भी तत्रैव तालिकारूपेण स्पष्टीकरण हुआ है (देखिए पृ० १५१)। इन चारों परमप्रजापति–विवर्त्तों में से सर्वादिभूत–निर्गुण–निष्कल–परात्पर पुरुषाव्ययरूप प्रथम विवर्त्त के ही गीताने **शुद्धरस**, एवं **सर्वविलविशिष्टरस**–रूप से अवान्तर दो महिमा–विवर्त्त मान लिए हैं, जोकि वेदशास्त्र में जहाँ--**निर्विशेष**, तथ **परात्पर**–नाम से व्यवहृत हुए हैं, वहाँ गीताशास्त्र में निष्कल परात्परव्यय के ये ही दोनों विवर्त्त क्रमशः **ऐकान्तिकसुख (शुद्धरसात्मक--निर्विशेष)**, एवं **शाश्वतधर्म्म (सर्वबलविशिष्ट--रसात्मक परात्पर)**--नामों से संगृहीत होगए हैं। और यों तत्तालिका के परमप्रजापत्युनबन्धी चार विवर्त्तों के ही पाँच विवर्त्त होजाते हैं। फलतः पूर्वापरात्मक दोनों विभिन्न दृष्टिकोण व्यवच्छेदात्मक–इस तत्त्वमीमांसन से निर्विरोध समन्वित होजाते हैं। आधिदैविकसंस्था के ये चारों, किंवा पाँचो परमप्रजापतिविवर्त्त ही मानव की आध्यात्मिकी–संस्था के परमप्रजापतिविवर्त्तों की मूलप्रतिष्ठा बने रहते हैं–अंशाशी-भावानुबन्ध से। मानव उस अंशी आधिदैविक–परमप्रजापति का ही तो आध्यात्मिक-अंशरूप परमप्रजापति है, जैसाकि–**पुराणपुरुष भगवान् व्यास** के '**अंशो नानात्वात्**' इत्यादि सूत्रसिद्धान्त से स्पष्ट है। गीताशास्त्र ने निरतिशया रहस्यभाषा में निम्न लिखितरूपेण मानव के अध्यात्मानुगत पाँचों अंशात्मक–परमप्रजापति विवर्त्तों की प्रतिष्ठा आधिदैविक–परमप्रजापति के अंशीरूप पाँचों विवर्त्तों को ही बतलाया है।

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्यं च ॥
शाश्वतस्य च धर्म्मस्य सुखस्यैकान्तिस्य च ॥

—गीता १४।२७।

१–शाश्वतधर्म्मः——शुद्धरसमूर्त्तिः–निर्विशेषः
२–एकान्तिकसुखम्——सर्वबलविशिष्टरसात्मकः–परात्परः } - निष्कलः-परात्परपुरुषः(१)१
३–अव्ययः————पञ्चकलो गूढोत्मा——अव्ययः } —अव्ययः-पञ्चकलः (५)–२
४–अमृतम्————पराप्रकृतिरूपः———अक्षरः } —अक्षरः-पञ्चकलः (५)–३
५–ब्रह्म————अपराप्रकृतिरूपः——आत्मक्षरः } —आत्मक्षरः-पञ्चकलः(५)-४
(१–४ : परमप्रजापतिः)

१५९–प्रासङ्गिक-गीतोद्धरण से अनुगत जन्म-स्थिति-भङ्ग-मूलक पारिभाषिक-विजिज्ञास्य 'ब्रह्म', और तद्रूप "आत्मक्षर"—

तथोक्त प्रासङ्गिक गीतोद्धरण से प्रकृत में अभीष्ट यही है कि, परमप्रजापति के पाँचवें, किंवा चौथे 'भूतयोनि' रूप आत्मक्षर का एक पारिभाषिक नाम 'ब्रह्म भी है, जो आत्मक्षरानुबन्धी 'ब्रह्म' शब्द अपने उपादानधर्म्म से विश्व का प्रभव–प्रतिष्ठा–परायण–बनता हुआ विश्व के जन्म–स्थिति–भङ्ग–भावों का प्रवर्त्तक प्रमणित होरहा है, जिसका कि–"**अथातो ब्रह्मजिज्ञासा–जन्माद्यस्य–यत––तत्तु समन्वयात्–शास्त्रयोनित्त्वात्**" इस सुप्रसिद्धा सूत्रचतुष्टयी से स्वरूप–विश्लेषण हुआ है। वेदान्तसूत्रचतुष्टयी का जन्मस्थितिभङ्गप्रवर्त्तक–तत्त्वसमन्वयात्मक (रासायनिक––सम्मिश्रणाधारभूत)–शब्दशास्त्र के द्वारा प्रतिपादन-योग्य–आत्मक्षररूप–ब्रह्म ही तो बन सकता है।

१६०–भूतयोनि-स्वरूप-आत्मक्षर से अनुप्राणिता क्षरनिबन्धना 'अपराविद्या' का संस्मरण, एवं तदनुगत–"तस्मादेतत्-ब्रह्म, नामरूप-मन्नं च जायते" का समन्वय–

भूतयोनि-स्वरूप-आत्मक्षर ही 'शास्त्रयोनि' का लक्ष्य बन सकता है। कारण स्पष्ट है। सनत्कुमार, और नारद के प्रश्नोत्तर–विमर्श–प्रसङ्ग में उपनिषच्छास्त्रने हीं यह स्पष्ट कर दिया है कि–निगमागमपुराण–स्मृतिदर्शनादि–प्रक्रम-भेदभिन्न शब्दात्मक शास्त्र **अपराविद्या** से ही समन्वित है। अपराविद्या **अपराप्रकृति-रूपा आत्मक्षर-निबन्धना क्षरविद्या**, किंवा **विश्वविद्या** ही है। वह **पराविद्या** तो **अक्षरविद्या** है, जहाँ शब्दशास्त्र की गति अवरुद्धा है। पराप्रकृतिरूप-अक्षर से सम्बन्ध रखने वाली पराविद्या तो गुरुमुखमाध्यमानुगता–स्वानुभवैकगम्या विद्या ही है, जिसे कदापि शब्द के द्वारा यथावत् व्यक्त नहीं किया जासकता––'**अथ–परा, यया तदक्षरमधिगम्यते**' (मुण्डकोपनिषत् १।१।५।)। स्पष्ट है कि -**अपराप्रकृतिरूपा-आत्मक्षरनिबन्धना-अपराविद्यात्मिका-विश्वविद्या**, एवं तदभिन्न–'**आत्मक्षरब्रह्म**' नामक भूतयोनिरूप परिभाषिक '**ब्रह्म**' के साथ ही तो–जन्मादिस्थितिभङ्गभाव समन्वित होसकते हैं, एवं तदनुबन्धेनैव–शास्त्रयोनित्त्व समन्वित होसकता है।

और शब्दशास्त्र के द्वारा प्रतिपादित–उपादानकारणात्मक–आत्मक्षररूप–वह पारिभाषिक–'ब्रह्म' ही वह 'ब्रह्म' है, जिसकी अभिव्यक्ति पराविद्यात्मक-अक्षर से ही मानी गई है, एवं जिसका—**'तस्मादेतत्–'ब्रह्म'–'नामरूप'–मन्नं–च जायते'** (मुण्डकोपनिषत् १।१।६) इत्यादिरूप से स्पष्टीकरण हुआ है ।

१६१–गत्यात्मक प्राण से अनुप्राणित-'क्रिया'-तत्त्व, तत्समष्टिरूप पारिभाषिक-'कर्म्म'-तत्त्व, एवं विसर्गात्मक-प्राणरूप-कर्म्म का स्वरूप-समन्वय-प्रयास—

भौतिक–क्षरधर्म्मा–परिवर्त्तनशील-विश्व का सुप्रसिद्ध नाम है-**'संसार'**, जिसका एकमात्र अर्थ है-**संसरणशीलात्मक–वह गतिभाव,** जिन गतिभावों के प्रक्रम–अभिक्रमात्मक–व्यूहनों से ही संसरणशील–गतिधर्म्मा विश्व का स्वरूप–अभिव्यक्त हुआ है । गत्यात्मक यह कर्म्म ही विश्व का स्वरूप-परिचय है । इसी गतिभाव के कारण इस विश्व में समष्टि-व्यष्टि-रूप से अव्यक्त-व्यक्त-अव्यक्त-रूपेण उच्चावच परिवर्त्तन होते रहते हैं । इसीलिए प्रतिक्षण–विलक्षण-भावापन्न-नवनवभावान्वित-परिवर्त्तन ही लोकव्यवहार में संसार का स्वरूप माना जारहा है । और यों पाञ्चभौतिक महाविश्व समष्टि, तथा व्यष्टिरूप से उभयथा-'कर्म्म' रूप ही प्रमाणित होरहा है, जिस इस अपरिहार्य्य **क्रियात्मक,** किंवा **गत्यात्मक,** किंवा **गति-आगत्यात्मक,** किंवा **विज्ञानभाषानुसार विसर्गात्मक** * **प्राणरूप कर्म्म** को लक्ष्य बना कर ही भगवान् ने कहा है—

> **न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्म्मकृत् ।**
> **कार्य्यते ह्यवशः कर्म्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥**
> —गीता ३।५।

१६२–'भूतभावोद्भवकर'-रहस्यपूर्ण-'तत्त्व', एवं तदनुबन्धी-'विसर्गः-कर्म्म-संज्ञितः'-इत्यादि गीतावचन का संस्मरण—

अत्रैव किञ्चिद्-विशेषरूपेण-अवधेयम् । अपने मौलिक विसर्गधर्म्म से विश्वानुगत विविध-सर्गों-सृष्टियों का, भूतभौतिक पदार्थों का सर्जक बने रहने से ही यह विसर्गात्मक कर्म्म-तत्त्व **'भूतभावोद्भवकर'** नाम से भी प्रसिद्ध होरहा है, जिसका स्पष्टतम अक्षरार्थ है—**'भूतभावों को उद्भूत-उत्पन्न-करने वाला'** । प्राणगति का सहज स्वरूप है-केन्द्र से मण्डल की ओर केन्द्रस्थ उक्थात्मा से रश्मिरूपेण विस्रंसन । प्रेति (गच्छति) का **'प्र'** भाव ही-**'प्राण'** की स्वरूप-परिभाषा है । अतएव विस्रंसन-रूप–क्षरधर्म्मा–गमन–त्याग–भाव ही क्रियात्मक प्राण का मौलिक स्वरूप प्रमाणित होजाता है । वही गत्यात्मक प्राण क्रियारूपेण * अन्ततोगत्वा-**'कर्म्म'** रूप में परिणत होजाताहै । अव्यक्तरूपा-सुप्तावस्था में यही बलात्मक गतिधर्म्मा प्राण **'बल'** कहलाया है, कुर्वद्रूपावस्था–लक्षणा जागरूकावस्था में यही प्राण–**'प्राण'** कहलाया है, एवं-निर्गच्छदवस्था में यही प्राण–**'क्रिया'** कहलाया है, जिसके धारावाहिक संघात से ही अन्ततोगत्वा–सिद्धावस्थापन्न–**'कर्म्म'** का स्वरूप सम्पन्न होता है । इसी तथ्य को लक्ष्य बना कर–**'विसर्गः कर्म्म–संज्ञितः'** रूपेण भूतभावोद्भवकर इस

> ***–गुणभूतैरवयवैः समूहः क्रमजन्मनाम् ।**
> **बुद्ध्या प्रकल्पिताभेदः–'क्रिये'-ति व्यपदिश्यते ॥**
> —वाक्यपदी

गत्यात्मक, बलानुबन्धी विसर्गभाव को ही भगवान् ने मूलपरिभाषा-दृष्ट्या **'कर्म्म'**-संज्ञा प्रदान कर दी है, इत्यहो महत्कौशलं-गीताशास्त्रस्य ।

१६३-तेजोधर्म्मा प्राणाग्नि, एवं स्नेहधर्म्मा प्राणसोम के रासायनिक-सम्मिश्रण से अनुगत-यज्ञात्मक-कर्म्म का पारिभाषिक-समन्वय, एवं-'यज्ञः कर्म्मसमुद्भवः' इत्यादि-गीतावचन का संस्मरण—

'विसर्ग' शब्द अपनी सापेक्षता से नित्य **आदानसापेक्ष** ही प्रमाणित होरहा है। क्योंकि विसर्ग का निश्चित परिणाम आदान ही है। जिस वस्तुतत्त्व का विसर्गात्मक निर्गमन होता है, वह माना गया है केन्द्र प्रतियोगिक-परिध्यनुयोगिक **तेजोधर्म्मा प्राणाग्नि**। एवं जिस वस्तुतत्त्व का आदानात्मक आगमन होता है, वह माना गया है केन्द्रानुयोगिक-परिधि-प्रतियोगिक **स्नेहधर्म्मा-प्राणसोम**। विसर्ग होता है प्राणाग्नि का, एवं आदान होता है प्राणसोम का, यही वक्तव्य-निष्कर्ष है। इस आदानविसर्गात्मिका प्रक्रिया का सहज अर्थ है- **'अग्नौ सोमाहुतिः'--दाहके-दाह्याहुतिः'**। और इसी अग्नीषोमात्मिका-विसर्ग-ग्रहणात्मिका, किंवा विसर्गा-दानात्मिका सहज प्रक्रिया का नाम है-**'यज्ञ'**। इसप्रकार स्नेहधर्म्मा प्राणसोमात्मक आदानधर्म्म के माध्यम से तेजोधर्म्मा प्राणाग्निरूप विसर्गात्मक कर्म्म ही यज्ञस्वरूप का जनक बनता हुआ **'भूतभावोद्भवकर'** नाम को चरितार्थ कर रहा है, जिस इस रहस्य को लक्ष्य में रख कर ही कर्म्मकौशल-व्यवस्थापक भगवान् ने कहा है- **'यज्ञः कर्म्मसमुद्भवः'**।

१६४-प्राणात्मक गतितत्त्व के विभूतिभावों का दिग्दर्शन—

विसर्गात्मक-गत्यात्मक-यज्ञस्वरूपोद्भावक-कर्म्म ने यज्ञ के द्वारा विश्व, तथा विश्वप्रजा को उत्पन्न कर अपने **'भूतभावोद्भवकर'** नाम को चरितार्थ कर लिया *। प्रश्न अब इस सम्बन्ध में यही उपस्थित है कि, केवल-आदान--सापेक्ष-विसर्ग-मात्र से, किंवा तदनुबन्धी प्राणाग्नि-प्राणसोमात्मिका यज्ञप्रक्रिया-मात्र से ही प्राणात्मक कर्म्म का सर्वाङ्गीण समन्वय सम्भव नहीं बन रहा तबतक, जबतक कि इस आदान-विसर्ग-रूपा कर्म्मात्मिका यज्ञस्वरूपसम्पादिका क्रिया का कोई मौलिक स्थितिधर्म्मा आधार नहीं मान लिया जाता। वही स्थितिभाव सङ्केतभाषा में—**'प्राणमूर्त्तिब्रह्मा'** कहलाए हैं, तदाधारेण प्रतिष्ठित-विशुद्ध विसर्गभाव ही वाङ्मूर्त्ति-इन्द्र कहलाए हैं, एवं विशुद्ध-आदानभाव ही आपोमूर्त्ति विष्णु कहलाए हैं।

१६५-प्राणात्मक-गतितत्त्व से अनुगत पंचात्मक-विश्वसृट्-रूप पंचतन्मात्रा-भावों के चिरन्तन-इतिवृत्त का संस्मरण—

स्थितिभावापन्न प्राणात्मक ब्रह्मा के आधार पर प्रतिष्ठिता विशुद्धा गति जहाँ इन्द्र है, वहाँ यही गति स्थिति-गर्भिता बनती हुई **'अग्नि'** रूप में परिणत होजाती है। एवमेव ब्रह्माधारेण प्रतिष्ठिता विशुद्धा आगति जहाँ विष्णु है, वहाँ यही स्थितिगर्भिता बनती हुई-**'सोम'** रूप में परिणत होजाती है। स्वयं स्थितिरूप ब्रह्मा भी गतिसमष्टि के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यों एक ही गत्यात्मक-प्राणात्मक-विसर्गात्मक-कर्म्म तत्त्व

---

*-भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्म्म-संज्ञितः ।
—गीता ८।३।

[1]गतिसमष्टि-[2]विशुद्धा-आगति-[3]विशुद्धा-गति-[4]स्थितिगर्भिता-गति--[5]स्थितिगर्भिता-आगति-भेदेन-[1]प्राणात्मक ब्रह्मा,--[2]अबात्मक विष्णु--[3]वागात्मक इन्द्र,--[4]अन्नादात्मक-अग्नि--[5]अन्नात्मक सोम-रूपेण पञ्चविध-महिमाभावों में परिणत होजाता है, होरहा है, और यही विसर्गात्मक-'**कर्म्म**' का पञ्चपर्वात्मक वह चिरन्तन-इतिवृत्त है, जिस इस पञ्चात्मक '**कर्म्म**' का ही वैज्ञानिक-पारिभाषिक-नाम है-'**विश्वसृट्**', जिसे '**विकारक्षरात्मक-गुणभूतरूप-पञ्चतन्मात्राभाव**' कहा गया है पूर्वप्रसङ्गों में ।

१६६-पंचात्मक-विसर्गरूप पारिभाषिक-'कर्म्म', एवं तन्निबन्धना 'ब्रह्म'-अभिधा का समन्वय, तथा तदनुगत पारिभाषिक-वचनों का संस्मरण —

अब प्रासङ्गिक प्रश्न यह उपस्थित होपड़ता है-स्वतः ही कि-जिस प्रकार यज्ञ का उत्पादक-पञ्चात्मक-विसर्गरूप-'**कर्म्म**', किंवा विश्वसृट् नामक-विकारक्षर, किंवा गुणभूत, किंवा पञ्चतन्मात्रा है, तथैव इस कर्म्म का प्रवर्त्तक कौन ?, एवं क्यों, और कैसे गतिप्राणात्मक कर्म्म पञ्चात्मक-(पञ्चकल) बन गया ? । सहजभाषा में इस प्रश्न का यों भी अभिनय किया जासकता है कि, भूतभावोद्भवकर कर्म्म का उत्पादक, किंवा उपादान कारण कौन ? । उत्तर-वही तो होगा, जो भूतभावोद्भवकर की योनि होगा, एवं जिसे इसी अनुबन्ध से 'भूतयोनि' कहा जायगा, और वह होगा प्रक्रान्त यज्ञोमूर्त्ति वही-**आत्मक्षर**, जिसकी पारिभाषिकी-जन्मादि मूला-'**ब्रह्म**' अभिधा के प्रसङ्ग से ही यह प्रासङ्गिकी '**कर्म्म**' चर्चा भी मध्ये एव प्रक्रान्ता होपड़ी है । अर्थात् आत्मक्षररूप भूतयोनिर्लक्षण ब्रह्म ही तथाविध कर्म्मपञ्चक का स्वरूपोद्भावक है । इसी क्रमसिद्ध तथ्य को लक्ष्य बनाते हुए भगवान् ने कहा है—"**कर्म्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि**" । **अर्थात् 'ब्रह्म' से ही कर्म्म समुद्-भूत हुआ है ।**

१६७-आत्मक्षरानुगत पारिभाषिक-'ब्रह्म' से अनुप्राणिता स्थिति का "यज्ञ-कर्म्म-ब्रह्म-अक्षर"-रूपेण शब्दचतुष्टयी के माध्यम से स्पष्टीकरण, एवं तन्निबन्धना अत्यन्त-रहस्यपूर्णा-गीतानुगता-'श्लोकद्वयी' का संस्मरण —

अब वह प्रासङ्गिक-प्रश्न भी स्वतः ही समाहित है कि-ब्रह्म किससे अभिव्यक्त हुआ ? । कर्म्मात्मक विश्वसृट् की सम्भूति यदि तत्पूर्व के **आत्मक्षररूप-'ब्रह्म'** से हुई है, तो निश्चयेन इस आत्मक्षररूप ब्रह्म की सम्भूति का आधार वह '**अमृताक्षर**' ही है, जो स्वाधार पर बल के द्वारा आत्मक्षराभिव्यक्ति का कारण बना हुआ है । सहजसिद्ध, अतएव विज्ञानसम्मत इसी तथ्य को लक्ष्य बना कर भगवान् ने कहा है-'**ब्रह्माक्षर-समुद्भवम्**', जिसका स्पष्टतम अक्षरार्थ यही है कि, '**ब्रह्म' नामक आत्मक्षर की सम्भूति 'अक्षर' से ही हुई है** । दार्शनिक, और साम्प्रदायिक व्याख्याताओं से यह प्रश्न करने की धृष्टता कर लेना भी अप्रासङ्गिक नहीं माना जायगा कि, क्या यहाँ का-'**ब्रह्म**' शब्द उनका काल्पनिक-निर्विशेष-ब्रह्म है ? । विज्ञानसिद्धा-पारम्परिकी वैदिक-परिभाषाओं के, तथा पारिभाषिक-शब्दों के पारिभाषिक तत्त्वार्थसमन्वय की अभिभूति का ही यह दुष्परिणाम है कि, आज विज्ञानप्रधान उपनिषच्छास्त्र, तथा तत्स्वरूपोपबृंहक गीताशास्त्र जैसे अपूर्व शास्त्र भी परिभाषा-बोधशून्य-दार्शनिक-व्याख्याताओं, तथा साम्प्रदायिक व्याख्याताओं के अभिनिवेश से अपने मौलिक-पारिभाषिक-समन्वय से एकान्ततः ही पराःपरावत प्रमाणित होगए हैं । उदाहरण के लिए **यज्ञ, कर्म्म, ब्रह्म, अक्षर**, इन चारों पारिभाषिकी सम्भूति-परम्पराओं का रहस्यात्मक-स्वरूप विश्लेषण करने वाले गीताशास्त्र के

निम्न लिखित उन दो श्लोकों की ओर ही हम पाठकों का ध्यान आकर्षित करेंगे, जिनके माध्यम से यदि पाठक उपलब्ध यच्चयावत् गीताव्याख्याओं को सम्मुख रख लेंगे, तो उन्हें स्वतः ही नीरक्षीरविवेक कर लेना पड़ेगा, और अपने अन्तर्जगत् में स्वतः ही यह अनुभव कर लेना पड़ेगा कि, सचमुच दार्शनिक और साम्प्रदायिक-अभिनिवेश के दुष्परिणाम-स्वरूप ही भारतराष्ट्र की ज्ञानानुगता वह विज्ञानविभूति विगत त्रि सहस्र-वर्षात्मक-व्याख्यादोष से अभिभूत ही होती आरही है, जिसके अभिभव से ही हमारी विज्ञानसिद्धा, अतएव अभ्युदय-निःश्रेयस-संसाधिका आचारनिष्ठात्मिका कर्त्तव्यनिष्ठा तो त्रिसहस्रवर्षों से होती आरही है उत्तरोत्तर अभिभूत, एवं तत्स्थाने च शून्य-तत्त्व-विजृम्भणात्मिका-दुःखैकसारा-कर्म्मशून्यता बनती आरही है उत्तरोत्तर प्रमुख, जिसके अनुग्रह से ही आचारनिष्ठात्मक-कर्त्तव्यकर्म्म जैसा विज्ञानसिद्ध, भी, अभ्युदय-निःश्रेयस-संसाधक 'धर्म्म' जैसा सनातन-शाश्वत तत्त्व भी दुर्भाग्यवश आज 'निरपेक्ष ही प्रमाणित कर दिया है हमारे सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र भी भारतराष्ट्र ने, जिससे बड़ा सांस्कृतिक-अधःपतन और कुछ भी तो नहीं होसकता, इत्यालप्यालमेव। वे हैं ये गीताशास्त्र के सुप्रसिद्ध दो श्लोक, जिनके माध्यम से तथोक्त नीरक्षीरविवेक सर्वात्मना नहीं, तो अंशतः तो सम्भावित है ही—

अन्नाद्-भवन्ति भूतानि, पर्ज्जन्यादन्नसम्भवः ॥
यज्ञाद्भवति पर्ज्जन्यः, यज्ञः कर्म्म समुद्भवः ॥१॥
कर्म्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि, ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ॥
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥२॥

—गीता ३।१४,१५, * ।

१६८—कर्म्मपञ्चकरूप-विकारक्षरपञ्चक के आदान-विसर्ग से अनुगता वृद्धि-ह्रास-परम्पराओं से असंस्पृष्ट 'आत्मक्षर'—लक्षण 'ब्रह्म' की नित्यमहिमा का श्रुति के द्वारा समन्वय—

हाँ, तो अब उक्त सन्दर्भ से यह स्पष्ट होगया है कि, विश्वापेक्षया-उपादान—कारणात्मक, भूतभौतिक-प्रपञ्चों के जन्म-स्थिति-भङ्ग—भावों का मूलप्रवर्त्तक विजिज्ञास्य—'ब्रह्म' परमप्रजापति का तृतीय-त्रिवृद्वाङ्मय-अपराप्रकृतिरूप-अतएव शास्त्रयोनिरूप, अतएव 'भूतयोनि' रूप से उपस्तुत-उपवर्णित—'आत्मक्षर' ही है। 'विसर्गात्मक-कर्म्म' रूप-विश्वसृट् नामक-भूतभावोद्भवकर-असंख्य-अनन्त-विकारक्षरपञ्चक इससे सतत विनिर्गत होते रहते हैं। किन्तु इस **कर्म्मपञ्चकरूप-विकारक्षरपञ्चक** के विनिर्गमन से न इसकी क्षति होती, नैव तत्प्रसूत धामच्छद विश्व से इस के मौलिक स्वरूप कीभूतवत् आयतनवृद्धि ही होती। अतएव भूतयोनि बने रहने पर भी इस आत्मक्षररूप 'ब्रह्म' को आत्मकोटि में अन्तर्भुक्त मानते हुए हम इसे भी अव्ययाक्षरवत्—भूतासंस्पृष्ट ही मानेंगे। और यही अत्यन्त-रहस्यपूर्ण, अतएव नितान्त अवधेय पूर्वप्रतिज्ञात-'भूतयोनि' शब्द का आत्मक्षरानुबन्धी-तात्त्विक संक्षिप्त—स्वरूपेतिवृत्त-समन्वय मान लिया जायगा, जिसका आगे उद्धृत श्रुति के शब्दों में हीं स्पष्टीकरण होरहा है—

———

* विस्तार के लिए देखिए—**गीताविज्ञानभाष्यान्तर्गत**—उक्त श्लोकद्वयी का तात्त्विक—स्वरूप-समन्वय।

तदेतत्- ऋचाभ्युक्तम्—
एष-नित्यो महिमा ब्रह्मणो न कर्म्मणा वर्द्धते,नो कनीयान् ।
तस्यैव स्यात्-पदवित्तं विदित्वा न लिप्यते कर्म्मणा पापकेन ॥
—बृहदारण्यकोपनिषत् ४।४।२३ ।

१६६-'भूतम्' से अनुगत-भूतेश, भूतभावन, भूतयोनि-नामक-अव्यय-अक्षर-आत्मक्षर-विवर्त्तों का पारिभाषिक-स्पष्टीकरण, एवं भूतनिबन्धन-'पञ्चतत्त्व' से अनुप्राणित भारतीय 'तत्त्ववाद' का रहस्यात्मक स्वरूप-समन्वय-प्रयास, और तत्सम्बन्ध में प्रतीच्या-धारणा का नीरक्षीरविवेक—

'भूतम्' से सम्बन्ध रखने वाली प्रासङ्गिकी विप्रतिपत्ति के अनुबन्ध से ही परमप्रजापति के [1]अव्यय--[2]अक्षर--[3]आत्मक्षर--नामक [1]मनः--[2]प्राण--[3]वाङ्मय--तीनों आत्मविवर्त्तों से क्रमशः अनुप्राणित [1]भूतेश, [2]भूतभावन, [3]भूतयोनि इन तीन विशेषणों में पठित 'भूत' शब्द का विभूति-योग-बन्ध-नामक—सुप्रसिद्ध तीन अनुबन्धों के माध्यम से समन्वयात्मक निराकरणप्रयास प्रक्रान्त है । जिसके आधार पर अब हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि—परमप्रजापति के तथोक्त तीनों आत्मविवर्त्तों के साथ समन्वित—'भूत' शब्द भावात्मक बनते हुए आत्मसीमा में हीं अन्तर्भुक्त हैं । अतएव इन तीनों आत्मविवर्त्तों को हम 'एक ही आत्मा' कहेंगे, जैसा कि—'त्रयं सदेकमयमात्मा'-'आत्मा उ एकः सन्नेतत्त्रयम्' (शतपथ ब्रा० १४ काण्ड) से स्पष्ट है । अतएव भूतानुबन्धी बहुत्व, तथा तन्निबन्धना योगजता से परमप्रजापति को, और उसके ऐतदात्म्यरूप तीनों आत्मविवर्त्तों को असंस्पृष्ट ही माना जायगा । फलतः भूतानुबन्धिनी बहुरूपता, तथा तदाधारभूता मौलिकतत्त्वरूपता का आरम्भ—प्रतिमाप्रजापति के उपक्रमात्मक उस विश्वसृट् नाम विकारक्षर को ही माना जायगा, जिसे 'गुणभूत' एवं 'पञ्चतन्मात्रा' नाम से भी पूर्व में व्यवहृत किया गया है । भौतिक विश्व की दृष्टि से ये 'पञ्चतन्मात्रा' ही भारतीय विज्ञानकाण्ड के सुप्रसिद्ध वे अवि-भाज्य 'तत्त्व' (मौलिक विशुद्ध-तत्त्व) हैं , जिनके आधार पर भारतीय विज्ञानशास्त्र में—'पञ्चतत्त्ववाद' सुप्रतिष्ठित है, जिस इस विकारक्षरात्मक—पञ्चतत्त्व के पञ्चीकरण से अभिव्यक्त होने वाला पञ्चात्मक—अतएव विकारक्षरदृष्टया—योगज 'पञ्चजन' नामक दूसरा प्रक्रम ही सम्भवतः वर्त्तमान विज्ञानदृष्टया—'तत्त्व' बना हुआ है, जिन्हें 'अणुभूत' कहा गया है, एवं जो कि—'परमाणु' नाम से भी व्यवहृत होसकते हैं । इनके पुनः पञ्चीकरण से जो तीसरा पञ्चक अभिव्यक्त होता है, वही 'पुरञ्जन' नाम से प्रसिद्ध है, जोकि—'रेणुभूत', एवं 'त्रसरेणु' कहलाया है । पञ्चपञ्चीकृत—इन पाँचों पुरञ्जनों के पुनः पञ्चीकरण से सर्वात्मक जो—'पञ्चपुर' अभिव्यक्त होते हैं, उन्हीं का नाम है-'पञ्चमहाभूत', जिनकी महाभूतोपाधि ही योगजता स्पष्ट कर रही है । सर्वथैव योगज भी ये पञ्चपुरात्मक—पञ्चमहाभूत प्रजासर्गात्मक—सत्त्वों (जड़—चेतन—प्राणीरूप—

प्रतिमानभावों) के क्योंकि उपादानात्मक कारण बनते हैं, अतएव पूर्वोक्ता कारण--कार्य्य--सापेक्षतात्मिका-तत्त्व-योगज-शब्दात्मिका परिभाषा के अनुबन्ध से कार्य्यरूप, अतएव योगज स्थूल-सत्त्वभूतों (भौतिक-पञ्चात्मक-शरीरों) की अपेक्षा तत्कारणभूत-योगज भी महाभूतों को-'तत्त्व' कहा जासकता है। और यही भारतीय-पञ्चतत्त्ववाद का अथ-मे इति पर्य्यन्त वह चिरन्तन इतिवृत्त है, जिस इस पारिभाषिक रहस्य-पूर्ण-पञ्चतत्त्वसिद्धान्तेतिवृत्त के स्पर्शलेश से भी वञ्चित जो आज का स्थूलभूतवादी, अधिक से अधिक त्रसरेणु-परमाणुवादी प्रतीच्य-जगत् भारतीय-परिभाषाओं से अपरिचित बने रह जाने के कारण ही यों भारतीय-पञ्चतत्त्ववाद के सम्बन्ध में अनर्गल-प्रलाप-अभिव्यक्त कर रहा है, तत्सम्बन्ध में तो कवि की निम्नलिखिता लोकप्रसिद्धा सूक्ति का संस्मरण कर लेना हीं पर्य्याप्त मान लिया जायगा कि—

न हि स्थाणोरपराधोऽयं यदन्धो नैनमीक्षते ।
चक्षुर्दोषादुलूकोऽयं सूर्य्यज्योतिर्न पश्यति ॥

इसी सम्बन्ध में हम कतिपय वैसे परिलेख उद्धृत कर देना भी आवश्यक समझ रहे हैं, जिनके माध्यम से पञ्चतत्त्वानुगता पूर्वोक्ता प्रासङ्गिकी चर्चा का सर्वात्मना नहीं, तो अंशतः तो समन्वय हो ही जाता है। अत्यन्त अवधानपूर्वक ही इन पारिभाषिक परिलेखों पर दृष्टि-निक्षेपानुग्रह होना चाहिए।

१७०-(१)-तत्त्वानुगतस्य-योगजभावस्य--अमृतसत्यात्मकस्य-परम-प्रजापतेर्वा-प्रथमं-सोपानम्—

***-निष्कलः-परात्परात्पराव्ययः } अविभाज्यतत्त्वम् (१)**

१-आनन्दाव्ययः-प्रथमा कला
२-विज्ञानाव्ययः-द्वितीया कला
३-मनोऽव्ययः-तृतीया कला
४-प्राणाव्ययः-चतुर्थी कला
५-वागव्ययः-पञ्चमी कला

-भावात्मकाः--पञ्च-योगजभावाः (५)
ततः
भावसृष्टिः-मानसी-सृष्टिर्वा

१

* * *

१७१–(२)–तत्त्वानुगतस्य–योगजगुणस्य–अमृतसत्यात्मकस्य-परम-प्रजापतेर्वा–द्वितीयं–सोपानम्—

*–पञ्चकलोऽव्ययपुरुषः-सकलः } अविभाज्यतत्त्वम् (१)

१–अमृतब्रह्माक्षरः–प्रथमा कला
२–अमृतविष्णवक्षरः-द्वितीया कला
३–अमृतेन्द्राक्षरः–तृतीया कला
४-अमृतसोमाक्षरः–चतुर्थी कला
५–अमृताग्न्यक्षरः–पञ्चमी कला

–गुणात्मकाः-पञ्च-योगजभावाः (५)
गुणसृष्टिः-प्राणसृष्टिर्वा

२

* * *

१७२–(३)–तत्त्वानुगतस्य-योगजविकारस्य-अमृतसत्यात्मकस्य-परम-प्रजापतेर्वा–तृतीयं–सोपानम्—

*–पञ्चकलोऽक्षरपुरुषः-सगुणः } अविभाज्यतत्त्वम् (१)

१–मर्त्यब्रह्मात्मक्षरः-प्रथमा कला
२–मर्त्यविष्णवात्मक्षरः-द्वितीयाकला
३–मर्त्येन्द्रात्मक्षरः–तृतीया कला
४–मर्त्यसोमात्मक्षरः–चतुर्थी कला
५–मर्त्याग्न्यात्मक्षरः–पञ्चमी कला

–विकारात्मकाः-पञ्च-योगजभावाः
विकारसृष्टिः-वाक्सृष्टिर्वा

३

* * *

१७३-(४)-तत्त्वानुगतस्य-योगजाञ्जनस्य-ब्रह्मसत्यात्मकस्य प्रतिमा-प्रजापतेर्वा-चतुर्थ-सोपानम्—

*-पञ्चकलः-आत्मक्षरः-सविकारः } अविभाज्यतत्त्वम्

१-अपञ्चीकृतः-प्राणः-शब्दतन्मात्रात्मकः
२-अपञ्चीकृताः-आपः-स्पर्शतन्मात्रात्मिकाः
३-अपञ्चीकृता-वाक्-रूपतन्मात्रात्मिका
४-अपञ्चीकृतं-अन्नम्-रसतन्मात्रात्मकम्
५-अपञ्चीकृतः-अन्नादः-गन्धतन्मात्रात्मकः

—अञ्जनात्मकाः-पञ्च-योगजभावाः वैकारिकसृष्टिः-तत्त्वसृष्टिर्वा

४

* * *

१७४-(५)-तत्त्वानुगतस्य-योगजावरणस्य-ब्रह्मसत्यात्मकस्य-प्रतिमा-प्रजापतेर्वा-पञ्चमं-सोपानम्—

*-पञ्चकलः-विकारक्षरः-(विश्वसृट्)-साञ्जनः } अविभाज्यतत्त्वम्

१-पञ्चीकृतः-प्राणः-सर्वगर्भितः-प्राण एव
२-पञ्चीकृताः-आपः-सर्वगर्भिताः-आप एव
४-पञ्चीकृता-वाक्-सर्वगर्भिता-वाक्
५-पञ्चीकृतं-अन्नम्-सर्वगर्भितं-अन्नम्
३-पञ्चीकृतः-अन्नादः-सर्वगर्भितः-अन्नादः

—आवरणात्मकाः-पञ्च-योगजभावाः वैकारिकसर्गः-योगजसृष्टिर्वा

५

* * *

१७५-(६)-तत्त्वानुगतस्य-योगजावरणस्य-ब्रह्मसत्यात्मकस्य-प्रतिमाप्रजापतेर्वा षष्ठं-सोपानम्—

* -पञ्चीकृतः-वैकारिकश्चरः-(पञ्चजनः)-सावरणः } अविभाज्यतत्त्वम्

१—पञ्चपञ्चीकृतः-प्राणः (वेदाः)
२—पञ्चपञ्चीकृताः-आपः (लोकाः)
३—पञ्चपञ्चीकृता वाक् (देवाः)
४—पञ्चपञ्चीकृतं--अन्नम् (पशवः)
५—पञ्चपञ्चीकृतः-अन्नादः (भूतानि)

} आवरणात्मकाः-पञ्च-योगजभावाः भूतसर्गः-यौगिकी-सृष्टिर्वा

६

* * * *

१७६-७-तत्त्वानुगतस्य-योगजावरणस्य-ब्रह्मसत्यात्मकस्य-प्रतिमा-प्रजापतेर्वा सप्तमं-सोपानम्—

* -पञ्चपञ्चीकृतः-सावरणः-भूतश्चरः-(पुरञ्जनः)-सावरणः } 'पञ्चतत्त्वम्'

१—सर्वात्मकः-स्वयम्भूः (ब्रह्मपुरम्)-आकाशात्मा (आकाशः)
२—सर्वात्मकः-परमेष्ठीः (विष्णुपुरम्)-वाय्वात्मा (वायुः)
३—सर्वात्मकः-सूर्य्यः (इन्द्रपुरम्)-तेजोमयात्मा (तेजः)
४—सर्वात्मकः-चन्द्रमाः (सोमपुरम्)-जलीयात्मा (जलम्)
५—सर्वात्मकः-भूपिडः (अग्निपुरम्)-पार्थिवात्मा (पृथिवी)

} आवरणरूपाः-पञ्च-योगजभावाः-महाभूतात्मकाः—

७

* * * *

१७७-८-तत्त्वानुगतस्य-योगजभूतस्य-ब्रह्मसत्यात्मकस्य-प्रतिमा प्रजापतेर्वा-अष्टमं-सोपानम्—

*-सर्वात्मकः-सावरणः-भौतिकक्षरः (पुराणि)-महाभौतिकानि } 'सापेक्षतत्त्वम्'

१—स्वायाम्भुवसत्त्वम्-(मनुःप्राणात्मकम्)-ऋषिप्राणा एवात्र प्रजा
२—पारमेष्ठ्यसत्त्वम्-(अश्वप्राणात्मकम्)-पितृप्राणा एवात्र प्रजा
३—सौरसत्त्वम् (गोप्राणात्मकम्)-देवप्राणा एवात्र प्रजा
४—चान्द्रसत्त्वम् (अविःप्राणात्मकम्)-पशुप्राणा एवात्र प्रजा
५—भौमसत्त्वम् (अजप्राणात्मकम्)-भूतप्राणा एवात्र प्रजा

} सत्त्वरूपाः-पञ्च-योगजभावाः-भूतभौतिकाः भूतभौतिकसर्गः, सत्त्वसर्गो वा

८

* * * *

१७८-९-तत्त्वानुगतस्य-योगजसत्त्वस्य-ब्रह्मसत्यात्मकस्य-प्रतिमा-प्रजापतेर्वा नवमं सोपानम्—

*-प्राणिप्रतिष्ठात्मकः-सावरण-सत्त्वक्षरः (भूतभौतिकः) } सापेक्षतत्त्वम्

१—सर्वप्राणात्मकोऽपि—मनुप्राणेनाभिव्यक्तः-प्राणी (पुरुषः)
२—सर्वप्राणात्मकोऽपि-अश्वप्राणेनाभिव्यक्तः-प्राणी (अश्वः)
३—सर्वप्राणात्मकोऽपि-गोप्राणेनाभिव्यक्तः—प्राणी (गौः)
४—सर्वप्राणात्मकोऽपि-अजप्राणेनाभिव्यक्तः—प्राणी (अविः)
५—सर्वप्राणात्मकोऽपि-अजप्राणेनाभिव्यक्तः—प्राणी (अजः)

} प्राणिरूपा-पञ्च-योगजभावाः-चेतनजीवाः-चेतनसर्गः-प्राणिसर्गो वा

९

* * * *

१७६-१०-प्रकारान्तरेण-याज्ञिकसत्त्वस्य-देवसत्यात्मकस्य-प्रतिमान-प्रजापतेर्वादशमं सोपानम्—

*-सर्वज्ञ-हिरण्यगर्भ-विराड्रूपः-सर्वभूतान्तारात्मा-सावरणः } सापेक्षतत्त्वम्

अष्टविधः सत्त्व विशालः (८)ऊर्ध्वसर्गः

१— (१) ब्राह्म-(२) प्राजपत्य-(३) पैत्र्य-(४) ऐन्द्र—भेदभिन्ना—शुद्धसत्त्वानुगता प्राणिचतुष्टयी

२—(१) गन्धर्व-(२) यक्ष-(३) राक्षस-(४) पिशाच-भेदभिन्ना-मलिनसत्त्वानुगता प्राणिचष्टयी

*

पञ्चविधः-रजोविशालसर्गः मध्यसर्गः(५)

२—आकृत-प्रकृति-अहङ्कृति-समन्विता-सत्त्वगर्भिता रजोमयी-मानवसृष्टिः (१)

४—(१) पशु-(२) पक्षी-(३) कीट-(४) कृमि——भेदभिन्ना-रजोऽनुगता-प्राणिचतुष्टयी

*

एकविधःतमोविशालसर्गः-मूलसर्गः (१)

५—स्तम्ब-तृण-लता-गुल्म-ओषधि-वनस्पत्यदिरूपा तमोमयी-प्राणिसृष्टिः

—सोऽयं चतुर्दशविधो भूतसर्गः-देवसत्यात्मकः

भूतसर्गरूपाः-पञ्च-योगजभावा चान्द्रपार्थिव-जीवाः चेतनसर्गः प्राणिसर्गो वा

१०

* * * *

ऊर्ध्वं सत्त्वविशाल-स्तमोविशालस्तु मूलतः सर्गः ।
मध्ये रजोविशालः, ब्रह्मादि-स्तम्ब-पर्य्यन्तम् ॥

—सांख्यकारिकायाम्

* * * *

१८०–तत्त्वोपक्रमानुगतः-योगजोपसंहारान्वितः-समष्ट्यात्मकः–परिलेखः—

भूतमहेश्वरः	१	१–निष्कलः–परात्पराव्ययः–तत्त्वभावएव २–सकलः—पुरुषाव्ययः—-योगजभावः	अव्ययः-पञ्चकलः	परमप्रजापतिभावः "तत्" (१)	तत्त्वं-असि, इति-'तत्त्वमेव' सर्वम्	
भूतभावनः	२	१–सकलः–पुरुषाव्ययः-—तत्त्वभावः २–सगुणः–आत्मक्षरपुरुषः—योगजभावः	अक्षरः-पञ्चकलः			
भूतयोनिः	३	१–सगुणः—अक्षरपुरुषः—तत्त्वभावः २–सविकारः–आत्मक्षरपुरुषः-योगजभावः	आत्मक्षरः-पञ्चकलः			
भूत-भावोद्भवकरः	४	१–सविकारः–आत्मक्षरपुरुषः–तत्त्वभावः २–साञ्जनः—विकारक्षरः—-योगजभावः	विराट् (गुणभूतानि)	प्रतिमाप्रजापतिभावाः 'त्वम्' (२)	यदस्य च 'त्वं'—	अथ नु-मीमांस्यमेव ते मन्ये-विदितम्--(केनोपनिषदि)
भूतग्रामम्	५	१–साञ्जनः–विकारक्षरः—तत्त्वभावः २–सावरणः-वैकारिकक्षरः-–योगजभावः	पञ्चजनः (अणुभूतानि-पारमाण्व)			
भूतपालः	६	१–सावरणः–वैकारिकक्षरः-तत्त्वभावः २–सावरणः-भूतक्षरः—-योगजभावः	पुरञ्जनः (रेणुभूतानि-त्रसरेणव)			
महाभूतानि	७	१–सावरणः-भूतक्षरः—तत्त्वभावः २–सावरणः–भौतिकक्षरः-योगजभावः	पुराणि (महाभूतानि)			
भूतसत्त्वम्	८	१–सावरणः–भौतिकक्षरः-तत्त्वभावः २–सावरणः–सत्त्वक्षरः—योगजभावः	सत्त्वभूतानि			
भूतात्मा	९	१–सावरणः–सत्त्वक्षरः——तत्त्वभावः २–सावरणः- सर्वभूतान्तरात्मा--योनजभावः	भूतसर्गः			
भूतसर्गः	१०	१–सावरणः-सर्वभूतान्तरात्मा–तत्त्वभावः २–सावरणः-भूतसर्गः———-योगजभावएव	भूतसर्गः	प्रतिमानभावाः 'असि'(३)	यदस्यच देवेषु	

१८१-योगज पदार्थों से अनुप्राणिता भूतस्थिति का तत्त्वान्वेषण-निबन्धन-महत्त्व, एवं 'भूतमाध्यम' की अनुपयोगिता का दिग्दर्शन—

उक्त तालिका-माध्यम से अत्र हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि, जिन भूत–भौतिक सत्त्वानुगत-सत्त्वरजस्तमोमय–चर-अचर (चेतन-जड़) योगज-पदार्थों के मौलिक स्वरूपान्वेषण में हम प्रवृत्त होते हैं, उन मौलिक-उपादानकारणों का बलानन्त्य के कारण हमें अगणित-भावों पर ही पर्य्यवसान उपलब्ध होता है इस प्रारम्भिक-मूलान्वेषण में। स्थूलभूतमूला इसी प्राथमिकी दृष्टि के अनुबन्ध से मनस्तुष्टिमात्र के लिए यह कहा, और मान भी लिया जासकता है कि, असंख्यविध-प्रत्यक्षदृष्ट-अनुभूत इन चराचर-योगजरूप कार्य्यभावों के कारणरूप-मौलिकतत्त्व भी अनेक ही होंगे। और यदि अपनी इस मूलान्वेषणप्रवृत्ति का आधार दुर्भाग्यवश हमने भूतमाध्यम को ही बना लिया, दूसरे शब्दों में कार्य्यरूप भूतों के माध्यम से ही हमारी कारणान्वेषणमूला-तत्त्वान्वेषणपरीक्षा प्रक्रान्त रही, तो निश्चयेन महान् यक्षरूप कार्य्यात्मक-भौतिकभाव कदापि हमे मूलतत्त्व-निबन्धना निश्चित-प्रज्ञा से समन्वित नहीं होने देगा।

१८२-भूतमाध्यम से अनुगत तत्त्वपरीक्षण की 'यातयामता' का प्रकारान्तर से दिग्दर्शन—

यही नहीं। अपितु भूतमाध्यमानुगत इत्थंभूत परीक्षण का तो यही परिणाम होगा कि, अमुक-द्रव्य-गुण-भाव-अपेक्षा-आदि से कभी कोई कारण तत्त्वरूप से हमारी भौतिकी दृष्टि के सम्मुख उपस्थित होगा, तो कुछ ही समय के अनन्तर तत्प्रतिद्वन्द्वी किसी अन्य आपेक्षिक भावानुबन्ध से पूर्वक्षण का 'तत्त्व' तो मान लिया जायगा योगज, एवं उत्तरक्षण का योगज भी बन बैठेगा-'तत्त्व'। यों-न तो तत्त्वसंख्यान का ही निश्चित निर्णय होसकेगा, एवं न तत्त्वतः-'तत्त्व' की कोई निश्चयात्मिका अभिव्यक्ति ही सम्भव बन सकेगी।

१८३-भूतोपक्रमोपसंहारमूला-भूतप्रधाना प्रतीच्या-जीवनपद्धति, एवं आत्मोपक्रमसंहार-मूला--आत्ममूला-भारतीया-जीवनपद्धति के तारतम्य से अनुगता 'वस्तुस्थिति' का स्पष्टीकरण-प्रयास—

इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि, भूतमूलक इत्थंभूत अनिर्णीत परीक्षणों से भी फलोत्पादनमूलक-सहज-धर्म्म के अनुबन्ध से भूतजगत् में भौतिक-परीक्षणों के माध्यम से भूतावेशाविष्टा मानवीया-प्रज्ञा विचित्र विचित्र कौशल-चमत्कार-आविष्कार-आदि का साक्षात्कार करने में सफल होती रहेगी। यह भी मान लिया जासकता है कि, इत्थंभूत-काकतालीयन्यायानुबन्धी-विभिन्न तत्त्वों के रासायनिक-सम्मिश्रणों से आविष्कृत **यौगिक-चमत्कार (आविष्कार)** मानव के भौतिक शरीरों को प्रकृतिसिद्धा सहज-संघर्षात्मिका,-अतएव-जीवनीय-रसप्रदा-मौलिकी-तथ्यपूर्णा जीवनपद्धति (जिसे कि भारतीय परिभाषा में **'मानवधर्म्म'** कहा गया है) इसे उत्तरोत्तर विमुख करते हुए मानव को वैसी तात्कालिकी-भूतभौतिकी, अतएव मानव के सुप्रसिद्ध **आत्मा-बुद्धि-मन:शरीर**-नामक चारों पर्वों में से केवल पाञ्चभौतिक-शरीरपर्व को ही अनुकूलवेदनात्मिका सुख-सुविधा से भी समन्वित कर देती है। और निश्चयेन अनेक तत्त्ववादमूला आज की भूतविज्ञानात्मिका भौतिकी-जीवनपद्धति-जिसे **'जीवनपद्धति'** न कहकर जीवनीयरसस्रोतविरोधिनी–[1]**मनो**–[2]**बुद्धि**–[3]**आत्म**–स्वरूपानुगता [1]**तुष्टि**–[2]**तृप्ति**-

३–शान्ति-विघातिनी वैसी 'जड़पद्धति' मात्र ही कहा जायगा, जिसका अन्तिम उदर्क (परिणाम) माना जायगा-'महती विनष्टिः'।

१८४–भूत-प्रेत-योगज-आदि सिद्धिपथों से समतुलित-भूताविष्कारनिबन्धना आकर्षणों से अभ्युदय-निःश्रेयसमूला-आचारप्रधाना जीवनपद्धति का त्रिसहस्रवार्षिक-अभिभव–

इत्थंभूत नग्नसत्य की सुनिश्चितता पर भी आज का मानव दिग्देशकालानुबन्धी तात्कालिक-व्यामोहनों से तात्कालिकरूपेण आकर्षित होता हुआ आज दुर्भाग्यवश तात्कालिक–चमत्कारपूर्ण इन भूतविज्ञानविजृम्भणों में आपादमस्तक निमज्जित होता हुआ उसीप्रकार शाश्वत शान्तिमूलक–सनातनसुखात्मक-लौकिक वास्तविक–अभ्युदय से पराःपरावत ही प्रमाणित होता जारहा है, जैसे कि विगत-त्रिसहस्रवार्षिकी अवधि में शास्त्रीय–शब्दों के छलमाध्यम से आविर्भूत–तिरोभूत भूतसिद्धि–प्रेतसिद्धि-योगजसिद्धि-निर्वाणप्रलोभन-आदि आदि पराःशत चमत्कारों के प्रति आकर्षित होते रहने वाले, अतएव आचारनिष्ठात्मिका–प्रकृतिपुरुष-श्रद्धा–सहजज्ञान-विज्ञानात्मिका कर्त्तव्यनिष्ठात्मिका जीवनपद्धति से पराङ्मुख होजाने वाले भारतीय मानव ने तदवधि में भूत-भौतिक-यौगिकादि-चमत्कारों के तात्कालिक-अनुकूलता-प्रवर्त्तक-विजृम्भणों से ही अपनी वास्तविक शान्ति (निःश्रेयस्), एवं वास्तविक सुख (अभ्युदय) को जलाञ्जलि ही समर्पित करता आरहा है।

१८५–'कारण', और–'कार्य्य'- का पारिभाषिक-स्वरूप-समन्वय, एवं दिग्देशकालानुबन्धी व्यामोहन से अनुप्राणित प्रासङ्गिक तथ्य का उपराम—

इस उद्गारों क्या तात्पर्य्य ?। तात्पर्य्य स्पष्ट है ; यदि भूतरूप–कार्य्यजगत् को मध्यस्थ मान कर इस मर्त्य–अन्तभावापन्न-'कार्य्य' के आधार पर ही मानवप्रज्ञा–'कारण' रूप 'तत्त्व' की मीमांसा में प्रवृत्त होगी, तो निश्चयेन इस की प्रज्ञा कार्य्यानित्यमूलक अनेक तत्त्ववादों में आसक्त–व्यासक्त होती हुई इस नानाभावात्मक-मृत्युभाव (१) में हीं परिसमाप्त होजायगी। फलतः कदापि इसे एकत्व निबन्धन, निश्चित निर्णयात्मक, इदमित्थमेव नान्यथा–रूप व्यवसायधर्म्म (२) उपलब्ध नहीं होसकेगा, जिसके विना मानवप्रज्ञाविन्ता बुद्धि अव्यवसायात्मिका बनती हुई सदैव सभी अवस्थाओं में–'इदं वा इदं वा' लक्षण उस संशयरूप महान् अम्ब में ही निमज्जित रहेगी, जिस अव्यवसायात्मिका संशयशीलता को ऋषिप्रज्ञा ने अन्यान्म कारणों की भाँति सर्वनाश का प्रमुख कारण माना है (३), इत्यलमतिपल्लवितेन भूतोपक्रमानुगत–वर्त्तमान–दृष्टिकोण-निबन्धन-दिग्देशकालानुबन्धी–व्यामोहन-प्रसङ्गेनेति प्रकृतमनुसरामः।

---

(१)—यदेवेह तदमुत्र, यदमुत्र तदन्विह।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥
—कठोपनिषत् ४।१०।

(२)—व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन !।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥
—गीता १४।१६,१७,।

(३)— अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥
—गीता ४।४०।

१८६–'उपनिषदों में क्या है ?' प्रश्न-समाधान का सिंहावलोकनात्मक-संस्मरण—

"उपनिषदों में क्या है ?, किंवा उपनिषत् किस तथ्य का प्रतिपादन कर रहे हैं" ?, इस प्रक्रान्त प्रश्न के संक्षिप्ततम उत्तरात्मक-'सविशेष-विश्वात्मा' के स्वरूप–विश्लेषण के प्रसङ्ग से समन्वित–'पुरुषात्मा', तथा 'प्राकृतात्मा', के विस्तार से अनुगत आत्मविवर्त्तों का ही अनन्तोपक्रम-दृष्टि से अबतक समन्वय-प्रयास हुआ है, जिसके माध्यम से तत्प्रयासोपक्रम में उद्धृत तत्प्रश्न के उत्तर से सम्बन्ध रखने वाले "उपनिषच्छास्त्र 'सविशेष-विश्वात्मा' के 'पुरुषात्मा', एवं 'प्राकृतात्मा' नामक दो महिमामय विवर्त्तों का ही स्वरूप-विश्लेषण कर रहा है" इस वाक्य सन्दर्भ का भलीभाँति स्पष्टीकरण होजाता है (देखिए पृ० सं० १३१)।

१८७–पुरुषात्मानुगत–'कालात्मा', एवं प्राकृतात्मानुगत–'यज्ञात्मा' के पारिभाषिक संस्मरण, एवं यज्ञात्मा के दिग्देशकालानुबन्धी-विवर्त्त—

रस, और बल के सम्बन्ध-तारतम्य से एक ही वस्तुतत्त्व पुरुषात्मा, एवं प्राकृतात्मा, रूपेण दो विवर्त्तभावों में परिणत होरहा है, जो ये दोनों आत्मविवर्त्त क्रमशः 'रसप्रधानपुरुष', एवं 'बलप्रधाना प्रकृति'-व्यवहारों से समन्वित मान लिए गए हैं। रसप्रधान पुरुषात्मा का ही एक पारिभाषिक नाम है-'कालात्मा' एवं बलप्रधान प्राकृतात्मा का ही एक पारिभाषिक-नाम है-'यज्ञात्मा'। दिग-देश-कालानुबन्धिनी प्रकृति से अनुप्राणित काल शब्द तो वह सम्वत्सरात्मक सोपाधिक-काल है, जिसे खण्डकाल कहा गया है, एवं जो यज्ञात्मा की सीमा में हीं अन्तर्भुक्त है, तथा जिस इस यज्ञात्मक-खण्डभावानुगत-सम्वत्सरकाल के ही भूत-भविष्यत्-वर्त्तमान रूपेण तीन विवर्त्त माने गए हैं।

१८८–महाकालात्मक-'अखण्डकाल' का पावन-संस्मरण, एवं तत्सम्बन्ध में अथर्वश्रुति–

पुरुषात्मरूप कालात्मा तो दिगदेशकालातीत महाकालात्मक वह-'अखण्डकाल' ही है, जिससे वेदाभिव्यक्ति के द्वारा यज्ञ की स्वरूपाभिव्यक्ति मानी गई है। निम्नलिखित कतिपय आथर्वण-वचन पुरुषात्मरूप अखण्डात्मक दिगदेशकालातीत उसी 'महाकालात्मा' की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर रहे हैं—

(१)—काले तपः काले ज्येष्ठं, काले ब्रह्म समाहितम्।
काला ह सर्वस्येश्वरो यः पितासीत् प्रजापतेः ॥

(२)—तेनेषितं, तेन जातं, तदु तस्मिन् प्रतिष्ठितम्।
कालो ह ब्रह्म भूत्वा बिभर्त्ति परमेष्ठिनम् ॥

(३)—कालो ह भूतं भव्यं च पुत्रो अजनयत् पुरा।
कालादृचः समभवन्, यजुः कालादजायत ॥

(४)—कालो यज्ञं समैरयत्, देवेभ्यो भागमक्षितम् ।
काले गन्धर्व्वाप्सरसः काले लोकाः प्रतिष्ठिताः ॥
—अथर्वसंहिता १९।६। *

१८८-'कालो यज्ञं समैरयत्' से अनुप्राणित त्रिपर्वा कालपुरुष, एवं पञ्चपर्वा यज्ञपुरुष का स्वरूप-समन्वय—

'कालो यज्ञं समैरयत्' इत्यादि मन्त्रभाग जिस 'काल' को 'यज्ञ' का प्रेरक-मान रहा है, वही अखण्डकालात्मक–दिग्देशकालातीत--महाकालरूप 'कालात्मा' नामक 'पुरुषात्मा' है, एवं ऐसे विश्वात्म-काल से प्रेरित 'यज्ञ' ही 'यज्ञात्मा' नामक-'प्राकृतात्मा' है । प्राकृत–यज्ञात्मा का प्रेरक, किंवा सर्वस्वाधार पुरुषरूप–कालात्मा जहाँ 'त्र्यात्मक' (त्रिपर्वा) माना गया है, वहाँ इत्थंभूत–त्र्यात्मक कालपुरुष के आधार पर प्रतिष्ठित यज्ञात्मक प्राकृतात्मा 'पाङ्क्त' (पञ्चावयव, किंवा पञ्चपर्वा) माना गया है ।

१८९-तीन, और पाँच से अनुगत सुप्रसिद्ध-लोकव्यवहार का काल, यज्ञपुरुषानुबन्धेन समन्वय-प्रयास—

त्रिपर्वा--विश्वात्मरूप--'पुरुषात्मा' नामक--कालात्मा, एवं पञ्चपर्वा--प्राकृतात्मरूप--'यज्ञात्मा', इन दोनों '३–५' (तीन, और पाँच) नाम की सुप्रसिद्धा लोकव्यवहारानुगता संख्यासम्पत् से अनुगत अष्टविध आत्मविवर्त्त ही उपनिषच्छास्त्र का निपरूणीय–निष्कर्ष है, जिसका तत्रैव उपक्रमे अन्य दृष्टि से दिग्दर्शन करा दिया गया है (देखिए पृ० सं० १३१) ।

१९०-पुरुषात्मनिबन्धन-'आत्मा'-शब्द से अनुगत व्यवहार का प्राकृत-विवर्त्त के साथ सम्बन्ध-दिग्दर्शन—

त्रिपर्वा–त्र्यात्मक-महाकालरूप पुरुषात्मा से अनुगत पञ्चपर्वा-पञ्चात्मक-यज्ञरूप-प्रकृतात्मा का प्रत्येक पर्व क्योंकि त्र्यात्मक पुरुषात्मा से समन्वित रहता है, अतएव प्रकृतिभावानुबन्धी भी वे पाँचों विवर्त्त 'आत्मा' शब्द के व्यवहार से अनुप्राणित होजाते हैं । 'आत्मा' शब्द वस्तुत: कालरूप दिग्देशकालातीत-अनन्तकालात्मक 'पुरुषात्मा' में ही निरूढ है । ऐसी अवस्था में प्राकृतयज्ञ को यद्यपि 'आत्मा'–शब्द से व्यवहृत नहीं होना चाहिए था । तथापि क्योंकि प्राकृतिक–पाङ्क्त–यज्ञ के पाँचों पर्व, (प्रत्येक पर्व) पुरुषात्मा की सत्ता से अभिन्न हैं, अतएव इन यज्ञात्मक-पञ्चविध प्राकृत–विवर्त्तों को भी–'प्राकृतात्मा' इस रूप से–'आत्मा' नाम से समन्वित मान लिया गया है ।

१९१-त्रिपर्वा-त्र्यात्मक-निरूढ-आत्मभावापन्न-पुरुषात्मा से अनुगत पञ्चविध प्राकृतात्माओं के पारिभाषिक-त्रीणि-त्रीणि-विवर्त्त—

त्रिपर्वा–त्र्यात्मक–निरूढ–आत्मभावापन्न 'पुरुषात्मा' क्योंकि प्राकृतात्मा-के "प्राणः--(स्वयम्भूः)--आपः (परमेष्ठी)--वाक् (सूर्य्यः)--अन्नादः (भूपिण्डः)--अन्नम (चन्द्रमाः)" इन पाँचों यज्ञपर्वों

* इन–अथर्वमन्त्रों का विशद–वैज्ञानिक–विवेचन - 'दिग्देशकालस्वरूपमीमांसा' नामक सहस्र–पृष्ठात्मक–स्वतन्त्र–निबन्धन में हीं देखना चाहिए, जिस का प्रकाशन तत्त्वशोध-संस्थान के द्वारा होचुका है ।

में समष्ट्या–व्यष्ट्या–उभयथैव समन्वित रहता है। अतएव त्र्यात्मक पुरुषात्मा के तीनों पर्व पाँचों हीं भागों के साथ अनुगत होजाते हैं, और इस अनुगति के फलस्वरूप ही तीन, और पाँच के गुणन से 'पञ्चदश–संख्यासम्पत्' सम्पन्न होजाती है, जिन इस १५ व्यष्टिभावों में अवार–पारीण–रूपेण अखण्डधर्मत्त्वेन–व्याप्त–निरपेक्ष–अचिन्त्य-तत्त्व ही सोलहवाँ **'परात्पर'** तत्त्व माना गया है, जिसके अनुबन्ध से ही प्रकृतिविशिष्ट-पुरुषात्मक-अश्वत्थमूर्त्तिइत्थंभूत विश्वात्मा को–**'षोडशी–प्रजापति'** नाम से भी व्यवहृत किया गया है, जिसका निम्नलिखित श्रुतियों के द्वारा ही यशोगान हुआ है—

(१)–यानि पञ्चधा त्रीणि त्रीणि तेभ्यो न ज्यायः परमन्यदस्ति।
यस्तद्वेद स वेद सर्वं सर्वा दिशो बलिमस्मै हरन्ति॥ *।

—छान्दोग्योपनिषदि

(२)-यस्मान्न जातः परो अन्य अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा।
प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योंषि सचते स षोडशी॥

—यजुःसंहितायाम् ८।२६।

१६२–उपनिषच्छास्त्र के पारिभाषिक प्रतिपाद्य से अनुगत आत्मत्रयान्वित प्राकृतात्म-पञ्चक का संस्मरण—

"पुरुषात्मनिबन्धना आत्मत्रयी, तथा प्राकृतात्मनिबन्धन–प्राकृतात्मपञ्चक का स्वरूप-विश्लेषक पारिभाषिक-शास्त्र ही उपनिषच्छास्त्र है"–इस आरम्भोक्त तथ्य से अनुप्राणित पुरुषात्मा के **अमृतात्मा, ब्रह्मात्मा, शुक्रात्मा**-नामक रसप्रधान---मनः--प्राण--वाक्---प्रधान-त्रिविध--विवर्त्त–भावों के, तथा प्राकृतात्मा के अव्यक्तात्मा--गुणात्मा--दैवात्मा--सर्वभूतात्मा--भूतात्मा--नामक-बलप्रधान पञ्चविध-विवर्त्तभावों के स्वरूप-दिग्दर्शन के लिए ही अनेक दृष्टिकोणों का अबतक अनुगमन हुआ है, जिस इत्थंभूता-पुरुष-प्रकृति-निबन्धना-अनुगति के बिना **'प्रज्ञानात्मानुगत-आत्मस्वरूप का पारिभाषिक-समन्वय'** असम्भव ही था, जोकि पारिभाषिक-समन्वय-**'प्रकृत-द्वितीय-प्रकरण'** का प्रमुख विषय माना गया है। इत्थंभूत-तत्त्वसन्दर्भ के सिंहावलोकनात्मक समन्वय के लिए पाठकों को आरम्भ के अमुक-संख्यानुगत परिच्छेदों को भी एक बार लक्ष्यारूढ कर ही लेना चाहिए--(पृष्ठसंख्या १३१ से पृष्ठसंख्या १३६ पर्य्यन्त के २९ वें परिच्छेद से ४६ वें परिच्छेद पर्य्यन्त।

---

*-निगम, अनुगम, भेद से प्रसिद्धा परिभाषाओं में यह वचन अनुगमभावापन्न ही है, जिस इस अनुगमभाव के कारण ही **'यानि पञ्चधा०'** इत्यादि की "३–५--" संख्याओं का अनेक स्थलों के साथ समन्वय हुआ है। प्रकृत में त्र्यात्मक आत्मा, पञ्चावयव यज्ञ, इस तीन पाँच के रूप से ही समन्वय अपेक्षित है, जो कि-'तीन पाँच' ईश्वरीय-शक्ति से ही अनुप्राणित है। अतएव जीवानुबन्धी व्यवहार में-**'तीन पाँच मत करो'**, इत्यादिरूपेण-इत्थंभूत संख्यासम्पद्व्यवहार आलोच्य ही मान लिया गया है।

१९३-त्र्यात्मक पुरुषात्मा, एवं पञ्चात्मक प्राकृतात्मा से अनुगत आत्मविवर्त्तों का सिंहावलोकनात्मक-संस्मरणोपक्रम —

त्र्यात्मक-पुरुषात्मा, तथा पञ्चात्मक प्राकृतात्मा, नामक पुरुष-प्रकृति-निबन्धन जिन आत्मविवर्त्तों का अबतक विभिन्न-पारिभाषिक-दृष्टिकोणों से समन्वय-प्रयास हुआ है, अब संक्षेप से सन्दर्भ—सङ्गति के दृष्टि से उनका सिंहावलोकनन्यायेन एकत्र संकलन कर दिया जाता है, जिस इत्थंभूत संकलन के अनन्तर ही 'तलवकारोपनिषत्' के प्रतिपाद्य 'प्रज्ञानात्मा' के पारिभाषिक-स्वरूप के सम्बन्ध में किञ्चिदिव निवेदन-प्रयास बन सकेगा।

१९४- त्रिवृद्भावापन्न--सत्यात्मा से अनुप्राणित पुरुषसत्य, तथा प्रकृतिसत्य का दिग्दर्शन—

त्रिपुरुष-पुरुषात्मक-पुरुषात्मा, तथा पञ्चविध-प्राकृतात्मा के समन्वय से कृतरूप-सुप्रसिद्ध-तथोक्त-'षोडशीपुरुष' (' प्रकृतिविशिष्ट-पुरुष') नामक 'प्रजापति' के-'आत्मा-प्राणाः-पशवः' नामक तीन ही प्रमुख-महिमा-विवर्त्त-माने गए हैं। सत्य सदा 'त्रिवृद्भावापन्न' ही होता है अपने पारिभाषिक 'स—ति—यम्' लक्षण तीन अक्षरों के माध्यम से। "त्रिवृद्भावानुगति ही त्रिवृद्भावापन्न-सत्य की स्वरूप-संग्राहिका है"-इस पारिभाषिक-सिद्धान्त के आधार पर ही 'आत्मा-प्राणाः-पशवः'-रूपेण त्रिवृद्भावापन्न-तीन-विवर्त्तों के अनुबन्ध से तथाविध-षोडशी-प्रजापति-'सत्यात्मा' नाम से भी प्रसिद्ध होगया है, जिसके पुरुषसत्य, तथा प्रकृतिसत्य-भेद से दो विभाग किए जासकते हैं।

१९५ -मौलिकसत्यात्मलक्षण-'सत्यस्य-सत्यम्'-का स्वरूप—समन्वय-प्रयास—

स्वयं पुरुषात्मा ही मौलिकसत्य है, जिस इस मौलिक 'आत्मसत्य' के कारण ही नानाभावापन्न-असद्भावनिबन्धन बलों के द्वारा कृतरूपा प्रकृति, किंवा तद्रूप प्राकृत-विश्व भी सत्यात्मक बना हुआ है। इसप्रकार पुरुषात्मरूप 'सत्य' ही आत्मसत्य (पुरुषसत्य), एवं विश्वसत्य (प्रकृतिसत्य) भेद से दो भावों में परिणत होरहा है। इन दोनों में विश्वसत्य का तो पारिभाषिक नाम है-'सत्यम्', एवं तदाधार-भूत आत्मसत्य का नाम है-'सत्यस्यसत्यम्'।

१९६-'सत्य के द्वारा ही सत्य का ग्रहण सम्भव है'-लक्षण-पारिभाषिकसूत्र, और तन्निबन्धना ईश्वर-प्रतिमा-जीव-प्रजापतित्रयी—

"सत्य के द्वारा ही सत्य का ग्रहण सम्भव है"-इस पारिभाषिक-सूत्र का यही तात्पर्य्यार्थ-समन्वय है कि, विश्वानुबन्धी-खण्डभावानुगत-प्राकृत-आत्मविवर्त्तों के माध्यम से ही विश्वातीत-अखण्डभावानुगत-पुरुषात्मविवर्त्त के साथ समन्वय सम्भव है भूतात्मा (देही) का। सत्यानुगता इस स्थिति के स्पष्टीकरण के लिए हमें 'ईश्वर-प्रतिमा जीव'-नामक त्रिविध-पारिभाषिक-सत्यविवर्त्तों का ही अनुगमन करना चाहिए।

१९७-साध्य-साधन-साधक-रूपेण त्रिःसत्यात्मक महिमामय-विवर्त्त—

'ईश्वरसत्य' 'साध्यसत्य' है, 'प्रतिमासत्य' साधनसत्य' है, एवं 'जीवसत्य'—'साधकसत्य' है। विभिन्न-प्राण-देवानुबन्धिनी सृष्टि (याज्ञिकी सृष्टि) क्योंकि इस त्रिविध-सत्य से ही अनुगता है। इसी आधार पर-देवभाव को-'त्रिःसत्यात्मक' माना गया है, जैसाकि—'त्रिःसत्या वै देवाः' इत्यादि अनुगमवचन से प्रमाणित है।

१९८–ईश्वरसत्य-प्रतिमासत्य-प्रतिमानसत्य-रूपेण सत्यत्रयी का स्वरूप-समन्वय-प्रयास—

आधिदैविकसत्य ही ईश्वरसत्य है, आधिभौतिकसत्य ही प्रतिमासत्य है, एवं आध्यात्मिक-सत्य ही जीवसत्य है। जीवसत्य का विभिन्न-देवानुबन्धी-सापेक्ष सत्य जब मध्यस्थ--प्रतिमासत्य के माध्यम से ईश्वरीय-निरपेक्षसत्यरूप--'सत्यस्यसत्यम्' से अनुगत होजाता है, तो नानाभावनिबन्धन मर्त्यभावानुगत मोह-पाश स्वतः ही उच्छिन्न होजाता है, एवं परिणामस्वरूप पुरुषात्मनिबन्धन समब्रह्मात्मक--आत्मसाम्यमूलक-सम-दर्शन अभिव्यक्त होजाता है, जिस इस रहस्यपूर्ण स्थिति का ही श्रुति से निम्नलिखित शब्दों मे यशोगान हुआ है कि—

(१) गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठां, देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु ।
कर्म्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति ॥
—मुण्डकोपनिषदि ३।२।७।

(२) यदक्षरं पञ्चविधं समेति, युजो युक्ता अभि यत् संवहन्ति ।
सत्यस्य-सत्यमनु यत्र युज्यते तत्र देवाः सर्व एकीभवन्ति ॥
—ऐतरेय-आरण्यके

१९९–'आत्मा-प्राणाः-पशवः'-समष्टिरूप प्रजापति का स्वरूपलक्षण-समन्वय—

'सत्यस्यसत्यम्'--लक्षण--साध्यभावान्वित--आधिदैविक--ईश्वरप्रजापति, साधनसत्यान्वित--आधिभौतिक-प्रतिमाप्रजापति, एवं साधकसत्यान्वित-आध्यात्मिक-जीवप्रजापति, नामक तीनों ही **'सत्यप्रजापति'**--विवर्त्त मनःप्राणवाग्भावों के त्रिवृत्करणात्मक त्रिवृद्भाव के अनुबन्ध से **'आत्मा-प्राणाः-पशवः'** रूपेण त्र्यात्मक (प्रत्येक) बने हुए हैं। तभी तो इन तीनों विवर्त्तों को समष्ट्या, तथा व्यष्ट्या उभयथा-**'प्रजापति'** कहना अन्वर्थ बनता है। क्योंकि 'प्रजापति' शब्द का वैज्ञानिकोंनें—**'आत्मा-प्राणा-पशुत्त्वमेव-प्रजापतित्त्वम्'** ही स्वरूप-लक्षण-माना है। त्रिःसत्यानुगत-तथाविध-तीनों सत्यप्रजापति-विवर्त्तों में से सर्वप्रथम-त्र्यात्मक-त्रिवृद्भावापन्न-**'सत्यस्य-सत्यम्'** लक्षण-आधिदैविक-संस्थानुगत-'ईश्वरप्रजापति' के संक्षिप्त कलाविभागों की ओर ही संकलनधिया-पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जारहा है।

२००–मनोमम-ज्ञानात्मा, प्राणमय-कर्म्मात्मा, एवं वाङ्मय-भूतात्मा से अनुगता ईश्वर-जीव-जगद्-विवर्त्तत्रयी का समन्वय—

'सत्यस्य-सत्यम्'-रूप-'ईश्वरप्रजापति'- से अनुप्राणिता आधिदैविक-संस्था के त्रिवृद्भावापन्न, मनःप्राण-वाङ्मय **'आत्मा-प्राणाः-पशवः'** नामक तीनों पर्व जहाँ **'मनःप्रधान'** हैं, वहाँ जीवप्रजापति-से अनुप्राणिता-आध्यात्मिक-संस्था के त्रिवृद्भावापन्न-मनःप्राणवाङ्मय तीनों पर्व-**'प्राणप्रधान'** हैं। और प्रतिमाप्रजापति के तद्भावापन्न तन्मय तीनों पर्व-**'वाक्प्रधान'** हैं। इसी प्रधानभावानुबन्ध से तीनों को त्र्यात्मक होते हुए भी **मनोमय-ईश्वरप्रजापति, प्राणमय-जीवप्रजापति,** तथा **वाङ्मय प्रतिमाप्रजापति,** इन अभिधाओं से ही समन्वित मान लिया जायगा, जिस समन्वय का फलितार्थ होगा—ईश्वरप्रजापति **मनोमयत्त्वेन ज्ञानात्मा है,** जीवप्रजापति **प्राणमयत्त्वेन कर्म्मात्मा है,** एवं प्रतिमाप्रजापति **वाङ्मयत्त्वेन भूतात्मा है।**

२०१–आत्मानुगत-उक्थ, प्राणानुगत अर्क, एवं पश्वनुगत-अशीति-भाव का स्वरूप-दिगदर्शन, एवं 'प्रजापति' शब्द के सप्तविध विभिन्न स्वरूप-लक्षणों का संस्मरण—

तीनों हीं त्रिवर्त मनः-प्राण-वाक्--के त्रिवृद्भाव से क्योंकि त्र्यात्मक हैं। अतएव तीनों हीं विवर्त्त **मनोऽनुगत आत्मभाव**, प्राणानुगत 'प्राणभाव', एवं वागनुगत-'पशुभाव' इन तीनों पर्वों से समन्वित मान लिए गए हैं। मनोऽनुगत 'आत्मा' की पारिभाषिकी अभिधा है—**'उक्थम्'**। प्राणानुगत-'प्राणाः' की पारिभाषिकी संज्ञा है—**'अर्काः'**। एवं वागनुगत **'पशवः'** का पारिभाषिका नाम **है—'अशीतयः'**। इन विभिन्न-दृष्टिकोणों के अनुबन्ध से 'प्रजापति' के विभिन्न स्वरूप-लक्षण होजाते हैं, जिनमें से कतिपय-लक्षणों का संस्मरणात्मक संग्रह निम्नलिखित रूपेण सम्भव है —

(१)–मनः—प्राण—वाङ्मयत्त्वं--प्रजापतित्त्वम्—इत्यन्यत्

(२)–ज्ञान—क्रिया—अर्थ-मयत्त्वं-प्रजापतित्त्वम्—इत्यन्यत्

(३)–आत्मा-प्राण-—पशु-मयत्त्वं--प्रजापतित्त्वम्—इत्यन्यत्

(४)–उक्थ---अर्क---अशीत-मयत्त्वं--प्रजापतित्त्वम् – इत्यन्यत्

(५)–प्राण–वाग्-गर्भितं-मनोमयत्त्वं-प्रजापतित्त्वम्—इत्यन्यत्

(६)–मनो–वाग्-गर्भितं-प्राणमयत्त्वं-प्रजापतित्त्वम्—इत्यन्यत्

(७)–प्राण-मनो-गर्भितं-वाङ्मयत्त्वं-प्रजापतित्त्वम्—इत्यन्यत्

२०२–ईश्वरप्रजापति से अनुगत विभिन्न तीन पुरुषों का पारिभाषिक-समन्वय—

जैसाकि निवेदन किया गया है–आधिदैविक संस्थानुगत–मनःप्रधान–त्र्यात्मक–ईश्वर–नामक–'सत्यस्यसत्यम्'–रूप प्रजापति में भी उक्त–लक्षणानुसार–'आत्मा–प्राणाः–पशवः'–तीनों विवर्त्त समाविष्ट हैं। इन तीनों विवर्त्तों में सर्वादिभूत 'आत्मा' ही 'त्रिपुरुषपुरुषात्मक पुरुष' तत्त्व है, 'प्राणाः' ही 'पञ्च-भावानुगता–'प्रकृति' है, एवं 'पशवः' ही–'षड्भावानुगता-विकृति' है। आत्मरूप पुरुष के स्वरूपा–नुग्राहक तीनों पुरुष ही क्रमशः–'अव्ययपुरुष–अक्षरपुरुष–आत्मक्षरपुरुष' इन नामों से व्यवहृत हुए हैं, जिन की **'पुरुष'** अभिधा का निम्न लिखित आर्षवचन से समर्थन होरहा है—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ॥
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ॥
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥२॥
—गीता १५।१६,१७,।

२०३-अत्यन्त पारिभाषिकी-पुरुष, प्रकृति-विकृति नाम की शब्द-त्रयी, और तन्निबन्धन-'आत्मविज्ञानसहकृत-विश्वविज्ञान' का संस्मरण—

पुरुष, प्रकृति, विकृति, ये तीनों शब्द 'सापेक्षशब्द' हैं, जिस इस सापेक्षता के कारण ही तीनों शब्द अनुगमभावात्मक ही बने हुए हैं। इसी अनुगमभावानुबन्ध से अव्ययतत्त्व जहाँ "पुरुष" है, वहाँ अक्षरतत्त्व 'प्रकृति' है, एवं क्षरतत्त्व 'विकृति' है। 'प्राणाः' नामक द्वितीय-प्राणविवर्त्त के अनुबन्ध से अव्यय-अक्षर-क्षर-तीनों की समष्टि को उसी अनुगमभाव के कारण जहाँ 'पुरुष' कह दिया जायगा, वहाँ इस त्रिपुरुषात्मक पुरुष की दृष्टि से 'प्राणाः' नामक द्वितीय वह विवर्त्त-जिस के अवान्तर पाँच-विवर्त्त माने गए हैं-'प्रकृति' कहलाएगा, एवं तदपेक्षया तीसरे क्रमप्राप्त 'पशवः' नामक तृतीय-विवर्त्त को-'विकृति' नाम से व्यवहृत किया जायगा। इसप्रकार अनुगमभावानुबन्धी पुरुष-प्रकृति-विकृति-शब्द तथोक्ता सापेक्षता से अनेकधा समन्वित होते रहेंगे, होरहे हैं, जिस इत्थंभूत विभक्त-समन्वय के आधार पर ही 'पुरुष-प्रकृति-विकृति-समन्वयात्मक—"आत्मविज्ञानसहकृत--विश्वविज्ञान" सुप्रतिष्ठित माना गया है।

२०४-आधिदैविक-ईश्वरप्रजापति से अनुगता पुरुष-प्रकृति-विकृति-त्रयी का स्वरूप-समन्वय-प्रयास —

आधिदैविक-ईश्वरप्रजापति से अनुप्राणित 'आत्मा-प्राणाः-पशवः' का ही समन्वय-प्रसङ्ग प्रक्रान्त है। इस प्रक्रान्ति का 'आत्मा' नामक प्रथम विवर्त्त ही 'पुरुषः' कहलाएगा, 'प्राणाः' नामक द्वितीय विवर्त्त ही 'प्रकृतिः' कहलाएगा, एवं 'पशवः' नामक तृतीय विवर्त्त ही-'विकृतिः' कहलाएगा, और इसी दृष्टि से ईश्वरसंस्थानुबन्धी इन 'पुरुषः (आत्मा)-प्रकृतिः (प्राणाः)-विकृतिः(पशवः)' नामक तीनों विवर्त्तों की अवान्तर-विभूतियों का समन्वय-सिंहावलोकनदृष्ट्या समन्वित होसकेगा निम्नलिखितरूपेणैव।

२०५-आत्मभावनिबन्धन-ज्ञानतन्त्र का पारिभाषिक-समन्वय—

'आत्मा' नामक प्रथम पर्व से अनुप्राणित-'पुरुषतन्त्र' पूर्वकथनानुसार क्योंकि-'अव्यय-अक्षर-क्षर' रूपेण तीन विवर्त्तभावों में परिणत रहता है। अतएव इस आत्मरूप-पुरुष की पारिभाषिकी संज्ञा होगई है-'त्रिपुरुषपुरुषात्मक-पुरुष'। यही कहलाएगा ईश्वरीयसंस्था का मनोमय-ज्ञानतन्त्र, इसे ही कहा जायगा-'ईश्वरीय-ज्ञानात्मा'।

इदमत्र विशेषरूपेण-अवधेयम्-'आत्मा' नामक तत्त्व वस्तुगत्या निरपेक्ष उस निर्द्वन्द्व-'पुरुषतत्त्व' से ही अनुप्राणित है, जिसे 'अव्ययपुरुष' कहा गया है, यही तत्त्व 'चिदात्मा' नाम से प्रसिद्ध है। और यही उपनिषच्छास्त्र का प्रतिपाद्य वही-'औपनिषदपुरुष' है, जिसकी-'औपनिषदं पुरुषं पृच्छामः !' रूपेण जिज्ञासा हुई है। इस वस्तुतथ्य को लक्ष्यारूढ बनाते हुए ही हमें-ईश्वरीया त्रिवृद्भावापन्ना विभूति के सिंहावलोकनात्मक समन्वय पर दृष्टिनिक्षेप करना चाहिए।

२०६-औपनिषदपुरुष की जिज्ञासा के पारिभाषिक-'पुरुष' का संस्मरण—

"ईश्वर" नामक "सत्यस्यसत्यम्"-लक्षण आधिदैविक-प्रजापति-का "आत्मा" नामक प्रथमपर्व "त्रिपुरुषपुरुषात्मक" है, यह कहा जाचुका है। इसी का दूसरा पारिभाषिक नाम है-'षोडशीपुरुष', जिस

का अक्षरार्थ है–सोलह कलाओं से "युक्त पुरुष", अर्थात्, 'ईश्वर"। भगवान् की सोहल कलाओं के गुणानुवाद से समाप्लुता आर्षप्रजा के लिए ईश्वरप्रजापति की—"षोडशी" अभिधा सर्वथैव सुपरिचिता है।

२०७–ईश, और 'ईशावास्यमिद सर्वम्' से अनुप्राणित षोडशकल-सर्वात्मक ईश-प्रजापति—

इत्थंभूत षोडशी–प्रजापति का एक नाम है–'ईश', जिसका पूर्व की 'वाजसनेयोपनिषत्' में (ईशोपनिषत् में) विस्तार से यशोगान होचुका है। षोडशकल–इस ईश की सत्ता से समस्त पदार्थ समष्ट्या, एवं व्यष्ट्या क्योंकि समन्वित हैं, जैसाकि–'ईशावास्यमिदं सर्वम्' से स्पष्ट है। अतएव प्रत्येक पदार्थ को इस षोडशकल–ईशप्रजापति के सम्बन्ध से 'षोडशकलात्मक' मान लिया जासकता है, जैसाकि-'षोडशकलं वा इदं सर्वम्' इत्यादि शाङ्खायनवचन से प्रमाणित है।

२०८–षोडशकल-षोडशीपुरुष से अनुगत पारिभाषिक-'तत्'-तत्त्व का संस्मरण—

पञ्चकल-अव्ययपुरुष, पञ्चकल अक्षरपुरुष, पञ्चकल क्षरपुरुष, निष्कल-एककल-किंवा एकल-(एकाकी) परात्पर, इन विवर्त्तों की समष्टि का ही नाम है–'षोडशकलात्मक–षोडशी–पुरुष', जिस का समन्वय उपनिषदोंनें अत्यन्त ही रहस्यपूर्ण, अनिरुक्तभावानुगत 'तत्' शब्द से ही किया है, जैसाकि–'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि–नेदं यदिदमुपासते' इत्यादिरूपेण आगे के मूलभाष्यानुगत सप्तम-मन्त्र के के द्वारा स्पष्ट होने वाला है।

२०९–षोडशकल-प्रजापति की सोलह-कलाओं का स्वरूप-संस्मरण—

'तत्' शब्द दिग्देशकालातीत, अतएव सर्वातीत, अतएव च सर्वात्मक उस व्यापक आत्मब्रह्म का ही तटस्थरूपेण संग्राहक बना हुआ है, जिस विश्वातीत–लोकातीत–अनिर्वचनीय–अद्वयब्रह्म को मायापुर की सीमा से अनुगत 'पुरुष' नामक ('अव्यय' नामक) 'पर' तत्त्व से भी 'पर' (अतीत) होने से-'परात्पर' कहा गया है, एवं जिस इस अखण्ड-अद्वय-विश्वातीत-निष्कल-एकल-एकाकी-एककल-परात्पर को ही पूर्वनिर्दिष्ट षोडशीप्रजापति की सोलहवीं कला का पूकर बतलाया गया है।

२१०–अतद्व्यावृत्त-'तत्'-नामक अनिरुक्तभावात्मक 'तत्त्व' का स्वरूप-दिग्दर्शन—

अङ्गुलिनिर्देशात्मक–अयम्- इदम्–असौ–इत्यादि निरुक्त-भावानुबन्धी-व्यक्त शब्दों से क्योंकि वह 'अतद्व्यावृत्त–तत्त्व' सर्वात्मना अतीत है, अतएव उसे तटस्थरूपेण सङ्केत–विधिमात्र से अन्तर्जगन्मात्र में ही अनुभूतमात्र, ही करने के लिए ऋषिप्रज्ञा ने अव्यक्तभावप्रधान अनिरुक्तभावात्मक–'तत्' शब्द से ही व्यवहृत करना समीचीन माना है।

२११–त्रिविध-भेदशून्य-'तत्' नामक-'परात्परब्रह्म' का यशोवर्णन—

विश्वातीत, अतएव अनिर्वचनीय–अनिरुक्त- अचिन्त्य, अतएव च 'तत्' शब्द ('वह' शब्द) के द्वारा अभिनीयमान अद्वयब्रह्म ही वस्तुगत्या मौलिक–'आत्मब्रह्म' है, जिसे शास्त्र ने विजातीय–सजातीय–स्वगत–नामक तीनों भेदानुबन्धों से परात्परावत ही माना है। यही मौलिक–'तत्' रूप वह व्यापक आत्मब्रह्म है, जिसका मायोपाधिक–'अव्ययपुरुष' नामक प्रथम–विवर्त्त ही प्रममावतार माना गया है।

२१२–परस्परानुबन्धी सापेक्षभाव से अनुगत 'तत्' शब्द की व्याप्ति का स्पष्टीकरण-

आगे के अक्षरादि की अपेक्षा 'तत्' का प्रथमावतारभूत यह 'अव्ययपुरुष' भी 'तत' ही बना हुआ है उसी प्रकार, जैसेकि–क्षरापेक्षया अक्षर 'तत्' का स्थान ग्रहण किए हुए हैं। यदि विकारात्मक विश्व की दृष्टि से विचार किया जाता है, तो उस वैकारिक विश्व का आत्मभूत–भुवनाविष्ट-प्रविष्ट–'**परात्परा-व्ययाक्षरात्मक्षरमूर्त्ति-षोडशीपुरुष**' ही–'तत्' का स्थान ग्रहण किए हुए है।

२१३–'तत्'--नामक मौलिक--परात्परात्मा की विभूतिमयी धारावाहिक--व्याप्ति का संस्मरण—

और यों विश्वातीत–परात्पर से उपक्रान्त–'**तत्**' * शब्द '**तस्यैष एव शारीर आत्मा–यः पूर्वस्य**' (तै० उप० ब्रह्मानन्दवल्ली–६ अनुवाक) इत्यादि औपनिषद–वचन के अनुसार परात्परोत्तरभावी **अव्यय-अक्षर–आत्मक्षर**-पर्य्यन्त अनुधावन-करता हुआ तत्समष्टिरूप–षोडशीपुरुष–नामक '**सत्यस्य–सत्यम्**' रूप आधिदैविक–ईश्वरप्रजापति के साथ ही समन्वित होजाता है, जिसे इस आत्मरूपा–'तत्'–व्याप्ति के अनुबन्ध से ही हमने–'ईश्वरात्मा'–ज्ञानात्मा' रूपेण–'आत्मा'–नाम से व्यवहृत किया है, और यही 'तत्' रूप मौलिक–'**परात्पर-आत्मा**' का प्रथम–धारावाहिक–व्याप्तिस्थान है, जिसे लक्ष्य में रखते हुए ही अब आगे के द्वितीय–धारावाहिक–व्याप्तिस्थान की चर्चा उपक्रान्त करनी है।

२१४–'आत्मा' नाम के प्रथम प्रक्रम से अनुगत-'प्राणाः' नामक द्वितीय-प्रक्रम, और तन्निबन्धन पारिभाषिक-अर्कभाव—

'**आत्मा, प्राणाः**, पशवः'-आधिदैविक–ईश्वरतन्त्र से अनुप्राणित इन तीनों प्रक्रमों में से क्रमप्राप्त 'आत्मा'–नामक प्रथम प्रक्रम से सम्बन्ध रखने वाले त्रिपुरुषपुरुषात्मक-'षोडशीप्रजापति' के सिंहावलोकनात्मक दिग्दर्शन के अनन्तर क्रमप्राप्त '**प्राणाः**' नामक दूसरा प्रक्रम ही हमारे सम्मुख आता है, जिसे–'**अर्काः**' भी कहा गया है, एवं जिसे प्राणप्रधान–प्रक्रम–माना गया है।

२१५–विकारक्षरानुगत-पारिभाषिक-'प्राणाः'-का स्वरूप-संस्मरण—

इस प्राणप्रधान–द्वितीय–'**प्राणाः**' नामक प्रक्रम का ही नाम है–'**विकारक्षर**', जोकि '**विकृतिरूप**'–आत्मक्षर के ही '**विकारभाव**' से अनुप्राणित है। 'आत्म'–स्थानीय षोडशी–पुरुष के परात्पराभिन्न–**अव्यय, अक्षर, क्षर**, नामक तीनों विवर्त्त ही क्रमशः **पुरुष–प्रकृति–विकृति**–नामों से समन्वित हुए हैं, जैसाकि पूर्व में (पृ० सं० २१३ में) स्पष्ट किया जाचुका है।

२१६–विकारतत्त्वानुगत-'प्राणाः' नामक द्वितीय-प्रक्रम का दिग्दर्शन—

षोडशीपुरुष का तृतीय–पुरुषात्मक-आत्मक्षर–विवर्त्त ही सापेक्षभावानुबन्ध से–'**विकृति**' है, जिस इस '**विकृति**'–रूप आत्मक्षर से विवर्त्तरूपेण अभिव्यक्त पञ्चधा विभक्त '**विकार**' ही दूसरा क्रमप्राप्त-'**प्राणाः**' नामक विवर्त्त है। और यही '**प्राणाः**' का संक्षिप्त–स्वरूप–दिग्दर्शन है।

---

*–पारिभाषिक इस–'तत्'--रूप '**परात्परब्रह्म**' का पूर्व में भी दृष्टिकोणभेद से संस्मरण किया जाचुका है–(देखिए पृ० सं० १८२)।

२१७-'विश्वदानि' नामक-'सर्वहुतयज्ञ' की स्वरूपाभिव्यक्ति से अनुप्राणित-पञ्चविध विश्वसृजों का स्वरूप-दिग्दर्शन--

'यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश' इत्यादि उपनिषद्वचन जिस प्राण का पञ्चधा सन्निवेश मानता है, वही दूसरा 'प्राणाः' तत्त्व है, जिसके 'प्राणः-आपः-वाक्-अन्नादः-अन्नम्' नामक पाँचों गुणभूतात्मक विवर्त्तों का पूर्व के पञ्चमहाभूत-प्रसङ्ग में अनेकधा विस्तार से विश्लेषण किया जाचुका है, जोकि पाँचों विकारात्मक-प्राण क्रमशः मर्त्यभावनिबन्धन-विकृतिभावात्मक-आत्मक्षरात्मक-'ब्रह्मा-विष्णु इन्द्र-अग्नि-सोम-नामक पाँचों भावों से ही अनुप्राणित है। 'प्राणाः' रूप इहीं पाँचों की समष्टि की पारिभाषिकी संज्ञा है-'विश्वसृट्' *। जिनके आधार पर 'विश्वदानि' नामक-विश्वस्वरूप-सम्पादक-'सर्वहुतयज्ञ' की स्वरूपाभिव्यक्ति मानी है यज्ञरहस्यवेत्ता भारतीय वैज्ञानिकोंनें।

२१८--'विश्वसृट्'-नामक पञ्चविध-विकारभाव के चिरन्तनेतिवृत्त का संस्मरण—

'विकृति' नामक 'आत्मक्षर' की मर्त्यभावानुगता-ब्रह्मेन्द्रविष्णवग्निसोमात्मिका पाँच कलाओं से आविर्भूत, किंवा बलग्रन्थि के द्वारा अभिव्यक्त 'प्राणः-आपः-वाक्-अन्नादः-अन्नम्' नाम की विशुद्धा-अपञ्चीकृता-अतएव 'तत' (षोडशीपुरुष) के 'त्व' (स्वरूधर्म्म) से अनुगता 'तत्त्व' नाम्ना प्रसिद्धा प्रथमावस्था ही-'विश्वसृट्' नामकी पञ्चविध-विकारकलाओं का संक्षिप्ततम चिरन्तेनेतिवृत्त है।

२१९-भारतीय-भौतिक-दर्शन के आधारभूत 'पञ्चजन' के पारिभाषिक-चिरन्तनेतिवृत्त का दिग्दर्शन—

तथाविध, 'विश्वसृट्' नामक, अपञ्चीकृत, अतएव विशुद्ध-मौलिक-अविभाज्य-तत्त्वरूप, दर्शनभाषा में-'गुणभूत' नाम से प्रसिद्ध, सांख्यपरिभाषानुसार-'पञ्चतन्मात्रा' नाम से व्यवह्रियमाण पञ्चविध-'विकारक्षर' ही आगे चलकर पञ्चीकरण के सम्बन्ध से योगभाव में परिणत होजाते हैं। पञ्चीकरणप्रक्रियानुगता प्रक्रिया से पञ्चात्मक (प्रत्येक) बनते हुए विकारक्षरपञ्चक का यह पञ्चीकृत द्वितीय--पञ्चक--भाव ही विज्ञानभाषा में--'पञ्चजन' नाम से, एवं दर्शनभाषा में 'अणुभूत' नाम से व्यवहृत हुआ है, जिस अणुभूतात्मक वादविशेष के आधार पर ही सुप्रसिद्ध--'भौतिक--दर्शन' ('कणाददर्शन') की अभिव्यक्ति हुई है।

२२०-पञ्चजनानुबन्धी--पारिभाषिक नामों से अनुगत 'तद्वादन्याय'-का समन्वय-प्रयास--

इस प्रथमा पञ्चीकरण-प्रक्रिया में अर्द्ध अर्द्ध में क्रमशः प्राणः-आपः-वाक्-अन्नादः-अन्नम्-नामक-पाँच विकारक्षर रहते हैं, शेष अर्द्ध-अर्द्ध-भागों में शेषभूत चारों विकारक्षर आहुति-द्रव्यरूपेण-आहुत

---

*-विश्वसृजः प्रथमे सत्रमासत सहस्रसमं प्रसुतेन यन्तः।
ते ह जज्ञे भुवनस्य गोपा हिरण्मयः शकुनो ब्रह्म नाम ॥
—ताण्ड्यमहाब्राह्मणे २५।१८।५।

रहते हैं प्रधानभूत उन अर्द्ध-अर्द्धों में। इसी वैष्ट्य से पञ्चीकरण के द्वारा प्रत्येक के पञ्चात्मक बन जाने पर 'वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः' न्यायानुसार * 'पञ्चजन' नामक इस दूसरे विवर्त्त की पञ्चात्मिका पाँचों कलाएँ विकारान्तर-पञ्चकवत् व्यवहृत होतीं है—'प्राणः-आपः-वाक्-अन्नादः-अन्नम्' इन नामों से ही।

२२१--पञ्चजन-भावों के पञ्चीकरण से अभिव्यक्त 'पुरञ्जनपञ्चक'--के पारिभाषिक-चिरन्तनेतिवृत्त का दिग्दर्शन—

पञ्चीकृत-'पञ्चजन' नामक यौगिक-अणुभूतात्मक-इन पाँचों विवर्त्तों का पुन पञ्चीकरण होता है, और इस पञ्चीकरण से पञ्चजनात्मक प्राणादि के स्वरूप में, अतएव च नामों में विभिन्नता का समावेश होजाता है। विज्ञानभाषा में इन्हीं पञ्च-पञ्चीकृत-पञ्चविवर्त्तों की समष्टि को-'पुरञ्जन' कहा जासकेगा, जिन्हें कि दर्शनभाषा में-'रेणुभूत' माना गया है। पुरात्मक-व्यक्तिभाव क्योंकि इन पञ्च-पञ्चीकृत-पञ्च-पञ्च-भावों से ही होता है, अतएव इस महान् योगज--विवर्त्त को-'पुरञ्जन' कहना अन्वर्थ ही माना जायगा।

२२२--पञ्चविध-पुरञ्जनों के पारिभाषिक-स्वरूपों का समन्वय-प्रयास—

पञ्चीकृत-'प्राण' नामक प्रथम पञ्चजन के पञ्चपञ्चीकृत-प्राणप्रधान-प्रथम-पुरञ्जन-का नाम है 'वेदपुरञ्जन'। पञ्चीकृत-'आपः' नामक द्वितीय पञ्चजन के पञ्च-पञ्चीकृत-आपःप्रधान-द्वितीय-पुरञ्जन का नाम है—'लोकपुरञ्जन'। पञ्चीकृत-'वाक् नामक तृतीय-पञ्चजन के पञ्चपञ्चीकृत-वाक्प्रधान तृतीय-पुरञ्जन का नाम है—'देवपुरञ्जन'। पञ्चीकृत-'अन्नाद' नामक-चतुर्थ पञ्चजन के पञ्चपञ्चीकृत-अन्नादप्रधान-चतुर्थ-पुरञ्जन का नाम है—'भूतपुरञ्जन'। एवं पञ्चीकृत-'अन्न' नामक पञ्चम-पञ्चजन के पञ्चपञ्चीकृत-अन्नप्रधान पञ्चम-पुरञ्जन का नाम है-'पशुपुरञ्जन'। तदित्थं इस पञ्चपञ्चीकृतात्मक-पञ्चविध-पुरञ्जन-विवर्त्त के पञ्चभावों के नाम-स्वरूपादि में विभिन्नता अभिव्यक्त होजाती है।

२२३--पुरम्-भूतम्-भूतपुराणि, आदि शब्दों से अनुगत बहुत्वनिबन्धन-पारिभाषिक 'भूतत्त्व' का समन्वय—

पञ्चपञ्चीकृत तथोपवर्णित 'वेद-लोक-देव-भूत-पशु' नामक इन पाँचों पुरञ्जनों के अमुक-नियमित-सर्वहुतभाव-निबन्धन-सर्वात्मक-बहुभावानुगत-बहुत्व से जिन अपूर्व सर्वरूप-भावों की अभिव्यक्ति हुई है, उन्हीं सर्वात्मक-बहुत्वनिबन्धन-अपूर्व भावों का नाम है-'भूतपुराणि', जो कि 'भूतपुराणि' तथोक्त-पुरञ्जनों के पञ्चसंख्यानुबन्ध से पञ्चधा ही विभक्त माने गए हैं। पुरञ्जन-पञ्चक से अभिव्यक्त पञ्चविध 'पुरभाव' क्योंकि प्राणः-आपः-वाक्-अन्नादः-अन्नम्-के नानाभावनिबन्धन बहुत्त्व-धर्म्म से ही अनुप्राणित हैं। अतएव-'बहुत्त्वमेव भूतत्त्वम्' निर्वचन से इन पुरभावों को—'भूतम्', किंवा-'भूतपुरम्' कहना अन्वर्थ बनता है।-

---

*-यस्मिन् पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः।
तमेव मन्ये-आत्मानं-विद्वान् ब्रह्माऽमृतोऽमृतम् ॥
—बृहदारण्यकोपनिषदि ४।४।१७।

२२४--प्राणप्रधान-प्रथमप्रक्रमात्मक-'स्वयम्भुपुर' का संस्मरण—

वेदपुरञ्जनात्मक–प्राण-प्रधान–प्रथम-पुरञ्जन से अभिव्यक्त भूतपुर ही-'**स्वयम्भुपुर**' कहलाया है, जिसे मूलप्रकृति (अक्षर–आत्मक्षर) की कला के अनुबन्ध से जहाँ '**ब्रह्मपुर**' कहा जायगा, वहाँ इसे ही विकारक्षरानुबन्ध से '**प्राणपुर**' मान जायगा। एवं बहुभावानुगत–भूतधर्म्मानुबन्ध से इसे ही कहा जायगा– '**आकाशपुर**'।

२२५--अप्प्रधान-द्वितीय-प्रक्रमात्मक-'परमेष्ठीपुर' का संस्मरण—

लोकपुरञ्जनात्मक–आपः–प्रधान–द्वितीय–पुरञ्जन से अभिव्यक्त भूतपुर ही '**परमेष्ठिपुर**' कहलाया है, जिसे मूलप्रकृत्यनुबन्ध से जहाँ '**विष्णुपुर**' कहा जायगा, वहाँ इसे ही विकारक्षरानुबन्ध से '**आपःपुर**' माना जायगा, एवं बहुत्त्वधर्म्म–निबन्धन भूतधर्म्म की अपेक्षा से इसे ही कहा जायगा-'**वायुपुर**'।

२२६--वाक्प्रधान-तृतीय-प्रक्रमात्मक-'सूर्य्यपुर' का संस्मरण—

देवपुरञ्जनात्मक–वाक्–प्रधान-तृतीय–पुरञ्जन से अभिव्यक्त भूतपुर ही '**सूर्य्यपुर**' कहलाया है, जिसे मूलप्रकृत्यनुबन्ध से जहाँ–'**इन्द्रपुर**' कहा जायगा, वहाँ इसे ही विकारक्षरानुबन्ध से–'**वाक्पुर**' माना जायगा, एवं भूतधर्म्मानुबन्ध से इसे ही कहा जायगा–**तेजःपुर**'।

२२७--अन्नाद-प्रधान-चतुर्थ-प्रक्रमात्मक-'भूपुर'-का संस्मरण—

भूतपुरञ्जनात्मक–अन्नाद–प्रधान–चतुर्थ–पुरञ्जन से अभिव्यक्त–भूतपुर ही '**पृथ्वीपुर**' ('**भूपुर**') कहलाया है, जिसे मूलप्रकृत्यनुबन्ध से जहाँ '**अग्निपुर**' कहा जायगा, वहाँ इसे विकारक्षरानुबन्ध से '**अन्नाद-पुर**' माना जायगा, एवं भूतधर्म्मानुबन्ध से इसे ही कहा जायगा–'**मृत्–पुर**'।

२२८--अन्न-प्रधान-पञ्चम-प्रक्रमात्मक-'चन्द्रपुर' का संस्मरण—

पशुपुरञ्जनात्मक-अन्नप्रधान-पञ्चम-पुरञ्जन–से अभिव्यक्त भूतपुर ही '**चन्द्रपुर**' कहलाया है, जिसे प्रकृत्यनुबन्ध से जहाँ–'**सोमपुर**' कहा जायगा, वहाँ इसे ही विकारक्षरानुबन्ध से '**अन्नपुर**' माना जायगा, एवं भूतधर्म्मानुबन्ध से इसे ही कहा जायगा-'**जलपुर**'।

२२९--सृष्टिमूला, तथा दृष्टिमूला-सृष्टिविद्याद्वयी के माध्यम से चतुर्थ-पञ्चम-पुरों के विपर्य्यय का समन्वय—

इसी निबन्ध में इस तथ्य का भी अनुगमन कर लेना अनिवार्य्य ही माना जायगा कि-'**सृष्टिमूला-सृष्टिविधा**' के अनुसार जहाँ अन्नादमूर्त्ति भूपुर का स्थान चतुर्थ, एवं अन्नमूर्त्ति जलपुर का स्थान पञ्चम माना जायगा, वहाँ–'**दृष्टिमूला-सृष्टिविद्या**' के अनुसार चन्द्रपुर का स्थान चतुर्थ, एवं भूपुर का स्थान पञ्चम माना जायगा, और इसी दृष्टि की अपेक्षा से–'**आकाश-वायु-तेज-मृत्-जल**'-के स्थान में–'**आकाश-वायु-तेज-जल-मृत्**' यह लोकप्रसिद्ध भूतक्रम भी व्यवस्थित मान लिया जायगा।

२३०--गुण-अणु-रेणु-महाभूतानुगत विश्वसृट्-पञ्चजन-पुरञ्जन-पुरभावात्मक-भूतप्रधान-विश्व के अधिष्ठाता आधिदैविक ईश्वरप्रजापति' से अनुप्राणिता क्रमधारा का पावन-संस्मरण—

तदित्थं--परात्पर से अविनाभूत पञ्चकल-अव्यय नामक उत्तमपुरुष, तदभिन्न पञ्चकल–अक्षर-नामक **मध्यमपुरुष**, एवं तदभिन्न-पञ्चकल-आत्मक्षर नामक **प्रथमपुरुष**, की समष्टिरूप '**षोडशीप्रजापति**'

नाम्ना प्रसिद्ध **'आधिदैविक--ईश्वरात्मा'** के प्रथमपुरुष के माध्यम से (आत्मक्षरपञ्चक के माध्यम से) तथोक्त क्रमानुसार जो क्रमधारा प्रवाहित हुई है, होरही है, होती रहेगी मन्वन्तरानुगत सृष्टिकाल-पर्य्यन्त, उसी के **'अपञ्चीकृत--शुद्ध--मौलिक--विकारक्षर--पञ्चक नामक 'विश्वसृट्', तत्पञ्चीकृत, तन्नामात्मकही-पञ्चविध-यौगिक---'पञ्चजन', तत्पञ्चीकृत, अतएव पञ्चपञ्चीकृत--यौगिक-पञ्चविध--बहुत्वभावनिबन्धन-पुरञ्जन, एवं तत्सर्वहुत-यज्ञानुगत, अतएव सर्वात्मक, 'भूत' नाम्ना प्रसिद्ध पञ्चविधपुररूपेण व्यवहृत, एवं गुणभूत-अणुभूत-रेणुभूत-महाभूत**--नाम्ना च दर्शनभाषायां प्रसिद्ध चतुर्विध--विवर्त्तभावों की समष्टि का नाम ही पारभाषिक वह 'विश्वम्', जिसमें तथोक्त त्रिपुरुष--पुरुषात्मक-षोडशीपुरुष ही आत्मन्वी-रूपेण-प्रविष्ट रहता है,-एवं तत्प्रवेश से ही--'विशति--अत्र--ईश्वरपुरुषः' निर्वचन से-**विश्वसृट् (गुणभूत) पञ्चजन (अणुभूत) पुरञ्जन (रेणुभूत) पुर (भूत)** की समष्टिरूप (समन्वायात्मक) वस्तुभाव को 'विश्वम्' कहना सर्वथैव अन्वर्थ प्रमाणित होरहा है।

२३१--आत्मानुगत-व्यापक-व्याप्य-भावानुबन्धी-रहस्यपूर्ण-"न त्वहं तेषु, ते मयि"-वचन का संस्मरण—

तथोक्त **'आत्मप्रवेश'** (ईश्वरात्मप्रवेश) के सम्बन्ध में हमें एक प्रासङ्गिक उस रहस्यपूर्ण तथ्य को कदापि विस्मृत नहीं कर देना चाहिए, जिसे विस्मृत कर देने के कारण ही आत्मस्वरूप के सम्बन्ध में आज विविध भ्रान्तियाँ अभिव्यक्त होपड़ीं हैं। वह अविस्मरणीय तथ्य है श्रीमद्भगवद्गीता का सुप्रसिद्ध-**'न त्वहं-तेषु, ते मयि'** यह रहस्य-पूर्ण वचन, जिस इस वचन, की रहस्यपूर्णता का समन्वय- जिस एक अन्य वचन के साथ आपेक्ष सम्बन्ध है, उसका अविकलरूप निम्नलिखितरूपेणैव आर्षजगत् में प्रसिद्ध है कि-

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञानेन तवार्जुन !
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥
—गीता १०।४२।

२३२--चतुष्पाद्ब्रह्म से अनुप्राणित-'एकांश', और तदनुगत-पारिभाषिक-यत्किञ्चिदंश-

परात्पर, अव्यय, अक्षर, आत्मक्षर, रूपेण यदि षोडशी-पुरुष को चतुष्पाद्-ब्रह्म-मान लिया जाता है, तो **'आत्मक्षर'** नामक चतुर्थपाद का **'एकांशत्व'** भलीभाँति सिद्ध होजाता है। इस पारिभाषिक-'एकांश' का अर्थ कदापि **एकचतुर्थांश** नहीं है, जैसाकि भावुकतावश समझ लिया जाता है। अपितु इस 'एकांश' का अर्थ है-'यत्किञ्चिदंश', जिस इत्थंभूता एकांशता का अव्यय अक्षर-आत्मक्षर-नामक तीनों हीं विवर्त्तों के साथ (अपेक्षाभिदानुगत तारतम्य से) सम्बन्ध मान लिया जासकता है।

२३३-परात्पर के एकांशरूप अव्यय की 'एकांशता' का पारिभाषिक-समन्वय—

परात्पर अखण्ड है, महतो महीयान् है, अत्यनपिनद्ध है, जिसकी इयत्ता अननुमेया है, जिसे कि समझने मात्र के लिए **'एकपाद'** मान लिया गया है। इस एकपादरूप अखण्ड परात्पर के समतुलन में द्वितीय-पादरूप अव्ययपुरुष यत्किञ्चिदंश के अतिरिक्त इसलिए और कुछ भी तो महत्त्व नहीं रख रहा कि, सर्वबलविशिष्ट-रसैकघन-अखण्ड-परात्पर के धरातल में अव्ययपुरुष के स्वरूप-सम्पादक ऐसे ऐसे असंख्य-अगणित-मायाबल आविर्भूत-तिरोभूत-होते रहते है, जिस एक एक मायापुर से एक एक

स्वतन्त्र अव्ययपुरुष तरङ्गवत् परात्परसमुद्र में आविर्भूत तिरोभूत होते रहते हैं। अतएव 'परात्पर का एकांशरूप अव्यय' का-'परात्पर का यत्किञ्चित्-नगण्यवत्-एकांशरूप-अव्यय', यही अर्थ विज्ञानसिद्ध प्रमाणित होरहा है।

२३४--'सहस्रवल्शाओं से युक्त अश्वत्थवृक्ष' के माध्यम से एकांशता का दिग्दर्शन—

अब अव्यय की दृष्टि से एकांशता का समन्वय कीजिए। एक मायापुर से अनुगत-एक अव्यय-पुरुष में 'सहस्राक्षरे-परमे-व्योमन्' इस रहस्यात्मिका परिभाषा के अनुसार न्यूनतम (समझने मात्र के लिए) एक सहस्र-अक्षर-विवर्त्त-माने गए हैं, जिनके सम्बन्ध से ही 'अव्ययाश्वत्थब्रह्म' को-''सहस्रवल्शात्मक'' ('एक हजार शाखाओं से युक्त अश्वत्थवृक्ष') मान लिया गया है। यों 'अव्यय'-रूप द्वितीय-ब्रह्मपाद के समतुलन में तृतीयपाद-स्थानीय अक्षर की 'एकांशता' की भी 'यत्किञ्चिदंशरूपता' ही समन्वित होजाती है।

२३५--'एकांश' के पारिभाषिक तथ्य से अनुगत-'एकांशेन स्थितो जगत्' का सस्मरण-

अब शेष रह जाता है-वह 'आत्मक्षर' नामक अक्षर का एकांशरूप-चतुर्थ-पादस्थानीय--तत्त्व, जिसके द्वारा ही विश्वसृट--पञ्चजन--पुरञ्जन--पुर--नामक-चार प्रक्रमों के माध्यम से 'विश्व' की स्वरूपा--भिव्यक्ति का यशोगान हुआ है-पूर्व में। आत्मक्षर अक्षर का एकांशरूप यत्किञ्चिदंश है, एवं इसी के उपबृंहण से 'विश्व' का स्वरूप अभिव्यक्त हुआ है, इसी तथ्य को लक्ष्य बनाकर भगवान् ने कहा है कि--'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्'।

२३६--यत्किञ्चिदंशरूप 'एकांश' का क्रमधारानुगत अवतरण, और रहस्यपूर्ण-उद्घोष-

परात्पर का यत्किञ्चिदंश अव्यय, अव्यय का यत्किञ्चिदंश अक्षर, अक्षर का यत्किञ्चिदंश आत्म--क्षर, और इत्थंभूत आत्मक्षर के यत्किञ्चिदंश के पञ्चीकरण-क्रम से निष्पन्न भूतात्मक-पुरभावात्मक-विश्व, यही है वस्तुस्वरूप--स्थिति, जिसके माध्यम से ही तथोक्त--'न त्वहं तेषु ते मयि'-इत्यादि रहस्यपूर्ण उद्घोष का समन्वय अपेक्षित है।

२३७--व्यापकधर्म्मा अखण्ड-परात्पर से अनुगत व्याप्यधर्म्मा सखण्ड-अव्यय, एवं व्यापक, तथा व्याप्य-भावों से अनुगत-गर्भीभावात्मक-सापेक्ष-तारतम्य का स्पष्टीकरण—

व्यापकधर्म्मा-अखण्ड परात्पर के गर्भ में व्याप्य--अव्ययपुरुष अवश्य समाविष्ट है, किन्तु कदापि व्याप्य-अव्यय में व्यापक परात्पर गर्भीभूत नहीं होसकता। एवमेव व्यापक अव्यय की सीमा में व्याप्य अक्षर अवश्य गर्भीभूत है, किन्तु व्याप्य अक्षर के गर्भ में व्यापक अव्यय कदापि समाविष्ट नहीं होसकता। तथैव व्यापक अक्षर में तदपेक्षया व्याप्य आत्मक्षर अवश्य ही समाविष्ट होसकता है, किन्तु कदापि व्याप्य आत्म-क्षर के गर्भ में कदापि व्यापक अक्षर गर्भीभूत नहीं होसकता। अर्थात् व्यापक के गर्भ में तो व्याप्य का समावेश सम्भव है, किन्तु व्याप्य के गर्भ में व्यापक का समावेश कदापि सम्भव नहीं है, जिस इस व्यापक-व्याप्य-भावानुबन्धिनी स्थिति का ही-'न त्वहं तेषु, ते मयि'-'वे मुझ में हैं, किन्तु उनमें मैं नहीं हूँ' इत्यादि रूपेण स्पष्टीकरण हुआ है।

२३८--'षोडशी-पुरुषात्मा' से अनुगत 'विश्वप्रवेश' के सम्बन्ध में उत्थिता महती आशङ्का, और तन्निराकरण-प्रयास —

एवं सति--'विश्व' शब्द का 'विशत्यत्र--ईश्वरात्मा' इत्यादि निर्वचन का कोई भी अर्थ शेष नहीं रह जाता। और ऐसी स्थिति में विश्वापेक्षया महतोमहीयान् 'षोडशीपुरुषात्मा' का विश्वगर्भ में प्रवेश जब सम्भव ही नहीं है उसके व्यापकधर्म्मानुबन्ध से, तो फिर तथोक्त निर्वचन का समर्थन कैसे कर लिया गया ?, यही वह महत्त्वपूर्ण प्रश्न है, जिसके समन्वय के लिए ही हमें अत्र 'एकांशेन' से अनुप्राणित-'यत्किञ्चिदंश' की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना पड़ा है।

२३९--'त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः-पादोस्येहाभवत्पुनः' के माध्यम से एकांशता' का समन्वय-प्रयास—

परात्पर का एकांशरूप अव्यय है, अव्यय का एकांशरूप अक्षर है, एवं अक्षर का एकांशरूप आत्मक्षर है। यों 'परात्पर--अव्यय--अक्षर--आत्मक्षर--रूपेण-चतुष्पाद्भावापन्न ब्रह्म के अव्ययादि उत्तरभावी तीनों पुरुषविवर्त्तों के साथ अपेक्षाभेदेन—'एकांश' शब्द समन्वित होरहा है। इन चारों में परात्पर-अव्यय-अक्षर-नामक तीन पादात्मक-पुरुषब्रह्म तो सर्वथैव विश्व से असंस्पृष्ट है। सस्पृष्ट है चतुर्थ पाद—स्थानीय, अक्षर का एकांशरूप-'आत्मक्षर'-विवर्त्त, जैसा कि-'त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः--पादोऽस्येहाभवत्--पुनः' इत्यादि मन्त्रवर्णन से प्रमाणित है।

२४०-'तत्सृष्ट्वा-तदेवानुप्राविशत्' के माध्यम से विश्वात्मानुबन्धिनी 'एकांशाता' का समन्वय-प्रयास—

एकांशरूप आत्मक्षर ही अपने एकांशरूप--यत्किञ्चिदंशरूप—चतुर्थ—प्रक्रम के माध्यम से विश्वस्वरूप का प्रवर्त्तक बना हुआ है। एवं अभिन्नसत्तानिबन्धन—कार्य्य-कारणानुबन्ध से आत्मक्षरसत्ता ही क्योंकि पुरात्मिका विश्वसत्ता की स्वरूप—समर्पिका बनी हुई है। एतावता ही--'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्रविशत्' यह पारिभाषिक सिद्धान्त व्यवस्थित होगया है, जिसका ऋजुभावापन्न यही अक्षरार्थ है कि--'उसे उत्पन्न कर वह उसी में प्रविष्ट होगया'। यह प्रवेश-यत्किञ्चिदंश से ही अनुप्राणित माना जायगा।

२४१–सुवर्णतः उत्पन्न कटक-कुण्डलादिरूप लौकिक-उदाहरण के माध्यम से स्थिति का स्पष्टीकरण—

"सुवर्ण ने कुण्डल उत्पन्न किया, उत्पन्न कर वह सुवर्ण कुण्डल में ही प्रविष्ट होगया", इस लौकिक--उदाहरण से भी एकांशतानुगता यत्किञ्चिदंशता का भलीभाँति समन्वय होजाता है। अवश्य ही कुण्डल को उत्पन्न कर उत्पादक सुवर्ण कुण्डल में हीं प्रविष्ट है, किन्तु यत्किञ्चिदंश से ही। कदापि सम्पूर्ण सुवर्ण एकहेलया कुण्डल में समाविष्ट नहीं होसकता। कुण्डलातिरिक्त भी सुवर्ण की व्यापक-सत्ता निर्बाध-रूपेण अवस्थित है ही। वही एकांशतानुगत--गर्भीभाव षोडशीपुरुषात्मक ईश्वर, तथा तच्छरीरूप विश्व के सम्बन्ध में समन्वित समझना चाहिए।

२४२-'येयं प्रेते विचिकित्साऽस्ति'-मूलक दार्शनिक-व्यामोहन से अनुगता 'विचिकित्सा'-

उक्त तथ्य का यही तात्पर्य्य हुआ कि-"**शरीर ही आत्मा की सीमा में प्रविष्ट है। कदापि आत्मा शरीर की सीमा में प्रविष्ट नहीं है**"। क्योंकि आत्मा व्यापक है, शरीर व्याप्य है। व्यापक में ही व्याप्य समाविष्ट होसकता है, होता है। आत्मा के आधार पर ही शरीर प्रतिष्ठित है, न कि शरीर के आधार पर आत्मा। 'येयं प्रेते विचिकित्साऽस्ति' मूलक दार्शनिक--व्यामोहन इसी दृष्टिबिन्दु के द्वारा उपशान्त होता है।

२४३-व्यापकधर्म्मा आत्मा में शरीर, एवं व्याप्यधर्म्मा जीव का शरीर में प्रवेश, तथा तन्निबन्धना-रहस्यपूर्णा स्थिति—

'शरीर में आत्मा है, और वह शरीर से निकल गया, किंवा शरीर में आत्मा प्रविष्ट होगया' इसप्रकार की भ्रान्तिपूर्णा विचिकित्सा ने ही तो **अनात्मवादात्मक-शून्यवाद**को जन्म दिया है, इसी भ्रान्ति ने तो **संशयात्मक स्याद्वाद** उत्पन्न किया है, जिस इत्थंभूता महामोहमयी भ्रान्ति का एकमात्र कारण **है--'जीव' और 'आत्मा'**, इन दोनों शब्दों को पर्य्याय मान बैठना। आत्मा जहाँ अव्ययपुरुषानुबन्धी है, वहाँ जीव अक्षरप्रकृतिनिबन्धन है *। **आत्मा में जहाँ 'शरीर है, वहाँ शरीर में 'जीव' है। आत्मा व्यापक है, जीव व्यापक है। आत्मा पुरुष है, जीव प्रकृति है।**

२४४-मानवेतर-प्राणियों का जीवत्त्व, एवं मानव का आत्मस्वरूपाभिव्यक्तित्त्व—

मानवेतर यच्चयावत् प्राणियों के शरीर में जहाँ प्रकृतिनिबन्धन--'जीव' का प्राधान्य है, वहाँ एकमात्र मानव में ही 'आत्म स्वस्वरूप से अभिव्यक्त है, जिस इस अत्यन्त रहस्यपूर्ण--पारिभाषिक--तथ्य का--**'मानव-स्वरूपमीमांसा'** नामक स्वतन्त्र--निबन्ध में विस्तार से स्पष्टीकरण किया जाचुका है, इत्यलमतिपल्लवितेन व्यापक--व्याप्य--भावानुगत--स्वरूपविश्लेषण-प्रसङ्गेनेति पुनः प्रकृतमनुसरामः।

२४५-'नाहं प्रकाशः सर्वस्य'-मूलक-प्रच्छन्न-'गूढोत्मा' का संस्मरण-

पञ्चपुरात्मक--विश्व में क्योंकि षोडशीपुरुष निगूढ--प्रच्छन्न--रहता है। अतएव इसका एक पारि--भाषिक नाम होगया है--'गूढोत्मा' ÷। पञ्चप्राणस्थानीय--विश्व में (अपने सुसूक्ष्मधर्म्म से) अन्तर्निगूढ

***-इतस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।**
जीवभूतां महाबाहो! ययेदं धार्य्यते जगत्॥
--गीता

÷--एष सर्वेषु भूतेषु 'गूढोत्मा' न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥
—कठोपनिषत्

कितने ही संशोधकोंनें-'गूढोत्मा' के स्थान में--'गूढात्मा' रूपेण संशोधन कर लिया है, जो कि एकान्ततः भ्रान्तिपूर्ण ही माना जायगा। विस्तार के लिए तद्ववचनानुगत **'कठोपनिषद्विज्ञानभाष्य' ही द्रष्टव्य है।**

रहने के कारण ही उस त्रिपुरुष--पुरुषात्मक--षोडशी को-'गूढोत्मा' कहना अन्वर्थ बनता है, जिसका अस्मदादि विश्वबन्धनासक्त सामान्य जनों को साक्षात्कार नहीं हुआ करता, जैसा कि-'**नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया-समावृतः**' इत्यादि वचन से भी स्पष्ट है।

२४६-पुरुष, और प्रकृति भावों से अनुप्राणित सापेक्षभावनिबन्धन-पारम्परिक-विपर्य्यय का स्वरूप-समन्वय -

पर-पुरुष (अव्ययपुरुष) में भी पर अवस्थित होने से '**परात्पर**' नाम से प्रसिद्ध अखण्ड-आत्म-ब्रह्मरूप 'तत्' का प्रथम विस्तार ही 'अव्यय' है, जो त्रिकालाबाधित '**पुरुष**' ही माना गया है। इस पुरुष का अन्तरङ्गप्रकृतिरूप अक्षर ही अव्ययापेक्षया '**प्रकृति**' है, एवं अक्षरापेक्षया आत्मक्षररूपा प्रकृति '**विकृति**' है। किन्तु विश्वसृट्-पञ्चजन-पुरञ्जन-गर्भित-पञ्चपुरात्मक-पाञ्चभौतिक-प्रकृति-विश्व की अपेक्षा से विकृति-रूप आत्मक्षर, तथा प्रकृतिरूप अक्षर भी आत्मपुरुषकोटि में हीं अन्तर्भुक्त मान लिए जाते हैं। फलस्वरूप **परात्पराभिन्न--अव्यय--अक्षर--क्षर--की समष्टि** अब [विश्वापेक्षया] '**पुरुष**' का स्थान ग्रहण कर लेती है, एवं **विश्वसृट् से अभिन्न पञ्चजन--पुरञ्जन--पुर--की समष्टि** '**प्रकृति**' का स्थान ग्रहण कर लेती है।

२४७-'य आविवेश भुवनानि विश्वा' मूलक-'निगूढोत्मा', एवं षोडशी-प्रजापति की--'पुरुष', और-'षोडशी'-अभिधाओं का समन्वय-

आत्मक्षरापेक्षया अक्षर को अन्तरङ्गप्रकृति कहा जायगा, तो तदपेक्षया आत्मक्षर को बहिरङ्गप्रकृति मान लिया जायगा। और अब प्राकृतिक-विश्वानुबन्धेन-अक्षरात्मक्षर की-समष्टि--को जहाँ--'**अन्तरङ्गप्रकृति**' मान लिया जायगा, वहाँ विश्वसृट्-पञ्चजन-पुरञ्जन-गर्भित-पुरात्मक-विश्व की समष्टि को '**बहिरङ्गप्रकृति**' नाम से व्यवहृत किया जायगा। और इत्थंभूता-पञ्चप्राणात्मिका बहिरङ्गप्रकृति से [विश्व से] समन्वित त्रिपुरुषपुरुषात्मक षोडशी-पुरुष को ही-"**निगूढोत्मा**" कहा जायगा, जब कि विश्वसीमा से असंस्पृष्ट केवल षोडशी की तो-"**य आविवेश भुवनानि विश्वा**" रूपेण केवल-"**षोडशी**" ही कहा जायगा।

२४८-पुरुषानुगत पारिभाषिक-'आत्मा'-नुगत-शब्द-व्यवहार की सापेक्षभावनिबन्धना क्रमव्याप्ति का स्पष्टीकरण-

क्योंकि अब '**पुरुष**' का स्थान षोडशीपुरुष से अनुप्राणित है, एवं '**प्रकृति**' का स्थान पञ्चप्राण-समष्टिरूप पुरात्मक विश्व ने ग्रहण कर लिया है, अतएव '**षोडशी**' को हम '**त्रिपुरुषात्मकपुरुष**' कहेंगे, एवं विश्व को '**पञ्चक्षरप्रकृति**' कहेंगे। तथा इसी आधार पर अब हमें इसी तथ्य का अनुगमन कर लेना पड़ेगा कि--जिस प्रकार **उक्थ, एवं अर्क** का परस्पर घनिष्ठ-सम्बन्ध है, एवमेव उक्थ--स्थानीय आत्मपुरुष का, तथा अर्क स्थानीय-पञ्चविध-प्राकृतविवर्त्त का परस्पर अविनाभाव ही माना जायगा। उक्थरूप-आत्म-स्थानीय षोडशीपुरुष के बिना क्योंकि **अर्करूप---शरीरस्थानीय--प्राकृत-विश्व सर्वथा अनुपपन्न है**। अतएव इस विश्वप्रकृति के "प्रकृति" भावानुगता बनी रहने पर भी इसे-"आत्मा"-शब्द से समन्वित

कर लिया जाता है । फलतः इन प्राकृत-विश्वानुबन्धी--भावों के साथ भी आत्मशब्द-व्यवहार समन्वित होजाता है ।

२४६-विश्वानुबन्धी पुरभावों से अनुगत 'आत्मा'-शब्द-

प्रकृतिनिबन्धन-ईश्वरीय-अधिदैवत-विवर्त्तों के साथ भी, दूसरे शब्दों से 'पुर' लक्षण-विश्वभावों के साथ भी 'आत्मा'-शब्द समन्वित है, इस दिशा में हम पाठकों का ध्यान **पारिभाषिक-प्रकरण** की ५१--पृष्ठसंख्यानुगता उस तालिका की ओर ही आकर्षित करेंगे, जिस में दृष्टिकोणभेद से सप्तविध-आत्मविवर्त्तों का स्पष्टीकरण-प्रयास हुआ है ।

२५०-'प्राणाः' से अनुगत-पञ्चविध-प्राकृत-भावनिबन्धन-सोपाधिक-सापेक्ष-आत्म-भावों के पारिभाषिक-नामों का संस्मरण-

ईश्वरीय--गूढोत्मा का विश्वानुबन्ध से पारिभाषिक नाम होगा--**'विश्वात्मा'**,--वेदपुरञ्जनानुगत--ब्रह्मपुरात्मक--प्राणपुर नामक प्रथम **'स्वायम्भुव'**--रूप प्राकृतात्मा का पारिभाषिक नाम होगा **'सत्यात्मा'** । लोकपुरञ्जनानुगत--विष्णुपुरात्मक--आपःपुर--नामक द्वितीय--**'पारमेष्ठ्य'**--रूप प्राकृतात्मा का नाम होगा--**'यज्ञात्मा'** । देवपुरञ्जनानुगत--इन्द्रपुरात्मक---वाक्पुर--नामक तृतीय---**"सौर"** रूप प्राकृतात्माका नाम होगा--**'अधियज्ञात्मा'** । भूतपुरञ्जनानुगत--अग्निपुरात्मक--अन्नादपुर--नामक--चतुर्थ--**'भौम (पार्थिव)**-प्राकृतात्मा का नाम होगा--**'सर्वभूतान्तरात्मा'** । एवं पशुपुरञ्जनानुगत--सोमपुरात्मक--अन्नपुर--नामक-पञ्चम--**'चान्द्र'** प्राकृतात्मा का नाम होगा--**'सम्वत्सरात्मा'** । यों ईश्वरीय--आधिदैविक--त्रिपुषपुरुषात्मक-षोडशीप्रजापति-रूप--**'विश्वात्मा'**-लक्षण--उक्थरूप प्रथम--**'आत्मा'**--नामक विवर्त्त में रथनाभौ--आरा इव समर्पित--अर्पित--[प्रोत] पञ्चप्राणात्मक-अर्करूप-द्वितीय--**'प्राणाः'** नामक प्राकृतात्म-विवर्त्तपञ्चक प्रतिष्ठित होरहा है । और अब क्रमप्राप्त शेष रह जाता है-'पशु' नामक तृतीय-विवर्त्त ।

२५१-आदान-विसर्गात्मक-यज्ञ से अनुप्राणित द्विविध शीर्षभागों का संस्मरण-

उक्थ-लक्षण आत्मपर्व में अनुस्यूत-अर्कलक्षण-पञ्चविध-प्राकृतात्माओं में प्रत्येक में आदान-विसर्ग-निबन्धना ग्रहण-परित्याग-लक्षणा जो एक सहज-प्रक्रिया रहती है, उसी स्वाभाविकी-स्वरूपसंसाधिका-प्रक्रिया का नाम **है— 'यज्ञ'**, जिस के **ब्रह्मौदन, प्रवर्ग्य,** रूपेण दो शिरोभाग मान लिए गए हैं, जैसाकि-**"चत्त्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे"** इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है ।

२५२-आदानधर्म्मानुगत ब्रह्मौदन, तथा विसर्गधर्म्मानुगत-प्रवर्ग्य का स्वरूप-दिग्दर्शन-

तत्तद्वस्तुपुरों में अवस्थित--व्यवस्थित-आदानधर्म्मानुगत-उन सभी परिशिष्ट-भावों को **'ब्रह्मौदन'** रूप अन्न माना गया है, जिन के द्वारा तद्वस्तुपुरभावों का स्वरूप-सुरक्षित रहता है । एवं विसर्गधर्म्मानुगत-परित्यक्त उन-परिशिष्ट-परिग्रहों को ही-**'प्रवर्ग्य'**-रूप अन्न माना गया है, जिन का अन्य वस्तुओं के द्वारा [क्षतिपूर्ति के लिए] उपयोग होता रहता है । इसी प्रवर्ग्यान्न को **'उच्छिष्ट'** कहा गया है ।

२५३-ब्रह्मौदनानुगत-अन्तर्वित्त, एवं प्रवर्ग्यानुगत बहिर्वित्त का पारिभाषिक-समन्वय-

उदाहरण के लिए सौर वह ताप, जो सूर्य्य का स्वरूप-रक्षक बनता हुआ सूर्य्य के केन्द्र में अन्तर्य्यामि-सम्बन्ध से आबद्ध रहता है-**'ब्रह्मौदन'** कहलाएगा, जिसे कि सूर्य्यस्वरूपसंरक्षिका प्रातिस्विक-सम्पत्ति कहा

जायगा, एवं इसे ही-'अन्तर्वित्त' माना जायगा। किन्तु जो सौर-ताप सूर्य्य से पृथक् होकर वायुधरातल से समन्वित होता हुआ पार्थिव ओषधि-वनस्पतियों का परिपाक-क्रिया करता है, सौर-सीमा से त्यक्त-परित्यक्त-ओषध्यादि का परिपोषक-वही सौर ताप 'प्रवर्ग्य' माना जायगा, जिसे कि-'बहिर्वित्त' नामसे भी व्यवहृत किया जासकेगा।

२५४-'यदपश्यत्-तस्मात्-पशुः'-श्रुतिमूलक पशुतत्त्व का दिग्दर्शन-

यों ब्रह्मौदन, तथा प्रवर्ग्य-रूपेण आदान-विसर्गात्मक यज्ञ के दो विभिन्न अन्न-बने रहते हैं। इन दोनों में ब्रह्मौदन का तो वस्तुस्वरूप में हीं अन्तर्भाव है। शेष रहता है वह प्रवर्ग्यान्न, जिस का आत्मकेन्द्र से सम्बन्ध विच्छिन्न रहता है। ऐसे आत्मशून्य-निष्प्राण-बहिर्वित्तात्मक-प्रवर्ग्यान्न का नाम ही है-'पशु' *, जिसका रहस्यात्मक-निर्वचन-माना गया है-'यदपश्यत्-तस्मात्-पशुः'।

२५५-आधिदैविक-ईश्वरप्रजापति से अनुप्राणित-'आत्मा-प्राणाः-पशवः'-समष्टि-रूप-पारिभाषिक-'सत्यात्मा' का स्वरूप-समन्वय-प्रयास, और तन्निबन्धना गतार्थता-

क्या तात्पर्य्य ?। तात्पर्य्य स्पष्ट है। प्रत्यक्षदृष्ट-आकाश-वायु-सूर्य्य-चन्द्र-भूपिण्ड पुरात्मक-स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्र-पृथिवी से सर्वथा विभिन्न-तत्त्व हैं, जिस इस पारिभाषिक-तथ्य का दृश्य-स्पृश्य-भावानुबन्धी विभेद के साथ ही सम्बन्ध माना गया है। प्रत्यक्ष में प्रतीत होने वाले [दिखलाई देने वाले] सूर्य्य-चन्द्रमा-भूपिण्डादि तो वास्तविक-स्पृश्यभावानुबन्धी सूर्य्य-चन्द्रमादि से सर्वथैव विभिन्न तत्त्व हैं, जिस इस वेदव्यूहननिबन्ध-रहस्य का 'खण्डत्रयानुगत--उपनिषद्भूमिका' नामक द्विसहस्रपृष्ठात्मक-स्वतन्त्र निबन्धन में हीं स्पष्टीकरण-प्रयास-हुआ है। जो प्रतीत होरहा है है, वही तो-यदपश्यत्--प्रजापतिः'--निर्वचन से-'पशु' है, जिसके आधार प्रतीति से विदूर-प्राणात्मक स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्र-पृथिवी-'पुर' ही बने हुए हैं। और त्र्यात्मक प्रजापति की सर्वान्त की प्रत्यक्षानुगता तृतीया-'पशुकला' का यही संक्षिप्ततम-स्वरूप-दिग्दर्शन है। यही है-आधिदैविक-ईश्वर--प्रजापति से अनुप्राणित—"आत्मा--प्राणाः--पशवः" नामक तीनों-महिमा-मय-विवर्तों का सिंहावलोकनात्मक-स्वरूप-दिग्दर्शन, जिस के माध्यम से ही जीवप्रजापति से अनुप्राणित आध्यात्मिक, तथा शिविविष्टप्रजापति से अनुगत आधिभौतिक तथाकथित तीनों विवर्त्तों का स्वरूप गतार्थ-प्रमाणित हो-रहा है।

२५६-दृष्टिकोणभेदानुगत-पशुभावनिबन्धन-जीवसर्ग का संक्षिप्त-स्वरूप-दिग्दर्शन—

एक दूसरी दृष्टि से 'पशु' तत्त्व का समन्वय कीजिए, जिस दृष्टि का पञ्चप्राणात्मक-पञ्चपुरों के प्राणविध, तथा प्राणीविध-प्राकृत-जीवसर्ग से ही सम्बन्ध है, जो कि जीवसर्ग-आधिकारिक-अभिमानी-कर्म्मपरवश-आदि रूपेण अनेक श्रेणि-विभागों में विभक्त हैं ÷। स्वयम्भू के जीव प्राणप्रकृतिक हैं, इन्हें ही-'ऋषयः'

---

*-देखिए-'पारिभाषिक-प्रकरणानुगत' ५८-५७-परिच्छेद, पृष्ठ सं ८६

÷-इन जीवविभागों का संक्षिप्त स्वरूप भक्तियोग-परीक्षानुगत दोनों खण्डों में भी समन्वित हुआ हैं, जो दोनों खण्ड संस्थान की ओर से प्रकाशित होगए हैं।

कहा गया है। परमेष्ठी के जीव अप्-वायु-सोम-प्रकृतिक हैं, एवं इस दृष्टि से पारमेष्ठ्य-आप्यप्राणात्मक जीव-सर्ग आप्यजीवात्मक **असुर**, वायव्यजीवात्मक-दिव्यगन्धर्व, सौम्यजीवात्मक-दिव्यपितर, भेद से तीन वर्गों में विभक्त होजाते हैं। सूर्य्य के जीव वाक्प्रकृतिक हैं, ये ही-'**देवदेवता**' नाम से प्रसिद्ध हैं। चन्द्र-मा के जीव अन्नप्रकृतिक हैं, जिनके ब्रह्म-प्रजापति-इन्द्र-पितर-गन्धर्व-पिशाच-राक्षस-यक्ष-ये अष्टविध वर्गात्मक--नाम सुप्रसिद्ध हैं, जिन्हें कि-'अपादजीव' माना गया है। एवं पार्थिव-जीव अन्नादप्रकृतिक हैं, जिनके मनुष्य-पशु-पक्षी-कीट-कृमि-स्तम्ब-भेदेन वर्गात्मक षड्विध विवर्त्त-मान लिए गए हैं।

२५७—सांख्यानुगत चतुर्दशविध-भूतसर्ग का स्वरूप-समन्वय-प्रयास--

ग्रहोपग्रहविज्ञान के अनुसार चन्द्रमा क्योंकि पृथिवी का ही 'उपग्रह' माना गया है। अतएव-'**सोमः-पूषा च चेततुः**'-इत्यादि * सुप्रसिद्ध मन्त्रवर्णन के अनुसार '**सोम**' नामक चन्द्रमा ÷. एवं '**पूषा**' नाम की '**पृथिवी**' ×, दोनों के समष्टयात्मक युग्म को एक ही सृष्टिविवर्त्त" मान लिया जाता है। अतएव चान्द्र-अष्टविध-सर्ग, एवं पार्थिव षड्विध-सर्ग, दोनों की समष्टिरूप-चान्द्र-पार्थिव-सर्ग से अनु-प्राणित चतुर्दशविध-सर्ग को-'भूतसर्ग' नामक एक ही नाम से समन्वित मान लिया गया है।

२५८-सत्त्व-रज-स्तमो-गुणभेदभिन्ना सर्गत्रयी का दिग्दर्शन—

यही प्राधानिकशास्त्र (सांख्यशास्त्र) सम्मत,-'**चतुर्दशविधो भूतसर्गः**' रूपेण उपर्णित वह जीवसर्ग है, जिसका सांख्यदर्शन ने सत्त्व-रज-स्तमो-गुणान्विता प्रकृतित्रयी के माध्यम से **उर्ध्व-मध्य-मूल**-रूपेण त्रिधा वर्गीकरण किया है '**८—५—१**' इस संख्यानुपात से। ब्रह्मादि **अष्टविध-चान्द्रजीव** ही '**ऊर्ध्वसर्गानुगत**'-**सत्त्वविशालजीव** हैं, मनुष्यादि पञ्चविध **पार्थिवजीव** ही-'**मध्यसर्गानुगत-रजो-विशालजीव** हैं, एवं अनेकविध **स्तम्बात्मक-भौम-जीव** ही **तमोविशालजीव** हैं। इसप्रकार अन्न-प्रकृतिक, पार्थिवोपग्रहरूप चन्द्रमानुगत, तथा अन्नादप्रकृतिक-पार्थिवसंस्थानुगत जीवसर्ग समष्टिरूपेण चौदह-अवान्तर-भागों में विभक्त मान लिया जासकता है।

२५९-विश्वानुबन्धी १८८ वर्गात्मक जीवों का स्वरूप-स्पष्टीकरण—

चौदह प्रकार के चान्द्र-पार्थिव-अन्न-अन्नाद-प्रकृतिक-जीव, तैंतीस प्रकार के वाक्प्रकृतिक--सौरजीव, ९९ प्रकार के आप्य-आसुरजीव, २७ प्रकार के वायव्य-गन्धर्वजीव, ८ प्रकार के सौम्य-पितर--जीव, तीनों

---

*-सोमः पूषा च चेततुर्विश्वासां सुक्षितीनाम्।
देवत्रा रथ्योर्हिता॥
—ऋक्संहितायाम्

÷-"एष वै सोमो राजा देवानामन्नं, यच्चन्द्रमाः"।
—शतपथब्राह्मणे

×-"इयं वै पृथिवी-पूषा" (शतपथब्राह्मणे)

की समष्टिरूप–अप्प्रकृतिक–एकसौ चौतीस प्रकार के पारमेष्ठ्यजीव, एवं प्राणप्रकृतिक–सप्तविध–स्वायम्भुव जीव, इस क्रमसंख्यानुपात से स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्रमा–पृथिवी-नामक–पञ्चप्राणात्मक–विश्व के सम्भूय–१८८ प्रकार के (वर्गात्मक) जीवविभाग होजाते हैं, जैसाकि–परिलेख से स्पष्ट है ।

२६०–पञ्चप्राणात्मके-विश्वे–अन्तर्भुक्ताः–जीवाः—

१--प्राणप्रकृतिकः--स्वयम्भूः—तदनुगताः-जीवाः--ऋषयः ७

२--अप्प्रकृतिकः--परमेष्ठी—-तद्नुगताः-जीवाः-९९ असुराः, २७ गन्धर्वाः, ८ पितरः(१३४)

३--वाक्प्रकृतिकः-सूर्य्यः—- -तद्नुगताः-जीवाः-देवदेवाः-३३

४--अन्नप्रकृतिकः-चन्द्रमाः---तद्नुगताः-जीवाः-सत्त्वविशालाः-८

५--अन्नादप्रकृतिकः-भूपिण्डः-तदनुगताः-जीवाः-रजस्तमोविशालाः-६

सर्वसंकलनम्--१८८

* * *

२६१--प्रकारान्तरेण–जीवविभाग–समन्वयः—

१– { ऋषयः–७- स्वायम्भुवाः } –स्वयम्भूः–(१)–७

२– { असुराः----९९----आप्याः
गन्धर्वाः-—२७—वायव्याः
पितरः——-८—सौम्याः } -परमेष्ठी (२) १३४

३ – { यज्ञियादेवाः–३३—आग्नेयाः } –सूर्य्यः (३) -३३

४– { देवयोनिजीवाः-८—चान्द्राः } –चन्द्रमाः (४)–८

५ { तिर्य्यग्जीवाः–५—पार्थिवाः
असंज्ञजीवाः–-१—भौमाः } –पृथिवी (५)–६

* * *

२६२–जीववर्गानुगत-आनन्त्य का संस्मरण–

उक्त-देवतानुबन्धी विभाग वर्गात्मक ही माना जायगा, जिस प्रत्येक वर्ग में अगणित–असंख्य–जीवभाव समाविष्ट माने जायँगे। उदाहरण के लिए ऋषिवर्ग को ही लीजिए, जिसके अगणित–विवर्त्त माने गए हैं श्रुति के द्वारा, जैसाकि निम्नलिखित–ऋग्वर्णन से स्पष्ट है—

विरूपास इदृषयस्त इद् गम्भीरवेपसः।
तेऽङ्गिरसः सूनवस्तेऽग्नेः परिजज्ञिरे ॥
—ऋक्संहितायाम्

२६३–'पूर्णमदः-पूर्णमिदं' के रहस्यात्मक-अर्थ का समन्वय—

यही स्थिति असुर–पितर–गन्धर्व–आदि इतर–वर्गदेवताओं के साथ समन्विता है। इसी आधार पर प्राणात्मक–तथाविध देवताओं के सम्बन्ध में–**'को हि प्राणनामानन्त्यं वेद'** यह कहा गया है। इन सभी प्राणदेवताओं को हम **'ईशावास्यमिदं सर्वम्'** रूपेण ईशसत्ता से आक्रान्त–भुक्त होने से तद्भोग्य-स्थानीय–**'पशु'** मान सकते हैं, एवं इस दृष्टि से भी आत्मा–प्राणाः–पशवः–रूपा संस्थात्रयी के आधिदैविक-पशुविवर्त्त का समन्वय किया जासकता है।

'जायमानो वै जायते सर्वाभ्यः–एताभ्यः–एव–देवदेताभ्यः'–'देवेश्च जगत्सर्वं चरं स्थाणवनुपूर्वशः' इत्यादि श्रुति–स्मृति–वचनों के अनुसार–प्रवर्ग्यभावानुगत–इन तथोक्त ऋषि–असुर–गन्धर्व–पितर–देवदेवता–आदि प्राणों से ही क्योंकि सम्पूर्ण–भूतभौतिकी सृष्टि का स्वरूप–अभिव्यक्त हुआ है। दूसरे शब्दों में पञ्चप्राणात्मक–विश्व के केन्द्र में महदुक्थरूप से प्रतिष्ठित त्रिपुरुषपुरुषात्मक षोडशी–प्रजापतिरूप आधिदैविक–ईश्वर तथोक्त–प्राणात्मक–देवताओं के माध्यम से ही भौतिकस्वरूप का अवलोकन करता है, अतएव–**'यदपश्यत्–प्रजापतिः'** इस निर्वचन से भी तथोक्त जीववर्ग–समष्टि को–**'पशु'** अभिधा से समन्वित मान लिया जासकता है। और यही आधिदैविक–ईश्वरप्रजापति से अनुप्राणित–**'आत्मा–प्राणाः–पशवः'** नाम की पूर्वप्रतिज्ञाता–त्रयी का पारिभाषिक–संक्षिप्ततम–सिंहावलोकनात्मक–समन्वय–निष्कर्ष है।

तदित्थं १६४ संख्यानुगत–परिच्छेद से प्रक्रान्त होने वाले (देखिए पृ० सं० २१०)–त्रिःसत्यात्मक-त्र्यात्मक-'आत्मा–प्राणाः–पशवः'–समष्टिरूप–आधिदैविक ईश्वरप्रजापति के त्रिपुरुषपुरुषात्मक–**'आत्मा'** नामक प्रथम–पर्व का, पञ्चप्राणात्मक–पुरानुगत-विश्वानुबन्धी–**'प्राणाः'** नामक द्वितीय–पर्व का, एवं प्रवर्ग्यभाव–निबन्धन पशुभाव का, किंवा तथोक्त प्राणात्मक जीवसर्गनिबन्धन–**'पशवः'** नामक तृतीय पर्व का सिंहाव–लोकनात्मक-समन्वय-निष्कर्ष है।

इत्थंभूत समन्वय–निष्कर्ष के माध्यम से ही आध्यात्मिक, तथा आधिभौतिक–विवर्त्तों से अनुगता समन्वयात्मिका–समतुलनानुबन्धिनी स्थिति का भी स्वतः ही समन्वय गतार्थ बन जाता है, जिस इत्थंभूत समतुलनात्मक–साम्य का ही आगे के उपनिषद्वचनों के द्वारा उद्घोष हुआ है।

पूर्णमदः पूर्णमिदं, पूर्णात्–पूर्णमुदच्यते ॥
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥१।

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह ॥
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥

'पूर्णमदः'–यह वाक्य 'आधिदैविकविवर्त्त' को लक्ष्य बना रहा है, 'पूर्णमिदम्' यह वाक्य–'आध्यात्मिकविवर्त्त' की ओर सङ्केत कर रहा है, एवं–'पूर्णात् पूर्णमुदच्यते' वाक्य का मध्यस्थ–'पूर्णम्' शब्द 'आधिभौतिक–विवर्त्त' का अनुग्राहक बन रहा है। और यही मन्त्रपूर्वार्द्ध का पारिभाषिक–समन्वय है, जिस का एक दूसरे दृष्टिकोण से मन्त्रोत्तरार्द्ध के द्वारा संग्रह हुआ है। मन्त्रोत्तरार्द्ध का 'पूर्णस्य' 'भौतिकविवर्त्त' का, 'पूर्णमादाय' 'आत्मिकविवर्त्त' का एवं 'पूर्णमेव' 'दैविकविवर्त्त' का संग्राहक बना हुआ है, जिस इस रहस्यपूर्ण–पारिभाषिक–समन्वय के लिए तो तन्मन्त्रानुगत–'ईशोपनिषद्विज्ञानभाष्य' ही द्रष्टव्य है।

२६४–अधिदैवत-अध्यात्म-अधिभूत-समन्वयानुगता स्थिति का स्वरूप-विश्लेषण-प्रयास–

प्रकृत में निवेदनीय यही है कि, 'आत्मा--प्राणाः--पशवः' की समष्टिरूप-'प्रजापति' शब्द से अनुगत [1]ईश्वर–[2]जीव–[3]जगत–नामके [1]दैविक–[2]आत्मिक–[3]भौतिक–इन तीनों के-'आत्मा–प्राणाः–पशवः' नामक तीनों ही विवर्त्त-सर्वात्मना-समतुलित, एवं अभिन्न हैं, जैसाकि अग्रे निर्दिष्टा-समन्वयात्मिका-सिंहावलोकन-भावनिबन्धना-संक्षिप्ततमा तालिका से स्पष्ट है—

२६५-अधिदैवत-अध्यात्म-अधिभूत-समतुलन-प्रदर्शनपरा-संक्षिप्ततमा तालिका—

आत्मा	१	२	३
१	विश्वात्मा	गूढोत्मा	सत्त्वात्मा
प्राणाः २	१-सत्यात्मा (स्वयम्भूः)	अव्यक्तात्मा (स्वायम्भुवः)	गुहा (स्वायम्भुवी)
	२-यज्ञात्मा (परमेष्ठी)	महानात्मा (पारमेष्ठ्यः)	आपः (पारमेष्ठ्याः)
	३-अधियज्ञात्मा (सूर्य्यः)	विज्ञानात्मा (सौरः)	ज्योतिः (सौरम्)
	४-सर्वभूतान्तरात्मा (पृथिवी)	भोक्तात्मा (पार्थिवः)	रसः (पार्थिवः)
	५-सम्वत्सरात्मा (चन्द्रमाः)	प्रज्ञानात्मा (चान्द्रः)	अमृतम् (चान्द्रम्)
पशवः ३	प्रवर्ग्यभागाः १	शरीराणि २	पिण्डभावाः ३
	इति-नु-अधिदैवतम्	इति-नु-अध्यात्मम्	इति-नु-अधिभूतम्
	पूर्णमदः १	पूर्णमिदम्--पूर्णात्-- २	पूर्णमुदच्यते ३
	पूर्णमेवावशिष्यते ३	पूर्णमादाय २	पूर्णस्य १

२६६–'अध्यात्मविद्यात्त्व'-रूप पारिभाषिक-'अवच्छेदक' के–'अध्यात्मम्' शब्द का रहस्यात्मक-समन्वय-प्रयास—

सम्भवतः पाठकों को यह स्मरण होगा कि, उपनिषदों का प्रतिपाद्य प्रमुख विषय क्या है ?, किंवा उपनिषदों में क्या है ?, इस महत्त्व-प्रश्न के सम्बन्ध में ही 'अध्यात्मविद्यात्व' रूप जिस समाधान का तत्प्रश्नोत्थान के अवसर पर ही जो सङ्केत हुआ था *, उस प्रारम्भिक सङ्केत के स्पष्टीकरण के लिए ही अनेक दृष्टियों से तत्प्रश्न–समाधान-प्रयास अबतक प्रक्रान्त रहा, जिस तथाभूता प्रक्रान्ति के द्वारा अब हमें इसी निष्कर्ष का अनुगमन कर लेना पड़ता है कि—

उपनिषच्छास्त्र जिस–'अध्यात्मविद्या' को अपना प्रमुख लक्ष्य बना रहा है, उस अध्यात्मविद्या से अनुप्राणित, अत्यन्त ही पारिभाषिक–अध्यात्म शब्द का अधि-आत्मम् रूपेण यही समन्वय है कि,–आधिदैविक–विश्वात्मा, आध्यात्मिक-गूढोत्मा, एवं आधिभौतिक सत्यात्मा, रूपेण अपने महिमा-मय तीन विवर्त्तों से त्रिधा–विभक्त, 'त्रिपुरुषपुरुषपुरुषात्मा' 'आत्मा' नामक तत्त्व तो सम्पूर्ण उपनिषदों का एकमात्र अभिन्न लक्ष्य है, जिसके साथ 'देही–भूतात्मा' का सम्बन्ध करा देना ही उपनिषन्मात्र का प्रमुख निष्कर्ष माना गया है।

'आत्मानं-अधि'–ही 'अध्यात्मम्' का निर्वचनात्मक समन्वय है, जिस इस आत्मा के साथ पञ्चप्राणात्मक 'प्राणाः', एवं 'पशवः' नामक दोनों तत्त्व भी अनिवार्य्यरूपेण–समाविष्ट रहते हैं। अथवा तो यह कहना अधिक सुसङ्गत होगा कि–'आत्मा' शब्द नित्यसापेक्ष शब्द है। बिना 'प्राणाः', और 'पशवः' के 'आत्मा' शब्द सर्वथैव अनुपन्न, किंवा स्वस्वरूप से अनभिव्यक्त ही है।

२६७–उपनिषत्-प्रतिपाद्य-तत्त्व से अनुगत 'मुक्त'–भावानुबन्धी अखण्डात्मा, एवं 'रक्त' भावानुबन्धी 'खण्डात्मा' का समन्वय, और तन्निबन्धना 'मुक्तरक्तोपाधि' का संस्मरण—

अतएव प्रधानरूपेण आत्मलक्ष्यीभूत भी उपनिषच्छास्त्र साधन-द्वार-रूपेण–तदपेक्षापूरक 'प्राणाः', और 'पशवः' को भी अनिवार्य्यरूपेण लक्ष्य बनाए रहते हैं। अर्थात् उपनिषच्छास्त्र उस सापेक्ष–आत्मा का ही प्राण, तथा पशु–माध्यमेन–द्वारेण–निरूपण करता है, जो कि सापेक्ष आत्मा अपने आत्मभाव से सर्वत्र–समरूपेण समवस्थित–प्रतिष्ठित–रहता हुआ भी प्राणापेक्षया प्रकृतिभेद-निबन्धन अनेक उन सोपाधिक भावों में विभक्त रहता है, जिन सोपाधिक–प्राणनिबन्धन–पर्वात्मभावों को 'खण्डात्मा' कहा गया है, एवं जिन इन प्राणविध–खण्डात्म–द्वारों के माध्यम से ही उपनिषच्छास्त्रने अखण्ड–विश्वात्मरूप, किंवा निगूढात्मरूप उस विश्वात्मा के साथ देही–कर्म्मभोक्ता भूतात्मा-का सायुज्य–संस्थापन कर रहा है, जिस सायुज्य की अभि–व्यक्ति के अनन्तर कर्म्मात्मा का सीमाबन्धनानुगत-मृत्युपाश से सदा के लिए विमुञ्चन होजाया करता है। अतएव उपनिषत् की भाषा में जो मुक्तात्मा मानवश्रेष्ठ लोकसंग्रहदृष्ट्या विश्वभावों में 'रक्त' बना रहता हुआ भी अपनी 'विदेहमुक्त' नामकी अभिधा को अक्षरशः चरितार्थ करता हुआ–'मुक्तरक्त'–उपाधि से समन्वित रहता है।

*–देखिए पृष्ठ सं० १२८ से १३१ पर्य्यन्त के परिच्छेद।

२६८–'चान्द्रभावनिबन्धन-प्रज्ञानात्मा' से अनुप्राणित-तलवकारोपनिषद्विज्ञानभाष्य—

पुनश्च तथाविध निष्कर्षार्थ का निष्कर्षार्थ यही निकलता है कि, उपनिषच्छास्त्र के-'अध्यात्मम्' का कदापि निरपेक्ष–वैसे लोकातीत–निर्विशेष–परात्पर–के साथ–यत्किञ्चित् भी तो सम्बन्ध नहीं है, जो विश्वातीत–निर्विशेष-ब्रह्म शब्दातीत माना गया है। अतएव शब्दशास्त्र जिस के संस्पर्शात्मक संस्मरण में भी सर्वथैव असमर्थ ही बने रहते हैं। अपितु उपनिषदों का लक्ष्यीभूत 'अध्यात्मम्' तो वह सापेक्ष-आध्यात्म है, जिस के **'आत्मा–प्राणाः-पशवः'**-रूप त्रिविध-अपेक्षापूरक-विवर्त्त माने गए हैं।

इत्थंभूत निष्कर्षार्थ के आधार पर ही अब प्रक्रान्त **'तलवकारोपनिषद्विज्ञानभाष्य'** (**'केनोपनिषद्विज्ञानभाष्य'**) के सम्बन्ध में भी हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँचना कि–इस उपनिषत् का सामान्य लक्ष्य तो त्रिपुरुषपुरुषात्मरूप-आधिदैविक-ईश्वरप्रजापतिरूप-**'आत्मा'** नामक-**'ब्रह्म'** ही है। किन्तु तत्प्राप्ति का द्वारभूत खण्डात्मा तथोक्त पञ्चविध-प्राणात्माओं में से-**'चान्द्रभावनिबन्धन-सम्वत्सरात्माभिन्न-प्रज्ञानात्मा'** ही बना हुआ है।

"चान्द्र-प्रज्ञानात्मा के माध्यम से, किंवा द्वार से देही-कर्म्मात्मा को लक्ष्यीभूत त्रिपुरुषपुरुषात्मक 'आत्मब्रह्म' का बोध करा देना ही प्रस्तुत उपनिषत् का सम्पूर्ण-अर्थसमन्वय है"। इसी आधार पर इस उपनिषत् को पूर्वपरिच्छेदों में यत्र तत्र हमने **"प्रज्ञानात्मपरकोपनिषत्"**–अभिधा से ही समन्वित माना है।

दार्शनिक-दृष्टि के अनुबन्ध से उपनिषच्छास्त्र के सम्बन्ध में क्योंकि-**'सर्वे वेदान्ताः'** उपनिषद्-इति **यावत्**) लक्षणा महती भ्रान्ति-अभिव्यक्त होपड़ी है। अतएव उपनिषन्निष्कर्षरूप-'अध्यात्मम्' के माध्यम से निर्विशेषभावानुबन्धिनी-विशुद्धा-ज्ञानपरा वैसी काल्पनिक-परम्पराओंनें जन्म ले लिया हैं, जिन के कारण विज्ञानसिद्ध-औपनिषद-तत्त्वार्थ विगत तीन सहस्र वर्षों से उत्तरोत्तर अभिभूत ही होता चला आरहा है।

चिरकालिक संस्कारपुटों, किंवा कुसंस्कारपुटों, की परम्परा के कारण उपनिषदों के विज्ञानसिद्ध तात्त्विक–अर्थसमन्वय का अञ्जसा समन्वय कर देने में पारिभाषिकी-कठिनता ही पदे पदे हमें पुनरुक्ति के लिए पुनः पुनः विवश कर रही है। इसी विवशता के अनुबन्ध से हमें विज्ञानसिद्धा-औपनिषदी-परिभाषाओं का दृष्टिकोण के भेद से अनेकधा समन्वय-करना पड़ रहा है, जिस इत्थंभूत पारिभाषिक–समन्वय की पुनरुक्तिमूलादृढसंस्कारात्मिका-प्रवृत्ति के बिना तथोक्त–दार्शनिक–संस्कारपुटों, से आत्मपरित्राण कर लेना कठिन ही बन सकता हैं।

२६९–'प्रजापति के पारिभाषिक-महिमा--मय-त्रिविध-विवर्त्तों का स्पष्टीकरण-प्रयास—

तथाविध-स्पष्टीकरण के अनुबन्ध से ही 'अध्यात्म' शब्द के सम्बन्ध में पुनरपि एक विशेष-दृष्टिकोण के माध्यम से किञ्चिदिव निवेदन कर देना अनिवार्य्य बन रहा है। जैसाकि स्पष्ट किया गया है-"[1]आत्मा-[2]प्राण-[3]पशु' की समष्टि ही 'प्रजापति' है, एवं ये ही तीनों विवर्त्त क्रमशः पुरुष-प्रकृति-विकृति–रूपेण वेद-शास्त्र में सपन्वित हुए हैं।

इन तीनों की समष्टि रूप-'प्रजापति'--तत्त्व-**'ईश्वर-जीव-जगत्'**–रूपेण तीन विवर्त्तभावों में परिणत रहता है, जिन तीनों के ही साथ (प्रत्येक के ही साथ) आत्मा-प्राणा-पशवः-ये तीनों प्रक्रम-समन्वित रहते हैं। और त्र्यात्मक त्र्यात्मक इन-तीनों प्रजापति-विवर्त्तों को ही क्रमशः **'अधिदैवत-अध्यात्म-अधिभूत'** अभिधाओं से समन्वित माना गया है।

एक ही के तीन विवर्त्त कैसे होगए ?, प्रश्न का समाधान **पुरुषात्मक-अव्ययभाव प्रकृत्यात्मक अक्षरभाव**, एवं **विकृत्यात्मक क्षरभाव**, ही बने हुए हैं, जिस का तात्पर्य्यार्थ यही है कि-'**प्राण-पशुगर्भित-आत्मप्रधान प्रजापति-विवर्त्त का ही नाम अधिदैवतभावनिबन्धन-ईश्वरविवर्त्त है**। **आत्मा-पशु-गर्भित-प्राणप्रधान प्रजापतिविवर्त्त का ही नाम अध्यात्मभावनिबन्धन-जीवविवर्त्त (मानवविवर्त्त) है**। **एवं आत्मा-प्राण-गर्भित-पशुप्रधान-प्रजापतिविवर्त्त का ही नाम अधिभूत-भावनिबन्धन--जगद्विवर्त्त है**।

अर्थात्-'**पुरुष**' नाम से प्रसिद्ध **अव्ययरूप-'आत्मभाव**' जिस में प्रधानरूपेण अभिव्यक्त रहता है, उस '**पुरुषाव्ययप्रधानसंस्थान**' को ही '**अधिदैवतानुगत-ईश्वर-प्रजापति**' माना गया है। '**प्रकृति**' नाम से प्रसिद्ध-'**अक्षररूप-प्राणभाव**' जिस में प्रधानरूपेण अभिव्यक्त रहता है, उस **प्रकृत्यक्षरप्रधानसंस्थान** को ही **अध्यात्मानुगत-जीवप्रजापति (मानवप्रजापति)** माना गया है। एवं '**विकृति**' नामसे प्रसिद्ध-'**आत्मक्षररूप-पशुभाव**' जिस में प्रधानरूपेण अभिव्यक्त रहता है, उस **विकृति-क्षरप्रधान-संस्थान को ही अधिभूतानुगत-शिपिविष्टप्रजापति** कहा गया है।

इसप्रकार **पुरुषाव्यय-प्रकृत्यक्षर-विकृतिक्षर**-इन तीनों की क्रमिक-प्रधानता से, एवं शेष दो दो भावों की गौणता से एक ही प्रजापति त्रिसंस्था के रूप में परिणत होरहा है, इस तथ्य के आधार पर ही-'**आत्मा उ एकः सन्नेतत्-त्रयम्**'-'**त्रयं सदेकमयमात्मा**।'-इत्यादि राद्धान्त व्यवस्थित हुए हैं ऋषिप्रज्ञा के द्वारा।

१-आत्मा-पुरुषः-(अव्ययात्मकः)
२-प्राणाः-प्रकृतिः-(अक्षरात्मिका) } **समष्टिः 'प्रजापतिः'**
३-पशवः-विकृतिः-(क्षरात्मिका)

* * *

१ अधिदैवतम्	१-आत्मपुरुषः-अव्ययात्मकः २-प्राणप्रकृतिः--अक्षरात्मिका ३-पशुविकृतिः--क्षरात्मिका	प्रथमा-व्यष्टिः-'ईश्वरप्रजापतिः'
२ अध्यात्मम्	१-प्राणप्रकृतिः-अव्ययात्मिका २-आत्मपुरुषः--अव्ययात्मकः ३-पशुविकृतिः--क्षरात्मिका	द्वितीया-व्यष्टिः- जीवप्रजापतिः'
३ अधिभूतम्	१-पशुविकृतिः-क्षरात्मिका २-प्राणप्रकृतिः--अक्षरात्मिका ३-आत्मपुरुषः--अव्ययात्मकः	तृतीया-व्यष्टिः-'शिपिविष्टप्रजापतिः'

प्रकारन्तरेण-समन्वयो-द्रष्टव्यः—

१–प्राणप्रकृति—पशुविकृति—गर्भितः-आत्मपुरुषः–त्र्यात्मक–पुरुषः–एव-'ईश्वरः'

२–आत्मपुरुष—पशुविकृति—गर्भिता-प्राणप्रकृतिः-त्र्यात्मिका-प्रकृतिः-एव-'मानवः'

३–प्राणप्रकृति—आत्मपुरुष—गर्भिता-पशुविकृतिः-त्र्यात्मिका–विकृतिः-एव-'जगत्'

* * *

प्रकारान्तरेण-समन्वयो-द्रष्टव्यः—

१–त्र्यात्मकः-पुरुषभावः—ईश्वरप्रजापतिरेव——अधिदैवतसंस्थानुगतः

२–त्र्यात्मकः-प्रकृतिभावः—जीवप्रजापतिरेव——अध्यात्मसंस्थानुगतः

३–त्र्यात्मकः-विकृतिभावः–शिपिविष्टप्रजापतिरेव–अधिभूतसंस्थानुगतः

* * *

२७०–गीतोपनिषत् सन्दर्भ से अनुप्राणित ईश्वर-जीव-जगद्विवर्त्त—

पुरुषात्मक–अव्ययभाव ही ईश्वरनिबन्धन अधिदैवतकी मूलोपनिषत् (प्रतिष्ठा) है, प्रकृत्यात्मक-अक्षरभाव ही अध्यात्म की मूलोपनिषत् है, एवं विकृत्यात्मक क्षरभाव ही अधिभूत की मूलोपनिषत् है, जैसा कि निम्न लिखित "गीतोपनिषत्"–सन्दर्भ से स्पष्टतमरूपेण प्रमाणित है—

> यो–लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय-ईश्वरः (गीता १५।१७)
> जीवभूतां महाबाहो ! ययेदं धार्य्यते जगत् (गीता ७।५)
> क्षरः सर्वाणि–भूतानि (गीता १५।१६)
> किं तद्ब्रह्म ?, किमध्यात्मं ?, किं कर्म्म ?, पुरुषोत्तम ! ।
> अधिभूतश्च किं प्रोक्तं ?, अधिदैवं किमुच्यते ? ॥
> अक्षरं ब्रह्म परमं, स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
> भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्म्मसंज्ञितः ॥
> अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
> —गीता ८।२,३,४,।

* * *

२७१–'अध्यात्म' से अनुगत, आचारसमन्वित-सत्यं-शिवं-सुन्दरं-लक्षण-औपनिषद-प्रतिपाद्य का स्वरूप-समन्वय—

पुरुषात्मा नामक–पारिभाषिक–'आत्मा' को आधार बना कर क्योंकि-तथोक्त 'ईश्वर-जीव-जगत्' भेदभिन्न त्रिविध-विवर्त्तानुगत 'अधिदैवत-अध्यात्म-अधिभूत' इन तीनों संस्थानों की, तथा तदनुगता-(प्रत्येक से अनुगता) 'आत्मा-प्राणाः-पशवः' समष्टि-रूपा-विभूतियों की व्याप्ति समन्वित हुई है, अतएव "आत्मानं-पुरुषात्मानं-अधिकृत्य-यत्–प्रवर्त्तते-तदध्यात्मम्" इस निर्वचन से दैवत-आत्मिक-भौतिक-भेदनिबन्धन-ईश्वर-जीव (मानव)-जगत्-नामक तीनों हीं तन्त्रों को-'अध्यात्मम्' नाम से अनुगत मान लिया जासकता है, एवं इसी रहस्यपूर्ण-पारिभाषिक-दृष्टिकोण के आधार पर उपनिषच्छास्त्र को 'अध्यात्मविद्या-प्रतिपादक-शास्त्र' भी कह देने में यत्किञ्चित् भी आपत्ति नहीं की जासकती, जिस इत्थंभूता पारिभाषिकी आध्यात्मिकता का उपनिद्व्याख्याता-दार्शनिकों, साम्प्रदायिकों की उस काल्पनिकी-आपातरमणीया-निरपेक्षात्मा-नुबन्धिनी निर्विशेषभावापन्ना-आध्यात्मिकता के साथ यत्किञ्चित् भी तो सम्पर्क नहीं है, जिस एवंविधा निरपेक्षाभावनिबन्धना काल्पनिकी-आध्यात्मिकता के वारुणपाशबन्धन से ही उपनिषदों का सत्यं-शिवं-सुन्दरं-लक्षण–आचारनिष्ठात्मक जीवन-सौन्दर्य विगत तीन सहस्रवर्षों से उत्तरोत्तर अभिभूत ही होता चला आरहा है, जैसाकि पूर्वोपवर्णित-विज्ञानसम्मत-पारिभाषिक त्र्यात्मक-अध्यात्म के स्वरूप-विश्लेषण का उपक्रम करते हुए समन्वयात्मक–प्रस्तुत सन्दर्भ के उपक्रम में भी दृष्टिकोणभेद से स्पष्ट किया जाचुका है। (देखिए पृष्ठसंख्या १२४–२५–परिच्छेद सं० २–३–४–५)।

२७२–कर्त्तव्यकर्म्मात्मिका–आचारप्रधाना–भूतभौतिकी–वैज्ञानिकी-जीवनसौन्दर्य्यानुगता–जीवनपद्धति से अनुप्राणित औपनिषद-प्रतिपाद्य-निष्कर्ष—

इदमत्र विशेषरूपेण-अवधेयम्-प्रक्रान्त-प्रश्न-समाधान-प्रसङ्गे नैव। "उपनिषदों में क्या है"?, इस प्रक्रान्त प्रश्न के समाधान के लिए ही 'पुरुषात्मा' से अनुप्राणित विवर्त्तभावों का विभिन्न-दृष्टिकोणों से यशोगान किया जारहा है प्रस्तुत-प्रक्रान्त-द्वितीय-प्रकरण-के माध्यम से, जिसका सहज निष्कर्ष यही निकलता है कि—"उपनिषदों में त्र्यात्मक-त्रिपर्वा-पुरुषात्मा' नामक-चिद्ब्रह्म के साथ 'प्राकृतात्मा' नामक विभिन्न-खण्डात्माओं के समष्टयात्मक, एवं व्यष्टयात्मक-माध्यमों के द्वारा कर्म्मभोक्ता-कर्म्मात्मा का सायुज्य ही स्थापित करा देने से अनुप्राणित–ईश्वरानुबन्धी आधिदैविकविज्ञान, जीवानुबन्धी (मानवानुबन्धी) आध्यात्मिक-विज्ञान, एवं जगदनुबन्धी आधिभौतिक विज्ञान, भेदभिन्न-त्रिविध-आत्मविज्ञानरूप-पारिभाषिक–अध्यात्म का ही स्वरूप–विश्लेषण हुआ है", जिस इत्थंभूत-उपनिषत्–प्रतिपाद्य से आत्मसायुज्य के साथ साथ ही मानव की कर्त्तव्यकर्म्मात्मिका–आचारप्रधाना-भूतभौतिकी-वैज्ञा-निकी–जीवनसौन्दर्य्यानुगता–जीवनपद्धति के पारिभाषिक–मूलसूत्र भी गतार्थ बन जाते हैं।

२७३–दैविक-आत्मिक-भौतिक-भेदनिबन्धना-त्रिपर्वानुगता परिभाषा से अनुगत 'अवधेय–तथ्य' का दिग्दर्शन—

असंदिग्धरूपेण हमें यह निवेदन कर देने में अणुमात्र भी संकोच नहीं होरहा कि, उपनिषदों के व्याख्याता–दार्शनिकों की विशुद्ध ज्ञानात्मरूप-काल्पनिकी-आध्यात्मिकता के विजृम्भण से ही उपनिषदों की आचारात्मिका–तथाकथिता पारिभाषिकी सूत्रावली भारत के राष्ट्रीय जीवन से सर्वथैव विस्मृता बन गई है।

और आत्मसायुज्य के साथ साथ आचारशिक्षा का भी वैज्ञानिक समन्वय करने वाला सर्वकालोपयोगी उपनिषच्छास्त्र निरपेक्षात्मज्ञानरूपा आध्यात्मिकी–भ्रान्ति से केवल वाग्विजृम्भण पर ही विश्राम ग्रहण करने लग पड़ा है, जिस इत्थंभूता तमोमयी विश्रामग्रहणवृत्ति से राष्ट्रप्रज्ञा को पुनः जागरूक करने के माङ्गलिक दृष्टिकोण से ही हमें अध्यात्म शब्द की दैविक-आत्मिक-भौतिक-भेदेन त्रिपर्वात्मिका-परिभाषा का अबतक के सन्दर्भ के द्वारा स्पष्टीकरण-प्रयास करना पड़ा है, जिसके सम्बन्ध में एक 'अवधेय-तथ्य' का दिग्दर्शन कराने के अव्यवहितोत्तरकाल में हीं प्रकृत का अनुसरण कर लिया जायगा ।

२७४–शब्दात्मक-आदेशोपदेशों का एकमात्र लक्ष्य अध्यात्मभावानुगत-मानवश्रेष्ठ—

संकल्पित–'अवधेय-तथ्य' का मानवानुबन्धी-पारिभाषिक-उस 'आध्यात्मिक' दृष्टिकोण के साथ ही सम्बन्ध है, जिसे लक्ष्य बना कर ही उपनिषच्छास्त्र, किंवा सम्पूर्ण शब्दशास्त्र प्रवृत्त हुए हैं । न तो आधिदैविक-ईश्वरतन्त्र के साथ ही विधि-निषेधात्मक-शब्दशास्त्र के आदेशोपदेशों का कोई सम्बन्ध, एवं न उस आधिभौतिक-विवर्त्त के साथ ही इत्थंभूत शब्दात्मक-आदेशोपदेशों का कोई सम्बन्ध, जो कि भौतिक-विवर्त्त कृमि-कीट-पक्षी-पशु, आदि प्राणियों के साथ, तथा ओषधि-वनस्पति-लोष्ट-पाषाणादि वर्गों के साथ ही सम्बद्ध माना गया है ।

२७५–मानवोद्बोधक-औपनिषद्-तथ्य का संस्मरण—

निष्कर्षतः ईश्वर-मानव-जगत्-इन तीनों दैविक-आत्मिक-भौतिक-नामक-विवर्त्तों में से एकमात्र–मध्यस्थ-'मानव' के उद्बोधन के लिए ही शब्दशास्त्र प्रवृत्त हुआ है, जिस इस तथ्य के आधार पर यही तथ्य संसिद्ध होता है कि, उपनिषच्छास्त्र का एकमात्र लक्ष्यीभूत वह 'मानव' ही है, जिसके उद्बोधन से ही औपनिषद्-ज्ञानविज्ञान अनुप्राणित हैं ।

२७६–उपनिषदनुगत त्रिविध-विज्ञानभावों का दिग्दर्शन—

मानव क्योंकि–अध्यात्मम् के 'दैविक-आत्मिक-भौतिक' नामक तीनों विवर्त्तों में से मध्य के 'आत्मिक' नामक अध्यात्मम् से ही समन्वित है । इसलिए भी उपनिषदों को 'अध्यात्मविद्या-प्रतिपादक–शास्त्र' कहा जासकता है, जिस कथन का स्पष्टार्थ यही अभिव्यक्त होता है कि—"उपनिषदों में-मानवानुबन्धिनी-मध्यस्था-आध्यात्मिकी-पर्वसंस्थाओं के माध्यम से ही दैविक-आत्मिक-भौतिक-भेदभिन्न–त्रिविध विज्ञान-भावों का समन्वय हुआ है" ।

२७७–'अवधेयतथ्य' से अनुगत उपनिषदों के प्रतिपाद्य का निष्कर्षार्थक-समन्वय—

तदित्थं–तथोक्त–'अवधेय'-तथ्य' के आधार पर उपनिषदों के प्रतिपाद्य-निष्कर्ष के सम्बन्ध में अब विस्पष्टरूपेण यही निवेदन कर दिया जायगा कि—"उपनिषदों की अध्यात्म विद्या में 'मानवीया अध्यात्मसंस्था' से अनुप्राणित त्रिपुरुष-पुरुषात्मक-'मानवीय-गूढोत्मा' नामक चिद्ब्रह्म का, तत्प्राप्ति-द्वारभूत-तत्र रथनाभावराविव-अर्पित-पञ्चप्राणनिबन्धन-पञ्चविध–"मानवीय-शान्तात्मा-विज्ञानात्मा-प्रज्ञानात्मा-भूतात्मा" नामक प्राकृताओं का, तथा इत्थंभूत-मानवीय-आध्यात्मिक-विवर्त्तानुबन्ध से

समन्वित ईश्वरानुगत-आधिदैविक-विज्ञान का, एवं आधिभौतिक-विज्ञान का स्पष्टीकरण-प्रयास हुआ है ।

२७८-'अध्यात्मविद्या-प्रतिपादक'-उपनिषच्छास्त्र की ज्ञानविज्ञान-समन्वितता—

अर्थात्-"उपनिषदों में प्रमुखरूपेण-मानवीय-आध्यात्मिक-विवर्त्त के माध्यम से ही आधिदैविक-आध्यात्मिक-आधिभौतिक-भेदनिबन्धन-ईश्वर-जीव-जगदनुबन्धी ज्ञानविज्ञानभावों का, तथा तत्समन्विता आचारशिक्षाओं का समन्वय हुआ है" । इसप्रकार के मानवीय-अध्यात्म की प्रधानता से भी यह ज्ञानविज्ञानात्मक-उपनिषच्छास्त्र—'अध्यात्मविद्या-प्रतिपादक-शास्त्र' नाम से लोक में प्रसिद्ध होगया है ।

२७९-समन्वयदृष्टि से अनुप्राणित षड्विध आत्मसंस्थानों का संस्मरण—

मानवनिबन्धना-अध्यात्मविद्या के प्रतिपादक-उपनिषच्छास्त्र के प्रतिपाद्य-पुरुषात्म-प्राकृतात्म-विवर्त्तों को अब समन्वयदृष्ट्या-समझने मात्र के लिए हम—'गूढोत्मा-शान्तात्मा-महानात्मा-विज्ञानात्मा-प्रज्ञानात्मा-भूतात्मा-इन ६ संस्थानों से अनुगत मान सकते हैं, जिनके कि ज्ञान-विज्ञानात्मक-स्वरूपों का आचार-निबन्धन-स्वरूप-विश्लेषण ही सम्पूर्ण-उपनिषदों का प्रतिपाद्य-निष्कर्ष है ।

२८०-'तलव' शाखा के द्रष्टा ऋषि की दृष्टि से अनुगता 'तलवकारोपनिषत्' का संस्मरण-

जैसाकि अनेकधा-स्पष्ट किया जाचुका है, सामवेदीया-'तलव' नाम की शाखा के द्रष्टा महर्षि की दृष्टि से अनुप्राणित, अतएव-'तलवकारोपनिषत्' नाम से प्रसिद्ध, एवं उत्तरगर्भित-रहस्यपूर्ण 'केन' नामक महान्-प्रश्न के स्वरूप-विश्लेषण के सम्बन्ध से—'केनोपनिषत्' नाम से सुप्रसिद्ध प्रस्तुत उपनिषत् का द्वारभूत प्राकृतात्मा तथोक्त पञ्चविध-प्राकृतात्माओं में से क्योंकि—'प्रज्ञानात्मा' नामक 'चान्द्र-आत्मा' ही है । इसी अनुबन्ध से इस उपनिषत् को हमने—'प्रज्ञानात्मवर्णनपरोपनिषत्'-अभिधा से समन्वित मान लिया है ।

२८१-केनोपनिषत् से अनुगता नामत्रयी, और द्वितीय-प्रकरणानुगत 'प्रथमसन्दर्भ' के प्रतिपाद्य-निष्कर्ष का सिंहावलोकनात्मक-संस्मरण—

तदित्थं-'तलवकारोपनिषत्'-'केनोपनिषत्'-'प्रज्ञानात्मवर्णनपरोपनिषत्'-रूपेण तीन प्रमुख-नामों से समन्विता इस उपनिषत् के द्वारभूत-साधनात्मक-चान्द्र-प्रज्ञानात्मा के साथ प्रमुखरूपेण साध्य-चिदात्मरूप-गूढोत्मा, एवं साधक-पार्थिव-भूतात्मा, नामक ही आत्माविवर्त्त हो प्रमुखस्वरूप से मीमांस्य बने रह जाते हैं । इन तीनों प्रमुख-आत्मविवर्त्तों के स्वरूप-दिग्दर्शन के लिए ही प्रस्तुत-विज्ञानभाष्य में-'माङ्गलिक-संस्मरण' नामक-प्रथम-प्रकरण के अनन्तर-समन्वित-'प्रज्ञानात्मस्वरूपानुगत-आत्मस्वरूपनिदर्शनम्' नामक-प्रक्रान्त-द्वितीय-प्रकरण पाठकों के सम्मुख उपस्थित हुआ है, जिसके अबतक के सन्दर्भ के द्वारा 'गूढोत्मा' नामक-चिद्ब्रह्म के 'त्रिपुरुष-पुरुषात्मक-स्वरूप' के वैज्ञानिक-तथ्य का ही स्वरूप-विश्लेषण-प्रयास हुआ है ।

२८२–केनोपनिषत् के प्रमुख प्रतिपाद्य गूढोत्मा-प्रज्ञानात्मा-भूतात्मा-नामक तीन विवर्त्तों का दिग्दर्शन—

उक्ता स्थिति का सन्दर्भ की दृष्टि से एक विभिन्न दृष्टिकोण से भी अभिनय किया जासकता है। जैसाकि प्रस्तुत-द्वितीय-प्रकरण के उपक्रमानुबन्धी कतिपय-प्रारम्भिक-परिच्छेदों में स्पष्ट-किया जाचुका है कि, 'तलवकारोपनिषत्'-नामकी प्रस्तुता–'केनोपनिषत्' में साध्य-साधक-साधन'-रूपेण जिन तीन आत्मविवर्त्तों का वैज्ञानिक–स्वरूप-विश्लेषण–हुआ है, मानवीया–अध्यात्म–संस्था के अनुबन्ध से वे तीनों क्रमशः- 'गूढोत्मा, प्रज्ञानात्मा, भूतात्मा' इन नामों से अनुप्राणित हैं *। गूढोत्मा ही चिद्ब्रह्म–रूप–साध्य- औपनिषदपुरुष है। प्रज्ञानात्मा चान्द्रतत्त्व है, एवं भूतात्मा पार्थिवतत्त्व है। इन तीनों हीं आत्मविवर्त्तों का केनोपनिषत् में समन्वयात्मक-संस्पर्श, किंवा संस्मरण हुआ है।

२८३–प्रक्रान्त-प्रथम-सन्दर्भ के 'नाम' का पारिभाषिक-समन्वय—

'केनोपनिषत्' का लक्ष्यीभूत-प्रमुख–साध्य–आत्मा वह 'गूढोत्मा' ही है, जिसके लिए–'ब्रह्म–तल्लक्ष्यमुच्यते' कहा जाता है। चिद्ब्रह्मरूप 'गूढोत्मा' नामक तथाविध–लक्ष्य के संस्मरणात्मक-संस्पर्श के लिए ही प्रस्तुत–संस्मरणात्मक–प्रथमसन्दर्भ–पाठकों के सम्मुख उपस्थित हुआ है, जिसके आधार पर ही प्रक्रान्त द्वितीय–प्रकरण का-'प्रज्ञानात्मस्वरूपानुगत-आत्मस्वरूप–निदर्शनम्'-लक्षण नाम अन्वर्थ बन रहा है।

२८४–साध्य-चिद्ब्रह्म'-संस्मरणात्मक-प्रथमसन्दर्भ का उपराम, एवं सन्दर्भत्रयी से अनुगत प्रक्रान्त-द्वितीय-प्रकरण—

साध्य–चिद्ब्रह्म-रूप–गूढोत्मा के साथ सायुज्य–प्राप्त करने वाला है–साधकरूप-वह 'पार्थिव–भूतात्मा', जिसे "कर्म्मभोक्ता–कर्म्मात्मा-देही-शरीराभिमानी-जीवात्मा" आदि नामों से समन्वित माना गया है। कर्म्मात्मलक्षण-देही-साधक-भूतात्मा का ही साध्य-चिद्ब्रह्म के साथ सायुज्य-सम्बन्ध-अभिव्यक्त करना है केनोपनिषत् को, जिस सम्बन्धाभिव्यक्ति का साधनरूप-मध्यस्थ द्वार बनता है–'चान्द्र–प्रज्ञानात्मा'। इस दृष्टि से चिद्ब्रह्मात्मक-साध्य-प्रमुख-लक्ष्य के अतिरिक्त अब साधकरूप भूतात्मा, एवं साधनरूप प्रज्ञानात्मा, इन दो लक्ष्यों का संस्मरणात्मक-संस्पर्श और शेष रह जाता है। तथाविध 'शेष'-भाव की पूर्त्ति के लिए ही प्रक्रान्त-द्वितीय-प्रकरण में-भूतात्मस्वरूप-संस्मरण, एवं 'प्रज्ञानात्मसंस्मरण, नामक दो संस्मरण और समाविष्ट होंगे। फलतः प्रस्तुत प्रक्रान्त द्वितीय-प्रकरण में अग्रे निर्दिष्टक्रम-रूपेण तीन-संस्मरणात्मक-सन्दर्भ-समाविष्ट मान लिए जायँगे, जिनमें से अत्र 'प्रथम-सन्दर्भ' ही उपरत होरहा है।

---

*–देखिए पृ० सं० १२३–२४–परिच्छेद सं० १,२, ।

"प्रज्ञानात्मस्वरूपानुगतं–आत्मस्वरूपनिदर्शनम्" नामक–द्वितीय–प्रकरण से–अनुप्राणित–विभिन्न तीन सन्दर्भ

* * *

* १–साध्यभावनिबन्धन-'चिद्ब्रह्म' नामक-गूढोत्मा-लक्षण-पुरुषात्मा-का संस्मरणात्मक-प्रथम–सन्दर्भ

२–साधकभावनिबन्धन - 'कर्म्मात्मा'-नामक-'भूतात्मा'–लक्षण - प्राकृतात्मा का संस्मरणात्मक-द्वितीय-सन्दर्भ

३–साधनभावनिबन्धन-'प्रज्ञानात्मा' नामक-'प्राकृतात्म'-लक्षण–विवर्त्त का संस्मरणात्मक -तृतीय-सन्दर्भ

* * *

इति–"प्रज्ञानात्मस्वरूपानुगतं–आत्मस्वरूपनिदर्शनम्"–नामके द्वितीय–प्रकरणे

चिद्ब्रह्म–संस्मरणात्मकः–प्रथमसन्दर्भः–उपरतः

प्रज्ञानात्मानुगत-गूढोत्म-स्वरूपवर्शानपरो वा प्रथमसन्दर्भः

१

---

*–प्रकारान्तेण—

(१)–प्रज्ञानात्मानुगत-गूढोत्म-स्वरूपनिरूपणपरः-प्रथमसन्दर्भः

(२)–प्रज्ञानात्मानुगतः-भूतात्मस्वरूपनिरूपणपरः— द्वितीयसन्दर्भः

(३)–प्रज्ञानात्मस्वरूप–निरूपणापरः–––– तृतीयसन्दर्भः

तदित्थं – सन्दर्भत्रयात्मकं-"प्रज्ञानात्मस्वरूपानुगतं - आत्मस्वरूपनिदशनम्" नामकं–द्वितीयं प्रकरणम्-समन्वितं-भवति

श्रीः

अथ–"प्रज्ञानात्मस्वरूपानुगतं–आत्मस्वरूपनिदर्शनम्"–नामके द्वितीय–प्रकरणे

प्रज्ञानात्मानुगत-भूतात्मस्वरूपनिरूपणपरः- द्वितीय-सन्दर्भः

"साधकभाव–निबन्धन-'भूतात्मा'–नामक-'देही'–'कर्म्मात्मा' का स्वरूप-संस्मरण" नामक–द्वितीय–सन्दर्भ

२

———*———

२८५–भूतात्मसंस्मरणात्मक द्वितीय सन्दर्भ का उपक्रम, एवं तदाधारभूत-'मध्वद'-तत्त्व—

चिद्ब्रह्मसंस्मरणात्मक-प्रथम सन्दर्भ के दृष्टिकोणभेदनिबन्धन-स्वरूप–विश्लेषण से क्योंकि भाष्यकलेवर बृहद्भाव से अनुगत होगया है। अतएव अब आगे के दोनों सन्दर्भों-(द्वितीय-तृतीय-सन्दर्भों) का संक्षेप से ही समन्वय–कर लेना समुचित होगा। इस संक्षिप्ता दृष्टि को आधार मान कर ही अब क्रमप्राप्त प्रज्ञानात्मानुगत–उस–'भूतात्मा' के पारिभाषिक–रहस्यपूर्ण–वैज्ञानिक-स्वरूप की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है, जिसे उपनिषद्भाषा में–'मध्वद' नाम से भी व्यवहृत किया गया है * ।

२८६–मधुरस से अनुगता माता पृथिवी का संस्मरण—

'मध्वद', अर्थात 'मधु का भक्षण करने वाला' जो भी कोई प्राकृतात्मा होगा, उसे ही–'मध्वद' कहा जायगा, एवं जिस इस 'मधु–रस-भक्षक–अतएव, 'मध्वद' नाम्ना प्रसिद्ध प्राकृतात्मा के स्वरूप-समन्वय के लिए हमें उस 'पृथिवी'-माता का ही आश्रय होना पड़ेगा, जिसे श्रुति ने 'रसात्मिका' माना है।

---

*–य इमं–'मध्वदं' वेद आत्मानं जीवमन्तिकात्।
ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते ॥
—कठोपनिषदि-४।५। इस मन्त्र का पारिभाषिक समन्वय सम्भवतः आगे चलकर ही होगा।

२८७ प्राणाग्निरसरूप मधु से समन्विता माता पृथिवी के मधुमय-स्वरूप का पारिभाषिक-समन्वय—

'पृथिवी'-जल-तेज-वायु-आकाश—नामक सुप्रसिद्ध-पाँचों-भूतों का समष्ट्यात्मक-सर्वभूतरसात्मक-अतएव सर्वात्मक रस पञ्चीकरणप्रक्रिया-के-उपराम-सम्बन्ध से क्योंकि पृथिवी में ही अनुगत रहता है, अतएव पृथिवी को अवश्य ही-**'सर्वरसमयी'** (**'सर्वभूतरसाधिष्ठात्री'**) कहा जासकता है, कहा गया है, जैसाकि सके-**'रसा'** नामक एक विशेष नाम से ही स्फुट है * ।

इस रस के सम्बन्ध से ही माता धरित्री-**'गोरूपधरा-पयस्विनी'** नाम से भी यत्र तत्र उपवर्णित हुई है । यह पार्थिव-रस ही वैज्ञानिकी-परिभाषा में—**'इरारस'** नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जिसके माध्यम से ही आगे चलकर (तृतीय-सन्दर्भ में) हमें **'इरारसमूर्त्ति'** उस **'प्रज्ञानब्रह्म'** के स्वरूपान्वेषण में प्रवृत्त होना है, जोकि 'प्रज्ञानब्रह्म' महर्षि ऐतरेय की भाषा में-'इरामयब्रह्मत्त्वेन--परोक्षभाषा में उसी प्रकार-**'हिरण्मयपुरुष'**÷ नाम से भी व्यवहृत होने लगता है, जैसेकि सौर-हिरण्मय-तेज से कृतरूप-**'विज्ञानब्रह्म'** को हिरण्मयत्वेनैव-**'हिरण्मय'** कहा जाता है ।

'रसो वै मधु'-(शतपथे-६।४।३।२।)-**'अपो देवा मधुमतीरगृभ्णन्'** (शतपथे-५।३।४।३।)-इत्यादि वचनों के अनुसार-पारमेष्ठ्य-सोममय-आप्य-रस का ही पारिभाषिक नाम-**'मधु'** है, जैसाकि-**'रसो वाऽआपः'** (शत० ३।३।३।१८) इत्यादि श्रुत्यन्तर से भी सङ्केतित है । रसरूप-सोममय-मधु-लक्षण-अप्तत्त्व ही क्योंकि-- **'अद्भ्यः पृथिवी'** के अनुसार पृथिवी का आरम्भणद्रव्य (उपादानद्रव्य) बनता है, इसलिए भी पार्थिवरस को-'मधु' कहना अन्वर्थ बन जाता है, और इसी अनुबन्ध से पार्थिव-भूतात्मा को-**'मध्वद्'** कहना भी गतार्थ बन रहा है ।

सर्वभूतरसात्मिका-मधुमयी-माता पृथिवी के इसी महिमामय-रसात्मक-स्वरूप के द्वारा-**"सर्वेषां वै भूतानां-पृथिवी--रसः'** इत्यादि रूप से यशोगान हुआ है । 'मधु' नामक इस पार्थिव-रस का तात्त्विक-स्वरूप माना गया है-**'प्राणाग्नि'**, जिस इस 'प्राणाग्नि' के ऊर्ध्व-रसन से ही उस मध्वदतत्त्व की अभिव्यक्ति हुई है, जिसके स्वरूप-समन्वय के लिए हमें तदाधारभूत उस आधिदैविक-पार्थिव-भूतात्मा के पारिभाषिक स्वरूप को ही लक्ष्य बना लेना पड़ेगा, जिसेकि—उपनिषत् की भाषा में-**'देवसत्य'** कहा गया है ।

***-भूभूमिरचलानन्ता-'रसा'-विश्वम्भरा-स्थिरा ।**
धरा-धरित्री-धरणी-क्षोणी-ज्या-काश्यपी-क्षितिः ॥
—अमरः २।१।२।

÷-"स इरामयः । यद्धि-इरामयः, तस्मात्-हिरण्मयः । हिरण्मयो ह वा अमुष्मिँल्लोके सम्भवति, हिरण्मयः-सर्वेभ्यो भूतेभ्यो ददृशे, य एवं वेद" । (एतरेय-आरण्यके-२।१।३) **"स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः"** । (तै० उपनिषदि २।१।१) ।

२८८–आत्म-ब्रह्म-देव-भेद से त्रिविध सत्यविवर्त्तों का संस्मरण—

आत्मसत्य[1], ब्रह्मसत्य[2], देवसत्य[3], भेद से सोपाधिक-विश्वात्मा के तीन प्रमुख विवर्त्त माने गए हैं, जिन्हें क्रमशः "३-५-३" इन साङ्केतिक-संख्याओं के द्वारा समन्वित-माना जासकता है। प्रथम-सन्दर्भ-में विस्तार से उपवर्णित, 'परात्पराभिन्न-अव्यय-अक्षर-आत्मक्षरमूर्त्ति त्रिपुरुष-पुरुषात्मा-गूढोत्मा-विश्वात्मा-ही सर्वाधारभूत–'आत्मसत्य' है, इसे ही 'पुरुषसत्य' भी कहा जासकता है।

२८९–पञ्चविध-'ब्रह्मसत्य' तत्त्व का पारिभाषिक-स्वरूप-दिग्दर्शन—

तथाविध पुरुषसत्यात्मक-आत्मसत्य के आत्मक्षरानुबन्धी-पञ्चविध-विकारक्षरों के विभूतिलक्षण-विस्तार-क्रम से अनुप्राणित विश्वसृट्[1]-पञ्चजन[2]–पुरञ्जन[3]–पुर-रूप[4] गुणभूत[1]–अणुभूत[2]––रेणुभूत[3]–भूत[4] -रूप इन चारों वैकारिकभावों की समष्टिरूप-पञ्चपर्वात्मक--स्वयम्भू[1]-परमेष्ठी[2]-सूर्य्य[3]-चन्द्रमा[4]-भूपिण्ड[5] नामक पाँचों विश्व-पर्वों की समष्टि ही दूसरा 'ब्रह्मसत्य' नामक विवर्त्त है, जिसे आकाश[1]-वायु[2]-तेज[3]-जल[4]-मृत्[5]-नामक पञ्चमहाभूतों के रूप से अस्मदादि सामान्य-जनों के लिए भी अञ्जसा ज्ञातव्य माना जासकता है।

२९०–रहस्यपूर्ण-पार्थिव-'देवसत्य' का स्वरूपोपक्रम—

किन्तु तीसरा पारिभाषिक-'देवसत्य' तो परिभाषा की विलुप्ति से, एवं सर्वोपरि काल्पनिक-अद्वैतवाद की निरपेक्षात्मरूपा महती भ्रान्ति से राष्ट्रप्रज्ञा से सर्वथैव-पराःपरावत ही--प्रमाणित होचुका है, जिस इत्थंभूत देवसत्य के तात्त्विक-स्वरूप का उस 'पृथिवीलोक' से ही सम्बन्ध है, जिस पृथिवीलोक में आत्मानुगत ब्रह्म से समन्वित, आत्मपुरुषानुगत-प्रकृतिब्रह्म से अनुगृहीत-देवभाव का ही साम्राज्य माना गया है।

२९१–'त्रिःसत्या वै देवाः' का पारिभाषिक-समन्वय—

'आत्मा' से अनुप्राणित 'पुरुषभाव', 'ब्रह्म' से अनुप्राणित 'प्रकृतिभाव', एवं 'देव' से अनुप्राणित-'विकृतिभाव', इन तीन भावों से क्रमशः समन्वित-आत्म-ब्रह्म-देव-लक्षणा-सत्यविवर्त्तत्रयी से अनुगत 'त्रिःसत्य'-भाव ही देवसत्यात्मक तृतीय विवर्त्त की प्रतिष्ठाभूमि माना गया है, एवं इसी आधार पर देवभाव को, और तदनुबन्धी देवदेवता-वर्ग को, त्रिःसत्या वै देवाः' के अनुसार-'त्रिःसत्याः' इस पारिभाषिक नाम से समन्वित माना गया है।

२९२–'भूः', और 'पृथिवी' का पार्थक्य, एवं पर्य्याय-भ्रान्ति का निराकरण—

पुरुषात्मसत्य, प्रकृतिब्रह्मसत्य, विकृतिदेवसत्य, नामक तीन सत्यों में से तृतीय-लक्ष्यीभूत-देवसत्य का उस पूर्वोक्ता रसात्मिका 'पृथिवी' से ही सम्बन्ध माना गया है, जिसका तात्त्विक स्वरूप काल्पनिकी-पर्य्याय-भ्रान्ति से सर्वथैव-अभिभूत होचुका है, जैसाकि भूः' और 'पृथिवी' शब्दों की प्रचलिता-पर्य्यायभ्रान्ति से स्पष्ट है।

२९३–ब्रह्मसत्यात्मक भूपिण्ड, एवं देवसत्यात्मिका पृथिवी का पारिभाषिक-स्वरूप-समन्वय—

समझा, और समझाया यही जारहा है कि, भूः, और पृथिवी, नामक दोनों शब्द का एक ही अर्थ है, और वह है--लोकप्रसिद्ध-वह भूपिण्ड, जिस पर आप हम सभी चराचरप्राणी निवास कर रहे हैं। विज्ञानदृष्ट्या

इस अभिन्नतार्थता का इसलिए यत्किञ्चित् भी तो महत्त्व नहीं है कि, 'भूः' जहाँ ब्रह्मसत्य का पर्व है, वहाँ 'पृथिवी' देवसत्य की आधारभूमि प्रमाणित होरही है।

२६४-स्पृश्यभूपिण्ड, एवं दृश्य पृथिवी-लोक का विभेद—

'भू' सर्वथा पृथक् वह वस्तुतत्त्व है, जिस धामच्छद भूपिण्ड पर आप-हम-सभी विचरण करते रहते हैं। एवं 'पृथिवी' इस भूपिण्ड से सर्वथैव पृथक्तत्त्व है, जिसमें पुराणशास्त्रोपवर्णित **सप्तसमुद्र-सप्तरस सप्तवायु**-आदि आदि अनेक सप्तक प्रतिष्ठित हैं। 'भू' वह है, जिसका स्पर्श तो सम्भव है, किन्तु दर्शन सम्भव नहीं।

२६५-पृथिवी से अनुगता 'स्तौम्यत्रिलोकी'—

एवमेव **'पृथिवी'** वह है, जिसका दर्शन तो सम्भव है, किन्तु स्पर्श सम्भव नहीं। **'भू'** वह है, जिसमें **''आपः-फेन-मृत्-सिकता-शर्करा-अश्मा-अयः-हिरण्य''**-नामक आठ प्रकार की-चितियाँ समन्वित हुईं हैं, एवं पृथिवी वह है, जिसमें—**'पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौः-आपः'**-नामक चतुर्विध वे लोक प्रतिष्ठित हैं, जिन पार्थिव-लोकों की समष्टि को-**'स्तौम्यत्रिलोकी'** कहा गया है, जिस इत्थंभूता पार्थिवी-स्तौम्यत्रिलोकी का मौलिक-आधार-ब्रह्मसत्यानुगता उस-**'उदूढत्रिलोकी'** को ही माना गया है, जिसे कि वैज्ञानिक-लोग-**'त्रिलोक्यत्रिलोकी'** नाम से व्यवहृत किया करते हैं।

२६६-रहस्यभावान्विता 'त्रैलोक्य-त्रिलोकी' का स्वरूप-दिग्दर्शन, एवं तत्सम्बन्ध में महर्षि दीर्घतमा के द्वारा-वैज्ञानिक-समन्वय—

'त्रैलोक्य-त्रिलोकी' शब्द-श्रवण से-सम्भव है आज का दार्शनिक-विद्वान् चौंक पड़े। किन्तु **'लोके वेदे च'** सूत्रस्वारस्यानुगता आर्षपरम्परा के अंशभूत-लौकिक-व्यवहार से अनुगत मादृश-ग्रामीण के लिए तो इस शब्द में चौंक पड़ने जैसी कोई बात नहीं है, जो अपनी ग्रामीणभाषा में-अमुक-विशेष दृष्टिकोण से **'अरे। मुझे तो तीन तिरलोकी दिखाई देने लगी अमुक काम में'**-इसप्रकार से-**'तीन तिरलोकी'** (**'त्रैलोक्य-त्रिलोकी'**) शब्द का अनुगमन करता देखा सुना गया है।

पृथिवी, और **भूपिण्ड** के विज्ञानसिद्ध इत्थंभूत-विभक्त-तथ्य के व्यवच्छेदात्मक-**समन्वय** के आधार पर ही क्योंकि-देवसत्य के पारिभाषिक-स्वरूप का गतार्थ बन सकता है, एवं तथाविध-व्यवच्छेदात्मक समन्वय क्योंकि 'त्रैलोक्य-त्रिलोकी' के वैज्ञानिक-समन्वय पर ही निर्भर है, अतएव अत्यन्त ही संक्षेप से उदूढत्रिलोकी-निबन्धन-पारिभाषिकी उस त्रैलोक्य-त्रिलोकी की ओर ही देवसत्यनिष्ठों का ध्यान आकर्षित किया जारहा है, जिसका कि सूत्ररूपेण महामहर्षि दीर्घतमा के द्वारा निम्न लिखित शब्दों में सङ्केत हुआ है—

तिस्रो मातॄस्त्रीन् पितॄन् बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमवग्लापयन्ति ।
मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वविदं वाचमविश्वमिन्वाम् ॥

—ऋग्वेदसंहिता-१।१६४।१०।

'द्यौष्पितः–पृथिवि मातः०' इत्यादि ऋग्वेदीय–मन्त्रवर्णानुसार * द्यु लोक का पारिभाषिक नाम जहाँ-'पिता' है, वहाँ पृथिवी-लोक की पारिभाषिकी अभिधा-'माता' नाम से प्रसिद्ध हुई है। "तिस्रो मातृ स्त्रीन् पितृ न्०" इत्यादि अस्यवामीयसूक्तानुगत-रहस्यात्मक-मन्त्रभाग के अर्थ समन्वय के आधार पर ही क्योंकि प्रक्रान्त पारिभाषिक-तथ्य का समन्वय गतार्थ बन जकता है। अतएव संक्षेप से-'तिस्रो मातृ स्त्रीन्-पितृ न्०'–इत्यादि मन्त्र के पारिभाषिक-अक्षरार्थ-समन्वय को ही अत्र व्यक्त कर दिया जाता है।

पारिभाषिक-तथ्यों की विलुप्ति के कारण वेदभाष्यकार श्रीसायणचार्य्यने उक्त मन्त्र का जो अक्षरार्थ किया है, उसे भी हम यहाँ संक्षेप से उद्धृत कर रहे हैं। एवं पारिभाषिक-तथ्यों के माध्यम से सर्वथा ऋजुभाव से मन्त्र का जो अक्षरार्थ अभिव्यक्त होरहा है, वह भी यहाँ प्रस्तुत है। दोनों के समतुलनात्मक-दृष्टिकोण के माध्यम से पाठकों को अपनी ऋजुप्रज्ञा के द्वारा अब यह स्वयं ही निर्णय कर लेना है कि, दोनों अर्थों में कौनसा अर्थ तो वस्तुस्थिति का संस्पर्श कर रहा है ?, एवं कौनसा अर्थ केवल वाग्विजृम्भण पर ही विश्रान्त होरहा है ?।

२६७–श्रीसायणाचार्य्य के दृष्टिकोण का दिग्दर्शन—

श्रीसायणाचार्य्यसम्मत–अर्थ का निष्कर्ष यही है कि "एक, अर्थात् प्रधानभूत–किंवा असहाय पुत्रस्थानीय आदित्य, किंवा सम्वत्सर नाम से प्रसिद्ध काल ही तीन माताओं को, अर्थात् अन्नादि की उत्पादनकर्त्री–क्षित्यादि-लोकत्रयी को, तथा तीन पिताओं को, अर्थात् जगत् के पालन-कर्त्ता-तीन लोकों के अभिमानी अग्नि–वायु–सूर्य्य-नामक-तीनों देवताओं को धारण करता हुआ ऊर्ध्व प्रतिष्ठित है, अर्थात् भूत-भविष्यत्-रूपेण सब से उन्नत है। सूर्य्यपक्ष में सबसे ऊपर है। इस काल को, अथवा आदित्य को अन्य कोई भी तो पराभूत-नहीं कर सकता। द्यु लोक के ऊपर, अर्थात् अन्तरिक्ष में वे तीनों देवता परस्पर गुप्तमन्त्रणा किया करते हैं। अर्थात् विश्ववेदन समर्था–असर्वव्यापिनी–गर्जितलक्षणा–आदित्य–सम्बन्धिनी–वाक् को लक्ष्य बना कर देवताओं में परस्पर मन्त्रणा होती रहती है" ÷।

---

*-द्यौष्पितः पृथिवि मातरध्रुगग्ने भ्रातर्वसवो मृडतानः।
विश्वा आदित्या अदिते सजोषा अस्मभ्यं शर्म बहुलं वियन्त॥
— ऋक्संहिता ६।५१।५।

÷–'एकः–प्रधानभूतः–असहायो वा पुत्रस्थानीयः–आदित्यः, सम्वत्सराख्यः–कालो वा तिस्रो मातृः–सस्यव्रष्ट्याद्युत्पादयित्रीः–क्षित्यादिलोकत्रयानित्यर्थः, तथा त्रीन् पितृन्-जगतां पालयितृन् लोकत्रयाभिमानिनो–ऽग्निवायुसूर्याख्यान् बिभ्रत्-सन्-ऊर्ध्वस्तस्थौ, उन्नतः–अत्यन्तदीर्घस्तिष्ठति–भूतभविष्यदाद्यात्मना। सूर्य्यपक्षे–सर्वेभ्य–उन्नतः। ईमेनं नावग्लापयन्ति, ग्लानिं नैव कुर्वन्ति, नहि काल–आदित्यो वा अन्येन पराभूयते। दिवः पृष्ठे-द्युलोकस्योपरि-अन्तरिक्षे–मन्त्रयन्ते–गुप्तं परस्परं-भाषन्ते देवाः। किं ?, विश्वविदं विश्ववेदनसमर्थां–विश्वैर्वेदनीयां वा-अविश्वमिन्वां-असर्वव्यापिनीं-वाचं–गर्जितलक्षणां–अमुष्य–आदित्यसम्बन्धिनीं मन्त्रयन्ते"-इत्यर्थः—

—सायणभाष्य का अविकलरूप (ऋक् १।१६४।१०)।

२९८--विज्ञानसिद्ध-पारिभाषिक-दृष्टिकोण का दिग्दर्शन—

परिभाषा- सम्मत, सर्वथैव-ऋजुभावापन्न-अक्षरार्थ का समन्वय निम्न लिखित-रूप से ही समन्वित-माना जायगा कि—"तीन द्युलोकों को, तथा तीन पृथिवी-लोकों को (तदनुबन्धनैत्र-तन्मध्यस्थानीय-तीन अन्तरिक्षलोकों को, तदित्थं सम्भूय ९-नौ-लोकों को, अर्थात् तीनों त्रिलोकियों को, किंवा 'त्रैलोक्य-त्रिलोकी' को) किसी एक तत्त्व ने अपने ऊपर धारण कर रक्खा है। अर्थात् त्रैलोक्य-त्रिलोकी के अवान्तरलोकात्मक-द्यावापृथिवी-विवर्त्तों के भार को किसी एकाकी ने ही अपने ऊपर उठा रक्खा है।

(कहाँ रहता है वह ऐसा सशक्त-'एक' तत्त्व ?, प्रश्न का समाधान करती हुई श्रुति कहती कि)-वह एकाकी तत्त्व इन लोकों के ऊर्ध्वभाग में (उत्तरात्मक-केन्द्रभाग में) हीं प्रतिष्ठित रहता है।

(त्रैलोक्य-त्रिलोकी-जैसे लोकविवर्त्तों के गुरुतम-महद्भार से क्या वह ऊर्ध्वस्थ एकाकी तत्त्व म्लान नहीं होजाता ?, थक नहीं जाता ?, प्रश्न का उत्तर देती हुई श्रुति कहती है कि) वे द्यावापृथिव्य-लोक कदापि उस एकाकी-ऊर्ध्वस्थ-केन्द्रस्थ-तत्त्व-विशेष को यत्किञ्चित् भी तो ग्लान म्लान-विकम्पित-नहीं कर सकते।

(किस मन्त्रणा के आधार पर उन द्यावापृथिव्य-लोकों का स्वरूप-सुरक्षित बना रहता है ?, अर्थात् व्यक्तभावापन्न इन द्यावापृथिव्य-लोकों के व्यक्त स्वरूपों का जीवनाधार क्या है ?, मन्त्रोत्तरार्द्ध-इसी प्रसङ्गोपात्त प्रश्न का समाधान करता हुआ कह रहा है कि)-वे सभी द्यावापृथिव्य लोक उस द्युलोक के (तीनों द्युलोकों में से अन्तिम द्युलोक के-"दिवो-अमुष्य-पृष्ठे") पृष्ठाधार पर ही, उस 'वाक्' तत्त्व के आधार पर ही परस्पर मन्त्रणा करते रहते हैं, जो वाक् विश्वस्वरूप की अधिष्ठात्री है, एवं जो विश्व का स्वसीमा से परिमाण-करती हुई भी स्वयं इस परिमाण-मर्य्यादा से असंस्पृष्टा है, अविमिन्वा है, अर्थात् विश्व जिसकी इयत्ता का अनुमान लगाने में असमर्थ है"।

२९९-मन्त्राक्षरार्थ से अनुप्राणिता परिभाषाओं का निष्कर्षार्थक-दिग्दर्शन—

मन्त्राक्षरार्थ से अनुप्राणिता परिभाषाओं के स्पष्टीकरण का अत्र अवसर नहीं है। प्रकृत में सन्दर्भ-सङ्गतिमात्र के लिए इस दिशा में यही जान अलं होगा कि, त्रैलोक्य-त्रिलोकी-रूप-महान्-विश्व का प्रतिष्ठात्मक-मौलिक आधार त्रिपुरुषपुरुषात्मक वही षोडशी-प्रजापति है, जिसका प्रथम सन्दर्भ में अनेक दृष्टियों से समन्वय-प्रयास हुआ है, एवं जिसका--'**विश्वकर्म्मा-भौवन**' रूपेण यत्र तत्र संस्मरण किया गया है। (देखिए पृ० सं० १३३ परिच्छेद सं० ३४ प्रक्रान्त द्वितीय-प्रकरण)।

३००-महतोमहीयान् सर्वप्रजापति, एवं अणोरणीयान् अनिरुक्तप्रजापति का संस्मरण—

विश्व से समन्वित वही विश्वकर्म्मा, सप्तभुवनाधिष्ठाता, अतएव-'**भौवन**' नाम से प्रसिद्ध प्रजापति अपने सर्वसमन्वयात्मक-'सर्वभाव' से जहाँ-'**सर्वप्रजापति**' कहलाया है, वहाँ विश्व से असंस्पृष्टा स्थिति में

वही विश्वकर्म्मा-प्रजापति-'अनिरुक्तप्रजापति' कहलाया है। 'सर्वप्रजापति' अपनी विश्वव्याप्ति से जहाँ-'महतो महीयान्' है, वहाँ 'अनिरुक्तप्रजापति' अपनी केन्द्रस्था-अणिमा (सूक्ष्मता) के अनुबन्ध से-'अणोरणीयान्' बन रहा है।

३०१-विश्वात्मा के विश्वरूप का माङ्गलिक-संस्मरण—

यों अपने विश्वानुबन्धी 'सर्व' रूप से वही सर्वापेक्षया ज्यायान् है, तो अपने केन्द्रानुबन्धी-'अनिरुक्त' रूप से वही सर्वापेक्षया अणीयान् बन रहा है। 'न उससे कोई बड़ा है, न उससे कोई छोटा'। अर्थात् 'वह बड़ों में सबसे बड़ा है, तो छोटों में सबसे छोटा है'। अर्थात् 'बड़े से बड़ा तत्त्व भी उसके समतुलन में परास्त है, तो छोटे से छोटा तत्त्व भी तत्समतुलन में अभिभूत है'। ऐसा है वह विश्वात्मा-पूर्णपुरुष, जो वृक्षवत् स्तब्धरूपेण अपने सर्वात्मक विश्वरूप से विश्व में अवारपारीण व्याप्त रहता हुआ अनिरुक्त-रूप से विश्व के गर्भ में प्रतिष्ठित होरहा है।

३०२-'सर्व', तथा 'अनिरुक्त'-भावों के स्वरूप-विश्लेषक-दो मन्त्र—

निम्नलिखित दोनों मन्त्र क्रमशः उसके तथाविध अनिरुक्त, एवं सर्व-रूपों का ही यशोगान कर रहे हैं, जिन इन उद्धृत दोनों मन्त्रों के पारिभाषिक-समन्वय का उत्तरदायित्व विस्तारभिया प्रज्ञाशील तत्त्वनिष्ठ पाठकों के उत्तरदायित्व से ही अनुप्राणित मान लिया जारहा है।

(१)-सर्वात्मक-सर्वरूप-सर्वप्रजापति-स्वरूप-निरूपक-मन्त्र—

यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्॥

—श्वेताश्वतरोपनिषत्-३।९।

(२)-केन्द्रानुगत-अनिरुक्तप्रजापति-स्वरूप-निरूपक-मन्त्र—

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते।
तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा॥

—यजुःसंहिता:३१।१९।

३०३-'तस्मिन्ह तस्थौ भुवनानि विश्वा'-का पारिभाषिक-स्वरूप-समन्वय-प्रयास—

वृक्ष-इव-स्तब्ध, सर्वभुवनाधिष्ठाता, अतएव-'विश्वकर्म्मा-भौवन' नाम्ना प्रसिद्ध-तथाविध-पूर्ण-पुरुष ही अव्ययरूप-ज्ञानज्योति, अक्षररूप-कर्म्मज्योति, तथा आत्मक्षररूप-भूतज्योति-भावों के सम्बन्ध से (त्रिपुरुषपुरुषात्मकत्वेन) त्रिज्योतिर्म्मय बनता हुआ अपनी सोलह कलाओं से 'षोडशी' नाम से भी प्रसिद्ध होरहा है, जो कि इत्थंभूत षोडशी (निष्कल-एकलपरात्पर, पञ्चकलाव्यय, पञ्चकलाक्षर, पञ्चकलात्मक्षर-समष्टिरूपेण सोलह-कलाओं की समष्टिरूप) प्रजापति ही-'तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा' रूपेण सम्पूर्ण भुवनों का, किंवा त्रैलोक्य-त्रिलोकी-रूप-६ लोकों का धारक बना हुआ है, जिस इस षोडशकला-नुगत-महिमेतिवृत्त का ही आगे के एक अन्य मन्त्र से स्पष्टीकरण होरहा है—

यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा ।
प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी ॥

—यजुःसं० ८।३६।

३०४–विश्वभुवनप्रविष्ट विश्वात्मा के पारिभाषिक-'ऊर्ध्वस्तस्थौ' का समन्वय—

विश्वभुवनप्रविष्ट–त्रिपुरुषपुरुषात्मक–सर्वरूपेण 'सर्वप्रजापति' नाम्ना, केन्द्ररूपेण च 'अनिरुक्त–प्रजापति' नाम्ना प्रसिद्ध वृक्ष-इव स्तब्ध पूर्णपुरुषरूप–विश्वकर्म्मा-सर्वकर्म्मा–भौवन–षोडशी-पुरुष ही उपनिषदों में एक विशेष दृष्टिकोण से-'अश्वत्थ' नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जिसका मूल 'ऊर्ध्व' में अवस्थित माना गया है * । अश्वत्थवृक्षानुगत–'ऊर्ध्व' भाव का जो पारिभाषिक अर्थ है, वही–'ऊर्ध्वस्तस्थौ' के साथा अनुप्राणित माना जायगा ।

३०५–'ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाखः' के उच्चानुगत केन्द्रभाव का पारिभाषिक-समन्वय—

उत्तर, और दक्षिण, दोनों का क्रमशः केन्द्र, तथा परिधि–भावों के साथ ही सम्बन्ध माना गया है विज्ञानभाषा में । लोकप्रसिद्ध–'ऊँचा' का अर्थ है–'उत्तर', इसी का पारिभाषिक–समन्वय है–'केन्द्र' । क्योंकि प्रत्येक वस्तुभाव का केन्द्र उसकी परिधि की प्रतिबिन्दु से ऊँचा ही रहता है । अतएव उत्तरात्मक–उच्चभाव, और केन्द्रभाव, दोनों अभिन्नार्थक बन गए हैं । एवमेव परिधि की प्रतिबिन्दु क्योंकि केन्द्र से नीचे की ओर ही अनुगत रहती है, अतएव इसे 'अवाक्' कह दिया जाता है, जैसाकि–'ऊर्ध्वमूलोऽवाक्-शाखः–एषोऽश्वत्थः सनातनः' से स्पष्ट है ।

३०६–'ऊर्ध्व'-शब्द के सम्बन्ध में श्रीसायणाचार्य्य का द्रविड-प्राणायाम—

विश्वात्मा इस त्रैलोक्य–त्रिलोकी-रूप-महान् विश्व के केन्द्र में ही अपने अनिरुक्त–भाव से प्रतिष्ठित रहता है–'प्रजापतिश्चरति गर्भे–अन्तः–अजायमानः' इत्यादि पूर्वमन्त्रवर्णनानुसार । इसी उत्तरात्मक-ऊर्ध्वभावनिबन्धन–केन्द्र-स्थान को लक्ष्य बनाकर श्रुति ने-'ऊर्ध्वस्तस्थौ' कहा है, जिस इस केन्द्रात्मक–पारि–भाषिक–तथ्य से असंस्पृष्ट बने रहे जाने वाले श्रीसायणाचार्य्य महाभाग को–'उन्नतः-अत्यन्तदीर्घः–तिष्ठति-भूतभविष्यदात्मना, सूर्य्यपक्षे-सर्वेभ्य-उन्नतः' इस काल्पनिक-द्रविड़प्राणायाम का ही अनुगमन कर लेना पड़ा है ।

३०७–'असहायः', और 'एकः' से अनुप्राणिता वस्तुस्थिति का समतुलन—

श्रुत्युपात्त-'एकः' का अर्थ-'असाहयः' भी इसी आपातरमणीयता का सूचक है । 'वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकः' से अनुप्राणित, सजातीय-विजातीय-स्वगत-भेदत्रयासंस्पृष्ट-निरपेक्ष एकत्व से अनुगत-विश्वा-

---

*-ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः ।
तदेव शुक्रं–तद्ब्रह्म–तदेवामृतमुच्यते ।
तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन ।

—एतद्वै तत्

—कठोपनिषदि ६।१।

त्मा विश्वकर्म्मा-भौवन ही वह एक है, जिसके आधार पर ही--'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'-'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्' इत्यादि राद्धान्त व्यवस्थित हुए हैं।

३०८-असहायभावानुगत प्रौढिवाद, और तदनुवर्त्मा श्रीसायणाचार्य्य—

अब क्रमप्राप्त उन तीन पितृभावों तथा तीन मातृभावों के पारिभाषिक-समन्वय को लक्ष्य बनाइए, जिनके सम्बन्ध में तो श्री सायण ने आत्यन्तिकरूपेणैव अपने प्रौढिवाद को अभिव्यक्त कर दिया है। सत्य, और वृष्टयादि की उत्पादयित्री क्षित्यादि-लक्षणा-लोकत्रयी को एवं इन तीनों लोकों के अभिमानी देवता अग्नि-वायु-सूर्य्य-को तीन माता, तथा तथा तीन पिता मान बैठना सचमुच प्रौढिवादमात्र के अतिरिक्त और कुछ भी तो नहीं है।

३०९-पृथिव्यन्तरिक्षद्यु लोकानुगत-'त्रित्त्व' का समन्वय—

'त्रयो वा इमे त्रिवृतो लोकाः' इस सुप्रसिद्ध अनुगम-वचन का अक्षरार्थ है-'पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौः' नामक तीनों लोक प्रकृत्यनुबन्धी-त्रिवृद्भाव के कारण (प्रत्येक) त्रिवृद्भाव से समन्वित रहते हैं, जिसका अर्थ है-"पृथिवी भी तीन हैं, अन्तरिक्ष भी तीन हैं, एवं द्युलोक भी तीन हैं"।

३१०-परम-मध्यम-अवम-भेदभिन्ना पारिभाषिकी धामत्रयी—

'भूः'-'भुवः'-'स्वः'-नामकी तीन महाव्याहृतियों का विश्वकर्म्मा-भौवनात्मक तथोवर्णित षोडशी प्रजापति के साथ ही सम्बन्ध माना गया है, जो तीनों महाव्याहृतियां क्रमशः **'परमधाम'-'मध्यमधाम'**, **'अवमधाम'** नामों से समन्वित हुई हैं। 'स्वः' रूप परमधाम भी भूः-भुवः-स्वः-रूप है। 'भुवः' रूप मध्यमधाम भी भूः-भुवः-स्वः-रूपेण त्रिधा विभक्त है। एवं 'भूः' रूप अवमधाम भी 'भूः-भुवः-स्वः स्वरूपेण त्र्यात्मक ही है।

३११-भूः-भुवःस्वः-भावानुगता त्रैलोक्य-त्रिलोकी के रोदसी-क्रन्दसी-संयती-नामक तीन विवर्त्तों का स्वरूप-दिग्दर्शन—

क्या तात्पर्य्य?। तात्पर्य्य स्पष्ट है 'भूः-भुवः-स्वः'-रूपेण त्रिधा विभक्त,-पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौः-रूप-'स्वः' प्रधान, किंवा 'द्यौः'-प्रधान त्र्यात्मक-प्रथम विवर्त्त ही प्रजापति का **'परमाधाम'** है, यही पहिली-**'संयती'** नामकी **'स्वर्भावनिबन्धना-द्युभावनिबन्धना-प्रथमा-त्रिलोकी है**। भूःभुवः-स्वः-रूपेण त्रिधा विभक्त, पृथिवी अन्तरिक्ष-द्यौः-रूप-'भुवः' प्रधान, किंवा **'अन्तरिक्ष'** प्रधान-त्र्यात्मक-द्वितीय-विवर्त्त ही प्रजापति का **'मध्यम-धाम'** है, यही दूसरी-**'क्रन्दसी'** नाम **की-भुवर्भावनिबन्धना-अन्तरिक्ष-भावनिबन्धना-द्वितीया-त्रिलोकी** है। एवमेव-भूः-भुवः-स्वः-रूपेण त्रिधा विभक्त-पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौः-रूप,-'भूः'-प्रधान, किंवा **'पृथिवी'**-प्रधान त्र्यात्मक-तृतीय-विवर्त्त ही प्रजापति का-**'अवमधाम'** है, यही तीसरी **'रोदसी'** नाम **की-'भू-भावनिब-न्धना-पृथिविभावनिबन्धना-तृतीया-त्रिलोकी'** है।

३१२-महाव्याहृति-त्रयी से अनुप्राणिता-त्रैलोक्य-त्रिलोकी, एवं परिलेख के द्वारा तत्स्वरूप-स्पष्टीकरण—

यों भूः-भूः-स्वः-नामकी तीन महाव्याहृतियों के त्र्यात्मक-महिमामय-विवर्त्तों से तीन की ९ व्याहृतियाँ सम्पन्न होजातीं हैं, एवं इन नवों प्राजपत्या-लोकव्याहृतियों की समष्टि का ही नाम "त्रैलोक्य-

त्रिलोकी" नाम की वह पारिभाषिकी त्रिलोकी है, जिस की उपक्रमरूपा–तीन–पृथिव्यनुगता तीन माताओं को, तथा उपसंहारात्मक द्यु लक्षण-तीन–पितृभावों को लक्ष्य बनाकर ही श्रुति ने-'**तिस्रो मातॄ स्त्रीन्-पितॄ न्०**' इत्यादि सिद्धान्त स्थापित किया है, जिन इत्थंभूत तीनों त्रिलोकियों का निम्नलिखित परिलेख से भलीभाँति स्पष्टीकरण होजाता है ।

त्रैलोक्य-त्रिलोकिभावानुगतः-परिलेखः—

त्रिन् पितॄन्—बिभ्रत्—	१–स्व०:–द्यौः	(स्वर्लोकः-द्यौः)–पिता (१)	द्यौः (स्वः -संयती--त्रिलोकी "तदिदं-त्र्यात्मकं परमधाम"
	२–भुवः– अन्तरिक्षम्	(स्वर्लोकः-द्यौः)–पिता (२)	
	३–भूः—-पृथिवी	(स्वर्लोकः-द्यौः)–पिता (३)	
	*		
	४–स्वः–द्यौः	(भुवर्लोकः-अन्तरिक्षम्)-मध्यभावः (१)	अन्तरिक्षम् (भुवः)-क्रन्दसी-त्रिलोकी "तदिदं-त्र्यात्मकं-मध्यमधाम"
	५–भुवः-अन्तरिक्षम्	(भुवर्लोकः-अन्तरिक्षम्)-मध्यभावः (२)	
	६–भूः--पृथिवी	(भुवर्लोकः-अन्तरिक्षम्)-मध्यभावः (३)	
	*		
तिस्रोमातॄः—	७–स्वः–द्यौः	(भूलोकः-पृथिवी)-माता (१)	पृथिवी (भूः)-रोदसी-त्रैलोकी "तदिदं-त्र्यात्मकं-अवधाम" *
	८–भुवः-अन्तरिक्षम्	(भूलोकः-पृथिवी)-माता (२)	
	९–भूः--पृथिवी	(भूलोकः-पृथिवी)-माता (३)	

* * * *

३१३–मन्त्रार्थ के पारिभाषिक-समन्वय से अनुप्राणित तीन मातृवर्ग, एवं तीन पितृवर्ग–

मन्त्रार्थ के पारिभाषिक–समन्वय से अनुप्राणित तीन मातृभाव, तथा तीन पितृभाव, इन दोनों–लोकविवर्त्तों के सम्बन्ध में त्रैलोक्य-त्रिलोकी–रूप जो परिलेख पूर्व में उद्धृत हुआ है, उस का अन्ततोगत्वा 'सप्त--व्याहृतियों' पर विश्राम होजाता है–दो लोकों के अन्तर्भावात्मक–समन्वय से, जिस इस पारिभाषिकी स्थिति के समन्वय के लिए पञ्चमहाभूतात्मक–पञ्चपुरानुबन्धी -पञ्चपर्वा–उस विश्व की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जायगा, जिसके स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्रमा-भूपिण्ड-नामक पाँचों पर्व विज्ञानजगत् में सुप्रसिद्ध हैं ।

---

*–या ते धामानि परमाणि यावमा या मध्यमा विश्वकर्म्मन्नुतेमा ।
शिक्षा सखिभ्यो हविषि स्वधा वः स्वयं यजस्व तन्वं बधानः।।
—ऋक्संहिता १०।८१।५।

३१४–आदि-मध्य-अन्त-भावानुगता-पारिभाषिकी-'उद्गढ-त्रिलोकी'—

इन पाँचों में से **आदि-मध्य-अन्त-स्थानीय-स्वयम्भूः-सूर्य्यः-भूपिण्डः**-रूप से ही एक अन्या पारिभाषिकी त्रिलोकी का उदय होता है, जिसे ही-'उद्गढत्रिलोकी' कहा गया है, एवं जिस इस उदूढत्रिलोकी के आधार पर ही देवसत्यनिबन्धना उस स्तौम्यत्रिलोकी का आविर्भाव होता है, जिस के अनुबन्ध से ही-'**तिस्रो मातॄ स्त्रीन् पितॄ न्०**' इत्यादि प्रासङ्गिक-सन्दर्भ उपक्रान्त होपड़ा है ।

३१५–विश्वानुगत त्रिविध अग्नि, एवं द्विविध सोम—

समन्वय कीजिए **आदिस्थानीय स्वयम्भू**, **मध्यस्थानीय सूर्य्य** तथा, **अन्तस्थानीय-भूपिण्ड-से** अनुगता एक अन्या स्थिति का, जिस के साथ क्रमशः '**ब्रह्माग्नि-देवाग्नि-भूताग्नि**'–नामक त्रिविध-मौलिक-अग्निविवर्त्तों का सम्बन्ध माना गया है । **स्वायम्भुव-ब्रह्माग्नि**, और **सौर देवाग्नि**, इन दोनों के मध्य में **पारमेष्ठ्य-दिक्सोम है**, एवं देवाग्नि, तथा **भौम--भूताग्नि**, इन दोनों के मध्य में **चान्द्रभास्वर-सोम है** ।

३१६–अग्नीषोमात्मक-विश्व का संस्मरण—

यों पञ्चपर्वा विश्व में तीन अग्निविवर्त्त, तथा दो सोमविवर्त्त, भेद से अग्नीषोमात्मक-पञ्चविवर्त्तों का अन्न-अन्नादात्मक-याज्ञिक-समन्वय प्रमाणित होरहा है, जिस प्रमाणन के आधार पर ही-'**अग्नीषोमात्मकं-जगत्**' यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है ।

३१७–विश्वानुबन्धी ब्रह्मसत्य से अनुप्राणिता-अग्नि-सोम-द्वयी—

ये त्रिविध-अग्नि, एवं द्विविध–सोम, दोनों ही अग्नि–सोम–विवर्त्त '**विश्वानुबन्धी-ब्रह्मसत्यात्मा**' से ही अनुप्राणित हैं, जिन के आधार पर ही देवसत्यानुबन्धी-तीन अग्निविवर्त्तों, तथा दो सोमविवर्त्तों का अनुपद में ही समन्वय किया जाने वाला है ।

३१८–प्रथमा 'रोदसी-त्रिलोकी' का पारिभाषिक समन्वय—

भूताग्निरूप–भूपिण्ड को '**भूः**' समझिए, देवाग्निरूप-सूर्य्य को '**स्वः**' समझिए, एवं दोनों के अन्तरालवर्त्ती मध्यभाव को '**अन्तः–ईक्ष्यते**' निर्वचनानुबन्ध से 'अन्तरिक्षम्' नामक-'**भुवः**' समझिए, और इन तीनों की समष्टि को ही पहिली-'**रोदसी-त्रिलोकी**' मानिए, जिस के अधिष्ठाता-शवसोनपात्-देवता-'**इन्द्र**', किंवा '**रुद्र**'-माने गए हैं ।

३१९–द्वितीया-'क्रन्दसी-त्रिलोकी' का पारिभाषिक-समन्वय—

तथोक्ता रोदसी-त्रिलोकी के स्वर्लोक-स्थानीय-देवाग्निरूप सूर्य्य को अब-पुनः-'भूः' समझिए, दिक्सोम-रूप–परमेष्ठी को 'स्वः' समझिए, एवं दोनों के अन्तरालवर्त्ती-मध्यभाव को-'अन्तरिक्ष' नामक-'भुवः' समझिए, और इन तीनों की समष्टि को ही दूसरी-'**क्रन्दसी-त्रिलोकी**' मानिए, जिसके अतिष्ठाता शवसोनपात्-देवता-विष्णु ही माने गए हैं ।

३२०–तृतीया-'संयती-त्रिलोकी' का पारिभाषिक-समन्वय—

तथोपवर्णिता '**क्रन्द्रसी-त्रिलोकी**' के स्वर्लोक-स्थानीय-दिक्सोमरूप-परमेष्ठी को अब पुनः '**भूः**' समझिए, ब्रह्माग्निरूप स्वयम्भू को–'**स्वः**' समझिए, एवं दोनों के अन्तरालवर्त्ती-मध्यभाव को '**अन्तरिक्ष**' नामक

'भुवः' समझिए, और इन तीनों की समष्टि को ही तीसरी-'संयती-त्रिलोकी'-मानिए, जिस के अतिष्ठावा-शव-सोनपात्-देवता-'ब्रह्मा' ही माने गए हैं ।

३२१-'त्रैलोक्य-त्रिलोकी' से अनुगता नवलोकात्मिका सप्तव्याहृति का लोकद्वयान्त-र्भावानुगता पारिभाषिकी स्थिति का समन्वय, एवं तालिका के द्वारा तत्स्पष्टी-करण-प्रयास —

उक्त स्थिति का निष्कर्ष यही निकला कि-प्रथमा-रोदसी-त्रिलोकी का 'स्व' र्लोकस्थानीय देवाग्निरूप-सूर्य्य ही क्योंकि द्वितीया-क्रन्दसी-त्रिलोकी का 'भू'-लोक बन जाता है, एवमेव इस द्वितीया-त्रिलोकी का स्व-र्लोकस्थानीय-दिक्सोमरूप परमेष्ठी ही क्योंकि तृतीया संयती-त्रिलोकी का भूलोक बन जाता है, क्योंकि दो लोक सूर्य्य, और परमेष्ठी-में ही अन्तर्भूत होजाते हैं, अतएव **रोदसी-क्रन्दसी-संयती**-नामकी तीनों त्रिलोकियों के ९ लोकों के अन्ततोगत्वा सात ही लोक रह जाते हैं, जो कि सातों लोक क्रमशः भूः-भुवः-स्वः-महः-जनत्-तापः-सत्यम्' इन नामों से प्रसिद्ध हैं । यही नवव्याहृतियों की सप्तव्याहृतिरूप में परिणति का मौलिक, एवं अत्यन्त ही रहस्यपूर्ण-पारिभाषिक-चिरन्तन इतिवृत्त है, जिस का अन्य निबन्धों में विस्तार से स्पष्टीकरण किया जाचुका है * । अत्र सन्दर्भसङ्गति के लिए एक तालिका ही उद्धृत होरही है, जिस के माध्यम से—"**नवलोकानुगता-सप्तलोकव्याहृति**" के तथोक्त-पारिभाषिक-स्वरूप का भलीभाँति स्पष्टीकरण हो-जाता है ।

त्रिलोकी				व्याहृति
१ 'संयती-त्रिलोकी-ब्राह्मी'	१-स्वः-द्यौः (९)-			(७-सत्यम्:१)
	२-भुवः-अन्तरिक्षम् (८)-			३-तपः-*
	३-भूः-पृथिवी (७)-	१-स्वः-द्यौः (६)—		जनत् (परमेष्ठी २)
२ 'क्रन्दसी-त्रिलोकी-वैष्णवी'		२-भुवः-अन्तरिक्षम् (५)-		४-महः-*
		३-भूः-पृथवी (४)-	१-स्वः-द्यौः (३)—	३-स्वः (सूर्य्यः ३)
३ 'रोदसी-त्रिलोकी-रौद्री-ऐन्द्री'			२-भुवः-अन्तरिक्षम् (२)-	२-भुवः (चन्द्रमाः-४)
			३-भूः-पृथिवी (१)-	१-भूः-(भूपिण्डः-५)

* * * *

*-विस्तार के लिए देखिए शतपथभाष्य-प्रथम, द्वितीय-खण्ड

३२२–वेद-पुराण-शास्त्रानुप्राणिता पारिभाषिकी-त्रैलोक्यत्रिलोकी का समन्वय—

स्वयम्भू–प्रधाना, अतएव–'ब्राह्मी-त्रिलोकी'–रूपेण पुराणों में उपवर्णिता,–'संयती–त्रिलोकी' नाम्ना च वेदशास्त्र में प्रसिद्धा प्रथमा–त्रिलोकी के द्यावापृथिव्य–पितृमातृ-स्थानीय-प्रथम युग्मानुबन्ध से, परमेष्ठी–प्रधाना, अतएव–'वैष्णवी–त्रिलोकी' रूपेण-पुराणोपवर्णिता,–'क्रन्दसी–त्रिलोकी'–नाम्ना च वेदे उपस्तुता द्वितीया–त्रिलोकी के द्यावापृथिव्य–पितृमातृ–स्थानीय–द्वितीय-युग्मानुबन्ध से, एवं भूपिण्ड–प्रधाना, अतएव–'रोदसी–त्रिलोकी'–रूपेण वेदे, पुराणे च उपवर्णिता तृतीया त्रिलोकी के द्यावापृथिव्य–पितृमातृ–स्थानीय–तृतीय–युग्मानुबन्ध से सप्तव्याहृत्यात्मक, किंवा नवलोकात्मक, अथवा तो पञ्चपर्वात्मक, अग्नीषोमात्मक–विश्व में तीन मातृभावों की, तथा तीन पितृभावों की सत्ता समन्वित होजाती है, जिस इत्थंभूत लोकानुबन्धी-द्यावपृथिव्य-मातृपितृयुग्म के माध्यम से ही-मन्त्रश्रुति का-'तिस्रो मातॄस्त्रीन पितॄन्०' इत्यादि पारिभाषिक-वाक्यसन्दर्भ प्रवृत्त हुआ है ।

३२३–मन्त्र के-'ऊर्ध्वस्तस्थौ' वाक्यार्थ का समन्वय—

तथाभूत–द्यावापृथिव्य-विश्व के केन्द्र में ही क्योंकि त्रिधामाधिष्ठाता-विश्वकर्म्मा-भौवनरूप-अनिरुक्त-प्रजापति-लक्षण-विश्वात्मा-प्रतिष्ठित है, केन्द्र को ही क्योंकि-उत्तरभावानुबन्धी-'ऊर्ध्व' कहा गया है । इसी तथ्य को लक्ष्य-बनाकर–'ऊर्ध्वस्तस्थौ' यह मन्त्रभाग प्रवृत्त हुआ है ।

३२४–केन्द्रानुगत-भारसमतुलन-से अनुप्राणिता-निर्भारता, और तन्निबन्धन-'तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा'—

क्या उदर्क (परिणाम) है इस केन्द्रात्मिका–उर्ध्वस्थिति का ?,–'नेमवग्लावलन्ति' यह उत्तरभाव इसी प्रश्न का रहस्यात्मक समाधान कर रहा है । प्रत्येक वस्तु का भार (बोझ) तद्वस्तु की केन्द्रबिन्दु के सामीप्य से अनुगत होते ही समतुलित होजाता है, और इस केन्द्रानुगत समतुलन से भारान्वित भी पदार्थ केन्द्रानुगति से निर्भारवत् ही अनुभूत होने लगता है । उदाहरण के लिए एक छड़ी को अङ्गुलि पर ठहराने का प्रयत्न कीजिए । केन्द्रबिन्दु के समतुलन के बिना जो छड़ी इतस्ततः के प्रदेशों से अङ्गुलि पर विचलित होती रहेगी, वही केन्द्रबिन्दु के सामीप्य से समन्वित होते ही तन्निबन्धन–भारसमतुलन से समतुलित होजायगी, और उस समय छड़ी का विकम्पन उपशान्त होजायगा । 'केन्द्रानुगत-भारसमतुलन से अनुप्राणिता इसी निर्भारता' को लक्ष्य बनाकर केन्द्रस्थ–प्रजापति की स्वरूप–विश्लेषिका पूर्वश्रुति ने– तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा' यह सिद्धान्त स्थापित किया है ।

३२५–मन्त्रोपात्त-'नेमवग्लापयन्ति' का पारिभाषिक-समन्वय—

पूर्वोपवर्णित नवलोकात्मक-सातों लोकों से अनुप्राणित मातृस्थानीय तीन तीन पृथिवी–लोक, तथा पितृस्थानीय तीन तीन द्युलोक–जैसे महतोमहीयान् भी सम्भार (बोझ) से तत्प्रतिष्ठारूप–अनिरुक्त–प्रजापति-लक्षण–एकाकी–विश्वात्मा क्यों नहीं विकम्पित होरहा ?, क्यों नहीं म्लान होरहा ?, प्रश्न का उत्तर प्राजापत्या-केन्द्रप्रतिष्ठा ही है, जिस के आधार पर अपने–सम्पूर्ण–भार से समतुलित होता हुआ महतोमहीयान् भारात्मक भी विश्व केन्द्रस्थ उस प्रजापति के लिए निर्भार ही बना रहता है । अतएव मातृ-पितृ-स्थानीय महद्भारयुक्त भी ये लोक उस हृद्य–प्रजापति को–नेमवग्लापयन्ति ।

३२६-मन्त्रोपात्त-'वाचमविश्वमिन्वाम्' के प्रासङ्गिक-तत्वार्थ का दिग्दर्शन—

अब मन्त्रार्थ के पारिभाषिक–तत्त्व समन्वय के सम्बन्ध में रहस्यपूर्ण 'वाक्तत्त्व' ही शेष रह जाता है, जिस के विस्तार का अब अवसर नहीं है। इस दिशा में प्रसङ्ग–समन्वयमात्र के लिए यही निवेदन कर देना पर्य्याप्त मान लिया जायगा कि–स्वयम्भू की 'यत्–जूः'–लक्षणा–सत्यावाक् ही वह पारिभाषिकी 'यजुर्वाक्' है, जो तीनों द्युलोकों में से सर्वान्त के सर्वोच्च–द्युलोकरूप–स्वयम्भू–से ही अनुप्राणिता मानी गई है, एवं जिस इस स्वायम्भुवी सत्या–वाक् के द्वारा उत्पन्न अप्तत्त्व से ही सम्पूर्ण–लोकसृष्टि–अभिव्यक्त हुई है। वाक्तत्त्व की विश्वस्वरूप–निर्म्माणानुगता इसी सर्वव्याप्ति को लक्ष्य बना कर महर्षि–तित्तिरि ने कहा है—

वाचं देवा उपजीवन्ति विश्वे, वाचं गन्धर्वाः पशवो मनुष्याः।
वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता सा नो हवं जुषतामिन्द्रपत्नी॥
—तैत्तिरीयब्राह्मणे

सर्वान्त के स्वयम्भू-रूप-द्युलोक के पृष्ठ से अनुगता सत्या-स्वायम्भुवी-तथाविधा ऋक्सामरूप-वयोनाधों से नद्धा-छन्दिता-यजुर्वाक् ही द्यावापृथिवी-रूप-मातृ-पितृ-युग्मों की स्वरूपलक्षणात्मिका-मन्त्रणा की क्योंकि एकमात्र आधारभूमि है, इसी गुहानिहित रहस्य को लक्ष्य बना कर महर्षि दीर्घतमाने आगे चल कर कहा हैं कि–'मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वविदं वाचमविश्वमिन्वाम्', इत्यलं-प्रासङ्गिक-मन्त्रार्थ-वैज्ञानिक-पारिभाषिक--समन्वयेनेति पुनः प्रकृतमनुसरामः।

३२७-ब्रह्मसत्यावयवभूत भूपिण्ड से अनुगता देवसत्याधारभूता 'पृथिवी', और उसकी देवसत्य-जनकता, तथा तदनुप्राणित ऋङ्मन्त्र का संस्मरण—

ब्रह्मसत्यानुगता-'उद्दृत्रिलोकी' से अभिन्ना–"'त्रैलोक्य-त्रिलोकी' के पारिभाषिक–प्रासङ्गिक–स्वरूप-समन्वयानुबन्ध से ही'-तिस्रो मातॄः' इत्यादि मन्त्र के पारिभाषिक-प्रसङ्ग की चर्चा उपक्रान्त होपड़ी थी, जिस के माध्यम से प्रकृत में निवेदनीय यही है कि सप्तव्याहृत्यात्मक त्रैलोक्य–त्रिलोकी–रूप–पञ्चपर्वा–विश्व के अन्तिम-पर्वस्थानीय-'भूपिण्ड' के आधार पर ही, दूसरे शब्दों 'ब्रह्मसत्यात्मक-भूपिण्ड' के माध्यम से ही 'देवसत्याधारभूता उस 'पृथिवी' का आविर्भाव होता है, हुआ है, जिस 'पृथिवी' को विज्ञानभाषा में चतुर्लोकात्मिका कहा गया है (देखिए पृ० सं० २४३, परिच्छेद सं० २६५)। देवसत्यजननी उसी माता पृथिवी के महिमामय विस्तार की और पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जारहा है, जिस आकर्षण का आधारबिन्दु माना गया है निम्नलिखित ऋङ्मन्त्र—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते॥
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति॥
—ऋक्सं० १।१६४।२०।

---

*-अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
—पुराणे

३२८–ऋङ्मन्त्राक्षरार्थ-समन्वय-प्रयास —

उक्त मन्त्र का अक्षरार्थ यही है कि—"एक ही वृक्ष पर--(वृक्ष की शाखा के अग्रभाग पर) जोड़ले (सयुजौ), और अभिन्न मित्र (सखायौ) दो सुपर्ण (एतन्नामक-पक्षी) आश्रय लिए हुए हैं। इन दोनों सुपर्ण–पक्षियों में से एक पक्षी तो फल का स्वादानुगामी बन रहा है, और दूसरा फलस्वादानुगमन से अपने आपको असंस्पृष्ट रखता हुआ उस अन्य फल खाने वाले का निरीक्षण (चौकसी) ही कर रहा है"।

३२९–मन्त्रार्थसमन्वयानुबन्ध से किञ्चिदिव निवेदन—

वह वृक्ष कौनसा है ?, उसकी शाखा कौनसी है ?, उसके अग्रभाग पर प्रतिष्ठित वैसे दो सुपर्ण कौन से हैं, जिनमें एक तो वृक्ष का फल खा रहा है, और दूसरा फल खाते हुए की चौकसी कर रहा है-स्वयं फलभोग से पृथक् रहता हुआ ?, इत्यादि सभी प्रश्न अत्यन्त ही रहस्य-पूर्ण उस सृष्टिविज्ञान की ही अपेक्षा रख रहे हैं, जिसके लिए तो एक स्वतन्त्र निबन्ध ही अपेक्षित होगा *। प्रकृत में केवल दो शब्दों में मन्त्रार्थ–समन्वयानुबन्ध से किञ्चिदिव निवेदन कर दिया जाता है ।

३३०–अश्वत्थवृक्षानुगता पञ्चपुण्डीरा-एका-प्राजापत्य-वल्शा का संक्षिप्ततम-स्वरूप-परिचय—

त्रिपुरुष–पुरुषात्मक-अमृत-ब्रह्म-शुक्र-मूर्त्ति-आत्मा-देव–भूत–सत्यमूर्त्ति,– विश्वात्मा–विश्वव्यापक–षोडशी–प्रजापति ही वह 'अश्वत्थवृक्ष' नामक पूर्णपुरुष है, जिसका प्रथम सन्दर्भ में विस्तार से यशोगान होचुका है। षोडशीप्रजापतिरूप अश्वत्थ-पुरुषात्मक उस **'ब्रह्माश्वत्थ'** नामक वृक्ष में एक सहस्र-शाखाएँ मानी गई हैं। प्रत्येक शाखा में **स्वयम्भू--परमेष्ठी--सूर्य--चन्द्रमा--भूपिण्ड**-नामक पाँच-पाँच पर्व–(पोर) हैं। अतएव यह शाखा-विज्ञानजगत् में **'पञ्चपुण्डीरा--प्राजापत्यवल्शा'** (**'पाँच पर्वों से युक्ता अश्वत्थ--प्रजापति की शाखा'**) इस नाम से प्रसिद्ध हुई है ।

ऐसी पञ्चपर्वात्मिका सहस्र शाखाएँ उस अश्वत्थवृ॰ में हैं, इसका तात्पर्य्य यह हुआ कि पञ्चपर्वात्मक–सप्तभुवनात्मक–महतोमहीयान्–सप्तव्याहृतिलक्षण–नवलोकात्मक- जिस विश्व का पूर्व में दो तालिकाओं के माध्यम से दिग्दर्शन कराया गया है, वैसे वैसे एक सहस्र–विश्वसंस्थान उस महामायी–षोडशी-प्रजापति-रूप विश्वात्मा की सीमा में अन्तर्भुक्त हैं।

अर्थात्-विश्वात्मा–विश्वेश्वर के महिमामय–स्वरूप में एकसहस्र विश्व गर्भीभूत हैं, जिसमें से एक विश्व का ही अत्र निरूपण–प्रक्रान्त है, जिस शाखारूप-एक वृक्ष के अन्तिम भागात्मक अग्रभाग में भूपिण्ड ही माना गया है। पक्षी सदा वृक्ष की एक शाखा के अग्रभाग पर ही तो प्रतिष्ठित रहा करते हैं। ठीक वही स्थिति यहाँ समन्वित होरही है।

षोडशी–प्रजापति-रूप अश्वत्थ–नामक वृक्षात्मा की पञ्चपर्वात्मिका–विश्वरूपा सहस्र–शाखाओं में से एकविश्वात्मिका–एक शाखा के अग्रभागरूप भूपिण्ड पर ही वे दोनों 'सुपर्ण–पक्षी' प्रतिष्ठित हैं, जिन्हें

---

*–देखिए–'भारतीय–हिन्दूमानव, और उसकी भावुकता' नामक खण्ड–चतुष्टयात्मक--निबन्ध का–**'विश्वस्वरूपमीमांसा'** नामक प्रथमखण्ड, जो संस्थान की ओर से प्रकाशित होगया है ।

'सयुक्--सखा' (जोड़ले-मित्र) कहा गया है। यही अश्वत्थवृक्ष का, एवं तदनुगता पञ्चपुण्डीरा-प्राजापत्या उस एक वल्शा (टहनी-शाखा) का संक्षिप्ततम स्वरूप--परिचय है, जिसके अग्रभागात्मक भूपिण्ड को ही अब हमें अवधानपूर्वक लक्ष्य बनाना है।

३३१-फलभोक्ता 'भूतात्मा', तथा साक्षी 'सर्वभूतान्तरात्मा' का संस्मरण—

प्रस्तुत-द्वितीय-सन्दर्भ का उपक्रम करते हुए हमने पार्थिव--भूतात्मा के अनेक नामों में से एक 'मध्वद्' नामक पारिभाषिक--नाम का संस्मरण किया था (देखिए पृ० सं० २४२)। मधु-रस का भक्षण करने वाला ही 'मध्वद्' नामक वह भूतात्मा है, जिसे 'फलभोक्ता' भी कहा जासकता है। फलभोग के सम्बन्ध से ही इसे-'भोक्तात्मा' भी कहा गया है कठोपनिषत् में *, जबकि इसके साथ--ही अभिन्न मैत्री-सम्बन्ध से प्रतिष्ठित रहने वाला, फलभोग से सर्वथैव असंस्पृष्ट रहने वाला अन्य महाभूतात्मा 'साक्षी' नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जिसका पारिभाषिक नाम माना गया है-सर्वभूतान्तरात्मा'।

३३२-'द्वा सुपर्णा०' से अनुगत गुहानिहित-पारिभाषिक-'देवसत्य' का संस्मरण—

'भूतात्मा', और 'सर्वभूतान्तरात्मा' नामक तत्त्व ही वे दो सुप्रसिद्ध सुपर्ण हैं, जो शाखाग्रभागरूप-भूपिण्ड के आधार पर वितत-पार्थिवविवर्त्त में आश्रय ग्रहण--किए हुए हैं। इन दोनों साक्षी, तथा भोक्ता-सुपर्ण-पक्षियों को ही लक्ष्य बनाकर 'द्वा सुपर्णा-सयुजा--सखाया' इत्यादि मन्त्र प्रवृत्त हुआ है, जिन इन दोनों के अत्यन्त-पारिभाषिक--गुहनिहित-'देवसत्यात्मक' स्वरूप का दिग्दर्शन ही प्रस्तुत द्वितीय-सन्दर्भ का प्रमुख लक्ष्य है।

३३३- प्राणाग्निरसात्मक-'मध्वद्'-तत्त्व से अनुगता 'अर्थद्वयी' का पारिभाषिक-समन्वय—

'मध्वद्'-शब्द से अनुप्राणित-'मधु' शब्द का स्वरूप-समन्वय करते हुए पूर्व में पार्थिव-प्राणाग्निरूप-'रस' को ही 'मधु' कहा गया है, एवं इस मधु के सम्बन्ध से ही 'मध्वद्' नामक देवसत्य की स्वरूपाभिव्यक्ति बतलाई गई हैं। (देखिए पृष्ठ सं० २४०)। दो प्रकार से देवसत्य की इस 'मध्वद्' अभिधा का समन्वय सम्भव है। पार्थिव मधुरस को-प्राणाग्निरस को--अपना आरम्भण-(उपादानद्रव्य) बना कर ही यह देवसत्य अभिव्यक्त होता है, इसलिए भी इसे 'मध्वद्' कहा जासकता है, एवं मधुरसात्मक--फलभोग के माध्यम से भी इसे 'मध्वद्' माना जासकता है।

३३४-साक्षी-सुपर्ण, तथा भोक्ता-सुपर्ण से अनुगत विभिन्न भावानुबन्धी-'मध्वद्' शब्द—

इन दोनों में थोड़ा पारिभाषिक-अन्तर-माना जायगा, जिस के आधार पर स्थिति का यों समन्वय सम्भव बन सकेगा कि-पार्थिव-प्राणाग्निरसरूप-'मधु' से जिस देवसत्य का स्वरूप सम्पन्न होता है, वह देवसत्यात्मक-'मध्वद्' नाम तो साक्षीसुर्ण, एवं भोक्ता-सुपर्ण, दोनों हीं देवसत्यविवर्तों के साथ समन्वित

---

*-इन्द्रियाणि हयानहुर्विषयाँस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं 'भोक्ते'-त्याहुर्मनीषिणः॥
—कठोपनिषदि-१।३।४।

माना जायगा। क्योंकि पार्थिव--प्राणाग्निरसात्मक मधु से ही तो ईश्वरानुबन्धी-साक्षी-देवसत्य का स्वरूप सम्पन्न होता है, एवं इसी के प्रवर्ग्यात्मक-मधुरस से जीवानुबन्धी देवसत्य का स्वरूप-सम्पन्न होता है।

३३५-साक्षी-जीवात्मक पारिभाषिक 'ईश्वर', और भोक्ता-जीवात्मक-पारिभाषिक-'जीव' का रहस्यपूर्ण-समन्वय, एवं तदनुगता श्रुति का समर्थन--

पूर्व में हमने 'मध्वद' शब्द का केवल पार्थिव-भूतात्मा के साथ ही सम्बन्ध बतलाया था (२४० पृ०)। वस्तुतः 'मध्वद' शब्द पार्थिव-सर्वभूतान्तरात्मा के साथ भी समन्वित होरहा है, एवं 'भूतात्मा' के साथ भी। स्थिति पारिभाषिक-दृष्टिकोण से थोड़ी दुर्बोध्या है, अतः उस का समन्वय विस्पष्टभाषा में कर ही लेना चाहिए। 'मधु'-रूप प्राणाग्निरस का आरम्भणद्रव्यात्मक भोग तो साक्षी देवसत्य, एवं भोक्ता देवसत्य, दोनों में समान है। क्योंकि उसी प्राणाग्निरसरूप मधु को खाकर, लेकर तो साक्षीसुपर्ण की स्वरूपाभिव्यक्ति हुई है, एवं उसी को लेकर-खाकर-भोक्तासुपर्ण स्वस्वरूप से अभिव्यक्त हुआ है। अन्तर दोनों पार्थिव-प्राणाग्निरसात्मक-मधुभावों में यही है कि, साक्षी-सुपर्ण तो ब्रह्मौदनात्मक-मधु से अनुगत रहता है, एवं भोक्तासुपर्ण-उसी के प्रवर्ग्यात्मक-मधु से समन्वित होता है, जैसा कि- 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' से स्पष्ट है। ईश्वरीया-पार्थिवी-अधिदैवत-संस्था के द्वारा त्यक्त--प्रवृक्त--प्रवर्ग्यात्मक--जो पार्थिव--प्राणाग्निरसात्मक 'मधु' है, उसे खाकर--लेकर ही--भोक्ता सुपर्ण का स्वरूपाविर्भाव होता है। इस ब्रह्मौदन-प्रवर्ग्यानुगत--अन्तर के अतिरिक्त--'पार्थिव-मधु' रूपेण दोनों की 'मध्वदता' समान है, और इस आरम्भण-द्रव्यापेक्षया 'सर्वभूतान्तरात्मा'-नामक-ईश्वरीय--साक्षी--सुपर्णरूप--ब्रह्मौदन-निबन्धन देवसत्य को, एवं 'भूतात्मा' नामक--जैव--भोक्ता-सुपर्णरूप--प्रवर्ग्यनिबन्धन--देवसत्य को, दोनों को ही 'मध्वद', (अर्थात्-'पार्थिव-मधुरसात्मक--प्राणाग्नि को लेकर कृतरूप') कह सकते हैं। तभी ईश्वरीय--देवसत्यानुगत--मध्वद को 'भूत--भव्य का ईशान' (त्रिकालाधिपति) कहना अन्वर्थ भी बनता है, जैसाकि निम्नलिखित उपनिषद्वचन से स्पष्ट है—

> य इमं 'मध्वदं' वेद आत्मानं जीवमन्तिकात्।
> ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते॥
>
> —कठोपनिषदि ४।५।

३३६-आधिदैविक-जीवात्मक 'ईश्वर', एवं आध्यात्मिक-जीवात्मक-'जीव'—

लक्ष्य बनाइए अत्यन्त ही रहस्यपूर्ण उक्त 'कठ-वचन' को, जिसके-'आत्मानं--जीवं--अन्तिकात्' आदि सभी शब्द रहस्यात्मक ही बने हुए हैं। महानात्मा से सम्परिष्वक्त 'क्षेत्रज्ञ' नामक-विज्ञानात्मा, तत्सम्परिष्वक्त-प्रज्ञानात्मा, तदनुगत-भूतात्मा, इन सब प्राकृत-विवर्त्तों के समन्वय से ही मानवीय-'देही-भूतात्मा' नामक 'आध्यात्मिक--जीव' का स्वरूप--सम्पन्न होता है, एवं इन्हीं के आधिदैविकभावों से--'आधिदैविक--जीव' का स्वरूप निष्पन्न होता है, जिन इन रहस्यात्मिका स्थितियों का--'य इमं मध्वदं वेद०' इत्यादि मन्त्रभाष्य-प्रसङ्गतः कठोपनिषद्विज्ञानभाष्य में ही विस्तार से स्वरूप--विश्लेषण हुआ है।

३३७-'भूतात्मा'-रूप जीव का आधारभूत-मित्र 'सर्वभूतान्तरात्मा' नामक-पारिभाषिक-जीव—

'जीव' अभिधा का मूल 'प्रकृति'-भाव ही माना गया है। पार्थिव-प्राणाग्निरसात्मक 'मधु' तत्त्व का क्योंकि प्रकृतिभाव से ही सम्बन्ध है, अतएव तन्निबन्धन आत्मविवर्त्तों को-'जीव' नाम से ही व्यवहृत किया जायगा, फिर भले ही वह 'जीव' आधिदैविक हो, अथवा तो आध्यात्मिक। आधिदैविक-जीव को ही कहा गया है—'सर्वभूतान्तरात्मा', एवं आध्यात्मिक जीव को ही माना गया है--'भूतात्मा'। 'सर्वभूता--न्तरात्मा' नामक जीव को ही कहा जायगा—पार्थिव--साक्षीसुपर्ण, एवं 'भूतात्मा' नामक जीव को ही माना जायगा--पार्थिव-भोक्तासुपर्ण।

३३८-समानशीलव्यसननिष्ठ समानधर्म्मा दो सुपर्ण—

दोनों के पार्थक्यानुगत--समन्वय के लिए ही 'पार्थिव-साक्षी सुपर्ण-रूप--आधिदैविक--जीव' को तो कहा जायगा-'ईश्वर', एवं 'पार्थिव--भोक्ता--सुपर्णरूप--आध्यात्मिक-जीव' को माना जायगा 'जीव'। इत्थंभूत यह पारिभाषिक जीवात्मक-पारिभाषिक-ईश्वर, एवं पारिभाषिक-जीव, दोनों परस्पर मित्र ही माने जायँगे। मित्र का अनुबन्ध-'समानशीलव्यसनेषु--मैत्री'-रूप प्रसिद्ध लोकसूत्र ही माना गया है। और समानानुबन्ध से दोनों से अनुगता-'जीव' उपाधि का सर्वात्मना समन्वय होरहा है।

३३९-प्राणाग्निरसात्मक-'मधु' भाव, और कर्म्मफलभोगात्मक 'मधु'-भाव, तथा तन्नि-बन्धन-'मध्वद'-शब्द

उक्त दोनों जीवात्मविवर्त्तों में से साक्षी-जीवरूप-'ईश्वर' को तो मध्वद इसलिए कहा जायगा कि, उसका आरम्भणद्रव्य 'मधु' रसात्मक-पार्थिव-प्राणाग्निरस ही है। एवं भोक्ताजीवरूप-जीव को 'मध्वद' इसलिए कहा जायगा कि, वह 'मधु' नामक फलोंका (कर्म्मफलों का) भोक्ता है। इसप्रकार ईश्वरीय-मध्वद का 'मधु' शब्द जहाँ प्राणाग्निरसानुगामी माना जायगा, वहाँ जैव-मध्वद के 'मधु' शब्द को 'कर्म्मफल' परक ही माना जायगा।

३४०-'य इमं मध्वदं वेद'-इत्यादि श्रुतिवचन का समन्वय-प्रयास—

"जो मध्वद-जीवात्मा, अर्थात् कर्म्मफलभोक्ता-'भोक्तासुपर्ण' नामक आध्यात्मिक (मानवीय) भोक्तात्मा (देही-जीवात्मा) अपने सन्निकट ही प्रतिष्ठित-'मध्वद' नामक जीवरूप-आत्मा को, अर्थात् 'मधु' रूप-पार्थिव-रसात्मक-आग्नेयप्राण से कृतरूप-आधिदैविक-जीवरूप-साक्षीसुपर्ण को जान लेता है-पहिचान लेता है-जोकि, आधिदैविक-जीवात्मरूप-साक्षी-सर्वभूतान्तरात्मा-भूत-भव्य का-ईशान-अधिपति-है, तो उस अवस्था में देही भोक्ता-जीव का क्षोभात्मक-दुःख उपशान्त होजाता है",-'य इमं मध्वदं वेद०' इत्यादि कठवचन का यही पारिभाषिक अर्थसमन्वय है, जोकि पूर्व में प्रतिज्ञात हुआ था (देखिए पृ० सं० २४० की टिप्पणी)।

३४१-देवसत्यनिबन्धन-'द्वा सुपर्णा-सयुजा०'-इत्यादि-मन्त्र-रहस्यार्थ-समन्वय-विराम—

उक्त-सन्दर्भ के माध्यम से निवेदनीय यही है कि, 'मध्वद' शब्द के 'मधु' का पार्थिव-प्राणाग्निरस से भी सम्बन्ध है, एवं 'कर्म्मफल' से भी सम्बन्ध है। प्राणाग्निरसानुबन्धी-'मधु' शब्द की दृष्टि से तो

'मध्वद' नाम साक्षी और भोक्ता, दोनों के साथ समन्वित माना गया है। एवं कर्म्मफलानुबन्धी मधु से अनुप्राणित 'मध्वद' शब्द का सम्बन्ध कर्म्मफलभोक्ता-देही-भोक्तासुपर्ण के साथ ही माना गया है। इस पारिभाषिक-तथ्य को अवधानपूर्वक लक्ष्य बनाते हुए ही पूर्वोक्त-'द्वा सुपर्णा-सयुजा०' इत्यादि मन्त्र के अर्थ का समन्वय करना चाहिए, जिस इत्थंभूत-समन्वय के आधारपर ही अब 'मधुरसमूर्त्ति' उस देवसत्य के मौलिक-स्वरूपेतिवृत्त का ही उपक्रम किया जारहा है, जोकि 'भूतात्मा'-नुबन्ध से प्रकृत-द्वितीय-सन्दर्भ का प्रमुख विषय बना हुआ है।

३४२-प्राणाग्निरसात्मक-'सरिर'-तत्त्व से सम्पन्न भूपिण्ड का, तथा तदनुगत पार्थिव-स्वरूप का पारिभाषिक-स्पष्टीकरण, और तत्सम्बन्ध में 'ब्राह्मणश्रुति' का संस्मरण—

भूपिण्ड के गर्भ में उसी प्रकार भूतपति अग्निदेव का ही प्राधान्य माना गया है, जैसे कि सूर्य्यरूप द्यु के गर्भ में देवपति-इन्द्रदेव की प्रधानता मानी जाती है, जिस इस तथ्य के आधार पर ही—'यथाग्नि-गर्भा पृथिवी, तथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी' यह श्रौत-सिद्धान्त समन्वित हुआ है।

भूपिण्डस्थ-गर्भानुगत-भूतपति प्राणाग्निदेव ही इरारसात्मक वह मधुरस है, जिस इरारसानुबन्ध से ही प्रपदानुगत-पार्थिव-भूतात्मा को हमने पूर्व में परोक्षभाषानुबन्ध से ('इरामयपुरुष' के स्थान में परोक्षरूपेण) 'हिरण्यमयपुरुष' नाम से भी व्यवहृत किया है (देखिए पृ० सं० २४१)।

'आपो वा इदमग्रे सलिलमेवास' (शत० ११।१।६।१।) इत्यादि शातपथी-श्रुति के अनुसार अप्तत्त्व (जलीयतत्त्व) की पूर्वा-मौलिक-अवस्था का ही नाम 'सलिल' है, जिसका अर्थ है-'सरिर', अर्थात् इरा-रसात्मक-भाव। प्राणाग्नि भी एक प्रकार का रस है, जिसका पारिभाषिक नाम ही 'इरा' है। इस इरारसा-त्मक-आग्नेय-प्राण की उत्तरावस्था का ही नाम 'आपः' है। इसी आधार पर-'अग्नेरापः' सिद्धान्त स्थापित हुआ है।

सरिर-किंवा सलिलरूप-मधुरसमूर्त्ति * प्राणाग्नि की उत्तरावस्थारूप अप्तत्त्व के द्वारा ही 'अप्-वायुः-तेजः'-संयोग के द्वारा पार्थिव-विवर्त्त (भूपिण्डविवर्त्त) की स्वरूप-निष्पत्ति हुई है, जिस इस आपोमय-भूपिण्ड के आपः फेनादि अष्टविध-चित्य-विवर्त्तों का पूर्व में नाम-स्मरण किया ही जाचुका है (देखिए पृ० सं० २४३)। इसी आधार पर—'अद्भ्यः पृथिवी' (भूपिण्ड इति यावत्) यह सिद्धान्त अभिव्यक्त हुआ है।

यों सलिलरूप (इरारसात्मक) मधु-रस-लक्षण-प्राणाग्नि के द्वारा अभिव्यक्त अप्तत्त्व की अष्टविध-चिति से ही उस 'भूपिण्ड' का स्वरूप-निर्म्माण हुआ है, जिस पर आप-हम-सब-(चराचर) प्रतिष्ठित हैं,

---

*-परिपक्व अन्न में जो एक प्रकार की मधुरिमा (मिठास) की अनुभूति होती है, वह प्राणाग्निरस से ही अनुप्राणिता है।

इस प्रतिष्ठा के कारण ही जो भूः-'अभूद्वा-इयं-प्रतिष्ठारूपेण'-'भूमि' नाम से प्रसिद्ध होरही है। भूपिण्ड के अग्निनिबन्धन-भूतात्मक इसी व्यक्त-चित्य-स्वरूप-निर्म्माण को लक्ष्य बना कर भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

"यो गर्भोऽन्तरासीत्-सो ऽग्निरसृज्यत। अग्निर्हवै तमग्निरित्याचक्षते। तां संक्लिश्य-अप्सु प्राविध्यत्। स श्रान्तस्तेपानः फेनमसृजत, मृदं-शुष्कापमूष-सिकतं-शर्करामश्मान-मयो हिरण्यं-ओषधि-वनस्पत्यसृजत। तेने मां पृथिवीं प्राच्छादयत्। इयमसृज्यत। तस्मादाहुः-त्रिवृदग्निः। अस्यै हि सर्वोऽग्निश्चीयते। अभूद्वा-इयं प्रतिष्ठा, तद्भूमि-रभवत्"।

—शतपथब्राह्मणे ६।१।१।६ से १५ पर्य्यन्त

३४३--'यथाग्निगर्भा पृथिवी'-से अनुप्राणित-'अग्निगर्भ'-शब्द का पारिभाषिक-समन्वय—

यों गर्भस्थ-प्राणाग्निरूप-देवाग्नि के आधार पर प्रतिष्ठित चित्याग्निरूप भूताग्नि के माध्यम से (वायु-सहयोगी-तेजोभाव के माध्यम से) आपः-फेनादि-रूपेण-चित्य-भूपिण्ड का स्वरूप-निर्म्माण होगया, जिस इत्थंभूत भूपिण्ड के केन्द्र में प्राणरसाग्नि प्रतिष्ठारूपेण-विद्यमान है, जिसके आधार पर ही 'यथाग्निगर्भा पृथिवी' रूपेण भूपिण्ड को 'अग्निगर्भ' नाम से व्यवहृत किया गया है (देखिए पृ० सं० २५८)।

३४४--'अर्चंश्चरति'-लक्षण, प्राणन-अपानन-धर्म्मा गतितत्त्व का रहस्यात्मक-दिग्दर्शन—

आगे क्या हुआ?, इस मौलिक प्रश्न के पारिभाषिक-समाधान के आधार पर उस पार्थिव-विवर्त्त का स्वरूप-समन्वय अवलम्बित है, जिसके माध्यम से ही प्रतिज्ञात 'देवसत्य' का स्वरूप गतार्थ बन सकेगा। एवं इस गतार्थता के लिए ही अत्यन्त ही पारिभाषिक-'अर्क' शब्द की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जायगा।

भूपिण्डकेन्द्रस्थ देवाग्नि प्राणप्रधान है, जिसके आधार पर ही भूताग्निचितिरूप-भूतपिण्ड की स्वरूप-प्रतिष्ठा बतलाई गई है। प्राणतत्त्व वह गतितत्त्व है, जिसका स्वरूप-'अर्चंश्चरति' पर ही अवलम्बित है, जिसका अर्थ है—'आगति से नित्य समन्विता गति'। प्रत्येक प्राणगति निश्चयेन आगति से नित्य समन्वित होकर ही अपने गतिभाव को सुरक्षित रखने में समर्थ बना करती है। (देखिए पृ० सं० १३८ परिच्छेद सं०--५१)।

इसका तात्पर्य्य यही निकलता है कि, प्राण अपान-सापेक्ष ही बना रहता है। पीछे हटना ही आगति-आगमन-है, एवं आगे बढ़ना ही गति-गमन-है। आगतिभाव ही अपानन है, गतिभाव ही प्राणन है। प्राणन अपानन से अनुगत है, तो अपानन प्राणन से समन्वित है। अन्योऽन्याश्रयभाव-निबन्धन इस सापेक्ष विश्व में न तो शुद्ध प्राणनरूप-शुद्ध-गतिभाव ही सम्भव, एवं न शुद्ध अपाननरूप शुद्ध आगतिभाव ही सम्भव। अपितु विश्वानुगता प्रत्येक गति के मूल में जहाँ आगति प्रतिष्ठित रहती है, वहाँ प्रत्येक आगति

के मूल में गति भी प्रतिष्ठित रहती है। इसी आधार पर मन्त्रश्रुति का—'अस्य प्राणदपानती' * इत्यादि सिद्धान्त व्यवस्थित हुआ है।

३४५-'अर्क्य' से अनुप्राणित 'अर्काग्नि' का स्वरूप-समन्वय—

प्राणतत्त्वानुबन्धिनी तथोक्त नित्य--अपानसापेक्षा गति ही 'अर्चंश्चरति' रूप 'अर्क' भाव का स्वरूप-निष्कर्ष है, जिसके आधार पर ही रसाग्निरूप प्राणाग्नि का एक नाम 'अर्काग्नि' भी होगया है, जिसके आधार पर ही 'अर्क्य' के अर्कत्व का समन्वय हुआ है, जैसा कि निम्न लिखित वचन से स्पष्ट है—

अशनायासि मृत्युः, तन्मनोऽकुरुत–'आत्मन्वी स्याम्' इति, सोऽर्चन्नचरत्। तस्यार्चत आपोऽजायन्त। अर्चते वै मे कमभूत्, (सुखमभूत्), इति तदेव-अर्क्यस्य-अर्कत्वम्।

—शत० १०।६।५।१।

३४६-'पृथिवी' के पारिभाषिक-निर्वचनार्थ का स्पष्टीकरण, एवं प्राणाग्निरस की पारिव्याप्ति का दिग्दर्शन—

"अपानगर्भित-(आगतिगर्भित) प्राणनभाव (गतिभाव) ही गतिधर्म्मा प्राणाग्नि की स्वरूप-परिभाषा है", यही निवेदनीय है। इत्थंभूत प्राणाग्नि का नाम ही (प्राणदपानल्लक्षण-अर्चंश्चरणात्मक-धर्म्मानुबन्ध से) 'अर्काग्नि' है (देखिए पृ० सं० १३८, परिच्छेद ५।)। यह अर्काग्नि ही अपने इत्थंभूत प्राणनापाननधर्म्म से भूपिण्डकेन्द्र से चारों ओर वितत होने लग पड़ता है, फैलने लगपड़ता है। प्रथनरूप इस वितानभाव (फैलाव) की व्याप्ति से अनुगत वयोनाधात्मक-वह स्वतन्त्र मण्डल ही 'यदप्रथयत्' निर्वचन से 'पृथिवी' नाम से प्रसिद्ध होगया है, जिस स्वतन्त्र--मण्डल में उक्थरूप--भूपिण्डानुगत--केन्द्र से आबद्ध--केन्द्र से विनिर्गत प्राणाग्निरूपरस, किंवा रसाग्निरूप प्राण परिव्याप्त होजाता है।

---

* आयं गौः पृश्निरक्रमीत्-असदन्मातरं पुरः ॥
पितरश्च प्रयन्त्स्वः ॥१॥
अन्तश्चरति रोचनास्य प्राणदपानती ॥
व्यख्यन्महिषो दिवम् ॥२॥
त्रिंशद्धाम विराजति वाक्पतङ्गाय धीयते ॥
प्रति वस्तोरह द्युभिः ॥३॥
—ऋक्संहिता १८९।१,२,३, मन्त्र

३४७-पञ्चलोकानुगता लोकचतुष्टयी का संस्मरण—

क्या सम्पूर्ण मण्डल में केवल प्राणाग्निरस ही अभिव्याप्त रहता है ?, इस प्रश्न के समाधान के लिए ही हमें उस 'स्तोम' शब्द का आश्रय लेना पड़ा है, जिसके माध्यम से पार्थिवत्रैलोक्य--'स्तौम्यत्रैलोक्य'--किंवा 'स्तौम्यत्रिलोकी' नाम से व्यवहृत हुआ है, जिस इस त्रैलोक्य का पर्य्यवसान माना गया है—पञ्चलोका--नुगता लोकचतुष्टयी पर ही, जैसाकि अनुपद में हीं स्पष्ट होने वाला है।

३४८-रोदसीत्रिलोकी की उद् ढत्रिलोकी-रूपता—

स्मरण कीजिए उस 'उदूढत्रिलोकी' का, जिसका पूर्व में 'त्रैलोक्य-त्रिलोकी' के प्रसङ्ग से नामस्मरण हुआ है (देखिए पृ० सं० २५०)। वहाँ उदूढत्रिलोकी को त्रैलोक्य-त्रिलोकी से इसलिए अभिन्ना बतला दिया गया है कि, त्रैलोक्यत्रिलोकी की रोदसीत्रिलोकी ही स्वतन्त्ररूपेण—'उदूढत्रिलोकी' नाम से व्यवहृत होगई है।

३४९-उदूढत्रिलोकी का शब्दार्थ-समन्वय—

द्यावापृथिवी का प्रकृतिसिद्ध—परिणय (विवाह) ही क्योंकि रोदसीत्रिलोकी का स्वरूप—व्यवस्थापक, किंवा स्वरूपाभिव्यञ्जक बनता है, इस परिणयरूप-दामत्यभाव के अनुबन्ध से ही रोदसीत्रिलोकी 'उदूढ--त्रिलोकी'-(द्यावापृथिव्यनुगत--दाम्पत्य से समन्विता त्रिलोकी) नाम्ना प्रसिद्ध होगई है।

३५०-द्यावापृथिवी-रूपा-पारिभाषिकी उदूढत्रिलोकी—

द्यु लोक, और पृथिवीलोक, दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित है वह अन्तरिक्ष, जिसमें चन्द्रमा प्रतिष्ठित है। अतएव जिसे 'चान्द्रान्तरिक्ष' कह दिया जासकता है। भूपिण्डरूप पृथिवीलोक, चान्द्रान्तरिक्ष, सूर्य्यात्मक-द्यु लोक, इन तीनों लोकों की समष्टि ही 'द्यावापृथिवी'—रूपा उदूढत्रिलोकी है, जिसका पूरक चौथा वह 'आपोलोक' ही माना गया है, जिसे विज्ञानभाषा में—'परमेष्ठी' कहा गया है।

३५१-प्राणलोकात्मक-संयती-त्रैलोक्य का संस्मरण

इसी के लिए 'अस्ति वै चतुर्थो देवलोक आपः' यह प्रसिद्ध है। द्वितीया कन्दसी-त्रिलोकी का स्वरूप-निर्म्मापक यही आपोलोकरूप परमेष्ठी माना गया है। तदनन्तर, किंवा सर्वान्ते है वह 'प्राणलोक', जिसे विज्ञानभाषा में 'स्वयम्भू' कहा गया है, एवं जो कि 'संयती-त्रिलकी' का स्वरूपाधिष्ठाता माना गया है।

३५२-पञ्चपर्वात्मक महान् विश्व से अनुगत त्रैलोक्य-विवर्त्तों का स्पष्टीकरण-प्रयास—

इसप्रकार (१) पृथिवी, अर्थात भूपिण्ड, (२) चान्द्रान्तरिक्ष, (३) सूर्य्यात्मक-द्यु लोक, (४)--परमेष्ठी-रूप-आपोलोक, (५)--स्वयम्भू-रूप प्राणलोक, भेद से पञ्चपर्वात्मक-महान् विश्व में पाँच—लोक होजाते हैं, जिनके आधार पर ही त्रैलोक्यत्रिलोकी के नवलोकानुगत—सप्तव्याहृतिरूप--सप्तलोक, और तदनु--बन्धिनी—रोदसी—क्रन्दसी--संयती-लक्षणा वह त्रैलोक्यत्रिलोकी--प्रतिष्ठिता है, जिसकी रोदसी--त्रिलोकी ही पूर्व--कथनानुसार 'उदूढत्रिलोकी' कहलाई है, एवं जिस इस सम्पूर्ण लोकेतिवृत्त का पूर्व में दो विभिन्न तालिकाओं के द्वारा विस्तार से स्पष्टीकरण किया जाचुका है। (देखिए पृ० सं० २४९, तथा २५१ पृ० की तालिकाएँ)।

३५३ त्रैलोक्य–'त्रलोकी-लक्षणा पारिभाषिकी उदूढत्रिलोकी का समन्वय–प्रयास—

एक विशेष उद्देश्य से ही सिंहावलोकनदृष्टया अत्र उदूढत्रिलोकी का संस्मरण हुआ है। "[1]पृथिवी–[2]अन्तरिक्षम्–[3]द्यौः–[4]आपः–[5]प्राणः' ये ही पाँचों विवर्त्त क्रमशः "भूपिण्ड–चन्द्रमाः–सूर्य्यः–परमेष्ठी–स्वयम्भूः" ये सुप्रसिद्ध पाँच विश्वपुण्डीर हैं, जिन इन पाँचों के समन्वितरूप का ही नाम है-'त्रैलोक्यत्रिलोकी', जिसे पूर्वपरिभाषानुसार 'उदूढत्रिलोकी' भी कहा जासकता है। और इत्थंभूता–त्रैलोक्यत्रिलोकी-रूपा-उदूढ-त्रिलोकी का सम्बन्ध आत्मसत्यानुगत 'ब्रह्मसत्य' से ही माना गया है, जिसके द्वारा ही अब उस 'स्तौम्यत्रिलोकी' के जन्मेतिवृत्त की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जारहा है, जिसके आधार पर ही प्रक्रान्त 'देवसत्य' का स्वरूप–गतार्थ बन सकेगा।

३५४–स्तौम्यत्रिलोकी के स्तोमों से अनुगत लोकविभागों का दिग्दर्शन, और तन्नि–बन्धना 'स्तौम्यत्रिलोकी'—

पञ्चपर्वात्मिका-उदूढत्रिलोकी के उपरि निर्दिष्ट पाँचों-लोकों के प्रवर्ग्यभागों से ही क्योंकि पञ्चपर्वात्मिका–स्तौम्यत्रिलोकी की स्वरूपाभिव्यक्ति हुई है, अतएव दोनों में परस्पर जन्य-जनकभाव–मान लिया गया है। उदूढत्रिलोकी के भूः–चन्द्र–सूर्य्य–परमेष्ठी–स्वयम्भू–इन पाँचों के प्रवर्ग्यभागों से ही स्तौम्यत्रिलोकी के अग्नि-वायु-आदित्य-सोम-प्राण-रूप पञ्चविध उन पाँच विवर्त्तभावों की स्वरूपाभिव्यक्ति हुई है, जिन इन पाँचों विवर्त्तभावों के अधिष्ठान क्रमशः त्रिवृत्–पञ्चदश–एकविंश–त्रयस्त्रिंश–अष्टाचत्त्वारिंश ($\frac{१}{९}$–$\frac{२}{१५}$–$\frac{३}{२१}$–$\frac{४}{३३}$–$\frac{५}{४८}$)–संख्यामित–पञ्चविध–स्तोमलोक बने हुए हैं, एवं जिन इन स्तोमों के सम्बन्ध से ही उदूढ–त्रिलोकी के प्रवर्ग्यभागों से उत्पन्ना यह नवीना त्रिलोकी 'स्तौम्यत्रिलोकी' नाम से प्रसिद्ध हुई है।

३५५–उदूढ, तथा स्तोम–भेद से अनुगता भूमि, एवं पृथिवी का पार्थक्य-दिग्दर्शन—

उक्त विवेचन के आधार पर 'पृथिवी'–नामक लोकप्रसिद्ध शब्द के माध्यम से स्थिति का इन शब्दों में भी अभिनय कराया जासकता है कि, एक ही पृथिवी के उदूढ, और स्तोम–भेद से चित्य, और चितेनिधेय–रूपेण दो विवर्त्त होजाते हैं, जो क्रमशः–'भूमि', पृथिवी'–इन विभिन्न नामों से प्रसिद्ध हैं। ब्रह्मसत्यानुगत उदूढभाव का अन्तिम पर्वरूप–सर्वभूतरसात्मक–आपः–फेनादि भूतचिति-समन्वित–स्पृश्यभाव-निबन्धन–पिण्डात्मक-पार्थिव-विवर्त्त का ही नाम है–'चित्या-पृथिवी', जिसे–'अभूद्वा–इयं प्रतिष्ठा' निर्वचन से–'भूमिः' कहना ही अन्वर्थ प्रमाणित होगा।

३५६–देवसत्यजननी माता पृथिवी का ब्रह्मसत्य से आविर्भाव, एवं तत्-स्थिति का समन्वय–प्रयास—

इत्थंभूता चित्या–भूमि को केन्द्र बनाकर जो स्तोमलोकात्मक–मण्डल–वितत होता है, उसी का नाम है—'चितेनिधेया–पृथिवी', जिसे–'तामप्रथयत्'–निर्वचन से–'पृथिवी' नाम से व्यवहृत करना अन्वर्थ–प्रमाणित होगा। और इसप्रकार त्रिपुरुषपुरुषात्मक–षोडशी–विश्वात्मा–रूप 'आत्मसत्य' से अनु–गृहीत–उदूढत्रिलोकीरूप, किंवा त्रैलोक्यत्रिलोकीरूप, किंवा पञ्चपर्वा–विश्वरूप–'ब्रह्मसत्य', इन दोनों सत्य–

विवर्त्तों से अतिरिक्त, दोनों में से दूसरे विश्वात्मक–ब्रह्मसत्यविवर्त्त के अन्तिम–पर्व–स्थानीय–भूपिण्ड के आधार पर महिमा-मण्डलरूपेण–वितत–एक स्वतन्त्र–मण्डलात्मक–स्वतन्त्र–लोक ही 'पृथिवी' नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जिस इस स्वतन्त्र–पृथिवी–लोक को ही **'देवसत्यजननी'** बनने का महद्भाग्य उपलब्ध हुआ है।

३५७–'आदर्शोदरसन्निभा--भगवती'--से उपवर्णिता पारिभाषिकी 'पृथिवी' का स्वरूप-संस्मरण—

देवसत्यजननी तथाविधा माता पृथिवी लोकप्रसिद्धा भूमि (भूपिण्ड) से सर्वथा विभिन्न वह प्राण–प्रधान-मण्डलात्मक-तत्त्व है, जिसकी सामात्मिका सीमा रथन्तरसाम के सम्बन्ध से सूर्य्य से भी कुछ ऊपर पर्य्यन्त मानी गई है। **'पृथिवी के पुष्करद्वीप में सूर्य्यनारायण तप रहे हैं'** इत्यादि पुराणशास्त्र-सिद्धान्त इसी 'पृथिवी' की ओर सङ्केत कर रहा है। **'आदर्शोदरसन्निभा भगवती'** सङ्केत भी इसी से अनुप्राणित है।

३५८–पुराणशास्त्र का पावन–संस्मरण—

यही वह सप्तसमुद्रान्विता–सागरम्बरा–मही है, जिसके तथोक्त प्राणविध–मण्डलात्मक–पारिभाषिक–स्वरूप से पराङ्मुख बने रह जाने से ही आज हमारा काल्पनिक–बुद्धिवाद पुराणसम्मत–पारिभाषिक–पार्थिव ब्रह्माण्ड के स्वरूप–समन्वय में सर्वथैव असमर्थ ही बन गया है। और इस असमर्थता के दुष्परिणाम–स्वरूप ही पुराणशास्त्र, एवं तदाधारभूत ब्राह्मणग्रन्थानुगत–आख्यानोपाख्यानभाषानुगत–सन्दर्भ आज हमारी भ्रान्ता–दृष्टि में ....इत्यलमनर्गलप्रवादेन–प्रायश्चित्तविधायकेन।

३५९–'अर्चं श्चरति'–लक्षण-प्राणदपानद्व्यापार से अनुगत प्राणाग्नि की मण्डलात्मिका व्याप्ति का समन्वय, एवं तन्निबन्धना 'पृथिवी'—

एवं हि श्रूयते कि–भूपिण्ड के केन्द्र में मधुरसात्मक–पार्थिव–प्राणाग्नि उक्थरूप से प्रतिष्ठित था, जिस से चतुर्दिक् विनिःसृत रसात्मक–प्राणाग्नि–'अर्चंश्चरत्ति'--रूपेण प्राणदपानद्व्यापार से भूपिण्ड को केन्द्र बनाता हुआ भूपिण्ड के चारों ओर मण्डलरूप से व्याप्त होने लगा। और यों यह मण्डलात्मक रस–मूर्त्ति प्राणाग्नि ही कालान्तर में अपने प्रथनरूप-आतान–वितान से एक स्वतन्त्र संस्थान बन गया, जिस इस स्वतन्त्र प्राणाग्निमण्डलात्मक-संस्थान का ही नाम हुआ-'पृथिवी'। यों भूपिण्ड के आधार पर ही मानो मण्डलात्मिका 'पृथिवी' अभिव्यक्त होपड़ी।

३६०–प्राणाग्नि से अनुगता ध्रुव–धर्त्र–धरुण--अवस्थात्रयी—

भूपिण्ड को केन्द्र बनाकर उससे बाहिर उस के चारों ओर एक मण्डलात्मक–वृत्त की कल्पना कर लीजिए, और तदाधार पर ही अब प्राणाग्नि के स्वरूप का समन्वय–प्रयास कीजिए। भूकेन्द्र से निकल कर अमुक परिधि–पर्य्यन्त परिव्याप्त रहने वाले मधु–रसात्मक–पार्थिव–प्राणाग्नि की वैज्ञानिकोंनें 'ध्रुव–धर्त्र–धरुण'--नाम की सुप्रसिद्धा तीन अवस्थाएँ मान लीं हैं, जिन इन तीन अवस्थाओं के

लौकिक नाम लोकव्यवहार में क्रमशः–'घन-तरल–विरल' (किंवा 'निबिड–तरल–बाष्प') रूपेण प्रसिद्ध हैं ।

३६१–स्थूल–सूक्ष्म–सूक्ष्मतर–भावनिबन्धना–अवस्थात्रयी—

पदार्थों से अनुगता अवस्थाएँ क्रमशः घनावस्था (निबिड़ावस्था), तरलावस्था, एवं विरलावस्था, इन अभिधाओं से समन्विता मानीं गईं हैं । सहजभाषा में इन्हीं तीनों अवस्थाओं को क्रमशः स्थूलावस्थानुगता-प्रथमावस्था, सूक्ष्मावस्थानुगता-मध्यमावस्था, एवं सूक्ष्मतरानुगता-अन्तिमावस्था-नाम से भी व्यवहृत किया जासकता है ।

३६२–ध्रुवार्चि–धर्त्रार्चि–धरुणार्चि–रूपा–अवस्थात्रयी—

उदाहरणमात्र के लिए एक 'दीपार्चि' (दीपशिखा–'लौ') को ही लक्ष्य बनाइए । दीपार्चि का आरम्भ का अमुकभाग स्थूल है, मध्यभाग तदपेक्षया सूक्ष्म है, तो ऊपर का भाग तदपेक्षया भी सूक्ष्म है । इन तीनों भागों को क्रमशः ध्रुवार्चि–धर्त्रार्चि–धरुणार्चि–कहा जासकेगा ॥ इसी आधार पर भारतीय पदार्थ-विज्ञान ने-"ध्रुवोऽसि-धर्त्रमसि-धरुणमसि" (यजुःसंहितायाम्) इत्यादिरूपेण पदार्थमात्र को अवस्थात्रयी से समन्वित माना है ।

३६३–घन–तरल–विरल–रूपा–अवस्थात्रयी—

अवस्थात्रयी से अनुप्राणित तथोक्त सामान्य-अनुबन्ध की अपेक्षा से मधुरसात्मक-उस पार्थिव प्राणाग्नि की प्रथम-मध्य-अन्त-स्तररूपेण तीन अवस्थाएँ मान लीं गईं है, जिन्हें क्रमशः ध्रुवाग्नि-(घनाग्नि-निबिडावयवाग्नि), धर्त्राग्नि (तरलाग्नि)–धरुणाग्नि (बाष्पाग्नि-विरलाग्नि), इन विभिन्न तीन नामों से व्यवहृत किया जासकता है, किया गया है ।

तदित्थं-भूपिण्ड के केन्द्र से निकल कर अमुक परिधि-पर्य्यन्त-व्याप्त रहने वाले मधुरसात्मक-प्राणाग्नि की घन-तरल-विरल-रूपेण जो तीन अवस्थाएँ होजातीं हैं, उन्हीं की पारिभाषिक-संज्ञा होजाती है–क्रमशः-अग्नि-वायु-आदित्य, जिन इन तीनों में आदित्य को एक विशेष-दृष्टिकोण से-'इन्द्र' नाम से भी व्यवहृत कर दिया जाता है ।

३६४–अग्नि के अग्नि–वायु–आदित्य–नामक तीन विवर्त्त—

वही प्राणाग्नि ध्रुवात्मक-घनभावानुबन्धी अपने प्रथम विक्रमात्मक स्थूलस्तरानुबन्ध से 'अग्नि' है । वही प्राणाग्नि धर्त्रात्मक–तरल–भावानुबन्धी–अपने द्वितीय विक्रमात्मक–सूक्ष्मस्तरानुबन्ध से–'वायु' है । एवं वही प्राणाग्नि धरुणात्मक-विरलभावानुबन्धी-अपने तृतीय–विक्रमात्मक-सुसूक्ष्मतरानुबन्ध से 'आदित्येन्द्र' है । इस दृष्टि से जहाँ 'अग्नि' 'अग्नि' नाम से प्रसिद्ध है, वहाँ वायु, एवं आदित्य को भी 'अग्नि' नाम से व्यवहृत किया जासकता है ।

३६५–चतुर्विध अग्निदेव का संस्मरण—

प्राणाग्नि की अग्नि–वायु-आदित्य-विधा तीनों अवस्थाओं की समष्टि का ही नाम **'सम्वत्सर'** है। इस दृष्टि से अग्नि के **'अग्नि-वायु-आदित्य-सम्वत्सर'**-रूपेण चार प्रमुख-विवर्त्त होजाते हैं, जिस इस चातुर्विध्य के आधार पर ही—**'चतुर्द्धा विहितो ह वा अग्रे अग्निरास'** (शतपथ-आप्त्याब्राह्मण) यह अनुगम वचन * व्यवस्थित हुआ है।

६६–अग्नि–वायु–आदित्य–तथा सम्वत्सर की अभिन्नता—

इसी दृष्टिकोण से महर्षि शाकायनि ने 'वायु' को 'अग्नि' कह दिया है, तो अन्य महर्षि 'आदित्य' की ही अग्निरूप से उपासना कर रहे हैं। एतदतिरिक्त महर्षि शाट्यायनि **'सम्वत्सर'** को ही अग्निरूपेण उपास्य मान रहे हैं ÷। क्योंकि एक ही प्राणग्नि के अवस्थाभेद से **'अग्नि-वायु-आदित्य-सम्वत्सर'**-रूपेण चार विवर्त्त सम्पन्न होरहे हैं। अतएव सभी दृष्टिकोण निर्विरोध समन्वित होजाते हैं।

३६७–'त्रेधात्मानं व्यकुरुत'–का पारिभाषिक–समन्वय—

भूपिण्डकेन्द्रस्थ एक ही प्राणाग्निरूप मधुरसात्मक तत्त्व क्योंकि तथोक्त प्रकार से त्रेधा विहित है, दूसरे शब्दों में केन्द्रस्थ एक ही प्राणाग्नि तथोक्ता घन-तरल-विरल-अवस्थाओं के भेद से क्योंकि **'अग्नि-वायु-आदित्य'**-रूप से तीन विवर्त्तभावों में, व्यष्टिभावों में परिणत होता है, इसी सम्पूर्ण पार्थिव प्राणाग्निवितान रहस्य को लक्ष्य बनाकर श्रुतिने कहा है—

आपोऽवा अर्कः। तत्–यत्–अपां शर आसीत्, तत्समहन्यत। सा पृथिव्यभवत्। तस्यामश्राम्यत्। तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य तेजो रसो निरवर्त्तताग्निः। स त्रेधात्मानं व्यकुरुत-आदित्यं तृतीयं, वायुं तृतीयम्। स एष प्राणः (प्राणाग्निः-रसाग्निः-मधु-रूपः) त्रैधा–विहितः-(अग्नि-वायु-आदित्यरूपेणेति शेषः)।

—शतपथब्राह्मणे १०।६।५।२,३,

---

*–अनुगमभावत्वेन इस वचन के द्वारा अग्नि की विभिन्ना अग्निचतुष्टयी प्रतिपादिता है, जिस के वैज्ञानिक-समन्वय से लिए शतपथभाष्य का तत्प्रकरण ही द्रष्टव्य है-शतपथविज्ञानभाष्य-प्रथमकाण्डानुगत द्वितीय-खण्ड, आप्त्याविज्ञान पृ० सं० ७०४ से ७६७ पृष्ठ-पर्य्यन्त।

÷–वायुरग्निरिति शाकायनिन उपासते। आदित्योऽग्निरित्यु हैक आहुः। शाट्यायनिरु ह स्माह-सम्वत्सर एवाग्निः।

—शतपथब्राह्मणे।१०।४।५।१,२,

३६८–गायत्रीछन्द से अनुप्राणित अष्टौ-वसुदेवता—

अमुक सीमापर्य्यन्त "घनावस्थापन्न प्राणाग्नि" ("अर्थात्-अग्नि") अभिव्याप्त रहता है, और उसी सीमात्मक-परिच्छेद का पारिभाषिक नाम है-'**गायत्रीछन्द**', जिस के आठ अक्षर माने गए हैं। इन आठ अक्षरों के सम्बन्ध से घनावस्थापन्न प्राणाग्नि की (अग्नि की) भी अवान्तर आठ अवथाएँ होजातीं हैं, जो कि अष्टविध-प्राणाग्निविवर्त्त ही '**अष्टौ वसवः**' कहलाए हैं। यों घनावस्था के अवान्तर-अष्टविध-तारतम्य से एक ही घनाग्नि (अग्नि) के आठ महिमामय-विवर्त्त होजाते हैं।

३६९–त्रिष्टुप्-छन्द से अनुप्राणित एकादश-रूद्रदेवता—

घनावस्थापन्न-प्राणाग्नि-रूप-'**अग्नि**' नामक गायत्रछन्दस्क-प्रथम-स्तर के अनन्तर अमुक सीमापर्य्यन्त-'**तरलावस्थापन्न-प्राणाग्नि**'-('**अर्थात्-वायु**') अभिव्याप्त रहता है, और उसी सीमात्मक परिच्छेद का पारिभाषिक नाम है-'**त्रिष्टुबछन्द**', जिस के ग्यारह अक्षर माने गए हैं। इन ग्यारह अक्षरों के सम्बन्ध से तरलावस्थापन्न-प्राणाग्नि की (वायु की) भी अवान्तर ग्यारह अवस्थाएँ होजातीं हैं, जोकि एकादशविध-प्राणग्निविवर्त्त ही '**एकादशरुद्राः**' कहलाए हैं। यों तरलावस्था के अवान्तर-एकादशविध तारतम्य से एक ही तरलाग्नि (वायु) के ग्यारह महिमामय-विवर्त्त होजाते हैं।

३७०–जगती-छन्द से अनुप्राणित-द्वादश-आदित्यदेवता—

तरलावस्थापन्न-प्राणाग्नि-रूप-'वायु'-नामक त्रिष्टुप्-छन्दस्क द्वितीय-स्तर के अनन्तर अमुक-सीमापर्य्यंत-'**विरलावस्थापन्न-प्राणाग्नि**' (**अर्थात्-'आदित्य'**) अभिव्याप्त रहता है, और उसी सीमात्मक परिच्छेद का नाम है-'**जगतीछन्द**', जिस के बारह अक्षर माने गए हैं। इन बारहों अक्षरों के सम्बन्ध से विरलावस्थापन्न प्राणाग्नि की (आदित्य की) भी अवान्तर बारह अवस्थाएँ होजातीं है, जोकि द्वादशविध-प्राणाग्निविवर्त्त ही–'**द्वादश-आदित्याः**' कहलाए हैं। यों विरलावस्था के अवान्तर द्वादशविध तारतम्य से एक ही विरलाग्नि (आदित्य) के बारह महिमा-मय-विवर्त्त होजाते हैं।

३७१–मा-प्रमा-प्रतिमा-भावों से अनुगत त्रिविध देवताओं के एकत्रिंशद्विवर्त्त—

तदित्थं–**अष्टाक्षर–गायत्रीछन्द**, एकादशाक्षर-त्रिष्टुबछन्द, एवं द्वादशाक्षर-जगतीछन्द, नामक पारिभाषिक–'**मा**'–'**प्रमा**'–'**प्रतिमा**' भावात्मक–परिमाण–भावों के (सीमाभावात्मक–वयोनाधरूप-परिच्छेद–भावों के) सम्बन्ध से मधुरसमूर्त्ति-प्राणाग्नि की–अग्नि–वायु–आदित्य-नाम की सुप्रसिद्धा "**ध्रुव (घन)–धर्त्र (तरल)–धरुण (विरल)**" रूपिणी तीन अवस्थाओं के ही क्रमशः अवान्तर '**८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्यों**' के रूप से ३१ (इकतीस) विवर्त्त होजाते हैं। और यों एक ही प्राणाग्नि के अवान्तर एतत्संख्यानुगत विभूतिभाव सम्पन्न होजाते हैं।

३७२–गायत्री-त्रिष्टुप्-जगती-के साथ मा-प्रमा-प्रतिमा-का समतुलन—

गायत्रीछन्दस्क अग्निलोक ही '**पृथिवी**' है, यही '**मा**' नामक पार्थिव–परिमाण से अनुगत है। त्रिष्टुप्छन्दस्क वायुलोक ही '**अन्तरिक्ष**' है, यही–'**प्रमा**' नामक आन्तरीक्ष्य-परिमाण से समन्वित है। एवं

जगतीछन्दस्क आदित्यलोक ही 'द्यौः' है, यही 'प्रतिमा' नामक दिव्य-परिमाण से अनुप्राणित है। इसप्रकार यजुर्वेदीय सुप्रसिद्ध—"माछन्दः-प्रमाछन्दः-प्रतिमाछन्दः" (यजुःसंहितायाम्) इत्यादि मन्त्रवर्णानुसार अग्नि-वायु-आदित्य-से अनुप्राणित गायत्री-त्रिष्टुप् जगती-नामक-पार्थिव-आन्तरिक्ष्य-दिव्य-लोकानुगत-तीन--छन्द--'मा प्रमा-प्रतिमा'-नामों से भी समन्वित होरहे हैं-दृष्टिकोणभेद से।

३७३-आरण्यक-आध्यात्मिक-आधिदैविक, तथा पौराणिक-भेदेन देवमहिम-चतुष्टयी—

घनाग्नि से अनुगत वसु, तरलाग्नि से अनुगत रुद्र, एवं विरलाग्नि से अनुगत आदित्य, इन त्रिविध अवान्तर प्राणतत्त्वों, किंवा प्राणदेवताओं की ८-११-१२-विभागानुगता संख्याओं का वेदपुराणशास्त्र में अनेक दृष्टिकोणों से समन्वय-हुआ है, जिन अनेकों प्रकारों में से (१)-आरण्यक, (२)-आध्यात्मिक, (३)-आधिदैविक, एवं (४)-पौराणिक, इन चार प्रकारों से अनुगत नामों का ही अत्र सन्दर्भसङ्गतिमात्र के लिए नाम-संस्मरणमात्र कर लिया जाता है तालिकारूपेणैव।

३७४-(१)—वसवः, रुद्राः, आदित्याः-आरण्यकाः—

अष्टौ-वसवः	१-अग्निः, २-जातवेदाः, ३-सहोजाः, ४-अजिरः, ५-वैश्वानरः, ६-नर्य्यपाः, ७-पङ्क्तिराधाः, ८-विसर्पः,-इत्यष्टौ-वसवः-पृथिव्याम्।
एकादश-रुद्राः	१-प्रभ्राजमानः, २-व्यवदातः, ३-वासुकी, ४-वैद्युतः, ५-रजतः, ६-पुरुषः, ७-श्यामः, ८-कपिलः, ९-अतिलोहितः, १०-ऊर्ध्वः, ११-अवपतनः,-इत्येकादश-रुद्राः-अन्तरिक्षे।
द्वादश-आदित्याः	१-सविता, २-वरुणः, ३-सूर्य्यः, ४-पूषा, ५-विश्वानरः, ६-भगः, ७-यमः, ८-वृषाकपिः, ९-केशी, १०-समुद्रः, ११-अजएकपात्-इति-द्वादश-आदित्याः-दिवि।

अथमत्रसंग्रहः—

(१)—अग्निश्च, जातवेदाश्च, सहोजा, अजिरः, प्रभुः॥
वैश्वानरो, नर्य्यपाश्च, पङ्क्तिराधाश्च सप्तमः॥१॥

विसर्पो वाऽष्टमोऽग्नीनामेतेऽष्टौ वसवः क्षितौ ॥

(२)—प्रभ्राजमाना, व्यवदाता, याश्च वासुकि-वैद्युताः ॥२॥

रजताः, परुषाः, श्यामाः कपिला, अतिलोहिताः ॥

ऊर्ध्वा, अवपतन्त्यश्च, रुद्रा एकादश द्यवि (अन्तरिक्षे) ॥३॥

(३)—सविता, वरुणः, सूर्य्यः, पूषा, विश्वानरो, भगः ॥

यमो, वृषाकपिः, केशी, समुद्रोऽ, प्यजएकपात् ॥४॥

विष्णुश्च,-द्वादशादित्या -इति केचित् प्रचक्षते ॥

तेऽमी-आग्नेय-वायव्य-ज्यौतिष-प्राणजातयः ॥५॥

* * * * *

३७५-(२)—वसवः-रुद्राः-आदित्याः-आध्यात्मिकाः—

वसवः ८	१-अग्निश्च, २-पृथिवी च । ३-वायुश्च, ४-अन्तरिक्षञ्च । ५--आदित्यश्च, ६-द्यौश्च । ७-चन्द्रमाश्च, ८ नक्षत्राणि च । इत्येते- अष्टौ-वसवः ।
रुद्राः ११	दशेमे पुरुषे प्राणाः *, आत्मा-एकादशः । इत्येकादश-रुद्राः ।
आदित्याः १२	द्वादशमासाः सन्वत्सरस्य । तेऽमी द्वादशादित्याः । इत्यध्यात्मम् ।

* * * * *

* (१) सवित्रा-प्रसवित्रा, (२)-सरस्वत्या-वाचा, (३)-त्वष्टा-रूपैः, (४)-पूष्णा-पशुभिः, (५)-इन्द्रेणास्मे, (६)-बृहस्पतिना-ब्रह्मणा, (७)-वरुणेन-ओजसा, (८)-अग्निना-तेजसा, (९)-सोमेन-राज्ञा, (१०)--विष्णुना-दशम्या देवतया प्रसूतः प्रसर्पामि" [यजुःसंहितायाम्] दशैता संसृपो देवता वरुणतन्त्रानुगता इष्यन्ते ।

३७६-(३)—वसवः-रुद्राः-आदित्याः-आधिदैविकाः—

वसवः ८	(१)—१-पृथिवी, २-जलं, ३-तेजः, ४-वायुः, ५-आकाशः, ६-सूर्य्यः, ७-चन्द्रः, ८-विद्युत्,-इत्यष्टौ-वसवः।
रुद्राः ११	(२)—१-गार्हपत्याग्निः, २-आहवनीयाग्निः ८-अष्टौ धिष्ण्याग्नयः ÷, १-नैऋ्र्त्याग्निश्च, इत्येकादश-रुद्राः।
आदित्याः १२	(३)—१-धाता, २-अर्य्यमा, ३-मित्रः, ४-वरुणः,-५-अंशः, ६-भगः,-७-पूषा, ८-त्वष्टा, ९-पर्जन्यः, १०-सविता, ११-विवस्वान्, १२-विष्णुः, इत्येते-द्वादश-आदित्याः। इत्यधिदैवतम्-(मैत्रा० सं० १।६।१२।)।

* * * *

÷ १-विभुः, २-वह्निः, ३-प्रचेताः, ४-विश्ववेदाः, ५-कविः, ६-बम्भारिः, ७-दुवस्वान्, ८-शुन्ध्युः, इत्यष्टौ-धिष्ण्याग्नयः। १-प्रवाहणः, २-हव्यवाहनः, ३-स्वात्रः, ४-तुथः, ५-उशिक्, ६-अङ्घारिः ७-अवस्युः, ८-शुन्ध्युः -- इत्येतेषामन्यानि नामानि। आग्नीध्रीयः, २-होत्रीयः, ३-मैत्रावरुणः, ४-ब्राह्मणाच्छंसी, ५-होत्रीयः, ६-नेष्ट्रीयः, ७-अच्छावाकीयः, ८-मार्जालीयः, इत्यष्टौ धिष्ण्याग्नीनामेषां याज्ञिकानि नामानि। अग्नय एवैतेऽन्तरिक्षभाजनाः सन्तो रुद्रा उच्यन्ते। तेषां द्वे तन्वौ-घोरा चान्या, शिवा चान्या।

३७७-(४)—वसवः--रुद्राः--आदित्याः- पौराणिकाः—

वसवः ८	(१)—१-ध्रुवः, २-धरः, ३-सोमः, ४-आपः ५-वायुः, ६-अग्निः, ७-प्रत्यूषः, ८-प्रभासः,--इत्यष्टौ--वसवः ।
रुद्राः ११	(२)— १-अजएकपात्, २--अहिर्बुध्न्यः,--विरूपाक्षः, ४--त्वष्टा*, ५-रैवतः÷, ६--हरः×, ७--बहुरूपः A, ८--त्र्यम्बकः B. ९--सावित्रः C, १०--जयन्तः D, ११--पिनाकी, इत्येकादश--रुद्राः ।
आदित्याः १२	(३)—१--इन्द्रः, २--धाता, ३-भगः, ४--पूषा, ५--मित्रः, ६--वरुणः, ७--अर्य्यमा, ८--अंशुः, ९--विवस्वान्, १०--त्वष्टा, ११--सविता, १२--विष्णुः,-इत्येते--द्वादश--आदित्याः । इति पौराणिकाः ।

*-अयोनिजः, गर्भः, त्वष्टा, इति नामान्तराणि ।
÷-भैरवः-कपर्दी-वीरभद्रः-रैवतः,-इति नामान्तराणि ।
+-नकुलीशः, पिङ्गलः, स्थाणुः, हरः, इति नामान्तराणि ।
A-सेनानी, गिरिशः, बहुरूपः, इति नामान्तराणि ।
B-भुवनेश्वरः, विश्वेश्वरः, सुरेश्वरः, त्र्यम्बकः, इति नामान्तराणि ।
C-भूतेशः, कपाली, सावित्रः, इति नामान्तराणि ।
D-मृगव्याधः, लुब्धकः, शर्वः, अपराजितः, महातेजाः, पिनाकी, इति नामान्तराणि ।

३७८-नासत्य--दस्र-युग्म, द्यावापृथिवी--युग्म, प्रजापति--वषट्कार--युग्म, भेदेन ३३ पूरक देवदेवताओं का समन्वय—

गायत्रच्छन्दस्क-प्राणाग्नि (अग्नि), तथा त्रिष्टुप्-छन्दस्क-प्राणाग्नि (वायु), इन दोनों के मध्य में सन्धिस्थानीय-उभयधर्म्मा-(**अग्नि-वायु-धर्म्मा**) एक अपूर्व-नवीन प्राणदेव की अभिव्यक्ति और होजाती है। एवमेव त्रिष्टुप्छन्दस्क-प्राणाग्नि-(वायु), तथा जगतीछन्दस्क-प्राणाग्नि (आदित्य), इन दोनों के मध्य में सन्धिस्थानीय-उभयधर्म्मा-(**वायु-आदित्यधर्म्मा**) एक अपूर्व-नवीन प्राणदेव और अभिव्यक्त होजाता है। ये दोनों हीं प्राण उभय-सन्धियों से अनुगत होते हुए-**'सान्ध्य'** नाम से भी व्यवहृत हुए हैं, जिनके सम्बन्ध में **नासत्य-दस्र-युग्म, द्यावापृथिवी-युग्म, प्रजापति-वषट्कार-युग्म,** भेद से दृष्टिकोण-माध्यमेन अनेक विकल्प-समन्वित-हुए हैं। इन युग्मदेवताओं के समावेश से ३१, और २-के संकलन से अब प्राणदेवों की वर्गनिबन्धना-कोटियाँ (श्रेणियाँ-विभाग) **'३३'** से तमन्विता होजातीं हैं, और यही भारतीय वह सुप्रसिद्ध **'त्रयस्त्रिंशत्कोटिमित'** पारिभाषिक-देवदेवता-विभाग है, जिसका प्रकाशित शतपथभाष्य में यत्र तत्र विस्तार से स्पष्टीकरण होचुका है।

३७९-अग्निप्रमुख ३३-कोटि-देवदेवताओं का श्रुतिवचनों के द्वारा समन्वय—

प्रकृत में इस प्रासङ्गिक देवस्वरूप-सन्दर्भ से यही निवेदनीय है कि, **चित्याग्निरूप**-ब्रह्मसत्यावयवात्मक-भूपिण्ड के केन्द्र में प्राणरसाग्निरूपेण प्रतिष्ठित-**'चितेनिधेय'** नामक-देवसत्यात्मक-पार्थिव-अग्निदेव ही आरम्भ में **'अग्नि-वायु-आदित्य'**-रूपेण त्रिधा विभक्त हुए। अग्निदेव की ये तीनों अवस्थाएँ हीं **गायत्री-त्रिष्टुप्-जगती**-छन्दस्त्रयी के "८-११-१२" अक्षरानुबन्ध से क्रमशः **'अष्टौ वसवः,-एकादशरुद्राः-द्वादश-आदित्याः'**-रूपेण ३१ अवान्तर-विभूति-भावों में परिणत होंगईं, जो द्विविध-सान्ध्य-प्राणों से अन्ततोगत्वा ३३ संख्या से अनुगत होतीं हुईं-पार्थिव-प्राणाग्नि-देव के तैंतीसप्रकार के-कोटि (विभागों) का कारण प्रमाणित हुईं। निम्नलिखित कतिपय-वचन अग्निमूला इसी देवविभूति का स्पष्टीकरण कर रहे हैं—

(१)-अग्निः-सर्वा देवताः (देवदेवताः-इति यावत्) (तै०ब्रा० १।४।४।१०।)।

(२)-सर्वदेवत्योऽग्निः (शत० ६।१।२।२८।)।

(३)-अग्नेर्वा एताः सर्वास्तन्वो यदेता देवताः (ऐ०ब्रा० ३।४।)।

(४)-अग्निर्वै देवानामात्मा (शत० १४।३।२।५।)।

(५)-अग्निपुरोगाः सर्वे देवाः प्रीयन्ताम् (पुण्याहवाचने)

(६)-अग्निर्वै देवतानां मुखं प्रजनयिता, स प्रजापतिः (शत० ३।९।१।६।)।

(७)-त्रया वै देवाः-वसवः, रुद्राः, आदित्याः (शत० ४।३।५।१।)।

(८)-अष्टौ-वसवः, एकादश-रुद्राः, द्वादशादित्याः, इमेऽएव द्यावापृथिवी-त्रयस्त्रिंशयौ। त्रयस्त्रिंशद्वै देवाः, प्रजापतिश्चतुस्त्रिंशः।

—शत० ४।५।७।२।

(९)–देवता वाव त्रयस्त्रिंशः--अष्टौ--वसवः, एकादश-रुद्राः, द्वादश-आदित्याः, प्रजापतिश्च-वषट्कारश्च ।

—ताण्ड्य० ६।२।५।

(१०)–अष्टौ-वसवः, एकादश-रुद्राः, द्वादश-आदित्याः, वाक्-द्वात्रिंशी, स्वरस्त्रयस्त्रिंशत् ।
(गो०ब्रा०उ० २।१३) ।

(११)–अदित्यां जज्ञिरे देवास्त्रयस्त्रिंशदरिन्दम ! ।
आदित्या-वसवो-रुद्राः--अश्विनौ च परन्तप ! ॥ * ।

—वाल्मीकिरामायणे

३८०–'अवम'--अग्निदेव, तथा--'परम'--विष्णुदेव का उपक्रमोपसंहारात्मक-पारिभाषिक-समन्वय—

'एक', 'तीन', 'तैंतीस'-रूपेण तीन प्रक्रमों से अनुगत पार्थिवप्राणाग्निप्रमुख ३३ देवताओं के उपक्रम में अष्टवसुओं में से पहिला 'अग्नि' नापक वसुदेवता प्रतिष्ठित है, एवं सर्वान्त में द्वादश आदित्यों में से अन्त का 'विष्णु' नामक आदित्य प्रतिष्ठित है । अर्थात् इस ओर 'अग्नि' है, उस ओर 'विष्णु' है, एवं मध्य में इतर सम्पूर्ण (३१ सों) प्राणाग्निदेवता प्रतिष्ठित हैं । इस उपक्रम-उपसंहार-भावद्वयी के अनुबन्ध से ही इन दोनों की पारिभाषिक-संज्ञा क्रमशः 'अवमः'–'परमः' होगई है, जैसाकि निम्न लिखित ऐतरेयवचन से स्पष्ट है—

अग्निर्वै देवानामवो विष्णुः परमस्तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः ।

—ऐत० ब्रा० १।१।

३८१–आग्नावैष्णव-एकादशकपालपुरोडाश-से अनुगता 'दीक्षणीयेष्टि' का पारिभाषिक-स्पष्टीकरण—

इसी तथ्य के आधार पर वैधयज्ञों में उस 'आग्नावैष्णवी-इष्टि' का विधान हुआ है, जिसे दीक्षाग्रहणकाल में अनुगमनीया माना गया है, अतएव जो इष्टि–'दीक्षणीयेष्टि' नाम से भी प्रसिद्ध है (देखिए-शत० ब्रा० ३।१।३।१) । यज्ञिय तैंतीसों देवताओं को आत्मक्षेत्र में प्रतिष्ठित करने की विशेष-वैज्ञानिकी-प्रक्रिया का ही नाम है, 'दीक्षा', जिसके बिना द्विजाति को भी उसीप्रकार यज्ञकर्म्माधिकार उपलब्ध नहीं होता जैसेकि आगमानुगता तान्त्रिकी दीक्षा के बिना रहस्यात्मक-मन्त्रों के सम्बन्ध में मानव सर्वथैव

---

* 'कोटि' का अर्थ यहाँ 'विभाग'-श्रेणि' ही अभिप्रेत है, न कि संख्यानुगत कोटिभाव, जैसाकि देवसंख्या के सम्बन्ध में आज भ्रान्तिवश समझा, और समझाया जारहा है । अग्निप्रमुख प्राणदेव विज्ञानदृष्ट्या ३३ कोटि-रूप विभागों में हीं विभक्त हैं, न कि तैंतीसकरोड़संख्या-में, यही वक्तव्य-निष्कर्ष है ।

अनधिकृत बना रहता है। अधिकारसमर्पणात्मक-दीक्षाग्रहणकर्म्म में आरम्भ के अग्निदेवता, तथा अन्त के विष्णुदेवता के परिग्रहण से क्योंकि मध्यस्थ सभी देवता परिगृहीत होजाते हैं। अतएव इस दीक्षणीयेष्टि में 'आग्नावैष्णव-एकादशकपालानुगतपुरोडाश' का निर्वाप ही संग्राह्य बनता है।

३८२-आदिभावानुगत अग्नि, तथा अन्तभावानुगत विष्णु के पारिभाषिक समन्वय से असंस्पृष्ट बुद्धिवादियों की महती भ्रान्ति, और तन्निराकरण—

उपक्रमात्मक अग्निदेव, एवं सर्वान्त के विष्णुदेव, इन दोनों देवों से अनुगता इत्थंभूता प्राकृतिक-स्थिति के आधार पर श्रुति के निम्नलिखित वचन समन्वित हुए हैं, जिन का पारिभाषिक-तथाभूत समन्वय करने में असमर्थ आज का अमुक वर्ग पूर्वोक्त ऐतरेय वचन के सम्बन्ध में अपने ऐसे कुछ अनर्गल-प्रलाप-व्यक्त करता सुना गया है कि-"**पहिले आर्य्यलोग अग्नि को ही प्रधान मानते थे। आगे जाकर विष्णु इनकी उपासना में प्रधान बन गए, और अग्नि गौण बनगए। इसीलिए ऐतरेय ने अग्नि को 'अवम' कहा, और विष्णु को 'परम'**"। कहना न होगा कि-अवस्थाभेदनिबन्धना देववर्गविभक्तियों से अपरिचित बने रहना हीं तथाविध प्रलाप का प्रमुख कारण है, जिसका निम्नलिखित वचनों से भी निराकरण होजाता है—

(१)-अग्निर्वै देवानामवरार्घ्यः, विष्णुः परार्घ्यः (कौ०ब्रा० ७।१।)।

(२)-अग्निर्वै यज्ञस्य--अवरार्घ्यः-विष्णुः परार्घ्यः (शत० ३।१।३।)।

(३)-एते वै यज्ञस्यान्ते तन्वौ, यदग्निश्च, विष्णुश्च।

—ऐत० ब्रा० १।१।

३८३-भूतात्मसंस्मरणानुगत पारिभाषिक 'देवसत्य' का संस्मरण—

इत्यलमतिपल्लवितेन-पार्थिवाग्निप्रसङ्गोपात्तेन--देवसन्दर्भेण। पार्थिवाग्नि की प्रासङ्गिकी विभूति के अनुबन्ध से ही अत्र तैतीसप्रकार के पार्थिव-अग्निप्रमुख उन प्राणाग्निदेवताओं की उपस्तुति होपड़ी, जिनके आधार पर ही पार्थिव वह सम्वत्सरयज्ञ प्रतिष्ठित है, जिसके माध्यम से ही अब हमे उस प्रतिज्ञात-'देवसत्य' के स्वरूप--लक्षण की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है, जिस 'देवसत्य' के द्वारा ही '**भूतात्मसंस्मरण**' नामक प्रक्रान्त द्वितीय-सन्दर्भ का यथावत् समन्वय गतार्थ बन सकेगा।

३८४-'अस्माकमेवेदं खलु भुवनम्'--वचनानुगता पारिभाषिकी स्थिति का संस्मरण—

देवसत्यानुबन्धी इस प्रसङ्ग को यहीं उपरत कर अब पुनः उस उद्‌दृत्रिलोकी की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जारहा है, जिसके द्वारा ही पूर्व में पार्थिवी--स्तौम्यत्रिलोकी की अभिव्यक्ति बतलाई गई है (देखिए-पृष्ठ सं० २५०, परिच्छेद सं० ३१४)। अब एक अन्य दृष्टिकोण से इस त्रिलोकी का समन्वय करा दिया जाता है दो शब्दों में हीं। क्योंकि त्रैलोक्य--त्रिलोकी-से अनुगत आपोमय-विश्व-भुवन-के माध्यम से ही केनोपनिषत् में--स्तौम्यत्रिलोकी की देवत्रयी के द्वारा अभिव्यक्ता उस अहमहमिका का समन्वय सम्भव

है, जिसका--'अस्माकमेवेदं खलु भुवनम्' इत्यादिरूप से आगे के मूलभाष्यात्मक तृतीय-प्रकरण में स्पष्टी--करण होने वाला है ।

३८५-त्रैलोक्य--त्रिलोकी से अनुगता उद्‌ढत्रिलोकी का संस्मरण, और तदनुगत लोक-वितान—

संयती, क्रन्दसी, रोदसी, इन तीन त्रिलोकियों की समष्टिरूपा 'त्रैलोक्य--त्रिलोकी' का सर्वान्त का 'रोदसी-त्रैलोक्य' ही ब्रह्मसत्यावयवभूत वह त्रैलोक्य--विभाग है, जिसका सूर्य्य-चान्द्रान्तरिक्ष-भूपिण्ड, इन तीन लोकों से सम्बन्ध है, और इसी 'विवह्नलक्षणा'--ब्रह्मसत्यावयवभूता-रोदसी-त्रिलोकी का नाम है-'उद्‌ढत्रिलोकी', जिसे क्रन्दसीरूप पारमेष्ठ्यलोक, एवं संयतीरूप स्वायम्भुवलोक, इन दोनों लोकों से अविनाभूत ही मान लिया गया है एक विशेष दृष्टिकोण से ।

३८६-'निश्चितलोक'--'सन्दिहानलोक', तथा 'अलोक'-नाम से अनुगता पारिभाषिकी लोकत्रयी का स्वरूप-समन्वय—

वह विशेष दृष्टिकोण है-'लोक' शब्द, जिसका 'व्यक्तभाव' से ही सम्बन्ध माना गया है । व्यक्तभाव 'निश्चितलोक' है, व्यक्ताव्यक्तभाव 'सन्दिहानात्मकलोक' है, एवं अव्यक्तभाव तत्समतुलन में 'अलोक' है । भूः-चान्द्रान्तरिक्ष-सूर्य्य, रोदसी-त्रिलोकी के ये तीनों लोक व्यक्तधर्म्मा क्षर की प्रधानता से 'व्यक्तलोक' हैं, प्रकटलोक हैं, अद्धालोक हैं, अतएव इन्हें अवश्व ही 'निश्चितलोक' कहा जासकता है । यही कारण है कि, लोकव्यवहार में 'लोक' शब्द से प्रायः तीन लोक ही प्रसिद्ध हैं, जिस प्रसिद्धि का-किंवा निश्चित-लोकाभिव्यक्ति का-'त्रयो वा इमे त्रिवृता लोकाः'-'त्रयो लोकाः'-(शत० १।२।४।२०।) 'एता वै (भूः-भुवः-स्वरिति--) व्याहृतय इमे (पृथिव्यादयः) लोकाः--'--(तै० ब्रा० २।२।४।३।)-त्रयो वाव लोकाः--मनुष्यलोकः (पृथिवी), पितृलोकः (चन्द्रमाः)--देवलोकः (सूर्य्यः]' (शत० १४। ४।३।२४।)-इत्यादि वचनों के द्वारा विस्पष्ट शब्दों में स्पष्टीकरण होरहा है ।

३८७-अद्धालोक, तथा अनद्धालोक का तात्त्विक--स्पष्टीकरण—

परमेष्ठी से अनुगता आपोमयी क्रन्दसी-त्रिलोकी का व्यक्ताव्यक्तधर्म्मा अक्षर से सम्बन्ध है । अतएव यह आपोमय-पारमेष्ठ्य-क्रन्दसी-लोक नामक चतुर्थलोक-'सन्दिहानात्मकलोक' ही माना जायगा । अर्थात् इसे अंशतः व्यक्त, एवं अंशतः अव्यक्त, अतएव 'व्यक्ताव्यक्तलोक' ही कहा जायगा, जैसा कि निम्नलिखित श्रुति से स्पष्ट है—

"स वै त्रिर्यजुषा हरति । त्रयो वा इमे लोकाः । एभिरेवैतमेतल्लोकैः-- अभि--निदधाति । अद्धा वै तत्-यत्--इमे लोकाः । अद्धा--उ-तत्--यत्--यजुः--तस्मात्--त्रिर्यजुषा हरति । तूष्णीं चतुर्थम् । स यदिमाँल्लोकान्--अति (अतिक्रम्य) चतुर्थं--अस्ति वा, न वा । अनद्धा वै तत्, यत्--इमाँल्लोकानति-चतुर्थं--अस्ति वा न वा । अनद्धा--उ--तत्, यत्--तूष्णीं, तस्मात्तूष्णीं चतुर्थम्" ।

—शत० ब्रा० १।२।४।२०,२१--कण्डिकाएँ ।

३८८-चतुर्थ-आपोलोक की सन्दिहानलोकता—

'अस्ति वा न वा' मूलक 'सन्देह' का यही तात्पर्य्य है कि, व्यक्तदृष्ट्या आपोमय-चतुर्थ पारमेष्ठ्यलोक 'नास्ति' भावानुगत है, एवं अव्यक्तदृष्ट्या वही 'अस्ति' भावानुगत है। यही सन्दिहानभाव है। और इसी अनुबन्ध से सर्वसाधारण के लिए चतुर्थ-आपोलोक-व्यक्ताव्यक्त (कुछ अंशों में कर्णाकर्णिपरम्पराया जाना हुआ ?, तो कुछ अंशों में अविज्ञातसा) ही बना रहता है। यही तथ्य श्रुति के-'तूष्णीं चतुर्थम्' इस वाक्य से अभिव्यक्त होरहा है।

३८९-अलोकात्मक पारिभाषिक-'परोरजालोक'—

अब शेष रह जाती है-स्वयम्भू से अनुगता प्राणमयी वह संयती-त्रिलोकी, जिसका व्यक्त-(क्षर) अव्यक्त-(अक्षर) से अतीत सर्वथैव गुहानिहित, अव्यक्ततम अव्यय से ही सम्बन्ध माना गया है। अतएव जो स्वयम्भू-लोक लोक बनता हुआ भी 'अलोकभाव' से ही समन्वित रहता है, अतएव स्वयम्भू को 'परोरजा' नाम से व्यवहृत करना अन्वर्थ भी बनता है *।

३९०-व्यक्ता-व्यक्ताव्यक्ता-अव्यक्ता-स्थिति-त्रयी से अनुप्राणिता त्रैलोक्यत्रिलोकी का स्वरूप-समन्वय—

उक्त सन्दर्भ से यही तथ्य निकलता है कि, संयती-क्रन्द्रसी-रोदसी-इन तीनों स्वायम्भुवी-पारमेष्ठ्या-सौरी-त्रिलोकियों में सौरी-रोदसी-त्रिलोकी अद्धात्रिलोकी (व्यक्तात्रिलोकी) है, पारमेष्ठ्या क्रन्द्रसी-त्रिलोकी अनद्धात्रिलोकी (व्यक्ताव्यक्तत्रिलोकी) है, एवं स्वायम्भुवी-संयती त्रिलोकी-आलोकात्मिका-त्रिलोकी [सर्वथैव-अव्यक्ता-अलोकात्मिका-त्रिलोकी] है। अतएव लोक-व्यवहार में व्यक्तरूपेण 'रोदसीत्रिलोकी', तथा चतुर्थ-पारमेष्ठ्य लोक, इन चार का ही नाम सुना जाता है, जैसाकि-'पृथिव्यन्तरिक्षंद्यौरापः' इत्यादि वचन से प्रमाणित है। इन चारों में भी लोकव्यवहार-प्रसिद्धि की लक्ष्यभूमि तो 'रोदसी-त्रिलोकी' ही है। यों 'उदूढत्रिलोकी'-लक्षणा रोदसी-त्रिलोकी के ग्रहण से ही तत्सम्बद्ध परमेष्ठिलोक, तथा स्वयम्भुलोक, दोनों लोक भी गृहीत होजाते हैं। इसी लोकसमन्वय-दृष्टि के आधार पर हमने 'त्रैलोक्यत्रिलोकी' के साथ भी 'उदूढत्रिलोकी' नाम का सम्बन्ध अभिव्यक्त कर दिया है पूर्व में-(देखिए पृष्ठ सं० २४३, परिच्छेद सं० २६५, तथा पृ० सं० २५० परिच्छेद सं० ३१४)। आगे चल कर हमने उदूढत्रिलोकी का केवल रोदसी-त्रिलोकी के विवहन से ही सम्बन्ध बतलाया था (देखिए ३४९ वाँ परिच्छेद, पृष्ठ सं० २६१)। परस्पर-विरुद्ध इन दोनों दृष्टिकोणों के विरोध-परिहार के लिए ही हमें अत्र लोकानुबन्धिनी इस व्यक्त-व्यक्ताव्यक्त-अव्यक्त-लक्षणा निश्चितलोक-सन्दिहानलोक-अलोक-भेदेन त्रिधा विभक्ता स्थिति का स्पष्टीकरण कर देना पड़ा है।

---

*-"इमे वै लोका रजांसि" (शत० पथब्राह्मणे) इत्यादि के अनुसार लोक का ही एक पारिभाषिक नाम 'रज' भी है। स्वयम्भू प्रत्यक्ष में इस रजोमर्य्यादा से क्योंकि असंस्पृष्ट है, अतएव इसे-'परोरजा' (रज से परः, अतीत) कहना सर्वथैव अन्वर्थ है।

३६१–अग्नित्रयी, तथा सोमद्वयी से अनुगता पार्थिव-संस्था के षड्विवर्त्तों का पारिभाषिक-दिग्दर्शन—

"उदूढत्रिलोकी से ही नवीना स्तौम्यत्रिलोकी का जन्म होता है" इस पारिभाषिक-सूत्र के माध्यम से ही अब हमें उस दृष्टिकोण का दो शब्दों में सङ्केतात्मक समन्वयमात्र–करा देना है, जिसके अनेक प्रकारों का पूर्व–परिच्छेदों के द्वारा यत्र तत्र दिग्दर्शन कराया जाचुका है। जिन त्रिविध प्राणाग्नियों का अग्नि-वायु--आदित्य–रूप से पूर्व में यशोगान हुआ है, वे तीनों ही अग्निविवर्त्त अपनी सहजसिद्धा अन्नग्रहणलक्षणा 'अशनाया' (बुभुक्षा) से निरन्तर सोमान्न ग्रहण करते रहते हैं। इस सोमान्नाहुति से ही तो प्राणाग्नि का 'अर्चंश्चरति' लक्षण प्राणापानात्मक वह व्यापार प्रक्रान्त रहता है, जिस प्रक्रान्ति से ही प्राणाग्नि के महिमामय–'यदप्रथयत्' रूप पार्थिवमण्डल का वितान हुआ है, किंवा होरहा है। इसप्रकार तीन अग्नियों के साथ चौथे सोमान्न का भी अविनाभाव सिद्ध होजाता है। जिसप्रकार अग्नि त्रिविध है, तथैव सोम भी **भास्वरसोम, दिक्सोम,** भेद से दो अवस्थाओं में परिणत रहता है। और यों चित्य–भूपिण्ड के आधार पर वितत चितेनिधेय–पार्थिव विवर्त्त में–'**तीन अग्नि, और दो सोम**' इन पाँच महिमा–भावों का समन्वय प्रमाणित होजाता है। यदि चित्यभूपिण्ड का समावेश कर लिया जाता है, तो पार्थिवविवर्त्त के षड्विध–विवर्त्त सम्पन्न होजाता है, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है—

३६२–षट्संस्थानुगत–पार्थिवविवर्त्त–परिलेखः—

पृथिवी (१)—
- (१)–*–भूपिण्डः–चित्याग्निमयः } ———— भूमि
- (२)–१–त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्नः——अग्निः (३)

अन्तरिक्षम् (२)– { (३)–२–पञ्चदशस्तोमावच्छिन्नः—वायुः (२)

द्यौः (३)— { (४)–३–एकविंशस्तोमावच्छिन्नः—आदित्यः (१)

(२), (३), (४) } —अग्नित्रयी (३)

आपः (४)—
- (५)–४–त्रिणवस्तोमावच्छिन्नः—भास्वरसोमः (२)
- (६)–५–त्रयस्त्रिंशस्तोमावच्छिन्नः--दिक्सोमः (१)

(५), (६) } —सोमद्वयी(२)

अग्नित्रयी (३) + सोमद्वयी(२) } पृथिवी

* * * *

३६३–४८–३३--२७--२१--१५--६--स्तोमभेद भिन्न पार्थिव--षड्विध विवर्त्तों का दृष्टि-कोण भेद से स्पष्टीकरण—

षट्संस्थानुगता–परिलेखात्मिका–पूर्वोक्ता–चतुर्लोकी–लक्षणा–पार्थिवी–त्रिलोकी ही 'स्तोम' सम्बन्ध से–'स्तौम्यात्रिलोकी' कहलाई है, एवं उदूढत्रिलोकी ही इसकी जन्मदात्री मानी गई है। उदूढत्रिलोकी के

स्वयम्भू का प्रवर्ग्यभाग पार्थिव विवर्त्त में ४८ पर्य्यन्त व्याप्त रहता है, जिसके सम्बन्ध से ही–'पारावतपृष्ठ' नाम के स्वायम्भुव–अन्तिमपृष्ठ की अभिव्यक्ति मानी है वैज्ञानिकोंने। उदूढत्रिलोकी के परमेष्ठी का प्रवर्ग्य–भाग ही पार्थिवविवर्त्त में त्रिणव--त्रयस्त्रिंश--पर्य्यन्त व्याप्त–भास्वर–दिक्सोमरूप में परिणत हुआ है। उदूढ–त्रिलोकी के सूर्य्य का प्रवर्ग्यभाग ही पार्थिवविवर्त्त में एकविंशस्तोमानुगत–आदित्य के रूप में परिणत हुआ है। उसका चान्द्रान्तरिक्षभाग ही पार्थिवविवर्त्त में पञ्चदशस्तोमानुगत–वायु के रूप में परिणत हुआ है। उस का भौम-भाग ही त्रिवृत्स्तोमानुगत-अग्नि के रूप में वितत हुआ है। और यों संयती–क्रन्दसी-रोदसी-लक्षणा उदूढ-त्रिलोकी के प्रवर्ग्यभावों से ही तदनुगता पार्थिवी उस स्तौम्या-त्रिलोकी की स्वरूपाभिव्यक्ति सम्पन्न होरही है, जिस इस तथ्य के आधार पर ही-"उदूढत्रिलोकी से ही नवीना स्तौम्या-त्रिलोकी का जन्म होता है"-यह पारिभाषिक सूत्र--गतार्थ बन रहा है, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है।

३६४–षट्संस्थानुगत-पार्थिवविवर्त्त–परिलेखः-प्रकारन्तरेण—

	स्तोम		
१	अष्टाचत्त्वारिंशस्तोमः	(४८)–प्रजापतिः	स्वयम्भुप्रजापतेः–प्रवर्ग्यभागः
	त्रयस्त्रिंशस्तोमः	(३३)–दिक्सोमः	परमेष्ठिनः–प्रवर्ग्यभागः
२	त्रिणवस्तोमः	(२७)–भास्वरसोमः	
३	एकविंशस्तोमः	(२१)–आदित्याग्निः	सूर्य्यस्य–प्रवर्ग्यभागः
४	पञ्चदशस्तोमः	(१५)–वाय्वग्निः	चन्द्रमसः–प्रवर्ग्यभागः
४	त्रिवृत्स्तोमः	(९)–अग्निरग्निः	भूपिण्डस्य–प्रवर्ग्यभागः
६	भूपिण्डः	(*)–भूमिः	

३६५–'देवसत्यात्मक–सर्वभूतान्तरात्मा' से अनुगत उभयविध–त्रैलोक्य का स्वरूप–समन्वय—

षट्संस्थानुगत–पार्थिव–विवर्त्त से अनुप्राणित पूर्व–निर्दिष्ट दोनों परिलेखों को अत्यन्त ही अवधान-पूर्वक लक्ष्य बनाए, एवं तदाधार पर ही अब मध्वदमूर्त्ति–उस "देवसत्य" के जन्ममहोत्सव का उपक्रम

कीजिए, जो कि-पार्थिव-देवसत्यात्मा सम्पूर्ण भूतों का आत्मा बनता हुआ महर्षि श्वेताश्वतर की भाषा में-'सर्व-भूतान्तरात्मा' नाम से प्रसिद्ध होरहा है, एवं जिस की जन्मदात्री माता पृथिवी के स्तोमानुगत स्वरूप-समन्वय के लिए ही पूर्वपरिच्छेदों में हमें-'त्रैलोक्यत्रिलोकी'-लक्षणा उदूढत्रिलोकी का, तथा तत्प्रसूता प्रवर्ग्यलक्षणा पार्थिव-स्तौम्यत्रिलोकी का स्वरूप-समन्वय करना पड़ा है ।

३९६-पार्थिवी-स्तौम्या त्रिलोकी से अनुगत प्राणाग्निविवर्त्तों के यज्ञात्मक--सम्बन्ध का संस्मरण, और तन्निबन्धन देवसत्य—

सर्वप्रथम स्मरण कीजिए मधुरसमूर्ति उस पार्थिव-प्राणाग्नि का, जिसका कि पूर्व में शतपथी-श्रुति के माध्यम से विस्तार से यशोगान किया जाचुका है (पृ० सं० २५६)। उस त्रिविध-पार्थिव प्राणाग्नि के अनुबन्ध से ही भूपिण्डा-धार पर वितता-मण्डलात्मिका एक ही पृथिवी की सीमा में स्तोमभेद से अवान्तर-तीन-लोक सम्पन्न होजाते हैं, जिन तथाविध तीनों पार्थिव-स्तौम्यलोकों की समष्टि का ही नाम है-'पार्थिवी-स्तौम्या-त्रिलोकी', जिस के त्रिविध-प्राणाग्निविवर्त्तों के यज्ञात्मक सम्बन्ध से ही त्रिमूर्त्ति देवसत्य की स्वरूपाभिव्यक्ति होने वाली है । कथ-मिति चेत् ?, श्रूयताम् ! श्रुत्वा चाप्यवधार्य्यताम् ।

३९७-गायत्राग्नि--त्रैष्टुभ-वायु--जागत-आदित्य से अनुगत त्रैलोक्य के नरात्मक--'नायकों' का स्वरूप--समन्वय—

त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न-पार्थिव-विश्व, पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न-आन्तरिक्ष्य-विश्व, एवं एकविंशस्तोमा-वच्छिन्न-दिव्य-विश्व, प्राणमण्डलात्मिका एक ही पृथिवी में पूर्वप्रतिपादित गायत्र-त्रैष्टुभ-जागत-नामक-मा-प्रमा-प्रतिमा-रूप-तीन सीमात्मक--परिच्छेदों के अनुबन्ध से सम्पन्न--होने वाले त्रिवृत् [९]--पञ्चदश [१५]--एकविंश [२१]--नामक तीन स्तोमों के द्वारा क्रमशः पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ-नामक तीन लोक सम्पन्न होजाते हैं । यों एक ही पृथिवी त्रिलोकात्मिका बन जाती है, किंवा एक हीं 'पार्थिवविश्व' अपने तीन स्तोमों से तीन विश्वरूपों में परिणत होजाता है, जिन इन तीनों विश्वों के शत्रसोनपात्--अतिष्ठावा—(अधिष्ठाता) 'नर'—नामक त्रिविध—'नायक' ही क्रमशः **गायत्राग्नि, त्रैष्टुभ—वायु, जागत—आदित्य,** नामों से प्रसिद्ध हुए हैं * ।

३९८--'विश्वानर' से अनुगता 'वैश्वानरविद्या' का प्रासङ्गिक-संस्मरण, और तद्द्रष्टा अश्वपति कैकय--महाराज—

अग्नि—वायु—आदित्य—नामक त्रिविध प्राणाग्निदेवता क्योंकि तथोक्तरूपेण तीनों पार्थिवविश्वों—(पार्थिव—पृथिवी—विश्व, पार्थिव—अन्तरिक्ष—विश्व, एवं पार्थिव ही द्युलोकात्मक विश्व, इन तीनों विश्वों)-के क्रमशः 'नर' हैं, नायक हैं, अतएव इन तीनों प्राणाग्नि--देवताओं की व्यष्टया-समष्टया च एक पारिभाषिकी संज्ञा होजाती है—"विश्वानर" । इन त्रिविध [**अग्नि--वायु--आदित्य-नामक त्रिविध**] **पार्थिव--प्राणाग्निदेवताओं** को अत्यन्त-अवधान-पूर्वक लक्ष्य बनाइए, एवं तदाधार पर ही प्रतिज्ञात-'**सर्वभूतान्त-**

***—इयमेव पृथिवी-विश्वं, अग्निर्नरः । अन्तरिक्षमेव विश्वं, वायुर्नरः । द्यौरेव विश्वं, आदित्यो नरः । (शतपथब्राह्मणे ९।३।१।३।) ।**

रात्मा' नामक ईश्वरीय-देवसत्य की रहस्यात्मिका अभिव्यक्ति, किंवा "प्रसूति" का समन्वय-प्रयास कीजिए, जिस प्रयास के स्वरूप-विश्लेषण के लिए ही उपनिषदों में उस रहस्यपूर्ण-षडङ्ग-समन्विता-सुप्रसिद्धा-'वैश्वानरविद्या' का स्वरूपोपबृंहण हुआ है, जिस के रहस्यवेत्ता माने गए हैं राजर्षिप्रवर अश्वपति कैकय महाभाग। (देखिए छान्दोग्योपनिषदि ५।११।४।)।

३९९-'वैश्वानर' शब्द से अनुप्राणित निर्वचनार्थ का पारिभाषिक-समन्वय—

(१) प्रथम स्थान है-पृथिवी--लोक नामक प्रथम विश्व के नायक 'अग्निदेवता' का। त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न-पार्थिव-प्राणाग्निरूप प्रथम पार्थिव 'अग्नि' नामक विश्वानर को आधार-बनाकर जब इस में शेष दोनों आन्तरिक्ष्य-दिव्य-लोकीय वायु, तथा-आदित्य नामक विश्वानरों की आहुति होती है, तो इस से अभिव्यक्त त्र्यात्मक, किन्तु पार्थिवाग्निप्रधान जो अपूर्वभाव उत्पन्न होता है, उसी का नाम-'वैश्वानर', है, जिस के स्वरूप में तीनों विश्वों के तीनों नरों का समन्वय होरहा है गौण-प्रधान-रूप से। अतएव-'विश्वेभ्यः-पृथिव्यन्तरिक्षद्युलोकेभ्यो नरेभ्यः-अग्निवाय्वादित्येभ्यः-उत्पन्न-जातः-एव वैश्वानरः' इस निर्वचन से अग्नि-प्रधान इस अपूर्व त्र्यात्मक-प्रथम-तत्त्व को अवश्य ही-'वैश्वानर' कहा जासकता है। यही अङ्गत्रयात्मक-देवसत्य के प्रथम-'वैश्वानर' नामक अङ्ग का संक्षिप्ततम चिरन्तन-इतिवृत्त है, जिसे कि विशेष-दृष्टि से-'विराट्' नाम से व्यवहृत किया जायगा।

४००-वैश्वानरात्मा के त्रिविध सामान्य, एवं विशेष--नामों का समतुलनात्मक-समन्वय-प्रयास—

(२) दूसरा स्थान है-अन्तरिक्ष नामक द्वितीय-विश्व के नामक 'वायुदेवता' का। पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न-आन्तरिक्ष्य-प्राणवायुरूप द्वितीय-आन्तरिक्ष्य 'वायु' नामक विश्वानर को आधार पर बनाकर जब इस में शेष दोनों-पार्थिव-दिव्य-लोकीय-अग्नि, तथा आदित्य नामक विश्वानरों की आहुति होती है, तो इस से अभिव्यक्त-त्र्यात्मक-किन्तु आन्तरिक्ष्य-वायुप्रधान जो अपूर्व भाव उत्पन्न होता है, उसी का नाम है—'हिरण्यगर्भ', जिस के स्वरूप में भी तीनों नरों का समन्वय होरहा है गौण-प्रधान-रूप से। इसी अनुबन्ध से इस द्वितीय-विवर्त्त को भी पूर्वोक्त निर्वचनानुसार-"वैश्वानर" इस सामान्य--नाम से भी व्यहृत किया जासकता है। यही अङ्गत्रयात्मक-देवसत्य के द्वितीय-'हिरण्यगर्भ' नामक अङ्ग का संक्षिप्ततम-चिरन्तन-इतिवृत्त है।

४०१-अग्नि--वायु--इन्द्र-नामकी देवता--त्रयी से अनुप्राणित विराट्-हिरण्यगर्भ--सर्वज्ञ-त्रयी का पारिभाषिक--लक्षणात्मक--स्वरूप--समन्वय—

(३) तीसरा स्थान है—द्युलोक नामक तृतीय विश्व के नायक 'आदित्यदेवता' का, जिसे केनोपनिषत्-की भाषा में-'इन्द्रदेवता' भी कहा जासकता है। एकविंशस्तोमावच्छिन्न-दिव्य-प्राणाग्निरूप-तृतीय-दिव्य-'आदित्य'-नामक विश्वानर को आधार बना कर जब इसमें शेष दोनों पार्थिव-आन्तरिक्ष्य-लोकीय अग्नि, तथा वायु नामक विश्वानरों की आहुति होती है, तो इससे अभिव्यक्त, त्र्यात्मक, किन्तु दिव्यादित्यप्रधान जो अपूर्वभाव उत्पन्न होता है, उसीका नाम है—'सर्वज्ञ', जिसके स्वरूप में भी तीनों नरों का समन्वय होरहा है गौणप्रधानरूप से। इसी अनुबन्ध से इस तृतीय-विवर्त्त को भी तथोक्त निर्वचन के

आधार पर 'सर्वज्ञ'-नामके साथ साथ 'वैश्वानर' इस सामान्य नाम से भी व्यवहृत किया जासकता है। अङ्गत्रयात्मक देवसत्य के तृतीय-सर्वज्ञ नामक अङ्ग का यही संक्षिप्ततम-चिरन्तन-इतिवृत्त है। निम्न-लिखित लक्षणों, तथा परिलेखों के द्वारा तथोक्त वैश्वानरविवर्तों का भलीभाँति स्पष्टीकरण होजाता है—

(१)—अग्नि-वायु-आदित्य-नरेभ्यः-उत्पन्नः-पार्थिवः-वैश्वानरः-'विराट्'।

(२)—वायु-अग्नि-आदित्य-नरेभ्यः-उत्पन्नः-आन्तरीक्ष्यः-वैश्वानरः-'हिरण्यगर्भः'।

(३)—आदित्य-वायु-अग्नि-नरेभ्यः-उत्पन्नः-दिव्यः-वैश्वानरः-'सर्वज्ञः'।

* * * * *

त्रिमूर्त्तिः—विराट्-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञमूर्त्तिर्वा—वैश्वानरः				
विराट्	पार्थिवः-आग्नेयः—	१-अग्निः-पृथिवी-विश्वम्-आधारभूमिः-एका (१)		त्र्यात्मकः-'विराट्'-नामकः-वैश्वानरः (१)
		२-वायुः-अन्तरिक्षम्-विश्वम्	आधेयौ-द्वौ (२)	
		३-आदित्यः-द्यौः-विश्वम्		
हिरण्यगर्भः	आन्तरिक्ष्यः-वायव्यः	१-वायु-अन्तरिक्षम्-आधारभूमिः-एका (१)		त्र्यात्मकः-'हिरण्यगर्भ'-नामकः-वैश्वानरः (२)
		२-अग्नि-पृथिवी	आधेयौ-द्वौ (२)	
		३-आदित्यः-द्यौः		
ऐन्द्रो वा सर्वज्ञः	दिव्यः-आदित्यः-	१-आदित्यः-द्यौः-आधारभूमिः-एका (१)		त्र्यात्मकः'सर्वज्ञ'-नामकः-वैश्वानरः (३)
		२-वायुः-अन्तरिक्षम्	आधेयौ-द्वौ (२)	
		३-अग्निः-पृथिवी		

* * *

४०२-'वैश्वानरो यतते सूर्य्येण०'-इत्यादि मूलसूत्र का, तथा तदनुप्राणित तूल-सूत्र का संस्मरण—

वैश्वानरविद्या का मूलसूत्र माना गया है—'वैश्वानरो-यतते-सूर्य्येण', जिसकी तूलात्मिका व्याख्या हुई है ऋषि के ही द्वारा-'आ यो द्यां भाति, आ पृथिवीम्', जिन इन दोनों मूल-तूल-सूत्रों का अक्षरार्थ-

समन्वय है—"वैश्वानर सूर्य्य से युक्त होरहा है, और जो कि इत्थंभूत वैश्वानर पृथिवी से द्यु पर्य्यन्त अभिव्याप्त रहता है"। इन दोनों सूत्रों का स्वारस्य उस उदूढत्रिलोकी के साथ ही अनुप्राणित है, जिसका रोदसी-त्रिलोकी के रूप से पूर्व में अनेकधा यशोगान किया जाचुका है।

४०३–'आ यो द्यां भात्यापृथिवीम्' इत्यादि तूलसूत्र से अनुप्राणित पारिभाषिक द्यावापृथिव्य–रूप त्रैलोक्य, और उदूढ, तथा स्तौम्य–त्रैलोक्यद्वयी का समतुलनात्मक–समन्वय—

भूपिण्ड ही रोदसी-त्रिलोकी का पृथिवी-लोक है, प्रत्यक्षदृष्ट सूर्य्य ही इस त्रिलोकी का द्युलोक है, एवं इन दोनों लोकों का अन्तरालवर्त्ती चान्द्र-आकाश–प्रदेश ही इस त्रिलोकी का–अन्तः–ईक्षते–निर्वचनानुगत–अन्तरिक्ष है। इस रोदसी–त्रिलोकी का ही पारिभाषिक नाम है–'द्यावापृथिवी', जिसके इस ओर पृथिवी से उपलक्षित भूपिण्ड है, एवं उस ओर द्यु से उपलक्षित सूर्य्य है। इत्थंभूता रोदसी-त्रिलोकी, और पूर्वोपवर्णिता स्तौम्या-पार्थिवी–त्रिलोकी, दोनों का स्थान स्तोमानुबन्ध से अंशतः समतुलित है। पृथिवी के पृथिवी-लोक का जहाँ त्रिवृत्स्तोम से सम्बन्ध है, वहाँ इसीके एकविंशस्तोम से इसके द्युलोक का सम्बन्ध है, एवं अत्रैव-सूर्य्यनारायण त्रयीविद्यारूप से तप रहे हैं। इसी समतुलन–सम्बन्ध से सूर्य्य, और आदित्य, दोनों पर्य्याय-सम्बन्ध से भी अनुगत मान लिए गए हैं, जबकि तत्त्वतः दोनों हीं पृथक् पृथक् वस्तुतत्त्व हैं। पार्थिवत्रैलोक्य में व्याप्त वैश्वानर का तृतीय-सर्वज्ञरूप क्योंकि सूर्य्य पर्य्यन्त अभिव्याप्त है, इसी दृष्टि से—'वैश्वानरो यतते सूर्य्येण' कहा गया है। एवं वैश्वानर के विराट्–हिरण्यगर्भ–सर्वज्ञ-नामक- तीनों विवर्त्त क्रमशः भूपिण्ड-केन्द्रीय-पार्थिव अग्नि से उपक्रान्त होकर सूर्य्यात्मक-द्युलोकपर्य्यन्त अभिव्याप्त रहते हैं, इसी दृष्टि से—'आ यो द्यां भात्या पृथिवीम्' यह तूलसूत्र प्रवृत्त हुआ है। और यों इत्थंभूत पार्थिववैश्वानरात्मा पार्थिवी–स्तौम्यात्रिलोकी में जन्म लेता हुआ भी रोदसी-त्रिलोकी के लोकत्रय-विवर्त्त से भी समतुलित प्रमाणित होरहा है।

४०४–उदूढत्रिलोकी के रोदसी–त्रैलोक्य से अनुगता त्रिविध–स्तोमभेदभिन्ना स्तौम्या–त्रिलोकी का स्वरूप समन्वय, एवं तत्र प्रतिष्ठित–देवसत्यमूर्त्ति 'सर्वभूतान्तरात्मा' का महर्षि के द्वारा यशोवर्णन—

और यों एक प्रकार से उदूढत्रिलोकी का रोदसी-त्रैलोक्य (सूर्य्यरूप द्युलोक-चान्द्रान्तरिक्षलोक-भूपिण्डात्मक पृथिवीलोक–की समष्टिरूप त्रैलोक्य) में ही इस रोदसी-त्रैलोक्य के पृथिवी–लोकस्थानीय–केवल भूपिण्ड के आधार पर वितत–स्तौम्य–पृथिवी–लोक के ६–१५–२१–एतत्संख्यानुगत स्तोमलोकों से कृतरूप पार्थिव–स्तौम्य–त्रैलोक्य का अन्तर्भावात्मक समन्वय प्रमाणित होजाता है। इस अन्तर्भावात्मक समन्वय का निष्कर्षार्थ यही निकलता है कि, उदूढत्रिलोकी की महिमामयी सूर्य्य-चन्द्रमादि सभी विभूतियाँ स्तौम्य–त्रिलोकी के त्रिवृद्भावापन्न, अतएव त्र्यात्मक अग्नि–वायु–आदित्य-से कृतरूप, विराट्–हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञ-इन तीनों के समन्वय से अनुप्राणित देवसत्यरूप–'सर्वभूतान्तरात्मा' के महिमामय स्वरूप में अन्तर्भूत

होजाती है, जैसा कि श्वेताश्वतरोपनिषत् के चतुर्थ अध्याय से स्पष्टरूपेण प्रमाणित है। एवमेव तदुपनिषत् के ६ ठे अध्याय के अमुक अन्तिम सन्दर्भ के द्वारा भी इसी सर्वमूर्त्ति सर्वात्मक सर्वभूतान्तरात्मा का यशोगान हुआ है, जैसाकि निम्न लिखित कतिपय–उपनिषन्मन्त्रों से स्पष्ट है—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी 'सर्वभूतान्तरात्मा' ॥
कर्म्माध्यक्षः सर्व्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥१॥

एको वशी निष्क्रियाणां बहूनामेकं बीजं बहुधा यः करोति ॥
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं, नेतरेषाम् ॥२॥

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् ॥
तत्कारणं सांख्य-योगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥३॥

—श्वेताश्वतरोपनिषदि ६ अं० ११-१२-१३ मं०

४०५–चिद्ब्रह्मसंस्मरणानुगता–षड्विध–आत्मविवर्त्त–से अनुप्राणिता स्थिति का व्यवच्छेदात्मिका समन्वयबुद्धि के माध्यम से प्रकारान्तरेण स्पष्टीकरण–प्रयास—

अधिदैवत–अध्यात्म–अधिभूत–नामक तीनों विवर्त्तों से सम्बन्ध रखने वाले आत्मभावों का समतुलनात्मक समन्वय पूर्व के 'चिद्ब्रह्मसंस्मरण' नामक द्वितीय–सन्दर्भ के क्रमप्राप्त २६५ वें परिच्छेद में किया गया है एक विभिन्न–दृष्टिकोण से। वहीं समन्वयात्मिका एक तालिका भी उद्धृत हुई है–(देखिए पृ० सं० २३०)। उस तालिका में पृथिवी के साथ ही देवसत्यात्मक साक्षी–सर्वभूतान्तरात्मा, एवं तदंशभूत भोक्ता पार्थिव–भूतात्मा–का सम्बन्ध बतलाय गया है। पूर्व–परिच्छेदों के द्वारा पृथिवी–अन्तरिक्ष–द्यौः–नामक तीनों विश्वों के अग्नि–वायु–आदित्य–नामक तीनों नरों के सहसम्बन्ध के माध्यम से विराट्–हिरण्यगर्भ–सर्वज्ञ, रूप देवसत्यात्मक–सर्वभूतान्तरात्मा की स्वरूपाभिव्यक्ति बतलाई जारही है। इन दोनों में कौनसा सिद्धान्त पक्ष है ?, इस शङ्कातङ्कित–प्रासङ्गिक–प्रश्न के समतुलनात्मक–समन्वय के लिए अब यह अनिवार्य्यरूपेण आवश्यक होजाता है कि,–उदूढत्रिलोकी से सम्बन्ध रखने वाले प्राकृतिक विवर्त्तों से अनुगत प्राकृत आत्मभावों का, तथा स्तौम्यात्रिलोकी से सम्बन्ध रखने वाले वैकारिक–विवर्त्तों से अनुगत वैकारिक–आत्मभावों का अत्यन्त ही अवधानपूर्वक व्यवच्छेदात्मिका–समन्वयबुद्धि से समन्वय कर लिया जाय। तभी तथोक्त प्रासङ्गिक–प्रश्न समाहित होसकेगा।

४०६–'त्रैलोक्य–त्रिलोकी' के लोकविवर्त्तों से अनुगता आत्मसोपानपरम्परा का संस्मरण, और तदनुप्राणित संस्मरणीय–'सर्वभूतान्तरात्मा'—

षोडशीपुरुषात्मा–नामक–'विश्वात्मा' के आधार पर अवलम्बित–पञ्चपर्वा विश्व ही उदूढत्रिलोकी का सम्पूर्ण चिरन्तन–इतिवृत्त है, जिसके माध्यम से हमें इसी निष्कर्ष–पर पहुँचना–पड़ता है कि, संयती-

त्रिलोकी के अन्यतम--प्रतिनिधि--स्वयम्भू से अनुप्राणित--ब्रह्मसत्यात्मक-प्रथम--प्राकृतात्मा का नाम है-'सत्यात्मा'। क्रन्दसी--त्रिलोकी के अन्यतम--प्रतिनिधि परमेष्ठी से अनुप्राणित-ब्रह्मसत्यात्मक-द्वितीय-प्राकृतात्मा का नाम है-'यज्ञात्मा'। अब शेष रह जाती है-रोदसी-त्रिलोकी, जिसके क्रमशः सूर्य्य--चन्द्रमा--भूपिण्ड-ये तीन अन्यतम प्रतिनिधि माने गए हैं। इन तीनों प्रतिनिधियों में से सूर्य्य से अनुप्राणित-ब्रह्म-सत्यात्मक-तृतीय-प्राकृतात्मा का नाम है-'अधियज्ञात्मा', एवं चन्द्रमा से अनुप्राणित--ब्रह्मसत्यात्मक-चतुर्थ--प्राकृतात्मा का नाम है-- 'सम्वत्सरात्मा'। अब ब्रह्मसत्यात्मक--पञ्चपर्वा--विश्व में शेष रह जाता है भूपिण्डरूप वह पार्थिवविवर्त्त, जिसके व्यवच्छेदात्मक--समन्वय का विभाजन न करते हुए ही पूर्व तालिका में पार्थिव--विवर्त्त से अनुगत आत्मविवर्त्त को तत्र 'सर्वभूतान्तरात्मा' नाम से व्यवहृत कर दिया गया है।

४०७-आत्मसत्यात्मक-विश्वात्मा से अनुगत ब्रह्मसत्यात्मक पञ्चपर्वा-विश्व के अन्तिम पर्वरूप भूपिण्ड के आत्मविवर्त्त भावों का रहस्यपूर्ण-दिग्दर्शन—

आत्मसत्यात्मक--विश्वात्मा से अनुगत ब्रह्मसत्यात्मक-पञ्चपर्वा विश्व के अन्तिम पर्वरूप भूपिण्ड के द्वारा ही त्रिपर्वा-देवसत्य की स्वरूपभिव्यक्ति होती है। अतएव ब्रह्मसत्यात्मक भूपिण्ड देवसत्य, तथा ब्रह्मसत्य, दोनों की सन्धि में प्रतिष्ठित रहता हुआ उभय--नाम--व्यवहार का कारण बन जाता है। और एकमात्र इसी अनुबन्ध से पूर्व की समन्वयात्मिका तालिका में पञ्चपर्वात्मक भूपिण्ड को 'पृथिवी' नाम से व्यवहृत करते हुए हमने सर्वभूतान्तरात्मा नामक-देवसत्यविवर्त्त का भी तत्--विवर्त्त में हीं अन्तर्भाव बतला दिया है। यदि व्यवच्छेददृष्टि से विचार किया जायगा, तो तत् तालिका के-पार्थिव, अर्थात् भौमविवर्त्त के साथ अन्य नाम का ही समन्वय होगा, और वह नाम होगा-"चित्यात्मा" अधिदैवत पक्ष में, एवं 'हंसात्मा' नाम होगा अध्यात्मपक्ष में। इसी व्यवच्छेद के अनुबन्ध से स्थिति का समन्वय अब निम्न-लिखित रूप से ही समन्वित होसकेगा।

४०८-पुरुष-प्रकृति-विकृति-से अनुगता आत्म-ब्रह्म-देव-सत्य-त्रयी का समन्वय, एवं तन्निबन्धन त्रिविध आत्मविवर्त्तों का संस्मरण—

पुरुष--प्रकृति-विकृति-सर्वथा विभक्त इन तीन तथ्यों से अनुप्राणित 'आत्मसत्य--ब्रह्मसत्य--देवसत्य'--इन त्रिविध-सत्यविवर्त्तों के साथ अब क्रमशः "३—५—३" रूपेण आत्मविवर्त्तों का सम्बन्ध माना जायगा, एवं इस दृष्टि से आत्मसत्यानुगत तीन आत्मविवर्त्तो को 'पुरुषात्मा' कहा जायगा, ब्रह्मसत्या-नुगत पाँच आत्मविवर्त्तों को 'प्राकृतात्मा' कहा जायगा, एवं देवसत्यानुगत तीन आत्मविवर्त्तों को-'वैकारि-कात्मा' कहा जायगा। सम्भूय इस दृष्टि से एकादश (११) आत्मविवर्त्त होजायँगे। व्यवच्छेदात्मिका इस दृष्टि से पृ० सं० २३० की तालिका से अनुगत ६ आत्मविवर्त्तों के स्थान में ११ आत्मविवर्त्त सम्पन्न होजायँगे।

४०९-व्यवच्छेदात्मिका समन्वयदृष्टि से अनुगत रहस्यपूर्ण--'तत्त्वमसि'-सूत्र का पारि-भाषिक--अर्थ--समन्वय—

यदि और भी सूक्ष्मदृष्टि से व्यवच्छेद किया जायगा, तो ११ की संख्या अन्ततोगत्वा १८ संख्या पर विश्राम-ग्रहण करेगी, जोकि ये अठारहों आत्मविवर्त्त उस अखण्ड 'तत्' रूप एक ही परात्परात्मा के

'त्वत्' रूप-महिमा-मय विवर्त्त माने जायँगे, जैसाकि-'तत्-त्वमसि' इत्यादि प्रसिद्ध सूत्र से प्रमाणित है। 'तत्' के 'त्वत्' रूप उन ११ विवर्त्तों, किंवा अष्टादश-विवर्त्तों के स्वरूप-विश्लेषण का अत्र अवसर नहीं है। यहाँ तो केवल उस व्यवच्छेददृष्टि की ओर की पाठकों का ध्यान आकर्षित करता है, जिस व्यवच्छेददृष्टि के यथावत् समन्वय के बिना उपनिषत् के रहस्यात्मक-व्यवच्छेदसमन्वित-विभक्त-वैज्ञानिक-पारम्परिक-तथ्य सर्वथैव अभिभूत होगए हैं। प्रकृत में व्यवच्छेददृष्टि से अनुगता एक संग्रहात्मिका तालिका मात्र उद्धृत कर देना ही पर्य्याप्त होगा, जिसके माध्यम से ही व्यवछेदात्मिका समन्वयदृष्टि गतार्थ बन सकेगी।

४१०-आत्मसत्य के चतुर्विध महिमामय-विवर्त्तों का नाम-संस्मरण—

'आत्मसत्य' से अनुगत-'पुरुषात्मा' के तीन विवर्त्त परात्पर के समावेश से चार विवर्त्त होजाते हैं, जिन्हें अब क्रमशः १-परात्परात्मा, २-अव्ययात्मा, ३-अक्षरात्मा, ४-आत्मक्षरात्मा, इन नामों से व्यवहृत किया जासकेगा।

४११-ब्रह्मसत्य से अनुगत प्राकृतात्मा के पारिभाषिक एकादशविध विवर्त्तों का तत्त्वात्मक-स्वरूप-समन्वय-प्रयास —

ब्रह्मसत्य से अनुगत पाँच विवर्त्तों को अब क्रमशः १-सत्यात्मा, २-यज्ञात्मा, ३-अधियज्ञात्मा, ४-सम्वत्सरात्मा, ५-चित्यात्मा, इन नामों से व्यवहृत किया जायगा। इनमें स्वायम्भुव-सत्यात्मा के अवान्तर तीन महिमा-मय विवर्त्त माने जायँगे, जोकि क्रमशः १-सूत्रात्मा, २-वेदात्मा, ३-नियतिः-सत्यात्मा, इन नामों से व्यवहृत होंगे। दूसरे पारमेष्ठ्य यज्ञात्मा के आरम्भ में यज्ञात्मा, सत्त्वात्मा, ये दो अवान्तर विवर्त्त होंगे। इन दोनों में सत्त्वात्मा के क्रमशः अहङ्कृत्यात्मा, प्रकृत्यात्मा, आकृत्या-त्मा, नामक तीन विवर्त्त होंगे। यों सम्भूय इस द्वितीय पारमेष्ठ्य आत्मविवर्त्त के चार विवर्त्त सम्पन्न होजायँगे। पाँचवें भूपिण्डानुगत चित्यात्मा के १-वायव्यात्मा, २-चित्यात्मा, रूपेण दो विवर्त्त होंगे। और यों ब्रह्मसत्य से अनुगत 'प्राकृतात्मा' के पाँच विवर्त्तों के संकलनरूपेण ११ (ग्याहर) प्राकृतात्मविवर्त्त होजायँगे।

४१२-देवसत्य से अनुगत वैकारिकात्मा के पारिभाषिक त्रिविध आत्मविवर्त्तों का स्वरूप-समन्वय—

शेष रह जाता है-देवसत्यात्मक वह विवर्त्त, जिसका स्तौम्यत्रिलोकी से सम्बन्ध माना गया है, एवं जिसके सर्वज्ञ-हिरण्यगर्भ-वैश्वानररूप-विराट् का यशोगान पूर्व में किया ही जाचुका है। यों आत्म-सत्य के ३ के स्थान में ४, ब्रह्मसत्य के ५ के स्थान में ११, एवं देवसत्य के ३, सम्भूय १८ अष्टा-दशविध आत्मविवर्त्त सम्पन्न होजाते हैं, जैसाकि तालिका से स्पष्ट है।

४१३–व्यवच्छेददृष्ट्यनुगतः-अष्टादशविध-आत्मविवर्त्त-परिलेखः—

३ —
(१)--निष्कलः---परात्परात्मा
१— (२)-पञ्चकलः–अव्ययात्मा
२— (३)-पञ्चकलः–अक्षरात्मा
३— (४)-पञ्चकलः–आत्मक्षरात्मा
—आत्मसत्यभावाः-(आत्मा) पुरुषः
पुरुषात्मभावाः

५ —
१— (५)-सूत्रात्मा—-स्वायम्भुवः
(६)--वेदात्मा—-स्वायम्भुवः
(७)–नियतिःसत्यात्मा-स्वायम्भुवः
—स्वायम्भुवः-सत्यात्मा (स्वयम्भूः)

२— (८)-सत्त्वात्मा—-पारमेष्ठ्यः
(९)-अहंकृत्यात्मा-पारमेष्ठ्यः
(१०)-प्रकृत्यात्मा—पारमेष्ठ्यः
(११)-आकृत्यात्मा-पारमेष्ठ्यः
—पारमेष्ठ्यः-यज्ञात्मा (परमेष्ठी)

३— (१२)-अधियज्ञात्मा--सौरः
—सौरः-अधियज्ञात्मा (सूर्य्यः)

४— (१३)-सम्वत्सरात्मा--चान्द्रः
—चान्द्रः-सम्वत्सरात्मा (चन्द्रः)

५— (१४)-चित्यात्मा--भौमः
(१५)-चित्यात्मा–भौमः
—भौमः-चित्यात्मा (भूपिण्डः)

ब्रह्मसत्यभावाः—प्रकृतिभावाः—(ब्रह्म)
प्राकृतात्मभावाः

३ —
१— (१६)-सर्वज्ञात्मा—-दिव्यः २१)
२— (१७)-हिरण्यगर्भात्मा-अन्तरिक्ष्यः (१५)
३— (१८)-विराडात्मा—-पार्थिव- (६)
—पार्थिवः-सर्वभूतान्तरात्मा (पृथिवी)
देवसत्यभावाः विकृतिभावाः (देवाः)
वैकारिकात्मभावाः

पञ्च—ब्रह्म—मण्डल—सृ

४१४–प्रकारान्तरेण-व्यवच्छेददृष्टिनिबन्धन-आत्मविवर्त्तपरिलेखः—

पुरुषः	आत्मा	१–त्रिपुरुषपुरुषात्मकः–षोडशी–प्रजापतिः–विश्वात्मा–लोकातीतः, किन्तु लोकाध्यक्षः	
प्रकृति	ब्रह्म	१-स्वायम्भुवः–सत्यात्मा–संयती-त्रैलोक्यभावः	रोदसी–त्रैलोक्यभाव —उद्गूढत्रैलोक्यभावाः
		२-पारमेष्ठ्यः–यज्ञात्मा–क्रन्दसी-त्रैलोक्यभावः	
		३-सौरः–अधियज्ञात्मा–द्यौः (सूर्य्यः)	
		४–चान्द्रः-सम्वत्सरात्मा:-अन्तरिक्षम् (चन्द्रमाः)	
		५–भौमः–चित्यात्मा—पृथिवी (भूः)	
विकृति	देवा	१–सर्वज्ञः—-दिव्यः——ऐन्द्रः (द्यौः——२१)	—स्तौम्यत्रैलोक्यभावाः
		२–हिरण्यगर्भः-आन्तरिक्ष्यः-वायव्यः (अन्तरिक्ष-१५)	
		३-विराट्——पार्थिवः—-आग्नेयः (पृथिवी–९)	

* * *

४१५–भूतात्मा के उद्बोधन से अनुगत उपनिषच्छास्त्र का संस्मरण—

अब एक विशेष तथ्य के समन्वय के लिए उक्त परिलेख के अन्त के स्तौम्यत्रैलोक्यभावों से अनुगत ९-१५-२१-स्तोमभेदभिन्न-पारिभाषिक-पार्थिवत्रैलोक्य की ओर ही विशेषरूप से पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जारहा है, जिस विशेष तथ्य का सम्बन्ध है उस मानव की अध्यात्मसंस्था से, जिसके 'भूतात्मा- के उद्बोधन के लिए ही उपनिषच्छास्त्र प्रवृत्त हुआ है ।

४१६–उक्थात्मक अग्नि–सोम से, तथा अर्कात्मक–अग्नि--सोम–से अनुगत स्वतन्त्र–विभागों का व्यवच्छेदात्मक समन्वय -प्रयास—

आत्मसत्य, किंवा पुरुषसत्य, किंवा षोडशी--विश्वात्मा के आधार पर प्रतिष्ठित पञ्चविध-ब्रह्मसत्यात्मक-प्राकृतात्मविवर्त्तों में से सर्वान्त के ब्रह्मसत्यात्मक-भूपिण्ड के आधार प्राणाग्निरस के माध्यम से वितत होने वाली छन्दोमयी लोकविभूति के ही अग्नि--सोम के सम्बन्ध से पाँच अवान्तर विवर्त्त सम्पन्न होजाते हैं, जिन का क्रमशः '१/९–२/१५–३/२१–४/२७–५/३३' इन, पाँच स्तोमों के क्रमिक-सम्बन्ध माना गया है । इन पञ्चविध-अग्नि-सोम-विवर्त्तों के उक्थ, तथा अर्क भेद से दो दो विवर्त्त सम्पन्न होजाते हैं । इन में उक्थात्मक-अग्नि-सोम-पञ्चक का एक स्वतन्त्र पार्थिव-विभाग माना जायगा, एवं अर्कात्मक अग्नि-सोम-पञ्चक का एक स्वतन्त्र ही विभाग माना जायगा, जिस इस रहस्यपूर्ण पार्थिवी--स्थिति का निम्नलिखितरूपेणैव समन्वय सम्भव बन सकेगा ।

४१७-ईश्वरीया-अधिदैवत-संस्था से अभिव्यक्ता मानवीया अध्यात्मसंस्था का समतुलनात्मक समन्वय—

अधिदैवत--से अनुगता ईश्वरीय--संस्था के स्तौम्य--त्रैलोक्य से ही अध्यात्मसंस्था से अनुगत-जैवविभाग के आध्यात्मिक-स्तौम्यत्रैलोक्य की अभिव्यक्ति हुई है। अध्यात्मसंस्था मानवप्रज्ञा के क्योंकि सन्निकट है। अतएव इसके माध्यम से ही इन्हें देवसत्यात्मविवर्तों का, एवं अग्नि-सोमानुबन्धी उक्थार्क-भावों का समतुलनात्मक-समन्वय-प्रयास करना चाहिए। पहिले उक्थात्मक अग्नि-सोम-द्वन्द्व का ही समन्वय कीजिए।

४१८-उक्थाग्निसोमपञ्चक के आधिदैविक त्रिःसत्यात्माओं का स्वरूप-संस्मरण—

त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न पार्थिव विश्व के, पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न-आन्तरिक्ष्य विश्व के, एवं एकविंश-स्तोमावच्छिन्न दिव्य विश्व के केन्द्र में कन्दलरूपेण बिम्बरूपेण प्रतिष्ठित अग्नि-वायु-इन्द्र-नामक त्रिविध देवों के पारस्परिक संघर्ष से अभिव्यक्त-संघर्षजन्मा-त्र्यात्मक-स्तौम्य--अग्नि ही 'उक्थाग्नि' माना जायगा, एवं इसी से कृतरूप उक्थात्मा को **सर्वज्ञ, हिरण्यगर्भ, विराट्** कहा जायगा। सोम क्योंकि ऋतात्मक है। अतएव इसमें केन्द्र का अभाव है। अतएव इसका सर्वज्ञ में हीं अन्तर्भाव मान लिया जायगा। सैषा स्थितिः। स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया।

४१९-उक्थाग्नि की त्र्यात्यकता से अभिव्यक्ता आध्यात्मिकी-वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ-त्रयी, और तन्निबन्धन अर्कात्मक-इन्द्रियपञ्चक का स्वरूप-दिगदर्शन—

उक्थाग्नि की त्र्यात्मकता से अभिव्यक्त विराट् का जो अंश प्रवर्ग्यरूपेण मानव की अध्यात्मसंस्था में समाविष्ट होता है, अग्नि--वायु-आदित्यात्मक. किन्तु अग्न्युक्थप्रधान-वही-पार्थिव-तत्त्व-अर्थशक्ति प्रधान-'**वैश्वानरात्मा**' कहलाया है। उक्थाग्नि की त्र्यात्मकता से अभिव्यक्त हिरण्यगर्भांश ही अध्यात्म में '**तैजस**', एवं सर्वज्ञांश ही-'**प्राज्ञ**' नाम से व्यवहृत हुआ हैं, जिन इन इन तीनों उक्थाग्नियों में से सर्वान्त के 'प्राज्ञ' नामक उक्थाग्नि में हीं शेषभूता सोमत्रयी-अन्तर्भूत है। और यों उक्थानुबन्धी प्रथम-अग्निसोमपञ्चक से कृतिमूर्ति **सर्वज्ञ--हिरण्यगर्भ--विराट्**--के अंशभूत-**वैश्वानर--तैजस--प्राज्ञ** का स्वरू सम्पन्न होजाता है। शेष रह जाता है अर्कानुन्धी-अग्नि-सोम-पञ्चक, जिनके द्वारा ही मानव के सुप्रसिद्ध उस 'इन्द्रियपञ्चक' की स्वरूपाभिव्यक्ति हुई है, जोकि इन्द्रियपञ्चक-"**वाक्--प्राण--चक्षुः--मनः--श्रोत्र**"-इन नामों से प्रसिद्ध है।

४२०-'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्'-इत्यादि ऐतरेयोपनिषत्-सन्दर्भ से अनुगत इन्द्रियपञ्चक का पारिभाषिक-स्पष्टीकरण—

त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न-पार्थिव-उक्थाग्नि के अर्करूप प्राणाग्नि से ही मानव की वागिन्द्रिय का स्वरूप-निर्माण हुआ है-'**अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्**'। पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न-आन्तरिक्ष्य-उक्थवायु के अर्करूप प्राणवायु से ही मानव की प्राणेन्द्रिय (नासेन्द्रिय) का स्वरूप-निर्माण हुआ है-"**वायुः**-

प्राणो भूत्वा नासिके-प्राविशत्" । एकविंशस्तोमावच्छिन्न-दिव्य-उक्थादित्य के अर्करूप प्राणादित्य से ही मानव की चक्षुरिन्द्रिय का स्वरूप-निर्म्माण हुआ है-"आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत्" । त्रिणवस्तोमावच्छिन्न-चतुर्थलोकीय-भास्वरसोमात्मक अर्कभाग से ही मानव के 'इन्द्रियमन' का स्वरूप-निर्म्माण हुआ है-"चन्द्रमा-(भास्वरसोमः) मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्" । एवं त्रयस्त्रिंशस्तोमावच्छिन्न-चतुर्थलोकीय-दिक्सोमात्मक अर्कभाग से ही मानव की 'श्रोत्रेन्द्रिय' का स्वरूप-निर्म्माण हुआ है, जैसाकि-"दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशत्"-इत्यादि ऐतेरय-वचन से स्पष्ट है ।

४२१-पार्थिव-स्तौम्य-अर्कभावों से निष्पन्न अग्नि-सोम-मय इन्द्रियपञ्चक से अनुगता उपनिषच्छ्रुति का संस्मरण—

अग्नि-वायु-आदित्य-भास्वरसोम-दिक्सोम--नामक-पञ्चविध - पार्थिव- स्तौम्य- अर्कभावों से निष्पन्न वाक्-प्राण-चक्षुः-मनः-श्रोत्र-नामक पञ्च-इन्द्रियों के तथोक्त स्वरूप का ही उसी ऐतरेयोपनिषत् में एक अन्य दृष्टि से भी निम्नलिखित शब्दों में सङ्केत हुआ है कि —

स इमाँल्लोकानसृजत । तमभ्यतपत् । तस्याभितप्तस्य मुखं निरभिद्यत--यथाण्डं--मुखाद्वाचोऽग्निः । नासिके भिद्येतां, नासिकाभ्यां प्राणः, प्राणाद्वायुः । अक्षिणी निरभिद्येतां, अक्षीभ्यां चक्षुः, चक्षुष आदित्यः । कर्णौ निरभिद्येतां, कर्णाभ्यां श्रोत्रं, श्रोत्राद्दिशः । हृदय निरभिद्यत--हृदयान्मनः, मनसश्चन्द्रमाः ।

—ऐतरेयोपनिषदि प्रथमखण्डे

४२२-आधिदैविक उक्थार्कविध अग्नि--सोम-द्वन्द्व से अनुगत आध्यात्मिक उक्थार्कविध-अग्नि-सोम द्वन्द्व की विभूतियों का समतुलनात्मक समन्वय प्रयास—

दृष्टिकोणानुबन्धी विभेद का निष्कर्ष यही है कि, आधिदैविक-ब्रह्मसत्यात्मक-ईश्वरीय-पार्थिव-लोकों के तपः-श्रम--परिश्रम से ही मुख-नासिका-चक्षु-मनः-श्रोत्र-स्थानीय त्रिवृत्-पञ्चदश-एकविंश-त्रिणव-त्रयस्त्रिंश-लोकों से क्रमशः-तत्स्थानाधिपति अग्नि-वायु-आदित्य-भास्वरसोमात्मक चन्द्रमा-तथा दिक्सोमात्मक सोम का आविर्भाव हुआ है । अर्थात् ईश्वरीय वाक्-भाग से अग्नि की, ईश्वरीय-प्राणभाग से वायु की, चक्षुर्भाग से आदित्य की, मन से चन्द्रमा की, श्रोत्र से दिक्सोम की अभिव्यक्ति हुई है । और इस दृष्टि से स्तौम्य-त्रिलोकी के स्तौमानुगत पार्थिव-अग्नि-वायु-आदित्य-चन्द्रमा-दिक्सोम-नामक पञ्च-अर्कदेवता ब्रह्मसत्यात्मक-आधिदैविक-ईश्वरीय-विवर्त्त के वाक्-प्राण-चक्षुः-मन-श्रोत्र-नामक पाँच-इन्द्रिप्राणों से ही प्रादुर्भूत हैं । निष्कर्षतः ईश्वर की वागादि पाँचों इन्द्रियों से ही पार्थिव-स्तौम्यत्रिलोकी के अग्नि-वाय्वादि की स्वरूपाभिव्यक्ति हुई है । 'स इमाँल्लोकानसृजत०' इत्यादि प्रथमखण्डीय-सन्दर्भ से इसी अन्या-आधिदैविकी-ब्रह्मसत्यानुगता-ईश्वरीया-दिव्या-इन्द्रियसृष्टि की ओर सङ्केत हुआ है, जैसाकि तत्सन्दर्भ के ही-"वाचोऽग्निः-प्राणाद्वायुः,-चक्षुष-आदित्यः,-श्रोत्रात्- दिशः,--मनसश्चन्द्रमाः' इन वचनों से स्पष्टरूपेण प्रमाणित है । "वाक् से अग्नि, प्राण से वायु, चक्षु से आदित्य, श्रोत्र से दिक्सोम, एवं मन से चन्द्रमा उत्पन्न हुआ"-यह वाक्यसन्दर्भ ईश्वरीय-ऐन्द्रियक-पञ्चक की ओर ही हमारा ध्यान आकर्षित कर रहा है ।

४२३-'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्'-श्रुति का पारिभाषिक-समन्वय—

तथोक्ता ईश्वरीय-विभूतियों से ही आगे चलकर मानव की अध्यात्मसंस्था के पञ्चविध इन्द्रिय-प्राणों की स्वरूपाभिव्यक्ति हुई है, होती है, जिसका ही उत्तरसन्दर्भ के द्वारा स्वरूप-विश्लेषण हुआ है, जैसाकि-'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्'-इत्यादिरूप से पूर्व में स्पष्ट किया ही जाचुका है। तालिकाओं के माध्यम से यहाँ उक्त दोनों स्थितियों का स्वरूप-दिग्दर्शन करा दिया जाता है।

४२४-अधिदैवितभावनिनन्धना-तालिकेयम्-(ईश्वरानुगता)—

(१)-ब्रह्मसत्यात्मकः-वाङ्मयः-भूपिण्डः (५)——-वाग्विवर्त्तम्-वाचा-अग्निः-समभवत्

(२)-ब्रह्मसत्यात्मकं-प्राणमयं-अन्तरिक्षम् (४)——-प्राणविवर्त्तम्-प्राणात्-वायुः-समभवत्

(३)-ब्रह्मसत्यात्मकः-चक्षुर्मयः-सूर्य्यः (३)——-चक्षुर्विवर्त्तम्-चक्षुषः-आदित्यः-समभवत्

(४)-ब्रह्मसत्यात्मकः-मनोमयः-चन्द्रमाः- (२)——मनोविवर्त्तम्-मनसः-चन्द्रमाः-समभवत्

(५)-ब्रह्मसत्यात्मकः-श्रोत्रमयः-परमेष्ठी (१)——-श्रोत्रविवर्त्तम्-श्रोत्रात्-दिशः-समभवत्

* * *

४२५-अध्यात्मभावनिबन्धना-तालिकेयम्-(मानवानुगता)—

(१) देवसत्यात्मकं-पार्थिवविवर्त्तम्-आग्नेयम् (५) त्रिवृदनुगतम् (६)-अग्निर्वाग्भूत्वा-प्राविशत्

(२) देवसत्यात्मकं-अन्तरिक्षविवर्त्तम्-वायव्यम् (४)पञ्चदशानुगतम् (१५) वायुः प्राणोभूत्वा-प्राविशत्

(३) देवसत्यात्मकं-दिव्यविवर्त्तम्-ऐन्द्रम् (३) एकविंशानुगतम् (२१ आदित्यः-चक्षुर्भूत्वा-प्राविशत्

(४) देवसत्यात्मकं-चतुर्थं विवर्त्तम्-सौम्यम् (२) त्रिणवानुगतम् (२७ चन्द्रमाः-मनोभूत्वा-प्राविशत्

(५) देवसत्यात्मकं-पञ्चमं विवर्त्तम्-दिश्यम (१] त्रयस्त्रिंशानुगतम् [३३] दिशः-श्रोत्रं भूत्वा प्राविशत्

* * *

४२६-आधिदैविक-ईश्वरपुरुष की वाक्-प्राण-चक्षुः-श्रोत्र-मनः-नामकी पञ्चविध-इन्द्रियों से पञ्चलोकानुगता पञ्चदेवविभूतियों की स्वरूपाभिव्यक्ति का रहस्यात्मक दिग्-दर्शन, एवं तन्निबन्धन ऐतरेयारण्यकीय-सन्दर्भ का संस्मरण—

अधिदैवतभावनिबन्धना-४२४ परिच्छेदात्मिका-ईश्वरतन्त्रानुगता तालिका के द्वारा जिस तथ्य का स्वरूप-दिग्दर्शन कराया गया है, ऐतरेयारण्यक में-'पुरुषविभूति' रूप से उसी तथ्य का विस्पष्टभाषा में

इन शब्दों स्वरूप-विश्लेषण हुआ है कि-"उस पुरुष-(आधिदैविकतन्त्राध्यक्ष ईश्वरप्रजापति) की वाक् से पृथिवी, अग्नि,-नामक द्विविध विवर्त्तों की स्वरूपाभिव्यक्ति हुई है। ईश्वरपुरुष के प्राण से अन्तरिक्ष-वायु-विवर्त्तों की, इसी के चक्षु से द्यौः-आदित्य-विवर्त्तों की, इसी के श्रोत्र से दिशाओं, तथा चन्द्रमा की स्वरूपाभिव्यक्ति हुई है। एवं इस पुरुषेश्वर के मनोभाग से ही अप्तत्त्व की, तथा वरुण-तत्त्व की स्वरूपाभिव्यक्ति हुई है। निष्कर्षतः ईश्वरीय-आधिदैविक-पुरुष के वाक्-प्राण-चक्षुः-श्रोत्र-मन-नामक इन्द्रिय-विवर्त्तों से ही पार्थिवस्तौम्य-लोकों से अनुगत आधिभौतिक-पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौः-दिशः-आपः-नामक पञ्चविध लोकविभूतियों की, तथा अग्नि-वायु-आदित्य-सोम-वरुण-नामक पञ्चविध इन्द्रियाध्यक्ष-विभूतिदेवताओं की स्वरूपाभिव्यक्ति हुई है। आगे चलकर इन पाँचों-पार्थिव-देवविवर्त्तों से ही, किंवा इनके अग्नि-वायु-आदित्यादि-विभूतिभावों से ही क्रमशः उन मानवीय-पञ्चेन्द्रियों की स्वरूपाभिव्यक्ति हुई है, जिसका ४२५ परिच्छेदात्मिका-अध्यात्मभावनिबन्धना-मानवतन्त्रानुगता तालिका के द्वारा स्पष्टीकरण कर दिया गया है। निम्नलिखित आरण्यकसन्दर्भ तथोक्ता पुरुषविभूति का ही यशोगान कर रहा है—

"अथातो विभूतयोऽस्य पुरुषस्य (आधिदैविकेश्वरपुरुषेस्यति यावत्)। तस्य वाचा सृष्टौ-पृथिवी च, अग्निश्च। प्राणेन सृष्टौ-अन्तरिक्षञ्च, वायुश्च। चक्षुषा सृष्टौ-द्यौश्च, आदित्यश्च। श्रोत्रेण सृष्टा-दिशश्च, चन्द्रमाश्च। मनसा सृष्टा-आपश्च, वरुणश्च। तावानस्य लोको भवति, न जीर्य्यते-यो विभूतिं वेद"।

—ऐतेरय-आरण्यक २।१।७।

४२७-'भूतम्'- भूतात्मा'-'भोक्तात्मा'-आदि शब्दों से अनुगत पारिभाषिक-उक्थार्कानुप्राणित देवसत्यात्मविवर्त्त का लोकानुगत स्वरूप-समन्वय, एवं तत्सम्बन्ध में 'भोक्तेत्याहुर्म्मनीषिणः'-का समन्वय-प्रयास—

प्रतिष्ठालोकात्मिका चित्या-पृथिवी (भूपिण्ड), पृथिवी-अन्तरिक्षं-द्यौः-दिशः-(६-१५-२१-३३-रूपेण)-चतुर्लोकात्मिका-चितेनिधेया-पृथिवी (पृथिवी), भेद से एक ही पृथिवी के दो विभक्त स्वरूप-सम्पन्न होजाते हैं। उभयभावान्विता, अर्थात चित्य-चितेनिधेयात्मिका इत्थंभूता पृथिवी के प्रवर्ग्यभागों से उक्थरूपेण, तथा अर्करूपेण जो पार्थिव-तत्त्व मानव की अध्यात्मसंस्था में प्रविष्ट होते हैं, हुए हैं, एवं होते रहते हैं, उनकी सामान्या अभिधा है-'भूतम्'। और इसी भूतानुबन्ध से इस पार्थिव-अंश को कहा गया है-'भूतात्मा', जिसे कर्म्मभोग के सम्बन्ध से 'भोक्तात्मा' भी कहा गया है, जिसमें कि भोगायतन-रूप-पाञ्चभौतिक-स्थूलशरीर, भोगसाधनभूत पञ्चविध-इन्द्रियवर्ग, स्वयं भोक्तात्म-लक्षण आत्मा (भूतात्मा), और भोगमाध्यमरूप-मन, ये विवर्त्त प्रमुख-माने गए हैं, जिन इन भोक्तात्मानुबन्धी पारिभाषिक विवर्त्तों के पारिभाषिक-समन्वय के लिए सम्पूर्ण पार्थिवविवर्त्त को, तथा पार्थिवविवर्त्त से अनुप्राणित उक्थ-अर्क-भावों को अवधानपूर्वक लक्ष्यारूढ कर ही लेना चाहिए, तभी महर्षि कठ के-'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं-भोक्तेत्याहुर्म्मनीषिणः' इस रहस्यपूर्ण वचन का समन्वय गतार्थ बन सकेगा।

४२८–सप्तचितियों से सम्पन्न पारिभाषिक–'काय' रूप–स्थूलशरीर का भोगायतनात्मक प्रथम–पर्वस्व—

सर्वप्रथम मानव के पार्थिव आधिभौतिक–उस–शरीर को ही लक्ष्य बताइए, जिसे रसासृङ्मांसादि–भूतधातुओं की चिति के कारण ही–'काय' कहा गया है। भूताग्नि की चिति से ही **'रस–असृक्–मांस–मेद्–अस्थि मज्जा–शुक्र'**–इन सात पर्वों के माध्यम से सप्तचितिक–पार्थिव–पाञ्चभौतिक–स्थूलशरीर का निर्म्माण हुआ है। उस ओर **चित्य–मर्त्य–पाञ्चभौतिक–भूपिण्ड,** तो इस ओर **चित्य–मर्त्य–सप्तचितिक पाञ्चभौतिक–स्थूलशरीर,** दोनों विवर्त्त समतुलित ही माने जायँगे। यही **भोगायातनरूप–स्थूलशरीरात्मक–प्रथम विवर्त्त** का संक्षिप्ततम स्वरूप–परिचय होगा। इसी भोगायतन में (शरीर में) प्रविष्ट–प्रतिष्ठित–भोक्तात्मा कर्म्मफलों का संस्कारानुसार भोग करता रहता है।

४२९–त्रिवृत्–पञ्चदश–एकविंश–त्रिणव–त्रयस्त्रिंश–स्तोमनिबन्धन–उक्थात्मक–अग्नि–सोम–पञ्चक–से कृतरूप 'भोक्ता'–नामक द्वितीय–पर्व का स्वरूप–स्पष्टीकरण—

शरीर के अनन्तर अब पहिले भोक्तात्मलक्षण उस भूतात्मा को लक्ष्य बनाइए, जिसका पार्थिव–उक्थ–भाव के साथ ही प्रधान सम्बन्ध माना गया है। चितेनिधेय–पार्थिव विवर्त्त के त्रिवृत्–पञ्चदश–एकविंश–नामक पृथिवी–अन्तरिक्ष–द्यौः–नामक तीन स्तौम्यलोकों में उक्थरूपेण–प्रतिष्ठित त्र्यात्मक–**विराट्–हिरण्य–गर्भ–सर्वज्ञ**–नामक तीनों देवसत्यात्मविवर्त्तों के, किंवा एक ही देवसत्यात्मविवर्त्त के इन पर्वों के प्रवर्ग्य–भागों से मानव के उस भूतात्मा की स्वरूपाभिव्यक्ति हुई है, जिसके तीनों आध्यात्मिक–विवर्त्त–क्रमशः–**वैश्वानर–तैजस–प्राज्ञ**–नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। इन तीनों की समन्वितावस्था का नाम ही है–वास्तविक–**'भूतात्मा'**, जिसे पार्थिव **'इरा'**–रसात्मक–हिरण्मयपुरुष भी कहा गया हैं आरम्भ के परिच्छेदों में।

४३०–भोक्तात्मा के तृतीय–प्राज्ञ–पर्व से सम्परिष्वक्त–'प्रज्ञान' नामक भोगसाधनरूप तृतीय–पर्व का संस्मरण—

भूतात्मा के तृतीय–'प्राज्ञ' नामक विवर्त्त के माध्यम से ही अब हमें उस **'प्रज्ञान'** का भी प्रासङ्गिक–संस्मरण कर ही लेना चाहिए, जिसका कि अनुपद में हीं–**'प्रज्ञानसंस्मरण'** नामक तृतीय सन्दर्भ में स्वरूप–विश्लेषण समन्वित **है**। और इस सम्बन्ध में हमें भारतीय–विज्ञानशास्त्र के अत्यन्त पारिभाषिक उस मनोदेवता का ही माङ्गलिक–संस्मरण कर लेना चाहिए, जिसकी मूलोपनिषत् का एकमात्र मापदण्ड माना गया **है–'वीध्र'** भाव।

४३१–चतुर्विध–पारिभाषिक–मनस्तन्त्रों का नाम–संस्मरण, एवं अव्ययमनोरूप सर्वाधिष्ठानब्रह्म का स्वरूप–दिग्दर्शन—

वीध्रभावानुगत, अतएव चिद्ग्राहक मनस्तत्त्व के **आत्ममन, महन्मन, अनिन्द्रियमन, इन्द्रियमन,**–भेद से चार प्रमुख–विवर्त्त माने गए हैं, जो क्रमशः **श्वोवसीयस्–मन, सत्त्वमन,**

प्रज्ञानमन, संकल्पमन, इन नामों से भी व्यवहृत किए जासकते हैं। अव्ययपुरुषात्मनिबन्धन वह प्राजापत्य-ईश्वरीय–मन ही श्वोवसीयस–नामक–प्रथम–मन है, जिसका–'कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्' (ऋक् सं० १०।१२६।४।) इत्यादि मन्त्र से संस्मरण हुआ है। सम्पूर्ण सृष्टिधाराओं की उद्गमभूमि यही आत्ममन है, अतएव इसे 'सर्वाधिष्ठानब्रह्म' भी कहा जासकता है, जैसा कि–'किंस्विदासीदधिष्ठानम्' (ऋक्सं० १०।८१।२।) इत्यादि मन्त्रश्रुति से सङ्केतित है।

४३२–'दर्शपौर्णमासयज्ञ' से सम्पन्न–आकृति, प्रकृति, अहङ्कृति–भावनिबन्धन–सत्त्वात्मक 'महन्मन' का स्वरूप–स्पष्टीकरण–प्रयास—

दूसरा 'सत्त्वमन' वह पारमेष्ठ्य–महन्मन है, जिसमें सूर्य्य–चन्द्र–भूः–से अनुगत परिभ्रमणानुप्राणित–सुप्रसिद्ध 'दर्शपौर्णमासयज्ञ' के द्वारा क्रमशः स्वज्योतिर्म्मय सूर्य्य से सत्त्वगुण की, परज्योतिर्म्मय चन्द्रमा से रजोगुण की, एवं रूपज्योतिर्म्मय भूपिण्ड से तमोगुण की अभिव्यक्ति हुआ करती है, अतएव जो पारमेष्ठ्य–महद्भावापन्न–'सत्त्वमन'–'सत्त्व–रज–स्तमो'–गुणान्वितत्त्वेन त्रिमूर्त्ति बना रहता है, एवं जिस इत्थंभूत सत्त्वमन को ही पारमेष्ठ्य–महानात्मा का पूर्वाधिष्ठान माना है श्रुति ने, जैसा कि–'सत्त्वादधि महानात्मा'–इत्यादि वचन से स्पष्ट है।

४३३–चामत्कारिकी महती शक्ति से समन्वित पारमेष्ठ्य-महन्मन के विभूतिभावों का प्रासङ्गिक–स्वरूप–विश्लेषण—

प्राणियों की आकृति–प्रकृति–अहङ्कृति–त्रयी जिस पारमेष्ठ्य–महानात्मा के आधार पर अवलम्बित है, उस महानात्मा की इत्थंभूता आकृत्यादि की निर्म्माणेच्छा का आधार तथोक्त पारमेष्ठ्य वह 'सत्त्वमन' ही बना रहता है, जिसकी अप्रतिहता इच्छा के समाश्रय से प्राणियों की आकृति (आकार), प्रकृति (स्वभाव) आदि में 'यथेच्छ' परिवर्त्तन होसकता है। सत्त्वमनोऽनुबन्धिनी इच्छा के बल पर मानव यदि चाहे, तो आकृति का परिवर्त्तन कर सकता है। अत्यन्त ही चामत्कारिकी शक्ति निहित है इस सत्त्वमन में, जिसके आधार पर ही–'तं यथा यथोपासते–तथैव भवति' इत्यादि श्रौत-सिद्धान्त स्थापित हुआ है। 'श्रद्धामयोऽयं पुरुषः–यो यच्छ्रद्धः स एव सः' इत्यादि स्मार्त्त-सिद्धान्त भी इसी सत्त्वमन की ओर सङ्केत कर रहे हैं। इस सत्त्वमन की धारावाहिकी अप्रतिहता इच्छा से ही हमारी अध्यात्मसंस्था के वे सम्पूर्ण कर्म्मकलाप अबाधरूपेण प्रक्रान्त रहते हैं, जिनका हमें न तो बुद्धि के द्वारा ही बोध-सम्भव, एवं न जिनका प्रज्ञानमन की इच्छा से ही कोई सम्बन्ध। बुद्धि, और मन से अतीत सत्त्वमन की इच्छा से ही हमारे शरीर-पर्व यथासमय स्व स्व स्वरूपों की अभिव्यक्ति–वृद्धि–परिवर्त्तन–आदि के अनुगामी बने रहते हैं। कब एक शिशु अमुक मानवाकार में परिणत होजाता है ?, कैसे आयतन आकारादि की वृद्धि होजाती है ?, इत्यादि यच्चयावत् प्रश्नों की समाधानभूमि यही पारमेष्ठ्य सत्त्वमन है, जिसकी महती शक्ति के साथ साक्षात् सम्बन्ध करने के अनन्तर मानव की प्रज्ञा अपने आपको यथेच्छ स्वरूपों में परिणत कर लेने की क्षमता से अनुगत बन जाया करती है।

४३४-सर्वेन्द्रियभावापन्न-'अनिन्द्रिय'-नामक 'प्रज्ञान' रूप तृतीय-मनोविवर्त्त का संस्मरण, और तदनुगता चान्द्री-विभूति का दिग्दर्शन—

अब क्रमप्राप्त उस तृतीय मनोविवर्त्त को लक्ष्य बनाइए, जिसे-'प्रज्ञान' कहा गया है, एवं जो कि प्रस्तुत उपनिषद्भाष्य का प्रमुख द्वार बना हुआ है। रोदसीत्रिलोकी के ब्रह्मसत्यावयवभूत आन्तरिक्ष्य चान्द्रतत्त्व से समुत्पन्न तत्त्व ही-'प्रज्ञान' नामक वह तीसरा मन है, जो सम्पूर्ण इन्द्रियों में व्याप्त रहने के कारण जहाँ-'सर्वेन्द्रिय' कहलाया है, वहाँ-इन्द्रियलक्षण से असंस्पृष्ट रहता हुआ-'अनिन्द्रिय' भी कहलाया है। बिना इस प्रज्ञानमन के सहयोग के कोई भी इन्द्रिय स्व-ऐन्द्रियक व्यापार-सञ्चालन में समर्थ नहीं बन सकती। अतएव वाक्-प्राण-चक्षुः-श्रोतत्र-मन-आदि आदि यच्चयावत् इन्द्रियों के साथ इस प्रज्ञानमन का सम्बन्ध संसिद्ध होजाता है। सत्त्वमन जहाँ ब्रह्मसत्यात्मक परमेष्ठी से अनुगत है, वहाँ यह प्रज्ञानमन ब्रह्म-सत्यात्मक उस चन्द्रमा से अनुप्राणित है, जिस चन्द्रमा को भूपिण्ड का ही एक उपग्रह माना गया है।

४३५-संकल्प--विकल्पात्मक--अर्कभावानुप्राणित--क्रमप्राप्त--चतुर्थ--'इन्द्रियमन'--नामक पारिभाषिक-मनोविवर्त्त का दिग्दर्शन—

सर्वान्त में संकल्प-विकल्पात्मक-नियतविषयानुगत उस चौथे 'इन्द्रियमन' का स्थान आता है, जिसकी प्राणिमात्र में सामान्या व्याप्ति मानी है शास्त्रने। इन्द्रियमन का स्वरूपारम्भक द्रव्य भी यद्यपि है तो चान्द्रसोम ही, तथापि इस भास्वर-चान्द्र-सोम का क्योंकि स्तौम्यात्रिलोकी के अर्कभाव से ही सम्बन्ध है, अतएव इसे 'चान्द्रप्रज्ञानमन' से सर्वथा पृथक् ही वस्तुतत्त्व माना गया है। वस्तुस्थिति का समन्वय इस रूप से ही कर लेना चाहिए कि, स्तौम्या-त्रिलोकी के उक्थात्मक अग्नि--सोम--पञ्चक से जहाँ मानवीय--देवसत्यात्मक--वैश्वानर--तैजस--प्राज्ञमूर्त्ति--भूतात्मा, किंवा भोक्तात्मा--का स्वरूप-सम्पन्न होता है, वहाँ स्तौम्यात्रिलोकी के ही अर्कात्मक अग्नि-सोम-पञ्चक से मानवीय-वाक्-प्राण-चक्षुः-मनः-नामक पाँचों इन्द्रियों का स्वरूप-निर्म्माण हुआ है, जैसाकि पूर्व में इन उक्थार्कानुगत अग्नि-सोम-पञ्चकों के माध्यम से स्थिति का स्पष्टीकरण किया जाचुका है-(देखिए पृष्ठ सं० २८७ से २८९ पर्य्यन्त, एवं परिच्छेद सं० ४१८ से ४२५ पर्य्यन्त)।

४३६-'इन्द्रिय' का स्वरूपलक्षण, इन्द्रियप्राणात्मक--सप्तर्षिप्राणों का स्वरूप-समन्वय, संकल्प-विकल्पात्मक--इन्द्रिय मन, और चान्द्र-प्रज्ञानमन से तत्पार्थक्य—

'नियतविषयत्त्वमिन्द्रियत्त्वम्' ही इन्द्रिय का स्वरूप-लक्षण माना गया है, जैसाकि—'साकंजानां सप्तथमाहुरेकजम्०' इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है। आध्यात्मिक-सप्तर्षिप्राण का स्वरूप-विश्लेषण करते हुए ऋषिने दो श्रोत्रप्राण, दो नासाप्राण, दो चक्षुः-प्राण, एक मुखप्राण, रूपसे शिरोगुहा में सात प्रकार के देवज-ऋषिप्राणों का स्पष्टीकरण किया है, और इन के सम्बन्ध में हीं 'तेषामिष्टानि विहितानि धामशः' यह कहा है। वाक्-प्राण-चक्षुः-श्रोत्र, तथा मन, ये पाँचों इन्द्रियाँ क्रमशः अग्नि-वायु-आदित्य-दिक्सोम-भास्वरसोमरूप देवसत्यात्मक-पञ्चविध-अर्कभावों से ही समुत्पन्न हैं, और इन सभी के इष्टात्मक-विषय-धामशः-स्थानशः-सर्वथा नियत हैं। अतएव तथोक्त इन्द्रियलक्षण की अन्वर्थता में कोई सन्देह नहीं रह

जाता * । संकल्प, और विकल्पात्मक ग्रहण-परित्यागमय भाव सर्वथा नियत-विषय है, अतएव तदधिष्ठाता भास्वरसोमात्मक-देवसत्यात्मक--पार्थिव मन को अवश्य ही उक्त लक्षणानुसार 'इन्द्रियमन' कहा जासकता है, कहा गया है-'मनः-षष्ठानीन्द्रियाणि' रूपेण, जोकि यह इन्द्रियमन उस चान्द्र-प्रज्ञानात्मा से सर्वात्मना विभिन्न ही तत्त्व माना गया है वैदिक-विज्ञान के क्षेत्र में ।

४३७-सर्वेन्द्रियव्याप्त पारिभाषिक 'अनिन्द्रियमनो'-रूप-प्रज्ञानमन, तथा इन्द्रियमन के विभक्त--स्वरूपों से अनुगता स्थिति का स्पष्टीकरण —

ऐन्द्रियक-विषयानुभवों में हम अपने अन्तर्जगत् में यह अनुभव करते हैं कि, वाक्-प्राण-चक्षुः-श्रोत्र-मन से अनुगत ऐन्द्रियक विषयों में प्रत्येक में मन का भी सहयोग उपलब्ध करते हैं। बिना मनः-सहयोग के कोई भी इन्द्रिय स्वविषय का अनुभव नहीं कर सकती। यदि मन किसी इन्द्रिय से असंस्पृष्ट हो-जाता है, तो वह इन्द्रिय तद्विषय के अनुभव से सर्वथा ही वञ्चित रह जाती है, और उस दशा में-'अन्यत्र मे **मनोऽभूत्'-(मेरा मन अन्यत्र चला गया था-इसलिए में नहीं देखसका, नहीं सुनसका)—** इत्यादिरूप से हमें पुनः मनःसंयोग की अपेक्षा होपड़ती है। और यों एक वैसे व्यापक- मन की स्वरूपसत्ता स्वतः ही प्रमाणित होजाती है, जोकि समानरूपेण सभी इन्द्रियों का सहयोगी बना रहता है। सम्पूर्ण इन्द्रियों में समानरूपेण व्याप्त, अतएव-'**सर्वेन्द्रिय**' नाम से प्रसिद्ध, किन्तु सभी ऐन्द्रियक-विषयों से अनुगत रहने के कारण इन्द्रियलक्षण से असंस्पृष्ट रहने के कारण-'**अनिन्द्रिय**' नाम से भी व्यवहृत-रोदसी-त्रिलोकी के ब्रह्मसत्यात्मक-चान्द्र-सोम से अन्न के द्वारा परम्परया कृतरूप इत्थंभूत '**प्रज्ञानमन**' का, तथा पूर्वोक्त-देवसत्यात्मक '**इन्द्रियमन**' का पार्थक्य अनेक दृष्टिकोणों से प्रमाणित होजाता है।

४३८-विमोकभावानुबन्धिनी 'मुक्ति' से अनुगत-'हृद्ग्रन्थि' से अनुप्राणित 'श्वोवसीयस्' नामक 'आत्ममन' का संस्मरण—

पुनरपि-किञ्चिदवधेयं-मनः-प्रसङ्गेन । प्रज्ञानमन नामक सर्वेन्द्रिरूप-अनिन्द्रियमन, तथा संकल्प-विकल्परूप नियतविषयों से अनुगत इन्द्रियमन, इन दोनों का स्वरूपभेद अत्यन्त ही सूक्ष्म है, जिस का व्यवच्छेदात्मक समन्वय करलेने से ही मन के वास्तविक विवर्त्तों का समन्वय गतार्थ बन सकता है। अक्षरानुगता

*** साकञ्जानां सप्तथमाहुरेकजं षडिद्यमा ऋषयो देवजा इति ।**
तेषामिष्टानि विहितानि धामशः स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः ॥

—ऋक्संहितायां—१।१६४।१५।

श्रोत्रद्वय-नासाद्वय-चक्षुर्द्वय, ये आग्नेय-वायव्य-आदित्य-प्राण तो यमज हैं, जोड़ले हैं, एवं सातवाँ वाग्रूप प्राण एकज है, एकाकी रहने वाला है। इन के इष्ट-विषय-सर्वथा नियत हैं। अतएव इन्द्रियों का 'नियतविषयत्वमिन्द्रियत्त्वम्' यह स्वरूप-लक्षण सर्वथैव अन्वर्थ प्रमाणित होरहा है।

हृद्ग्रन्थि ही श्वोवसीयस् नामक–आत्ममन की प्रतिष्ठाभूमि मानी गई है जिसका विमोक ही 'मुक्ति' नाम से व्यवहृत हुआ है *।

४३९-शुक्रानुगता 'बीजचिति' से अनुप्राणित--'सत्त्वमनों' रूप महन्मन का तात्त्विक–स्वरूप--संस्मरण—

प्रजातन्तुवितानात्मिका शुक्रानुगता बीजचिति ही 'सत्त्वमन'–नामक–महन्मन की प्रतिष्ठाभूमि मानी गई है, जिस बीजचिति के द्वारा ही मानवीय–सत्त्वमनोमूर्त्ति महानात्मा का सप्तपुरुष–पर्य्यन्त वितान हुआ करता है, और यही वह 'अज्ञात–मन' है, जिस के मानसिक व्यापारों को बुद्धि से भी अतीत माना गया है। क्योंकि पारमेष्ठ्य महान् का स्थान–'बुद्धेरात्मा महान् परः' इत्यादि–रूपेण सौर–बुद्धि–तत्त्व से भी पर ही माना गया है। भुक्त अन्न जिस मनो-व्यापार से रसासृङ्मासादादि क्रमधाराओं में विभक्त होता हुआ प्राणियों की आकृति–प्रकृति-अहङ्कृतिभावों की निर्म्माण–व्यवस्था करता रहता है, इस सम्पूर्ण–व्यवस्था का उत्तरदायित्त्व महन्मूर्त्ति सत्त्वमन पर ही अवलम्बित है। इस सत्त्व–मन के इच्छातन्त्र से मानवीय प्रज्ञानमन सर्वथैव अपरिचित रहता है। किन्तु–प्रज्ञानमन की व्यक्तभावनिबन्धना प्रत्येग् इच्छा के मूल में महन्मन की अज्ञाता इच्छा ही बनी रहती है। महन्मनोरूप सत्त्वमन के साथ जब भी प्रज्ञानमन का साक्षात्–सम्बन्ध होजाता है, उस अवस्था में प्रज्ञानमन की इच्छा, और महन्मन की इच्छा, दोनों मिलकर अश्माव्रणसदृशा दृढ़तमा वैसी बलवती इच्छा के रूपमें परिणत होजाती है, जिस की सफलता सुनिश्चिता बन जाती है।

४४०–भावना--वासना--संस्कारानुगता 'संस्कारचिति' से अनुप्राणित--वाक्-प्राण--मन--श्चिति--त्रय-समन्वित--भास्वरसोमात्मक--'प्रज्ञानमन' का स्वरूप--समन्वय-न्यास—

भावना-वासनात्मिका–उभयविधा ज्ञानकर्म्मनिबन्धना–'संस्कारचिति' ही सर्वेन्द्रिय–नामक–ब्रह्मसत्यमूर्त्ति उस चान्द्र–'प्रज्ञानमन' की प्रतिष्ठाभूमि मानी गई है, जिस संस्कारचिति का प्रधान प्रवर्त्तक-माना गया है–सत्त्वरजस्तमोगुणान्वित वह ओषध्यन्न, जिस की कि सायं प्रातः हम अपने वैश्वानराग्नि में आहुति प्रदान करते रहते हैं। वैश्वानराग्नि में हुत अन्न में पार्थिवद्रव्य, आन्तरिक्ष्यद्रव्य, दिव्य चान्द्र द्रव्य, तीनों तत्त्व समाविष्ट रहते हैं। भुक्त अन्न की 'रस–असृक्–मांस–मेद–अस्थि–मज्जा–शुक्र' इन सात अवस्थाओं की समष्टि का नाम ही है–पार्थिवद्रव्यचिति, जिस से मानव के 'स्थूलशरीर' का उपकार होता है। इसी पार्थिवी द्रव्यचितिका नाम है-'वाक्चिति'। इस वाक्चिति के अनन्तर दूसरा स्थान आता है–आन्तरिक्ष्य–द्रव्य का, जिस का नाम है–'ओज', एवं इसे ही कहा गया है–'प्राणचिति', जिससे कि 'सूक्ष्मशरीर' का उपकार हुआ करता है। इस ओजरूपा प्राणचिति के अनन्तर स्थान आता है–चान्द्र दिव्यद्रव्य का, जिसका पारिभाषिक नाम है–'भास्वरसोम', एवं यही अध्यात्मभाषा में कहलाया है–सर्वेन्द्रिय–अनिन्द्रिय–नामक–प्रज्ञानमन।

---

* भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्म्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥
—कठोपनिषदि

४४१-अशीतिरूप अन्न से आप्यायित--'महदुक्थ'--लक्षण--संस्कारात्मक प्रज्ञानमन का चान्द्रसोमरसत्त्व--प्रतिपादन—

इसप्रकार भुक्त अन्न की ही रस-मल के क्रमिक-विशकलन से पार्थिव-आन्तरिक्ष्य-दिव्यरूपेण तीन चितियाँ होजाती हैं, जिन्हें क्रमशः वाक्-प्राण-मन-श्चिति-नाम से भी व्यवहृत किया जासकता है। वाक्चिति अर्थशक्तिमयी है, प्राणचिति क्रियाशक्तिमयी है, एवं मनश्चिति ज्ञानशक्तिमयी है। यों अन्नमय-चान्द्रसोमरस ही रस मल के क्रमिक-विशकलन से अन्ततोगत्त्वा प्रज्ञानमनोरूप में परिणत होरहा है, और यही प्रज्ञानमन उन सम्पूर्ण ऐन्द्रियक-विषयों के भावना-वासनात्मक-संस्कारों का महान् कोशरूप 'महदुक्थ' माना गया है, जिस की परितृप्ति का आधार 'अशीति' रूप 'अन्न' ही माना गया है, जैसाकि-'अशीतिभिर्म्महदुक्थमाप्यायते' इत्यादि रहस्य-वचन से प्रमाणित है।

४४२-विज्ञानबुद्धि के आधारभूत प्रतिबिम्ब-ग्राहक-प्रज्ञानमन का स्वरूप--समन्वय, एवं तत्सम्बन्ध में उपनिषद्वचन का संस्मरण—

यह प्रज्ञानमन ही वैसा वीध्र-धरातल है, जिसमें सौरतेजोमयी बुद्धि प्रतिबिम्बरूपेण प्रतिष्ठित रहती है। सहजभाषानुसार **प्रज्ञानमन** ही विज्ञानबुद्धि का ग्राहक-पात्र है। मन पर ही बुद्धि प्रतिबिम्बित रहती है। इसी प्रतिबिम्बभाव के कारण 'विज्ञान' को भी यत्र तत्र श्रुतिने-'प्रज्ञान' नाम से व्यवहृत कर दिया है, जैसाकि निम्नलिखित वचन से स्पष्ट है—

"यदेतत्--हृदयं मनश्चैतत्--संज्ञानं, आज्ञानं, विज्ञानं, प्रज्ञानं, मेधा--दृष्टि, धृति, र्म्मति, र्म्मनीषा, जूतिः, स्मृतिः, संकल्पः, क्रतुः, असुः, कामो, वश-इति सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति"।

—ऐतरेयोनिषदि ३।५।२

४४३-पार्थिव--भुक्त- अन्न के रसमलानुगत क्रमिक-विशकलन से अनुप्राणित-प्रज्ञानमन का दृष्टिकोणभेद-निबन्धन स्वरूप-समन्वय, एवं तन्निबन्धना आचार-शुद्धि का संस्मरण—

चान्द्र-भास्वर-सोम ही पार्थिव-भुक्त-अन्न के द्वारा 'प्रज्ञानमन' का स्वरूपारम्भक बनता है, यही निवेदन-निष्कर्ष है। इसी पर विज्ञानरूपिणी बुद्धि प्रतिष्ठित है। अतएव स्मार्त्त-उपनिषत् (गीता) ने व्यवसायात्मिका नैष्ठिकी बुद्धि के स्वरूप-संरक्षण में तदाधार-पात्ररूप अन्नमय-मन को ही प्रमुखता प्रदान की हैं, एवं मनःशुद्धि के लिए आहार-शुद्धि को ही प्रमुख माना गया है। अन्नशुद्धि जहाँ मानवीय मन को विशुद्ध रखती है, वहाँ अन्नदोष मानवीय मन को विकृत करता हुआ तत्र प्रतिष्ठिता बुद्धि को भी तमोमयी ही बना दिया करता है। इसलिए भारतीय आचारशास्त्रने अन्न के सम्बन्ध में सत्त्वादिगुणानुबन्ध से विशेष व्यवस्थाएँ

अनिवार्य्य मानी है । अतएव च राजर्षि मनु ने वेदस्वाध्याय-पार्थक्यवत् अन्नदोष को भी द्विजाति की 'जीवित-मृत्यु' का कारण मान लिया है * ।

४४४-संकल्प-विकल्पानुबन्धिनी 'भावना' से अनुगत 'इन्द्रियमन' का स्वरूपोपबृंहण, एवं इन्द्रियसंयमानुगत दृष्टिकोण का गीता के द्वारा स्पष्टीकरण—

संस्कल्प-विकल्पात्मिका-उभयविधा-ग्रहणपरित्याग-निबन्धना-'भावना' ही देवसत्यांशभूत--पार्थिव-स्तौम्य-त्रैलोक्य के अर्कविध-त्रिणवस्तोमानुगत-भास्वरसोम से अनुगत 'इन्द्रियमन' की प्रतिष्ठाभूमि माना गया है, जिस 'भावना' के आधार पर मानवीय-इन्द्रियमन अनुकूलभावमाध्यम से संकल्प का, एवं प्रति-कूलभावमाध्यम से विकल्प का अनुवर्त्मा बना रहता है । संकल्प-विकल्प-भावानुबन्धिनी ग्रहण-परित्यागात्मिका-इस चङ्क्रमण-प्रक्रिया का ही नाम ही है वह-'चाञ्चल्य', जिससे सर्वप्रथम प्रज्ञानमनोधरातल पर महदुक्थ-रूपेण प्रतिष्ठित भावना-वासना-त्मक-संस्कार-विकम्पित होते रहते हैं, इन संस्कारों के विकम्पन से तद्धारक प्रज्ञानमन विकम्पित होपड़ता है । प्रज्ञान के विकम्पन से तत्र प्रतिष्ठिता बुद्धि विकम्पित होपड़ती है । और यों एकमात्र इन्द्रियमन के चाञ्चल्य से ही परम्परया अध्यात्मसंस्था के सभी तन्त्र विकम्पित होपड़ते हैं । इसी पारम्परिक-तथ्य के आधार पर भगवन् वासुदेव कृष्ण के द्वारा निम्नलिखित सूक्तियाँ अभिव्यक्त हुईं हैं-

इन्द्रियाणि--मनो-बुद्धि-रस्याधिष्ठानमुच्यते ॥
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥१॥
तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ! ॥
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञान-विज्ञान-नाशनम् ॥२॥
इन्द्रियाणि पराण्याहुः, इन्द्रियेभ्यः परं मनः ॥
मनसस्तु परा बुद्धिः, यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥३॥

—गीतायां ३।४०,४१,४२ श्लो० ।

४४५-हृद्ग्रन्थि-बीजचिति-संस्कारचिति-भावना-लक्षणा चतुर्विधा प्रतिष्ठाभूमियों से अनुगत सर्वथा विभक्त चतुर्विध मनस्तन्त्रों का संकलनात्मक-समन्वय-प्रयास—

तदित्थं हृद्ग्रन्थि, बीजचिति, संस्कारचिति, भावना-इन चार प्रतिष्ठाधरातलों के माध्यम से अभिव्यक्त, किंवा कृतरूप श्वोवसीयस्मन, सत्त्वमन, प्रज्ञानमन, इन्द्रियमन, इस रूप से मनस्तन्त्र के चार विवर्त्त होजाते हैं, जिनमें भोक्तात्मलक्षण-भूतात्मा के संस्मरणात्मक प्रक्रान्त-सन्दर्भ में संस्कारचितिलक्षण-प्रज्ञानमन ही प्रमुखरूपेण अवधेय इसलिए माना जायगा कि, भोगायतनात्मक-पाञ्चभौतिक-शरीर में प्रतिष्ठित वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञमूर्त्ति-भूतात्मा के भोग में साधनरूपेण-प्रज्ञानमन ही प्रमुख बना रहता है, और इस

---

* अनभ्यासेन वेदानां, आचारस्य च वर्ज्जनात् ।
आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति ॥
—मनुः

प्रमुखता के अनुबन्ध से ही प्रकृत में प्रसङ्गतः मनस्तन्त्रानुबन्धी तथोक्त चारों मनोविवर्त्तों का भी अत्र संस्मरण कर लिया गया है। अब पुनः उस भूतात्मा की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है, जिसे पूर्व में-'भोक्तात्मा' नाम से व्यवहृत किया गया है, एवं जिसका 'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्म्मनीषिणः' इत्यादि कठवचन के माध्यम से संस्मरण हुआ है-(देखिए-पृष्ठ सं० २६०, परिच्छेदसंख्या ४२७)।

४४६-भोगसाधनरूप-ब्रह्मसत्यांशाभूत-चान्द्रमनो लक्षण-'अनिन्द्रियमन' का, तथा भोगद्वाररूप-देवसत्यांशभूत 'इन्द्रियमन' का पार्थक्य-समन्वय—

वहीं यह स्पष्ट कर दिया गया है कि, भोगायतन, भोक्ता, भोगसाधन, भोगद्वार-भेद से तथाविध भोक्तात्मा में चार विवर्त्तभाव समाविष्ट हैं, जिन इन चारों विवर्त्तों में से प्रथम, तथा तृतीय, इन दो विवर्त्त-भावों का तो ब्रह्मसत्य से सम्बन्ध है, एवं द्वितीय, तथा चतुर्थ-विवर्त्तभावों का देवसत्य से सम्बन्ध है। भोगायतनरूप प्रथम विवर्त्त का ही नाम पाञ्चभौतिक-स्थूलशरीर है, जिसका स्वरूप-निर्म्माण ब्रह्मसत्यात्मक चित्य-भूपिण्ड से ही हुआ है। भोगसाधनरूप तृतीय विवर्त्त का ही नाम प्रज्ञाप्राणात्मक-ज्ञानक्रियार्थशक्तिमय-सर्वेन्द्रिय नामक अनिन्द्रिय-प्रज्ञानमन है, जिस का स्वरूप-निर्म्माण पूर्वकथनानुसार ब्रह्मसत्यात्मक-चन्द्रमा से ही (अन्न के द्वारा) हुआ है।

४४७-भोगायतन-भोक्ता-भोगसाधन-भोगद्वार-रूपेण भावचतुष्टयात्मक पारिभाषिक 'भूतात्मा' के संस्मरण से अनुगता स्थिति का स्पष्टीकरण—

शेष रह जाते हैं-भोक्ता, तथा भोगद्वाररूप द्वितीय, एवं चतुर्थ-विवर्त्त, जिनका केवल पार्थिव-स्तौम्यत्रैलोक्य के उक्थार्कभावों से ही क्रमिक सम्बन्ध है, जोकि उक्थार्कभाव देवसत्य के ही पर्व माने गए हैं। स्तौम्या पृथिवी के विराट्-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञ-नामक अग्नि-वायु-आदित्य-देवप्रधान उक्थरूपों के प्रवर्ग्यभाग से तो वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ-रूप-उक्थात्मक ही 'भोक्ता' का स्वरूपाविर्भाव हुआ है, एवं स्तौम्या पृथिवी के ही त्रिवृतादि अर्कात्मक अग्निसोमपञ्चक से वाक्-प्राणादि अर्करूप इन्द्रियपञ्चक-लक्षण भोगद्वारों की स्वरूपाभिव्यक्ति हुई है। यों भोक्ता, और भोगद्वार नामक द्वितीय, तथा चतुर्थ विवर्त्तभाव देवसत्यात्मक बने हुए हैं। और यही उस 'भूतात्मा' का समस्त स्वरूपेतिवृत्त है, जिसके संस्मरण के लिए ही प्रस्तुत-'भूतात्मसंस्मरणात्मक' द्वितीय-सन्दर्भ प्रवृत्त हुआ है, जिसका एक समष्टिरूपा तालिका के द्वारा भलीभाँति समन्वय होजाता है।

४४८-भोक्तात्मा की सीमा से अनुगत प्रज्ञानात्मा के 'अन्तर्भाव' की स्थिति का पारिभाषिक-स्पष्टीकरण—

इसी सम्बन्ध में यह भी अविस्मरणीय है कि, आत्मा-इन्द्रिय-मनः-शरीर-की समष्टिरूप 'भोक्तात्मा' की सीमा में हीं 'मनः'-रूप-'प्रज्ञानात्मा' का भी समावेश होजाता है, जिसेकि-तृतीय सन्दर्भ का लक्ष्य मान लिया गया है। भूतात्मा के तृतीय प्रक्रमात्मक प्राज्ञ के साथ ही प्रज्ञान का घनिष्ठ सम्बन्ध माना गया है। प्रज्ञानात्मा के द्वारा ही भूतात्मा के तृतीय-प्रक्रम में चिज्ज्योति का समावेश होता है, और अतएव च भूतात्मा अपने इस चिज्ज्योतिर्म्मय-प्राज्ञभाग से-'भूतात्मा' रूपेण-'आत्मा'-शब्द का अधिकारी बनता है। इस अविस्मरणीय-दृष्टिकोण को लक्ष्य बना कर ही हमें आगे के क्रमप्राप्त-'प्रज्ञानात्मसंस्मरण' नामक तृतीय-सन्दर्भ के समन्वय में प्रवृत्त होना चाहिए।

४४६–भूतात्मसंस्मरणानुगता—समष्टिभावनिबन्धना—तालिका—प्रकारान्तरेण—

भोगसाधनम् मनः १	ब्रह्मसत्यात्मकश्चन्द्रमाः——तत्प्रवर्ग्यांशः— ——— -प्रज्ञानम्	मनः
उक्थभावानुगतं–अग्निसोमपञ्चकं दैवसत्यात्मकम् भोक्ता–दैही २	उक्थरूप-दिक्सोमः } —(आप्यः) } —तत्प्रवर्ग्यांशः-प्राज्ञः उक्थरूपः-भास्वरसोमः उक्थरूपः-सर्वज्ञः-आदित्यमयः (दिव्यः) उक्थरूपः-हिरण्यगर्भः-वायुमयः (आन्तरीक्ष्यः)–तत्प्रवर्ग्यांशः-तैजसः उक्थरूपः-विराट्-अग्निमयः (पार्थिवः)—तत्प्रवर्ग्यांशः-वैश्वानरः	-आत्मा
अर्कभावानुगतं–अग्निसोमपञ्चकं दैवसत्यात्मकम् भोगद्वाराणि–इन्द्रियाणि ३	अर्कात्मकः-दिक्सोमः-त्रयस्त्रिंशस्तोमानुगतः (३३)-तत्प्रवर्ग्यांशः श्रोत्रम् अर्कात्मकः-भास्वरसोमः-त्रिणवस्तोमानुगतः (२७)- " -मनः अर्कात्मकः-आदित्यः-एकविंशस्तोमानुगतः (२१) " -चक्षुः अर्कात्मकः-वायुः--पञ्चदशस्तोमानुगतः- (१५)- " प्राणः अर्कात्मकः-अग्निः-त्रिवृत्स्तोमानुगतः (९)- " वाक्	-इन्द्रियाणि
भोगायतनम् ४	पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशात्मकः-ब्रह्मसत्यात्मकः-भूपिण्डः-तत्प्रवर्ग्यांशम्-स्थूलशरीरम्	शरीरम्

४५०–भूतात्मसंस्मरणानुगता–समष्टिभावनिबन्धना–तालिका—

१–भोगायतनम्—पाञ्चभौतिकं-स्थूलशरीरं-भौमम्

२–भोक्ता———वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञात्यकः-देही

३–भोगसाधनम्—ज्ञान-क्रिया-अर्थ-मयं-प्रज्ञानमनः

४–भोगद्वाराणि—वाक्प्राणचक्षुःश्रोत्रमनांसि-इति-पञ्चेन्द्रियाणि

—"आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्म्मनीषिणः"—

"आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं-भोक्तेत्याहुर्म्मनीषणः"

इत्याहुराचार्य्याः

* * *

इति–"प्रज्ञानात्मस्वरूपानुगतं–आत्मस्वरूपनिदर्शनम्"–नामके

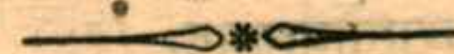
द्वितीय–प्रकरणे

भूतात्म–संस्मरणात्मकः–द्वितीयसन्दर्भः–उपरतः

प्रज्ञानात्मानुगत–भूतात्मस्वरूपनिरूपणपरो वा

द्वितीयसन्दर्भः

२



श्रीः

अथ-"प्रज्ञानात्मस्वरूपानुगत-आत्मस्वरूपनिदर्शनम्"-नामके द्वितीय-प्रकरणे

प्रज्ञानात्मानुगत-स्वस्वरूपनिरूपणपरः

तृतीय-सन्दर्भः

"साधनभावनिबन्धन-प्रज्ञानात्मा-नामक साधनात्मा का-स्वरूप-संस्मरण"-नामक-तृतीय-सन्दर्भ-उपक्रान्त

३

४५१-'प्रज्ञानात्मसंस्मरण' से अनुप्राणित तृतीय सन्दर्भ का उपक्रम, एवं 'प्रज्ञानात्मा' से स्वरूप-विश्लेषक-ऐतरेयारण्यकीय-सन्दर्भ का संस्मरण—

'भूतात्मसंस्मरणात्मक'-पूर्व के द्वितीय सन्दर्भ में ऐतेरय-उपनिषत् के द्वारा **'एतत्सर्वं-मन एव०'** इत्यादि रूप से जिस **'प्रज्ञानब्रह्म'** की ओर सङ्केत हुआ है *, उस के सम्बन्ध में ऐतरेय-आरण्यक में भी एक सन्दर्भ समाविष्ट हुआ है, जिस के द्वारा 'प्रज्ञानब्रह्म' के अवारपारीण सम्पूर्ण चिरन्तन-इतिवृत्त का सर्वात्मना स्पष्टीकरण होजाता है। अतएव उस ऐतरेयारण्यकीय-सन्दर्भ को ही हम प्रस्तुत-**'प्रज्ञानब्रह्म-संस्मरण'** नामक क्रमप्राप्त तृतीय-सन्दर्भ की मूलप्रतिष्ठा मानेंगे, एवं जिस की संक्षिप्ता स्वरूप-व्याख्या ही प्रकृत तृतीय-सन्दर्भ का मुख्य निरूपणीय-विषय होगा। आरण्यकीय तत्सन्दर्भ का अविकलरूप निम्न-लिखित है—

कोऽयमात्मात्मेति वयमुपास्महे, कतरः स आत्मा ?, इति येन वा पश्यति, येन वा शृणोति, येन वा गन्धानाजिघ्रति, येन वा वाचं व्याकरोति, येन वा स्वादु चास्वादु च विजानाति, यतेतद्-हृदयं-मनश्चैतत्। संज्ञानं, आज्ञानं विज्ञानं, प्रज्ञानं, मेधा, दृष्टिः, धृति, मतिः, मनीषा, जूतिः, संकल्पः, क्रतुः, असुः, कामः, वशः-इति सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नाम-धेयानि भवन्ति, इति ।

---

*-देखिए-पृष्ठ सं० २६६, परिच्छेद सं० ४४२।

एष ब्रह्मा एष इन्द्रः, एष प्रजापतिः, ऐते सर्वे देवाः, इमानि च सर्वाणि भूतानि- पृथिवी, वायुः, आकाशः, आपः, ज्योतींषि, इत्येतानि, इमानि च क्षुद्रमिश्राणीव बीजानि-इतराणि, चेतराणि चाण्डजानि च, जारुजानि च, स्वेदजानि च, उद्भिज्जानि च । अश्वाः, गावः, पुरुषाः, हस्तिनः, यत्किञ्चेदं प्राणि जङ्गमं च पतत्रि च, यच्च स्थावरं–सर्वं तत् प्रज्ञानेत्रम् । प्रज्ञाने प्रतिष्ठितम् । प्रज्ञानेत्रो लोकः । प्रज्ञा प्रतिष्ठा । प्रज्ञानं ब्रह्म ।

स एतेन प्राज्ञेनाऽऽत्मनाऽस्माल्लोकादुत्क्रम्य-अमुष्मिन्त्स्वर्गे लोके सर्वान् कामान्- आप्त्वा-अमृतःसमभवत्, समभवत् ।

—ऐतरेय-आरण्यके-२ आरण्यक, ६ अध्याय, १ खण्ड ।

४५२ कतरः स आत्मा ?, प्रश्नमूलक सर्वेन्द्रियसञ्चालक-'प्रज्ञानात्मा' की इन्द्रिय-निबन्धना सर्वव्याप्ति का दिग्दर्शन—

वह ऐसा कौन सा आत्मा है, जिस की 'हम' ('भूतात्मरूप देही-कर्म्मात्मा') उपासना करते हैं ?, (अनेक प्राकृतात्माओं में से वह उपास्य) आत्मा कौनसा है ?, (कर्म्मात्म-निबन्धन उसी प्रज्ञानब्रह्मरूप '**प्रज्ञानात्मा**' का स्वरूप स्पष्ट करते हुए ऋषि कहते हैं कि)—जिस से (कर्म्मात्मा) देखता है, जिस से सुनता है, जिस से गन्ध का आघ्राण करता हैं [सूँघता है], जिस से वाक् को व्यक्त करता है [बोलता है], जिस से स्वाद, और अस्वाद का परिज्ञान करता है (रस चखता है), और जो कि हृदयभाव से समन्वित है, वैसा मन, [अर्थात् प्रज्ञानात्मा] ही तो है । [अर्थात् 'प्रज्ञानात्मा' नामक मनस्तन्त्र से ही ऐन्द्रियक विषयों का सञ्चालन होता रहता है । प्रत्येक इन्द्रिय को प्रज्ञानमन का आश्रय लेकर ही स्व स्व नियत-ऐन्द्रियक-विषयग्रहण में प्रवृत्त होना पड़ता है । बिना प्रज्ञानमनः-सहयोग के कोई भी इन्द्रिय स्व–व्यापार-प्रसार में यत्किञ्चित् भी समर्थ नहीं है] ।

४५३–विभिन्न-ज्ञानभावों से अनुप्राणित संज्ञान-आज्ञान-विज्ञान-प्रज्ञान-आदि शोडश-विध-प्रज्ञानव्याप्तिभावों का स्वरूप-लक्षणात्मक-समन्वय, एवं तन्निबन्धन सोलह-शब्दों का तत्त्वार्थ-समन्वय-प्रयास—

ऐन्द्रियक व्यापार--सञ्चालन के अतिरिक्त--श्वोवसीयस्--नामक अव्ययमनोरूप--आत्ममन के निर्भ्रान्त--समत्वभावानुगत, अतएव (१) '**संज्ञान**' नामक विशेषज्ञान का, सत्त्वमनोरूप--आकृति–प्रकृति--अहङ्कृति–महन्मनोऽनुगत ऐश्वर्य्यभावानुगत (२) **आज्ञान** नामक विशेषज्ञान का, सत्त्वानुगता बुद्धि से अनुगत व्यवसायात्मक--निष्ठालक्षण (३)-'**विज्ञान**' नामक विशेषज्ञान का, स्वस्वरूपानुगत–सर्वेन्द्रियव्याप्तिलक्षण-प्रकृष्टभावानुगत-(४)-'**प्रज्ञान**' नामक-स्वरूपज्ञान का, सोमानुगत-स्नेहगुणक--श्रद्धारसानुगत--सङ्गमनीय--स्नेहगुणक (५)-'**मेधृगुण**' (मेधा) का, चक्षुरिन्द्रियानुगत--व्यक्तमनोभावानुगत–दृष्टिभावनिबन्धन मनोऽनुगत

रूपप्रत्यक्ष से अनुगता (६)-दृष्टि का, संस्कारग्रहणानुगत-स्थितिधर्म्म से अनुगता बुद्धिसहकृता-मानस-व्यापारलक्षणा (७)-धृति का, मनोऽनुगता चिन्तनव्यापारनुगता (८)-मति का, प्रज्ञानमनोऽनुगता चिन्तन-शीला बुद्धि के अध्यवसायात्मक-धर्म्म से अनुगता (९)-'मनीषा' का, मनोऽनुगत इन्द्रविद्युदनुबन्धी-सौम्य-विद्युदनुबन्धी-चाञ्चल्यरूप (१०)-जूतिर्भाव का, मनोऽनुगत वासनासंस्कार--पुञ्जरूप उक्थ के स्मरण से अनुगता (११)-स्मृति का, त्रिणवस्तोमानुगत-अर्कात्मक--भास्वरसोम से अनुगत ग्रहण-परित्याग-शील-इन्द्रियमन से अभिन्न-प्रज्ञानमनोऽनुगत-(१२)-संकल्प का, मनोधरातल पर प्रतिबिम्बरूपेण प्रतिष्ठिता विज्ञानबुद्धि के अध्यवसायात्मक-धर्म्म से अनुगत प्रज्ञानमनोऽनुगत (१३)-क्रतु का, अशीतिरूप ऐन्द्रियक--विषयात्मक--अन्नों से आप्यायित होते रहते वाले प्रज्ञानमनो-निबन्धन संस्काररूप--उक्थ से अनुगत अर्कात्मक जीवनीय--प्राण लक्षण-(१४)-असु का, मानसविषयजिज्ञासात्मक (१५)-काम का, (१६) वशावर्त्तित्त्व का, इन विध-(सोलहप्रकार) के आध्यात्मिक विवर्त्तों का साक्षात्-रूपेण, एवं परम्परया-येन केन रूपेण प्रज्ञानात्मा से ही षोडश-सम्बन्ध प्रमाणित होरहा है, अतएव इस दृष्टि से संज्ञानादि-वशान्त सोलहों विवर्त्तों को 'प्रज्ञान' नाम से भी व्यवहृत किया जासकता है-'सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति'।

१-अव्ययमनोनिबन्धना-प्रज्ञानमनोवृत्तिरेव	—	'संज्ञानम्'	(आत्मज्ञानम्)
२-महन्मनोनिबन्धना-	"	-'आज्ञानम्'	(प्रकृतिज्ञानम्)
३-विज्ञानबुद्धिनिबन्धना-	"	-'विज्ञानम्'	(बौद्धिकज्ञानम्)
४-स्वस्वरूपनिबन्धना-	"	-'प्रज्ञानम्'	(विषयज्ञानम्)
५-श्रद्धारसनिबन्धना-	"	-'मेधा'	(ज्ञानदार्ढ्यम्)
६-चाक्षुषप्रत्यक्षनिबन्धना-	"	-'दृष्टिः'	(रूपज्ञानम्)
७-संस्कारग्रहणनिबन्धना-	"	-'धृतिः'	(धारणाशक्तिः)
८-मननव्यापारनिबन्धना-	"	-'मतिः'	(मननशक्तिः)
९-मनोऽनुगत-चिन्तननिबन्धना-	"	-'मनीषा'	(चिन्तनशक्तिः)
१०-मनोऽनुगतेन्द्रविद्युन्निबन्धना-	"	-'जूतिः'	(चाञ्चल्यम्)
११-मनोऽनुगतसंस्कारस्मरणनि०	"	-'स्मृतिः'	(स्मरणशक्तिः)
१२-इन्द्रियमनोव्यापारनिबन्धना-	"	-'संकल्पः'	(ग्रहण-परित्यागौ)
१३-बौद्धिक-अध्यवसायनिबन्धना-	"	-'क्रतुः'	(अध्यवसायः)
१४-संस्कारोक्थानुगतार्कनिबन्धना-	"	-'असुः'	(जीवनशक्तिः)
१५-ऐन्द्रियकजिज्ञासानिबन्धना-	"	-'कामः'	(इच्छाशक्तिः)
१६-संस्कारबन्धनानुगता-	"	-'वशः'	(विषयासक्तिः)

—'सर्वाण्येवैतानि--प्रज्ञानस्यैव नामधेयानि भवन्ति'—

इत्याहुराचार्य्याः

४५४–प्रज्ञानानुगत सूत्रात्मक नेत्र से अनुगत नियन्त्रण, और तन्निबन्धना प्रज्ञात्मिका प्रतिष्ठा का पारिभाषिक-समन्वय—

यह (प्रज्ञानात्मा) ब्रह्मा है, यह इन्द्र है, यह प्रजापति है, ये सम्पूर्ण देवता हैं, पृथिवी-जल-तेज-वायु-आकाश-नामक पञ्चमहाभूत भी यही है, गुण-अणु-रेणु-भूत-भौतिक रूपेण पञ्चधा विभक्त, सृष्टिबीजात्मक-क्षुद्र-मिश्र-भावापन्न-(अणु, तथा महान्-के योग से सम्पन्न) सम्पूर्णभूतभाव, पक्षिसर्पादि अण्डजभाव, मनुष्य-गवादि जरायुजभाव, कृमिदंशादि स्वेदजभाव, तरुगुल्मादि उद्भिजभाव, जरायुजों में विशेषता रखने वाले अश्व-गौ-पुरुष-गजादि विशेषवर्ग, किंबहुना--तथा नभचर-थलचर-जङ्गम-स्थावरादि-यच्चयावत्-प्राणिविवर्त्त प्रज्ञानानुगत सूत्रात्मक नेत्र से ही नियन्त्रित हैं, सभी भूतभौतिक-विवर्त्त प्रज्ञानात्मक चान्द्रब्रह्म में ही प्रतिष्ठित हैं। सम्पूर्ण लोकों का माध्यम (-द्वार-) प्रज्ञान-ही है,प्रज्ञानानुगता सोमात्मिका प्रज्ञा ही सम्पूर्ण लोकों की प्रतिष्ठा है।

४५५–प्रज्ञानात्मानुगता 'केनोपनिषत्' का प्रासङ्गिक-संस्मरण—

तथाभूत सर्वात्मक--सर्वभूताधिष्ठाता प्रज्ञानात्मा के साथ सायुज्य प्राप्त कर लोकान्तर में उत्क्रान्त होने वाला देही भूतात्मा सम्पूर्ण लौकिक-कामनाओं में सफलता प्राप्त करता हुआ स्वःात्मिका अमृतप्रतिष्ठा का अनुगामी बन जाता है, (और इत्थंभूत सर्वाधिष्ठाता प्रज्ञानात्मा को द्वार बनाकर ही केनोपनिषत् प्रवृत्त हुई है)"।

४५६–ऐतरेयारण्यक-सन्दर्भ से अनुगत चतुर्दशविध भूतसर्ग से अनुगता ब्रह्मादि-स्तम्ब-पर्य्यन्ता रहस्यपूर्णा-पारिभाषिकी-स्थिति का समन्वय-प्रयास—

ऐतरेयारण्यक--श्रुति के तथोक्त-अक्षरार्थ-समन्वय के सम्बन्ध में अत्र विशेस स्पष्टीकरण अनावश्यक है। स्वयं मूलभाष्य में ही यथाप्रसङ्ग इन पारिभाषिक तथ्यों का यथासम्भव स्पष्टीकरण-प्रयास होता रहेगा। इस सम्बन्ध में प्रकृत में एतावन्मात्र ही जान लेना आवश्यक होगा कि, भगवान् ऐतरेय ने प्रतीकात्मिका निदानविद्या के माध्यम से **कोऽयमात्मा वयमुपास्महे ? कतरः-स आत्मा ?** प्रश्न के समाधान में द्वारभूत किंवा साधनभूत-प्रज्ञानात्मा नामक ब्रह्मसत्यीय उस **'चान्द्र–प्राकृतात्मा'** को ही साधनत्वेन प्रमुखता-प्रदान करदी है, जिस चान्द्र-प्राकृतात्मा के आधार परही **ब्रह्मादि स्तम्ब पर्य्यन्त चतुर्दशविध भूतसर्ग** का वितान माना है प्रकृतिवादी सांख्यशास्त्र ने, जैसाकि आरम्भ के पारिभाषिक-प्रकरण में तत्र तत्र स्पष्ट किया जाचुका है। चान्द्र-प्राकृतसर्ग ही **अष्टविध सत्त्वविशाल-'ऊर्ध्वसर्ग', पञ्चविध-रजोविशाल-'मध्यसर्ग' एवं अनेक वधानुगत-एकविध-तमोविशाल 'मूलसर्ग'** रूपेण ८--५--१ के संकलन में १४ अवान्तर--वर्गों में विभक्त माना गया है। अष्टविध-सत्त्वविशालसर्गात्मक-देवयोनि-सर्ग के आठों विवर्त्त ही क्रमशः **ब्रह्मा-प्रजापति-पितर-इन्द्र--गर्व--पिशाच--राक्षस--यक्ष**-इन नामों से व्यवहृत हुए हैं, जिन में से महर्षि ऐतरेय ने उदाहरण के रूप से ब्रह्मा-प्रजापति-इन्द्र-इन तीन का साक्षात्-रूप से, तथा शेष का-**'सर्वे देवाः'** रूप से संग्रह कर लिया है। एवमेव **मानव-पशु-पक्षी कीट-कृमि**-नामक पाँचों तिर्य्यक्सर्गों का, तथा गुल्मलतादि (उद्भिजादि) स्तम्बात्मक सर्गों का आगे जाकर व्यवच्छेदरूप से संग्रह कर दिया गया है।

४५७--पार्थिव-त्रैलोक्यानुगत चतुर्दशविध-भूतसर्ग, पञ्चमहाभूत, स्थावर-जङ्गमादि-विवर्त्तों का संकलनात्मक-समन्वय, एवं सर्वेन्द्रियव्यापक पारिभाषिक-'प्रज्ञानात्मा' से अनुगता 'वचनत्रयी' का संस्मरण—

जैसाकि पूर्व में स्पष्ट किया जाचुका है—चान्द्र-प्रज्ञानात्मा भोगसाधनरूप है, और भोक्तारूप देही, भोगायतनरूप शरीर, तथा भोगद्वारभूत-इन्द्रियवर्ग-इन तीनों से भी नित्य सम्परिष्वक्त है। भोगायतनरूप शरीर के द्वारा पञ्च-भूतात्मक भूपिण्ड परिगृहीत है। भोक्ता के द्वारा अग्नि-वायु-आदित्य-विध-सम्पूर्ण देवदेवता भी परिगृहीत हैं। इसप्रकार चान्द्र प्रज्ञानात्मा के माध्यम से तदविनाभूत-चतुर्दशविध-भूतसर्ग, पञ्चमहाभूत, स्थावर-जङ्गम, आदि सम्पूर्ण उस पार्थिव-भूतविवर्त्त का भी संग्रह स्वत ही गतार्थ बन जाता है, जिस भूत-विवर्त्त का पूर्व में पार्थिवी-स्तौम्या-त्रिलोकी से सम्बन्ध बतलाया गया है। इसी ऐतरेयारण्यक-सन्दर्भ के साथ निम्नलिखित अन्य औपनिषद्वचन भी उपादेय ही मान लिए जायँगे।

(१)-"प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रमन्नस्यान्नं-मनसो यन्मनो विदुः"।

—बृहदारण्यकोपनिषदि ४।४।१८।

(२)-"येन रूपं रसं गन्धं शब्दान्-स्पर्शांश्च मैथुनान्। एतनैव बिजानाति"।

—कठोपनिषदि ४।३।

(३)-"श्रोत्रस्य श्रोत्रं, मनसो मनो, वाचा ह वाक्। स उ प्राणस्य प्राणश्चक्षुषश्चक्षुः"।

—केनोपनिषदि २।

४५८--'प्रजापति' के स्वरूप-लक्षण से अनुगता ज्ञान-क्रिया-अर्थ-शक्तित्रयी, तन्निबन्धन-'आत्मभाव', और तदनुप्राणित साधनभूत-'प्रज्ञानप्रजापति' से अनुगत भूतात्म-प्रजापति का चिदात्मनिबन्धन संस्मरण—

'ज्ञान-क्रिया-अर्थ'-नाम की तीन शक्तियों की समन्वितावस्था से सविशेष उस आत्मभाव की स्वरूपाभिव्यक्ति होजाया करती है, आत्मानुगता, किंवा आत्मसीमान्तभुक्ता जिन उन तीनों शक्तियों को क्रमशः **'आत्मा-प्राणाः-पशवः'** इन पारिभाषिक-नामों से भी अनुगत मान लिया गया है, एवं इस अनुगति के आधार पर ही आत्मभाव को **'आत्म-प्राण-पशुत्त्वमेव प्रजापतित्त्वम्'** इस पारिभाषिक-लक्षणानुसार-'प्रजापति' अभिधा से व्यवहृत किया जाता है। प्रक्रान्त तृतीय सन्दर्भ का **प्रज्ञानभाव** क्योंकि ज्ञान-क्रिया अर्थ-नाम की तीनों शक्तियों से समन्वित है। अतएव इस चान्द्र-प्रज्ञानमन को भी-**'प्रज्ञानात्मा'** रूपेण आत्मभाव से अनुगत मान लिया जासकता है, और यों पञ्चपर्वा विश्व के चतुथ, किंवा पञ्चम पर्वात्मक चन्द्रमा-पर्व से अन्न के द्वारा सम्पन्न प्रज्ञानतत्त्व जैसा प्राकृतभाव भी पुरुषप्रजापतिवत् एक स्वतन्त्र **'आत्म-प्रजापति'** का स्थान ग्रहण कर लेता है, एवं इत्थंभूत चान्द्र-प्रज्ञानात्मा के **'साधन'** के माध्यम से ही केनोपनिषत् ने **साधक भूतात्मा** को **साध्य-चिद्ब्रह्म** के साथ समन्वित किया है। प्रस्तुत तृतीय सन्दर्भ में उसी

प्रज्ञानात्मा के चिरन्तन–इतिवृत्त का संक्षेप से स्पष्टीकरण किया जायगा, जिसे अवधानपूर्वक लक्ष्यारूढ कर लेने पर ही तृतीय–प्रकरणानुगत–मूलभाष्य का समन्वय गतार्थ बन सकेगा।

४५९--साधक भूतात्मा के अंशात्मक-पारिभाषिक-'प्रज्ञानात्मा' का कठवचन के माध्यम से समन्वय—

'कर्म्मात्मा' नामक पार्थिव 'भूतात्मा' के ही साधनरूप एक अंश का नाम प्रज्ञानात्मा है, यह द्वितीय सन्दर्भ से स्पष्ट होजाता है, जिस स्पष्टीकरण का निष्कर्ष यही है कि, **भोगायतन-भोक्ता-भोगसाधन-भोगद्वार-रूप स्थूलशरीर-कर्म्मात्मा-प्रज्ञानमन-इन्द्रियवर्ग-इन** चारों के समन्वितरूप का ही नाम **'भोक्तात्मा'** रूप **'कर्म्मात्मा'**, किंवा **'भूतात्मा'** है, जैसाकि तत्रैव—**'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्म्मनीषिणः'** इत्यादि कठवचन से स्पष्ट कर दिया गया है।

४६०--कर्म्मात्मचर्चा से अभिन्ना प्रज्ञानात्मचर्चा, और प्रज्ञानसंस्मरणानुगत कर्म्मात्म-संस्मरण की अनिवार्य्यता का दिग्दर्शन—

यही कारण है कि, भूतात्मा के चिन्तन प्रसङ्ग में जहाँ प्रज्ञान का चिन्तन स्वतः ही समाविष्ट रहता है, वहाँ प्रज्ञानात्मा के चिन्तन में भूतात्मा का चिन्तन भी स्वतः ही समाविष्ट होजाता है। और यही इन आत्मानुबन्धी वैदिक–शब्दों की वह पारिभाषिकी महती जटिलता है, जिसके पूर्वापर–समन्वय में मादृश–सामान्य जन की प्रज्ञा कुण्ठितप्राया ही बन जाती है। लक्ष्य है प्रज्ञानात्मा, किन्तु वह है कर्म्मात्मा का ही साधनरूप एक पर्वविशेष। अतएव यदागमन्यायेन प्रज्ञानचर्चोपक्रम के साथ ही कर्म्मात्मचर्चा भी स्वतः ही उपक्रान्त होपड़ती है। इसी उपक्रान्ति को आधार मान कर अग्रिम कतिपय परिच्छेदों के द्वारा प्रतिज्ञात प्रज्ञान के स्वरूपेतिवृत्त–समन्वय का प्रयास किया जारहा है।

४६१--भूपिण्ड-महिमा-पृथिवी, तथा चन्द्रमा से कृतरूपा शरीर-कर्म्मात्मा-एवं प्रज्ञानात्म-त्रयी का संस्मरण—

साधक–कर्म्मात्मा के पर्वों का स्वरूप–समन्वय करते हुए पूर्व में अनेकधा यह स्पष्ट किया जाचुका है कि, ब्रह्मसत्यात्मक पञ्चपर्वा प्राकृत विश्व के भूपिण्ड नामक पर्व के आधार पर स्तोमरूपेण परिव्याप्ता पृथिवी के भूतात्मक–तत्त्व से निष्पन्न आध्यात्मिक–प्राकृतात्मा का नाम ही है भूतात्मा, जिसके साथ ही भूपिण्ड के उपग्रहभूत चन्द्रमा का भाग भी अध्यात्म में समाविष्ट होजाता है। इसप्रकार—**भूपिण्ड, महिमापृथिवी, चन्द्रमा**, इन तीन पर्वों के द्वारा मानवीया–अध्यात्मसंस्था में क्रमशः **'भौतिकशरीर-भूतात्मा-प्रज्ञानात्मा'** नामक त्रिविध विभूतिभाव अभिव्यक्त होपड़ते हैं।

४६२--पृथिव्यादि पञ्चमहाभूतों से कृतरूप स्थूलशरीरानुगता-'मृत्' प्रधानता की तद्वा-दन्यायानुगति का दिग्दर्शन—

पृथिव्यादि पाँचों भूतों में अर्द्धभाग मे पार्थिव–मृद्भूत, शेष अर्द्धभाग में शेष आपः-तेज-वायु–आकाश-नामक-चारों, भूत, इस क्रम से ही पाञ्चभौतिक-पार्थिव-विवर्त्त का स्वरूप-निर्म्माण हुआ है। अतएव

तद्वादन्यायानुसार पाँचों की विद्यमानता में भी चित्य पाञ्चभौतिक-शरीर को कहा, और माना जाता है पार्थिव ही। यही पहिला पार्थिव, अर्थात्-चित्याग्निमय--कायात्मक-भौमविवर्त्त है, जिसे अध्यात्म में 'स्थूलशरीरम्'--उपाधि प्राप्त हुई है।

४६३--भूतात्मलक्षण वैश्वानरात्मा से अनुगता दृष्टि, तथा श्रुति का श्रुति के माध्यम से पारिभाषिक-समन्वय—

इत्थंभूत पाञ्चभौतिक स्थूलशरीर में केशलोमों को, तथा नखाग्रभागों को छोड़ कर हम एक प्रकार की ऊष्मा (गर्मी-ताप) का अनुभव करते हैं, स्पर्शप्रत्यक्ष-करते हैं। एवमेव नासाछिद्र, तथा कर्णच्छिद्र अङ्गुल्यग्रभागों से अवरुद्ध कर लेने पर हम एक धक्-धक्-रूपा ध्वनि भी सुनते रहते हैं। किसकी है तापप्रत्यक्षरूपा यह दृष्टि ?, एवं किसकी है यह श्रुति ?, प्रश्नों का समाधान ही संघर्षजन्मा सहोजा-ताप-ध्वनि-धर्म्मा वह प्राणाग्नि है, जिसका 'वैश्वानर' रूपेण द्वितीय-सन्दर्भ में विस्तार से यशोगान होचुका है। वैश्वानर के इसी दृष्टि-श्रुति-मूलक-ताप-धर्म्मा स्वरूप को लक्ष्य बना कर श्रुति ने कहा है—

"यत्रैतत्–अस्मिञ्छरीरे संस्पर्शेनोष्णिमानं विजानाति, तस्यैष श्रुतिर्यत्रैतत् कर्णावपिगृह्य निनदमिव नदथुरिवाग्नेरिव ज्वलत उपशृणोति, तदेतत्–दृष्टं, श्रुतं–चेत्युपासीत"।

—छन्दोग्योपनिषदि ३।१३।८।

४६४--दक्षिणाग्नि--अपणाग्नि--अन्वाहार्य्यपचनाग्नि--आदि विवर्त्त भावों से अनुगत त्रैलोक्य व्यापक वैश्वानराग्नि की महिमात्मिका महती व्याप्ति का स्पष्टीकरण-प्रयास —

जिसे लोकभाषानुगत लोकव्यवहार में 'जाठराग्नि' कहा जाता है, जो कि याज्ञिक–परिभाषा में 'दक्षिणाग्नि'–'अपणाग्नि'–'अन्वाहार्य्यपचनाग्नि'–आदि नामों से प्रसिद्ध है, ग्रीष्मऋतु में जिस ताप-धर्म्मा अग्नि का 'सान्तपनाग्नि' रूपेण संस्पर्शात्मक–तप्त अनुभव होता रहता है *, सम्पूर्ण त्रैलोक्य में जो अनाहतनाद–रूपेण अभिव्याप्त है, प्राणिशरीरों में जो दक्षिणपार्श्व में उक्थरूप से प्रतिष्ठित रहता हुआ चतुर्विध अन्नों का परिपाक किया करता है, जो कि अग्नि–वायु ·आदित्यात्मक तीन प्राणाग्नियों के संघर्षात्मक उपांश्वन्तर्य्याम–व्यापार से अभिव्यक्त-प्रसूत होता है, जो कि तापधर्म्मा अग्नि प्राणियों की जीवनसत्ता का परिचायक है, वही वह 'वैश्वानराग्नि' है, जिसका अन्य श्रुति के द्वारा इस रूप से संस्मरण हुआ है कि—

"अयमग्निर्वैश्वानरः--योऽयमन्तः पुरुषे (प्रतिष्ठितः), येनेदमन्नं-पच्यते, यदिद--मद्यते। तस्यैष घोषो भवति-यदेतत् कर्णावपिधाय शृणोति"।

—बृहदारण्यकोपनिषदि ५।९।१।

---

*–सान्तपन–अग्नि को ही लोकभाषा में–'लू' कहा गया है, जो कि रुद्राग्नि का ही एक विशेष भेद माना गया है। अतएव विहारप्रान्त में आतप (धूप) को 'रौद' (रौद्र) कहा जाता है।

४६५--प्राण-अपान-व्यान-लक्षणा पारिभाषिकी प्राणत्रयी से अनुप्राणिता स्थिति के माध्यम से त्रिमूर्त्ति त्रैलोक्य-व्यापक-वैश्वानरात्मा का स्वरूप--स्पष्टीकरण प्रयास—

तथोक्त वैश्वानर–अग्नि का तात्पर्य्य है पार्थिव–आन्तरिक्ष्य-द्यु लोकीय–त्रिविध–विश्वों के अग्नि-वायु-आदित्य–रूप अपान–व्यान–प्राण-रूप–त्रिविध विश्वानरों के उपांश्वन्तर्य्यामरूप पारिभाषिक याज्ञिक–संघर्ष से सम्पन्न तापधर्म्मा त्रिमूर्त्ति वह पार्थिव–अग्नि, जो कि उक्थरूपेण त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न पृथिवी-लोक में जन्म लेता हुआ भी— **'आ यो द्यां भात्या पृथिवीम्'–'वैश्वानरो यतते सूर्य्येण'** इत्यादि वचनों के अनुसार सम्पूर्ण स्तौम्य-त्रैलोक्य में अर्कात्मक प्राणरूप से व्याप्त होता हुआ त्रैलोक्य में वितत होरहा है। इसीप्रकार पञ्चदशस्तोमानुगत वायु के द्वारा जो त्र्यात्मक तत्त्व अभिव्याप्त होता है, उसे **'हिरण्यगर्भ'** कहा गया है। एवं एकविंशस्तोमानुगत आदित्य के द्वारा जो त्र्यात्मक तत्त्व अभिव्यक्त होता है, वह **'सर्वज्ञ'** नाम से प्रसिद्ध हुआ है। इन दोनों नामों के समतुलन में अग्निप्रधान वैश्वानर **'विराट्'** नाम से ही व्यवहृत हुआ है। त्र्यात्मक–त्र्यात्मक इन तीनों के उक्थात्मक–स्थान जहाँ क्रमशः त्रिवृत्–पञ्चदश–एकविंश-रूप पृथिवी–अन्तरिक्ष–द्यौः–लोक हैं, वहाँ तीनों के अर्कात्मक–स्वरूपों की व्याप्ति के स्थान तीनों हीं लोक बने हुए हैं। और इत्थंभूत अत्यन्त ऋजु भी त्रिमूर्त्ति वैश्वानर अपनी इस रहस्यपूर्ण व्याप्ति के कारण एक रहस्यपूर्ण तत्त्व ही बना हुआ है, जिसके स्वरूप–समन्वय के लिए तद्युग के दुर्द्धर्ष अनेक वैज्ञानिकों को ब्रह्मपर्षत् के माध्यम से ही जिसे मीमांस्य बनाना पड़ा था, एवं अन्ततोगत्त्वा अश्वपति महाराज कैकय के माध्यम से ही जिसका समन्वयात्मक निष्कर्ष सैद्धान्तिकी निष्ठा का स्थान ग्रहण कर सका था।

४६६--भारतीय-आचारधर्म्म के महत्कौशल से अनुगत 'वैश्वानर–भगवान्' की आचारात्मिका आराधना का संस्मरण, एवं तदनुगत गीतावचन—

भारतीय-सनातन-आचारात्मक-धर्म्म की आचारपद्धतियों में प्रतिदिन पाकशाला में भूताग्नि के माध्यम से गृहणियों के द्वारा तथोक्त वैश्वानराग्नि का ही **'घृत-शर्करा-मिश्रित-सम्पन्न-अन्नग्रास'** (घी खाँड से **समाप्लुत-अन्नग्रास**) के माध्यम से वैश्वानर भगवान् का ही सन्तर्पण होता रहता है, जिसेकि जयपत्तन (जयपुर) की प्रान्तीया-भाषा में--**'बैसंदरजिमाना'** कहा जाता है, जो कि **'बैसन्दर'** शब्द निश्चयेन**'वैश्वानर'** का ही नैगमिक-रूपान्तर है। अधिदैवत-वैश्वानर का प्रवर्ग्यभूत आध्यात्मिक वह वैश्वानर है, जो निम्न लिखित गीतावचन के अनुसार प्राणिशरीरों में प्रतिष्ठित रहता हुआ भुक्तान्न का परिपाक किया करता है—

> **अहं वैश्वानरो भूत्त्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।**
> **प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥**
>
> —गीतायाम् १५।१४।

४६७--'अहम्'-शब्दावाच्य-अव्ययपुरुष से अनुगत पारिभाषिक-वैश्वानरात्मा का संस्मरण, एवं भारतीय आत्मवाद की रहस्यपूर्णा व्यापकतां का समन्वय—

'अहम्' शब्दवाच्य–षोडशीपुरुषात्मक–त्रिपुरुषपुरुषरूप 'अव्ययेश्वर' भगवान् ही तो पञ्चपर्वा–ब्रह्मसत्यात्मक–विश्व के अन्तिम–अवयवरूप भूपिण्ड के आधार पर वितत होने वाले पार्थिव–स्तौम्य–त्रैलोक्य के प्राणापानव्यापाररूप उपांशवन्तर्य्यात्मिक संघर्ष के माध्यम से देवसत्यात्मक वैश्वानररूप में परिणत हुए हैं, जिस इस ऐकात्म्यनिबन्धना रहस्यपूर्णा स्थिति का ही–'अहं वैश्वानरो भूत्वा' इत्यादि सन्दर्भ से स्पष्टीकरण हुआ है। यही–'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'–'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्' मूलक वह अद्वैतसिद्धान्त है, जिसके आधार पर ही तो पाकाग्नि के अंशभूत–भूतात्मक–वैश्वानर अग्नि का (बैसन्दर का) भी हम 'भगवान् (अव्ययात्मा)' के रूप से ही पावन संस्मरण करते रहते हैं, इत्यहो सनातन–धर्म्मानुगत–आचारधर्म्मस्य–आत्मानुगतं–महत्कौशलम्।

४६८--प्राणापानसमायुक्त पारिभाषिक वैश्वानरात्मा के प्रसङ्ग से अनुप्राणित-'पञ्च-देव-सुपयः' का तात्त्विक-संस्मरण—

भगवान् वासुदेव कृष्णने जाठराग्निरूप–आध्यात्मिक वैश्वानराग्नि का स्वरूप व्यक्त करते हुए–'प्राणापानसमायुक्तः' इस वाक्य के द्वारा वेदशास्त्र के उस सुप्रसिद्ध–'पञ्चदेवसुपयः' की ओर ही सङ्केत किया है, जिसका त्र्यात्मक–त्रिमूर्त्ति वैश्वानरात्मा के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध माना गया है। तद्विषय का समन्वय तो तदुपनिषद्विज्ञानभाष्य से ही सम्बन्ध रखता है। सन्दर्भसङ्गतिमात्र के लिए प्रकृत में तत्सम्बन्ध में यही निवेदन कर देना 'अलं' होगा कि, त्रिमूर्त्ति–वैश्वानर–अग्नि के त्रिवृत्--पञ्चदश--एकविंश--नामक तीनों आग्नेय--वायव्य--आदित्यविध--पार्थिव--आन्तरीक्ष्य--दिव्य--स्तोमों में व्याप्त प्राणाग्नि--प्राणवायु--प्राणादित्य--इन तीनों की पारिभाषिकी संज्ञा है क्रमशः--अपान--व्यान--प्राण।

४६९--उपांशु-अन्तर्य्याम-तथा उपांशुसवनात्मक प्राण-व्यान-अपान-भावों के तात्त्विक-स्वरूप का स्पष्टीकरण-प्रयास—

त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न–पार्थिव–आग्नेयप्राण ही–'अपान' नामक पार्थिव--प्राण है। पञ्चदशस्तोमा--वच्छिन्न--आन्तरिक्ष्य--वायव्यप्राण ही--व्यान' नामक आन्तरिक्ष्य प्राण है। एवं एकविंशस्तोमावच्छिन्न--दिव्य--आदित्यप्राण ही--'प्राण' नामक द्युलोकीय--प्राण है। यज्ञपरिभाषा में अपान को--'उपांशु' कहा गया है, व्यान को 'उपांशुसवन' कहा गया है, एवं प्राण को 'अन्तर्य्याम' कहा गया है। एक ही पार्थिवप्राण की क्योंकि स्तोमानुगता ये तीन अवस्थाएँ हैं, इसी आधार पर श्रुति का--'यो वै प्राणः--स उदानः, स व्यानः' यह निगम व्यवस्थित हुआ है। यहाँ--'प्राणः'--'अपानः' के स्थान में प्रयुक्त हुआ है, एवं 'उदानः' 'प्राणः' के स्थान में, जैसाकि शतपथविज्ञानभाष्य के तत्सन्दर्भ में विस्तार से प्रति--पादित है *।

---

*-प्राणोऽह वा अस्य–उपांशुः, व्यान उपांशुसवनः, उदान एवान्तर्य्यामः।
(प्राणः–अपान एव, उदानः–प्राण--एव)।
—शथपथब्राह्मणे ४।१।२।१।

४७०--सोमरस-सम्पादक उपांश्वन्तर्य्याम-व्यापार से अनुगता उदाहरणविधि का स्पष्टीकरण—

सोमरस के लिए सोमवल्ली का क्रय होता है। क्रीता सोमवल्ली को एक शिला पर लोढी से पीस कर सोमरस निकला जाता है। पीसने वाला 'स्थिरा' शिला पर 'चला' लोढी से बलपूर्वक घर्षण करता है। इस घर्षण से ही वल्ली से सोमरस द्रुत होता है। इस पेषणप्रक्रिया के माध्यम से ही ऋषि ने उपांश्वन्त--र्य्यामात्मक--उस प्राणव्यानापानव्यापारत्रयी का समतुलनात्मक समन्वय किया है, जिसके द्वारा ही तीन के स्थान में 'पञ्चप्राण' का स्वरूप अभिव्यक्त होजाता है।

४७१--दृषत्, तथा उपल के द्वारा कृतरूप उपांश्वन्तर्य्याम-लक्षण-घर्षण-व्यापार से प्राण-त्रयी की प्राणपञ्चक-रूप में परिणति—

पाषाण--शिला एक वैसा स्थिर धरातल है, जिस पर सोमाभिषवकर्त्ता ऋत्विक् पाषाणमयी ही 'उपल' (लोढी)' से तदधोभाग में सोमांशु (सोमवल्ली के प्रादेशमित खण्डों को रखकर--प्रचण्ड वेग से उन्हें कूटता--पीसता है, जिस इस कुट्टन--पेषण--व्यापार में पेषणकर्त्ता स्वयं ऋत्विक् को अपने केन्द्रस्थ–व्यानप्राण पर बल लगाते हुए ही पूर्ण–आवेश–पूर्ण--बलप्रयोग के साथ यह क्रिया प्रक्रान्त रखनी पड़ती है, जिस इस क्रिया में शिला के उस छोर से इस छोर पर्य्यन्त, एवं इस छोर से उस छोर पर्य्यन्त दोनों ओर घर्षण होता रहता है। इस उभयानुगति से आरम्भ के, तथा अन्त के व्यापारों की प्रत्येक की को दो दो अवस्थाएँ होजातीं हैं.। यों आरम्भात्मक उपक्रम--केन्द्रात्मकमध्य--अन्तात्मक उपसंहार--रूप से तीन व्यापारों के पाँच व्यापार होजाते हैं, जिनका आध्यात्मिक–प्राणसंघर्षोदाहरण से भलीभाँति समन्वय किया जासकता है।

४७२--आध्यात्मिकी-पार्थिवी-त्रिलोकी से अनुगता पारिभाषिकी स्थिति का लोकात्मक स्पष्टीकरण-प्रयास—

मानव का पार्थिव–शरीर एकप्रकार की आध्यात्मिकी वह पार्थिवी–स्तौम्या-त्रिलोकी है, जिसकी मूलग्रन्थि से नाभिपर्य्यन्त का प्रदेश ही त्रिवृत्स्तोमानुगत-आग्नेय–प्राणात्मक–पृथिवीलोक है। नाभि से हृदयपर्य्यन्त का प्रदेश ही पञ्चदशस्तोमानुगत–वायव्यप्राणात्मक अन्तरिक्षलोक है। एवं हृदय से शीर्षानुगत ब्रह्मरन्ध्रपर्य्यन्त एकविंश–त्रिणव–त्रयस्त्रिंशस्तोमसमष्टिरूप–तृतीय–चतुर्थ–लोक है। और यही आध्यात्मिक--पार्थिव–त्रैलोक्य से अनुगत चारों लोकों का संक्षिप्ततम स्वरूप–समन्वय है।

४७३–एति-प्रेति-लक्षण गमनागमन-व्यापार से अनुगता-प्राणदपानत्-स्थिति का श्वास-प्रश्वास-से समतुलन—

उक्त पार्थिव-लोकों में मध्य में व्यान नामक–'उपांशुसवन'-रूप वह स्थिर–आन्तरिक्ष्य–धरातल है, जिस मध्यस्थ–केन्द्रस्थ–दृषत्–स्थानीय–अश्माखणशिलारूप–व्यानरूप वायव्यप्राण के आधार पर तदधोऽवस्थित-पार्थिव–आग्नेय–अपानप्राण का, तथा तदुपरि–अवस्थित दिव्य–आदित्य–प्राण नामक

प्राण का एति–प्रेति–लक्षण गमनागमन–व्यापार प्रक्रान्त रहता है, जिसके निदर्शन श्वास, प्रश्वास भी माने जासकते हैं।

४७४–पार्थिव-आग्नेयप्राण की व्यानप्रत्याघात-निबन्धना अपान-समान-लक्षणा अवस्थाद्वयी का पारिभाषिक-समन्वय-प्रयास—

मूलग्रन्थि से चलता हुआ पार्थिव-अपानप्राण हृदय की ओर अग्रगामी बनता है, जिस ऊर्ध्व-गमन की चरमावधि हृदयस्थ--व्यान ही बनता है। व्यानपर्य्यन्त पहुँचते ही पार्थिवप्राण व्यान से प्रत्याहित होता हुआ पुनः स्वस्थानरूपा मूलग्रन्थि की ओर परावर्तित होजाता है। यों एक ही पार्थिव--आग्नेय--प्राण की ऊर्ध्वगमन--अधः--आगमन-रूप से दो अवस्थाएँ होजातीं हैं। मूलग्रन्थि से हृदय की ओर जाता हुआ वही पार्थिव--आग्नेय--प्राण--**'समान'** कहलाया है, एवं हृदयस्थ--व्यान से प्रत्याहित वही पार्थिव--प्राण नीचे की ओर मूलग्रन्थ्यनुगत बनता हुआ--**'अपान'** कहलाने लगता है। इसप्रकार पार्थिव--आग्नेय--प्राण ही **'अपान'**, **'समान'** रूपेण दो विवर्त्तभावों में परिणत होजाता है।

४७५–दिव्य-आदित्य-प्राण की एति-प्रेति-मूला स्थितिद्वयी से अनुगता प्राण, तथा उदान-नामकी अवस्थाद्वयी का स्वरूप-समन्वय-प्रयास, और इत्थंभूत प्राण पञ्चक-से अनुगत रहस्यपूर्ण-'पञ्चदेवसुषयः' का श्रौतसन्दर्भ के माध्यम से संस्मरण—

एवमेव ब्रह्मग्रन्थि से चलता हुआ दिव्य--प्राणात्मक प्राण भी हृदय की ओर अनुगत होता है, जिस अनुगति की चरमावधि भी हृदयस्थ व्यान ही बनता है। व्यानपर्य्यन्त पहुँचते ही वह दिव्य--प्राण व्यान से टकरा कर पुनः स्वस्थानरूपा ब्रह्मग्रन्थि की ओर परावर्त्तित होजाता है। यों एक ही दिव्य--आदित्य प्राण--की अधः--ऊर्ध्व--आगमन-गमन--रूपेण दो अवस्थाएँ होजातीं हैं। ब्रह्मग्रन्थि से हृदय की ओर आता हुआ वही दिव्य--आदित्यप्राण--**'प्राण'** नाम से व्यवहृत हुआ है, एवं हृदय से ऊर्ध्व--ब्रह्मग्रन्थि की ओर वितत होता हुआ, जाता हुआ वही दिव्यादित्यप्राण--**'उदान'** नाम से व्यवहृत होने लगता है। इसप्रकार दिव्य--आदित्य--प्राण ही--**'प्राण'**--**'उदान'**--रूपेण दो विवर्त्त--भावों में परिणत होजाता है। और मध्यस्थ--स्थिर--धरातलात्मक--हृदयानुगत--आन्तरिक्ष्य--व्यानप्राण के समावेश से तीन के स्थान में अब **'पाँच-प्राण'** होजाते हैं, जिनका पारिभाषिक नाम है—**'पञ्चदेवसुषयः'**। निम्नलिखित, अत्यन्त ही रहस्यपूर्ण छान्दोग्यवचन इसी प्राणपञ्चक का स्पष्टीकरण कर रहा है, जिसका अर्थसमन्वय प्रज्ञाशील पाठकों की प्रज्ञा से ही अनुप्राणित मान लिया जाता है—

(१) "तस्य वा--एतस्य हृदयस्य पञ्च-देवसुषयः। स योऽस्य प्राङ्सुषिः–स प्राणः, तच्चक्षुः, स आदित्यः। तत्तेजः–अन्नाद्यमुपासीत।

(२)–अथ योऽस्य दक्षिणः सुषिः, स व्यानः, तच्छ्रोत्रं, स चन्द्रमाः। तच्छ्रीश्च–यशश्च–उपासीत।

(३)-अथ योऽस्य प्रत्यङ्-सुषिः, सोऽपानः, सा वाक्, सोऽग्निः। तदेतत्-ब्रह्मवर्च-समन्नाद्यमित्युपासीत।

(४)-अथ योऽस्य-उदङ्-सुषिः, स समानः, तन्मनः, स पर्ज्जन्यः। तदेतत्-कीर्त्तिश्च व्युष्टिश्चेत्युपासीत।

(५)-अथ योऽस्य-ऊर्ध्वः-सुषिः, स उदानः, स वायुः, स आकाशः। तदेतत्-ओजश्च, महश्चेत्युपासीत।

ते वा एते पञ्च ब्रह्मपुरुषाः स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपाः।

—छान्दोग्योपनिषदि-३अ०। १३ खं०। १ से ६ कं० पर्य्यन्त

१-प्राङ्-----सुषिः-प्राणः--चक्षुः---आदित्यः-(तेजः)।

२-दक्षिणः सुषिः-व्यानः-श्रोत्रम्-चन्द्रमाः--(यशः)।

३-प्रत्यङ्-सुषिः-अपानः-वाक्—अग्निः—(ब्रह्मवर्चसम्)।

४-उदङ्--सुषिः-समानः-मनः—पर्ज्जन्यः-(कीर्त्तिः)।

५-ऊर्ध्वः--सुषिः-उदानः--वायुः—आकाशः-(ओजः)।

४७६-'पञ्च-देवसुषयः' से अनुप्राणित 'पञ्चप्राणों' का देवसत्यानुगतत्त्व, एवं 'पञ्चधा-संविवेश'-मूलक पारिभाषिक 'पञ्चप्राणों' का ब्रह्मसत्यानुगतत्त्व, और इत्थंभूत द्विविध-प्राणपञ्चकों के विभक्त-स्वरूपों का प्रासङ्गिक-समन्वय-प्रयास—

'पञ्च--देवसुषयः' से अनुप्राणित पञ्चविध तथाविध पाँचों प्राण, तथा 'यस्मिन्--प्राणः पञ्चधा संविवेश' इत्यादि वचन से अनुप्राणित पञ्चविध प्राण, इन दोनों पञ्चकों के स्वरूप में अहोरात्र का अन्तर है। अव्यक्त--स्वायम्भुव-ऋषिप्राणात्मक-प्रथम--प्राण, व्यक्ताव्यक्त--पारमेष्ठ्य--पितृप्राणात्मक--द्वितीय--प्राण, व्यक्त--सौर--देवप्राणात्मक--तृतीय--प्राण, वैकारिक--अभिव्यक्त--चान्द्र--गन्धर्वप्राणा--त्मक--चतुर्थ--प्राण, एवं भौतिक--व्यक्ततम--पार्थिव (अर्थात् भौम)--पशुप्राणात्मक--पञ्चम--प्राण, इन पञ्चविध--उन प्राणों का ही--'यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविशेष' इत्यादि वचन के द्वारा सङ्केत हुआ है, जोकि तथोक्त ऋष्यादि--पश्वन्त--पाँचों प्राण स्वयम्भू--परमेष्ठी--सूर्य्य--चन्द्रमा--भूपिण्ड--नामक ब्रह्मसत्यात्मक--अव्यक्तात्मा--महानात्मा--विज्ञानात्मा--प्रज्ञानात्मा--चित्यात्मा--लक्षण प्राकृतात्म-विवर्त्त भावों के उक्थभावों से ही सम्बन्ध रखते हैं।

४७७-स्तौम्य-त्रैलोक्य के प्राणदेवताओं की विभूतिरूप-'पञ्चदेवसुषय:' का, तथा त्रैलोक्य त्रिलोकी के अव्यक्तादि भूतान्त-विवर्त्तों की विभूतिरूपा-'पञ्च-प्राणों' का व्यानप्रसङ्गानुगत स्पष्टीकरण—

उधर 'पञ्चदेवसुषय:' से अनुप्राणित "अपान--समान--व्यान--प्राण--उदान" नामक पञ्चविध प्राणों का पञ्चप्राणानुगत--विश्व के अन्तिम--पर्वात्मक भूपिण्ड के आधार पर वितत होने वाले स्तौम्यत्रैलोक्य--रूप पार्थिव त्रैलोक्य के पार्थिव--आग्नेय--अपानप्राण--आन्तरिक्ष्य--वायव्य--व्यानप्राण--एवं दिव्य-आदित्य प्राणप्राण के ही वितानभाव से सन्बन्ध है, जोकि तीनों ही स्तौम्य--प्राण देवसत्यजननी महिमा--पृथिवी-की विभूतियाँ बनते हुए देवसत्यात्मक ही प्रमाणित होरहे हैं। 'प्राणपञ्चक'-रूप नाम-साम्य से ब्रह्मसत्यात्मक-पञ्चप्राणों, तथा देवसत्यात्मक पञ्चप्राणों के स्वरूप में भ्रान्ति न होजाय, एकमात्र इसी दृष्टि से अत्र प्रसङ्गत: उभयविध-प्राणपञ्चकों के पार्थक्य का प्रासङ्गिक स्पष्टीकरण कर दिया गया है। अब पुन: देवसत्यानुबन्धी, अतएव 'देवसुषय:' नाम से प्रसिद्ध पूर्वोपवर्णित प्राणापानादि प्राणपञ्चक के सम्बन्ध में हीं एक अवधेय लक्ष्य की ओर व्यानोपासकों का ध्यान आकर्षित किया जारहा है।

४७८-संघर्षजन्मा-तापधर्म्मा वैश्वानर की, तथा प्राणपञ्चक की स्वरूप-स्थिति के आधारभूत मध्यस्थ-'व्यानदेवता' का दृष्टिकोण-भेदनिबन्धन स्वरूप-समन्वय-प्रयास—

निवेदन किया गया है कि, मूलग्रन्थि से अनुगत पार्थिवप्राण के, तथा ब्रह्मरन्ध्र से अनुगत दिव्य--प्राण के हृद्ग्रन्थिरूप मध्यस्थ—आन्तरिक्ष्य—व्यानानुगत प्रत्याघात से ही आदि—अन्त के प्राणों की दो दो अवस्थाएँ होजातीं हैं। और यों व्यानानुगत प्रत्याघात के अनुग्रह से ही तीन के पाँच प्राण होजाते हैं। यदि मध्यस्थ—आधारभूत-स्थिर—धरातलात्मक-प्राण न हो, तो क्या स्थिति हो इन द्यावा-पृथिव्य-प्राणों की ?, इस रहस्यात्मक प्रश्न का समाधान ही व्यानप्राण का जीवनोपयिक वह चिरन्तन—इतिवृत्त है, जिसके आश्रय से ही संघर्षजन्मा तापधर्मा-जीवनसंरक्षक—वह वैश्वानर प्राणियों के शरीर में प्रतिष्ठित रहता है, जिसकी स्वरूपसत्ता ही जीवन का स्वरूप—लक्षण माना गया है।

४७९-श्वास-प्रश्वासात्मक-प्राणव्यापार के माध्यम से अनुमेया जीवनसत्ता के सम्बन्ध में किञ्चिदिव आवेदन—

सर्वसाधारण की ऐसी कुछ मान्यता देखी सुनी जाती है कि, "श्वासात्मक—प्राणन (ग्रहणानुगत—प्राणन), एव प्रश्वासात्मक—अपानन (परित्यागानुगत अपानन)--इन दोनों के द्वारा, तथा आलोमभ्य: आनखाग्रेभ्य:—परिव्याप्त—ऊष्मधर्म्मानुबन्धी—शरीराग्नि के द्वारा ही प्राणियों का जीवन सुरक्षित रहता है। श्वास—प्रश्वास के अवरुद्ध होजाने पर, एवं शारीरिक ताप के उपशान्त होजाने पर प्राणियों को निष्प्राण (निर्जीव—मृत) मान लिया जाता है"।

४८०–लोकानुगता मान्यता से अनुगत प्राणापानव्यापार, एवं सहोबल से अनुगत संघर्षजन्मा तापधर्म्मा वैश्वानराग्नि के स्वरूपेतिवृत्त के सम्बन्ध में ऋषिभाषा का संस्मरण—

तथाभूता मान्यता का मूलाधार वस्तुगत्या न तो प्राणनापानन–रूप श्वासप्रश्वासात्मक व्यापार ही हैं, एवं न तापधर्म्मा वैश्वानर-अग्नि को ही ऐकान्तिकरूपेण जीवनसत्ता का श्रेय समर्पित किया जासकता। अपितु यह श्रेय तो मध्यस्थ उस व्यान–प्राण से ही अनुप्राणित है, जिसके आधार पर ही तो प्राण–अपान का प्राणनापाननरूप संघर्षात्मक व्यापार प्रक्रान्त रहता है, एवं जिस इत्थंभूत व्यानानुगत प्राणनापाननात्मक संघर्ष से ही तापधर्म्मा वैश्वानर–अग्नि की स्वरूपसत्ता स्वस्वरूप से देह में अभिव्यक्त रहती है। मध्यस्थ व्यानप्राण के प्रत्याघात से ही तो पार्थिवप्राण अपान--समान–रूप में परिणत होता रहता है, एवं मध्यस्थ व्यान से प्रत्याहित होकर ही दिव्यप्राण प्राण--उदान--रूप में परिणत रहता है। और ग्रहण–परित्यागनिबन्धन–गत्यात्मक (अर्थात्–गति--आगत्यात्मक) इस संघर्ष से ही तात्कालिकरूपेण सहोबलाधारेण वह वैश्वानर–अग्नि अभिव्यक्त होता रहता है, जिसे कि संघर्षात्मक–तथाविध-सहोबल (साहस) के कारण ही सहोबल से अनुगत माना गया है ऋषिभाषा (मन्त्रभाषा) में *।

४८१–सार्द्धद्वादशाङ्गुलि-मित-हृदयस्थ-पारिभषिक-'व्यानदेवता' का संस्मरण—

निष्कर्ष निवेदन का यही है कि, पार्थिव-प्राणानुगत प्राणनापानन, एवं दिव्यप्राणानुगत प्राणोदानन, तथा वैश्वानर स्वरूपाभिव्यञ्जक-संघर्ष, जीवनसत्ता के बाह्य–परिचायक इन सभी तथ्यों का मूलाधार मध्यस्थ वह व्यानप्राण ही बना हुआ है, जोकि अपनी प्रादेशमिता (सार्द्धदशाङ्गुलिमिता) परिव्याप्ति के कारण–'वामन' नाम से प्रसिद्ध है।

४८२–प्राणनापानन-व्यापार के मूलाधिष्ठाता मध्यस्थ-वामनविष्णुरूप-'व्यान' के सम्बन्ध में महर्षि कठ की रहस्यात्मिका सम्मति, एवं सर्वदेवाश्रयभूमिरूप वामन विष्णु का संस्मरण—

हृदयस्थ–वामनमूर्त्ति इस व्यानप्राण के आधार पर ही तो तदधोऽवस्थित–पार्थिव–प्राणाग्निरूप–पार्थिव-देवदेवता स्वस्वरूपेण अभिव्यक्त हैं, एवं इसी मध्यस्थ व्यान के आधार पर तदुपरि–अवस्थित द्युलोकीय–दिव्य देवदेवता स्वस्वरूप से अभिव्यक्त हैं। यों मध्यस्थ स्थिरशिलात्मक व्यानप्राण ही तो

---

*–पृष्टो दिवि पृष्टो अग्निः पृथिव्यां पृष्टो विश्वा ओषधीराविवेश।
वैश्वानरः 'सहसा' पृष्टो अग्निः स नो दिवा रिषस्पातु नक्तम्।
—यजुःसंहितायाम् १८।७३।

वस्तुतः जीवनसत्ता का कारण बन रहा है, एवं यही सर्वविध देवप्राणों की अभिव्यक्ति का आधार बना हुआ है। व्यानप्राण के इसी रहस्यात्मक–जीवनीय–प्राण का स्वरूप–अभिव्यक्त करते हुए उपनिषच्छ्रुति ने कहा है—

न प्राणेन, नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ॥
इतरेण तु जीवन्ति, यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥१॥
ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयति, अपानं प्रत्यगस्यति ॥
मध्ये वामनमासीनं सर्वे देवा उपासते ॥२॥

—कठोपनिषदि ५।३,५ मन्त्र ।

४८३-पिप्पलादोपनिषत् से सङ्केतित नाड्यनुगत व्यानप्राण की व्याप्तिका संस्मरण--

सुप्रसिद्धा–'पिप्पलादोपनिषत्' नाम की 'प्रश्नोपनिषत्' में हृदयानुगत–द्वासप्तति–सहस्र–नाड़ी–स्रोतों से अनुप्राणित–जीवनीय–गतितत्त्व–सञ्चरणशील–इसी–जीवनाधार–तथोक्त–व्यानप्राण का यशोगान हुआ है, जैसाकि तदुपनिषद्विज्ञानभाष्य में ही विस्तार से स्पष्ट कर दिया गया हैं। जैसाकि तदुपनिषत् के निम्न लिखित साङ्केतिक-वचन से स्पष्ट है—

'हृदि-ह्येष आत्मा। अत्रैतदेकशतं नाड़ीनां–तासां शतं शतमेकैकस्यां-द्वासप्ततिः, द्वासप्ततिः--प्रतिशाखा-नाड़ी-सहस्राणि-भवन्ति, आसु व्यानश्चरति'।

—अथर्ववेदीया-प्रश्नोपनिषत् ३ प्रश्न, ६ कण्डिका।

४८४-जीवनोपयिक-सञ्चरणधर्म्मा-गत्यागतिधर्म्मा-संकोच-विकासधर्म्मा-प्राण के स्वरूपाभिव्यञ्जक अग्निप्रधान-त्र्यात्मक वैश्वानर के प्रधान कर्त्तव्य से अनुगता 'अन्नाहुति' का समन्वय—

जिसप्रकार आधिदैविक–ईश्वरीय–विवर्त्त में पार्थिवी–स्तौम्या–त्रिलोकी के **अग्नि-वायु-आदित्य-विध-अपान--व्यान--प्राण**--नामक तीनों प्राणों का मध्यस्थ--व्यान--वायु के आधार पर गत्यागत्यात्मक संघर्ष प्रक्रान्त रहता है, इस संघर्ष से ही जिसप्रकार तापधर्म्मा--योगज-त्रैलोक्य--व्यापक--वैश्वानर--अग्नि अभिव्यक्तित्त्वरूपेण प्रतिष्ठित रहता है, ठीक उसीप्रकार प्राणिजगत् में भी पार्थिवादि प्राणत्रयी के संघर्ष से अग्निप्रधान तापधर्म्मा वैश्वानराग्नि अभिव्यक्त रहता है। रसासृङ्मासादि शारीरिक--सप्तविध--भूतभौतिक--धातुओं को रक्तादि--सञ्चार के द्वारा स्वस्वरूप से सुरक्षित रखते हुए जीवनोपयिक--सञ्चरणधर्म्मा--गत्यागति--धर्म्मा--अर्थात्--संकोच--विकासधर्म्मा--प्राण को स्वस्वरूपेण अभिव्यक्त रखना ही इस अग्निप्रधान--वैश्वानर का प्रमुख कर्त्तव्य माना गया है, जिस प्रमुख-कर्त्तव्य का द्वार माना गया है–'अन्नाहुति'।

४८५–भुक्त-अन्न के क्रमिक-विशकलन से निष्पन्न-'ऊर्क्-रस,' तदनुगत सूक्ष्मतम--'प्राण', तदनुगता 'अशनाया'-लक्षणा बुभुक्षा, तद्द्वारा अन्न का आहरण, एवं-'अन्नोर्क्प्राण'-त्रयी के अन्योऽन्य-परिग्रह से सम्पन्न पारिभाषिक-'अहरहर्यज्ञ' का स्वरूप-स्पष्टीकरण—

किंवा भुक्त अन्न को रसासृङ्मांसादिरूप में परिणत करते हुए अन्ततोगत्वा आहुत--स्थूल अन्न को सूक्ष्म-'ऊर्क्'-नामक रसविशेष के माध्यम से सर्वान्त में इसे जीवनोपयिक--'प्राण' स्वरूप में परिणत करते रहना ही वैश्वानर का प्रमुख कर्त्तव्य माना गया है। 'अशनाया' लक्षणा-बुभुक्षा से देहस्थ-प्राण में विकम्पन हुआ, किंवा स्वस्वरूपरक्षक-अन्न की आहुति से अनुगता व्यग्रता का नाम ही हुआ 'प्राणविकम्पन', इस प्राण-विकम्पन का ही पारिभाषिक नाम हुआ--'अश्' रूप अन्न को लेने की 'इच्छा', इसी का नाम हुआ--'अशनाया' जिसे 'बुभुक्षा' (भूख) भी कहा गया है। इस अशनाया से (अन्नग्रहणेच्छा से) अनुगत--प्राणविकम्पनने ऐच्छिक--अन्न की आहुति प्राप्त की, अर्थात् प्राणाग्नि में अन्नात्मक सोम की आहुति हुई। आहुत अन्न को रस--मल--के क्रमिक--विशकलन के द्वारा प्राणाग्निने सूक्ष्मरसात्मक--ऊर्क्--रस' रूप में परिणत कर दिया, ऊर्क्रस ही आगे चलकर सुसूक्ष्मा 'ओज' अवस्था में आता हुआ पुनः सूक्ष्मतम उसी--'प्राणरूप' रूप में परिणत होगया। प्राणरूपेण अन्नमात्रा का व्यय होगया। तत्क्षतिपूर्त्ति के लिए पुनः प्राण में विकम्पन होपड़ा। पुनः इस विकम्पन--लक्षणा अशनाया से अन्नाहुति, अन्नाहुति की पुनः ऊर्क् रसरूप में परिणति, ऊर्क्--रस की पुनः प्राणरूप में परिणति, तदित्थं--अन्न--ऊर्क्--प्राण--अन्न--ऊर्क्--प्राण--इत्येवंरूपेण अन्न--ऊर्क्--प्राणों का चङ्क्रमणात्मक--यह धारावाहिक क्रम अनवरत देहधारियों में प्रवृत्त रहता है, इसी का नाम है जीवनसंरक्षक वह 'अहरहर्यज्ञ', जिसका वैज्ञानिकोंनें--'अन्नोर्क्--प्राणानाम--न्योऽन्यपरिग्रहो यज्ञः'--यह लक्षण किया है, जिस इत्थंभूत शारीरिक--भौतिक--अग्नि--सोमात्मक--यज्ञ का आधार भी तथाविध वैश्वानर ही बना हुआ है। और आधिदैविक--विराट्--रूप वैश्वानर के प्रतिकृतिरूप अपान-व्यान--प्राणात्मक--अग्निप्रधान--पार्थिव--'वैश्वानर' नामकी प्रथमा--भूतात्मकला का यही संक्षिप्त चिरन्तन इतिवृत्त है।

४८६–तद्वादन्याय से अनुप्राणित-त्र्यात्मक-वैश्वानरात्मा के अग्निप्रधान स्वरूप का समन्वय—

इसी सम्बन्ध में यह भी ध्यान रखना चाहिए कि, इस वैश्वानर--अग्नि की उपनिषत् [उक्थात्मिका मूलप्रतिष्ठा]--पार्थिव--अमृताग्नि ही है, जबकि इस के स्वरूप–निर्माण में आन्तरिक्ष्य--वायु, तथा दिव्य-आदित्य--इन दोनों का भी समावेश है। अतएव इसे त्र्यात्मक भी कहा जासकता है, जबकि इसके अर्द्धभाग में प्रधानता पार्थिवाग्नि की ही मानी गई है तद्वाद--न्याय के माध्यम से।

४८७–क्रियाशक्तिप्रधान त्र्यात्मक-तैजसात्मा के वायुप्रधान स्वरूप का दिग्दर्शन —

अब क्रमप्राप्त आधिदैविकी उस द्वितीया 'कला' को लक्ष्य बनाइए, जिसे कि–'हिरण्यगर्भ' कहा गया है। इस के अंश से अभिव्यक्ता आध्यात्मिकी द्वितीया वह कला ही–'तैजस' नाम से व्यवहृत हुई है,

जिस में भी वैश्वानर--वत् यद्यपि समावेश तो अग्नि- वायु--आदित्य--नामक तीनों हीं प्राणों का है, तथापि अर्द्ध में अत्र वायु है, शेषार्द्ध में अग्नि, और आदित्य--नामक दोनों प्राण, इसीलिए इसे मान लिया गया है-'**वायुमूर्त्ति**' ही, जिसे '**क्रियाशक्ति**' का सञ्चालक माना गया है, जबकि अग्निप्रधान पूर्वोक्त वैश्वानर-को '**अर्थशक्ति**' का प्रेरक माना गया है।

४८८–आधिदैविकी तृतीया कला के प्रवर्ग्य से अनुप्राणित-ज्ञानशक्तिप्रधान-त्र्यात्मक-प्राज्ञात्मा के आदित्य-प्रधान स्वरूप का स्पष्टीकरण—

तदनन्तर आधिदैविकी उस तृतीया कला का स्थान आता है, जिसे कि--पूर्वपरिच्छेदों में--'**सर्वज्ञ**' नाम से व्यवहृत किया गया है। इस सर्वज्ञ का प्रवर्ग्यांश ही अध्यात्म में--'**प्राज्ञ**' कहलाया है, जिस में भी वैश्वानर--तथा तैजस--नामक की मात्रात्मिका दोनों कलाओं की भाँति यद्यपि समावेश तो अग्नि-वायु-आदित्य-नामक तीनों ही प्राणदेवताओं का है। तथापि प्रमुखता तथाकथित-अर्द्धरूप विशेषभाव के अनुबन्ध से क्योंकि--'**आदित्य**' की ही **है**, अतएव इसे मान लिया गया **है**-आदित्य ही, जिसेकि एक विशेष तथ्य के समन्वयानुबन्ध से-'**ज्ञानशक्ति**' की ही अधिष्ठात्री-कला मान लिया गया है। यों **विराट्-हिरण्यगर्भ--सर्वज्ञ**-नामक त्र्यात्मक-आधिदैविक-विवर्त्तभावों के आधार पर प्रवर्ग्यरूपेण-अंशरूपेण-अभिव्यक्त प्राणिजगदनुबन्धी **वैश्वानर--तैजस--प्राज्ञ**--नामकी तीन कलाओं की अभिव्यक्त होरही है, जिन्हें क्रमशः **वाक्-प्राण-मनः**--प्रधाना--**अर्थ-क्रिया-ज्ञान**-नाम की तीन सुप्रसिद्धा शक्तिओं के उत्तरदायित्व से ही अनुप्राणित माना गया **है**, एवं जो कि ये तीनों शक्तिमात्राएँ हीं विज्ञानजगत् में क्रमशः **भूतमात्रा-प्राणमात्रा--प्रज्ञामात्रा**--इन पारिभाषिक--नामों से व्यवहृत हुई हैं। आगे के परिलेखों के माध्यम से अब अत्यन्त अवधानपूर्वक ही इस **वैश्वानरविभूति** को लक्ष्यानुगत कर लेना चाहिए, जिस की तृतीया--'**प्राज्ञकला**' के माध्यम से ही उस **प्रज्ञानात्मा** का **प्रज्ञा-प्राण**-भूत-मात्रा-निबन्धन-वह पारिभाषिक-संस्मरण उपक्रान्त होने वाला **है**, जिस का समन्वय ही—"**प्रज्ञानात्मसंस्मरण**" नामक प्रकृत तृतीय–सन्दर्भ का प्रमुख विषय है।

४८९-त्रिस्त्रिमूर्त्ति-भूतात्मा के विभूतिभावों से अनुगत-समष्ट्यात्मक-परिलेख—

*

त्र्यात्मकः-आदित्यः	१--ज्ञानशक्तियुक्ता-ज्ञानशक्तिः--मनोमयः-मनः--सोऽयमादित्यः	—त्रिमूर्त्तिरादित्यः (ज्ञानशक्तिमयः)	मनोविवर्त्तम्
	२-क्रियाशक्तियुता—ज्ञानशक्तिः---मनोमयः—प्राणः--सोऽयं वायुः		
	३-अर्थशक्तियुता—-ज्ञानशक्तिः---मनोमयी—वाक्—सोऽयमग्निः		
त्र्यात्मकः-वायुः	१--क्रियाशक्तियुता-क्रियाशक्तिः-प्राणमयः-प्राणः-सोऽयं वायुः	—त्रिमूर्त्तिर्वायुः (क्रियाशक्तिमयः)	प्राणविवर्त्तम्
	२--ज्ञानशक्तियुता—क्रियाशक्तिः--प्राणमयं-मनः—सोऽयमादित्यः		
	३--अर्थशक्तियुता—क्रियाशक्तिः--प्राणमयी-वाक्—-सोऽयमग्निः		
त्र्यात्मकः-अग्निः	१-अर्थशक्तियुता-अर्थशक्तिः-वाङ्मयी-वाक्-सोऽयमग्निः	—त्रिमूर्त्तिरग्निः (अर्थशक्तिमयः)	वाग्विवर्त्तम्
	२-क्रियाशक्तियुता--अर्थशक्तिः--वाङ्मयः--प्राणः-सोऽयं वायुः		
	३--ज्ञानशक्तियुता--अर्थशक्तिः--वाङ्मयः--मनः-सोऽयमादित्यः		

* * *

४९०-आधिदैवि[illegible]वर्त्त से अनुगत त्र्यात्मक-परिलेख—

आधिदैविकविवर्त्तमिदम्	१-त्रिमूर्त्तिरादित्यः-एव-सर्वज्ञः—-ज्ञानशक्तिमयः-(सैषा-प्रथमा कला भूतात्मनः)
	२-त्रिमूर्त्तिर्वायुः—एव-हिरण्यगर्भः-क्रियाशक्तिमयः-(सैषा-द्वितीया कला भूतात्मनः)
	३-त्रिमूर्त्तिरग्निः--एव-विराट्—-अर्थशक्तिमयः-(सैषा-तृतीय कला भूतात्मनः)÷

* * * *

÷-"आत्मा उ एकः सन्नेतत् त्रयं, त्रयं सदेकमयमात्मा" ।

—बृहदारण्यकोपनिषदि

४६१–आध्यात्मिक-विवर्त्त से अनुगत त्र्यात्मक-परिलेख—

आध्यात्मिकविवर्त प्रथम

१–सर्वज्ञस्य—प्रवर्ग्यांशः–कला वा–प्राज्ञः—-आदित्य एव

२–हिरण्यगर्भस्य–प्रवर्ग्यांशः–कला वा–तैजसः—-वायुरेव

३–वैराजस्य— प्रवर्ग्यांशः–कला वा–वैश्वानरः-अग्निरेव

* * * *

४६२–'एकता-द्विता-त्रिता'-नामक पारिभषिक-शब्दों के माध्यम से त्रिविध जीवसर्ग का संस्मरण, एवं तत्प्रतिष्ठात्मक त्र्यात्मक भूतात्मा—

सर्वज्ञ–हिरण्यगर्भ–विराट्–के प्रवर्ग्यांश–रूप नानाभावभिन्न–'जीव' नामक–'वैश्वानर–तैजस–प्राज्ञ'–की समष्टिरूप–तत्त्व का ही नाम है–'भूतात्मा', जिस की तथोक्ता तीनों भूतात्मकलाओं का सुप्रसिद्धा 'एकता--द्विता--त्रिता' नामकी पारिभाषिकी–शब्दत्रयी के रूप से तीन प्रकार के जीवविवर्त्तों के रूप में हीं क्रमिक–वितान माना है भारतीय–वैदिक–जीवशास्त्र (प्राणिविज्ञानशास्त्र) ने, जिस इस वैतानिकी मान्यता के अनुबन्ध से ही जीवसर्ग का क्रमशः एकताभाव-निबन्धन असंज्ञजीव, द्विताभावनिबन्धन-अन्तःसंज्ञजीव, तथा त्रिताभावनिबन्धन--ससंज्ञजीव, इस रूप से अभिधात्मक नामसंस्कार किया जासकता है, किया गया है।

४६३–चेतन–अचेतन-भावों से अनुगता-इन्द्रिय-अनिन्द्रिय-भावमूला-पारिभाषिकी स्थिति का प्रासङ्गिक-स्पष्टीकरण–प्रयास, एवं एकात्मक-[illegible]वर्ग का स्वरूपे-तिवृत्त—

लोष्ट–पाषाणादि समस्त–उन–भूत–भौतिक–पदार्थों को ही 'एकात्मानुगत–असंज्ञजीव' कहा जायगा, जिन्हें कि स्थूलभाषा में–'अचेतन–जड़' कहा गया है। जिन लोष्ट–पाषाणादि पदार्थों को हम निरिन्द्रिय [इन्द्रियविवर–शून्य] देखते हैं, इन्द्रियविवराभाव से ही जिन्हें 'अचेतन' मान लिया जाता है *, उन इत्थं-भूत समस्त अनिन्द्रियात्मक-अचेतन-जड़-पदार्थों में अर्थशक्तिप्रधान-त्र्यात्मक-वैश्वानर नामक केवल-पार्थिव-कलाभाग ही स्वस्वरूप से अभिव्यक्त रहता है। अतएव इस-विभाग को-'एकात्मक-जीव' माना गया है। क्रियाशक्तिमय तैजस, एवं ज्ञानशक्तिमय-सर्वज्ञ, ये दोनों कलाएँ तथाविध वैश्वानरकला-प्रधान-भूतभौतिक-पाषाणादि पदार्थों में उन्मुग्ध ही बनीं रहतीं हैं।

---

*–सेन्द्रियं चेतनद्रव्यं, निरिन्द्रियमचेतनम्। (चरकसंहितायाम्)।

४६४-अर्द्ध चेतनानुगत-त्वगिन्द्रिय-प्रधान, वैश्वानर-तैजस-समन्वित-द्वयात्मक 'अन्तःसञ्ज्ञ' नामक जीवसर्ग का संक्षिप्त-स्वरूपेतिवृत्त-समन्वय —

दूसरा विभाग उन उद्भिज्जों का है, जिन के तृण-लता-गुल्म-ओषधि-वनस्पति-आदिरूपेण अनेक अवान्तर श्रेणि-विभाग माने गए हैं। इन वृक्ष—वनस्पत्यादि-पदार्थों में अर्थशक्तिमयी वैश्वानरकला के साथ साथ ही क्रियाशक्तिमयी तैजसकला भी स्वस्वरूप से अभिव्यक्त रहती है। इस कला की अभिव्यक्ति से इस द्वितीय-वर्ग में केवल 'त्वगिन्द्रिय' की अभिव्यक्ति होजाती है। इस एक त्वगिन्द्रिय के माध्यम से ही ये वृक्षादि अन्य ऐन्द्रियक विषयों के भी परोक्षानुभव में अंशतः समर्थ होजाते हैं, जैसाकि—'हसन्ति-पश्यन्ति-रुदन्ति-पादपाः' [महाभारते] इत्यादि वचनसन्दर्भ से स्पष्ट है। इस एकेन्द्रिय के [त्वगिन्द्रिय के] अनुग्रह से ही इन में अंशतः प्राज्ञानुगत—चैतन्य भी परोक्षरूपेण अभिव्यक्त रहता है। अतएव इन का पारिभाषिक नाम होगया है—'अन्तःसंज्ञाः', जैसाकि—'अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः' इत्यादि स्मार्त—सन्दर्भ से प्रमाणित है *। इस अन्तःसंज्ञात्मक-अर्द्ध चेतनविध द्वितीय—जीववर्ग में क्योंकि अग्निप्रधान—वैश्वानर के साथ साथ वायुप्रधान-क्रियाशक्तिमय-तैजस-नामक द्वितीय आत्मपर्व की भी स्वरूपाभिव्यक्ति होती है, अतएव इस वर्ग को 'द्वयात्मक जीव' माना गया है। साक्षाद्रूपेण ज्ञानशक्तिरूप से अभिव्यक्ता तृतीया-'प्राज्ञ' नामकी उस कला की तो इस द्वितीय-वर्ग में भी उन्मुग्धावस्था ही रहती है, जिस के बिना वृक्षादि अन्तःसंज्ञ-जीव सर्वेन्द्रियानुगत-चिद्विकासक-प्रज्ञान के ज्ञान से वञ्चित ही रह जाते हैं। ऐन्द्रियकज्ञानों में भी इन में केवल त्वगिन्द्रियज्ञान ही अभिव्यक्त रहता है।

४६५-चेतनानुगत-सर्वेन्द्रिय-प्रधान-वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ-समन्वित-त्र्यात्मक-'ससंज्ञ' नामक जीवसर्ग का संक्षिप्त स्वरूपेतिवृत्त-समन्वय—

तीसरा विभाग है उस वर्ग का, जिसे लोकसामान्य-व्यवहार में-'चेतन' कहा जाता है, जिस—'चेतनव्यवहार' का एकमात्र मापदण्ड इन्द्रियों की अभिव्यक्ति ही बना रहता है। कृमि से आरम्भ कर ब्रह्मा

---

*—उद्भिज्जाः स्थावराः सर्वे बीजकाण्डप्ररोहिणः ॥
ओषध्यः फलपाकान्ता बहुपुष्पफलोपगाः ॥१॥
अपुष्पाः फलवन्तो ये ते वनस्पतयः स्मृताः ॥
पुष्पिणः फलिनश्चैव वृक्षास्तूभयतः स्मृताः ॥२॥
गुच्छगुल्मं तु विविधं तथैव तृणजातयः ॥
बीजकाण्डरुहाण्येव प्रताना वल्ल्य एव च ॥३॥
तमसा बहुरूपेण वेष्टिता कर्म्महेतुना ॥
'अन्तःसंज्ञा'-भवन्त्येते सुख-दुःख-समन्विताः ॥४॥

—मनुः १।४६-४७-४८-४६ श्लो०

